ॐ

श्री परत्मामने नमः

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन

भाग - १

श्रीमद् स्वामी कार्तिकेय विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(गाथा ०१ से २८३ तक)

हिन्दी अनुवाद, सम्पादन एवं प्रस्तावना :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

प्रकाशन सहयोग :

श्री भभूतमल भण्डारी, अध्यक्ष
श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट, बैंगलोर

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-२०४२१६, हाथरस (उत्तरप्रदेश)

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ

दिनाङ्क 02 फरवरी 2007

तीर्थधाम मङ्गलायतन चतुर्थ वर्षगाँठ महोत्सव के शुभ अवसर पर प्रकाशित एवं प्रसारित

ISBN

न्योछावर राशि : रुपये 75.00

AVAILABLE AT -

INDIA

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,** Sasni-204216, Aligarh (U.P.)
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN,** A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH, SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST**
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA,** Songarh (Guj.)

U.S.A.

— **SECRETARY, DIG. JAIN SWADHIAYA MANDIR SONGARH**
304, Tall Oak Trail, Tarpon Springs, Florida 34688, U.S.A.
e-mail : kahanguru@hotmail.com

— **DR. KIRIT P. GOSALIYA**
14853, North 12th Street, Phoenix, Arizona, 85022 U.S.A.
e-mail : digjain@aol.com

— **SMT. JYOTSANA V. SHAH**
602, Hamilton Ave., Kingston, PA 18704-5622, U.S.A.
e-mail : jyotsana2@yahoo.com

U. K.

— **PRESIDENT, SHRI DIGAMBER JAIN ASSOCIATION**
1, The Broadway, Wealdstone, Harrow, Middlesex, HE3 7EH, U.K.

— **SMT. SHEETAL V. SHAH**
Flat No. 9, Maplewood Court, 31-Eastbury Ave., Northwood,
Middlesex, U.K. (HA6 3LL); e-mail : sheetalvs@aol.com

KENYA

— **PRESIDENT, DIG. JAIN MUMUKSHU MANDAL-NAIROBI**
M/s. Coblantra Ltd., G.P.O. 00100, P.O. Box - 41619, Nairobi, Kenya
e-mail : spraja@mitsuminet.com

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

परमपूज्य स्वामी कार्तिकेय द्वारा विरचित श्रीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर हुए अध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वैराग्य एवं तत्त्वज्ञानपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१' का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से

एक है। इसी के फलस्वरूप विगत वर्ष गुरुवर पण्डित गोपालदास वरैया द्वारा लिखित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के हिन्दी एवं अंग्रेजी संस्करण स्वाध्याय प्रेमी समाज को समर्पित किये जा चुके हैं। कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत **छहढाला** का बहुरङ्गी संस्करण हिन्दी एवं अंग्रेजी में हमारा उल्लेखनीय प्रकाशन है। बाल साहित्य के रूप में प्रकाशित **बढ़ते चरण** के.जी. से कक्षा ०२ तक के प्रकाशनों को बालकों ने अत्यन्त चाव से अपनाया है।

इसी शृङ्खला में यह प्रस्तुत प्रकाशन किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें '**प्रकाशनकर्ता**' के रूप में **श्री भभूतमल भण्डारी, बैंगलोर** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है - तदर्थ वह परिवार धन्यवाद का पात्र है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ के इन गुजराती प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन कार्य **मङ्गलायतन** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा सम्पन्न किया गया है, साथ ही इस विषय पर व्यापक स्पष्टीकरण करनेवाली प्रस्तावना भी उन्होंने लिखी है। प्रकाशन से पूर्व मैंने भी इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा है। हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद पण्डित अभयकुमारजी जैन शास्त्री, देवलाली ने किया है, तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें — यही भावना है।

दिनाङ्क, ०२ फरबरी २००७
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
चतुर्थ वार्षिक महा-महोत्सव

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	गाथा से तक	पृष्ठ
१	मङ्गलाचरण एवं पूर्व भूमिका	१ से ३ तक	१–१७
२	अनित्य/अध्रुव अनुप्रेक्षा	४ से २२ तक	१८–७०
३	अशरण अनुप्रेक्षा	२३ से ३१ तक	७१–८५
४	संसार अनुप्रेक्षा	३२ से ७३	८६–१९२
५	एकत्व अनुप्रेक्षा	७४ से ७९	१९३–२०४
६	अन्यत्व अनुप्रेक्षा	८० से ८२	२०५–२०९
७	अशुचि अनुप्रेक्षा	८३ से ८७	२१०–२१८
८	आस्रव अनुप्रेक्षा	८८ से ९४	२१९–२३३
९	संवर अनुप्रेक्षा	९५ से १०१	२३४–२४७
१०	निर्जरा अनुप्रेक्षा	१०२ से ११४	२४८–२७१
११	लोक अनुप्रेक्षा	११५ से २८३	२७२–५७०

प्रस्तावना

श्री वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उद्घाटित त्रैकालिक सत्य वस्तुस्वरूप का अविरल प्रवाह भावलिङ्गी सन्तों एवं तद्मार्गानुसारी ज्ञानी धर्मात्माओं की पावन परम्परा से आज तक जीवन्त है और हमें निरन्तर भवताप से बचने की पावन प्रेरणा दे रहा है।

वीतरागी सन्तों की इसी परम्परा की एक कड़ी हैं स्वामी कार्तिकेय; जिनके द्वारा रचित वैराग्य एवं अध्यात्म सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, हमें संसार, शरीर एवं भोगों के विरक्त होकर निज शुद्धचैतन्यसत्ता में अवगाहन की पावन प्रेरणा दे रहा है।

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वैराग्यजननी बारह भावनाएँ हैं, जिन्हें अनुप्रेक्षा नाम से भी जाना जाता है, अनुप्रेक्षा का अर्थ है किसी भी विषय का बारम्बार चिन्तन करना।

जैन पुराणों में वर्णित तीर्थङ्कर परमात्माओं के जीवनचरित्र, इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं, कि सभी तीर्थङ्करदेव, जिनदीक्षा से पूर्व इन बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

स्वामी कार्तिकेय के शब्दों में ये बारह भावनाएँ '**भवियजणाणंद जणणीयो**'[1] अर्थात् भव्य जीवों के लिए आनन्दजननी हैं।

बारह भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की उपयोगिता दर्शानेवाले कतिपय आगम प्रमाण इस प्रकार हैं —

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः॥

अर्थात् इस प्रकार (अन्तरङ्ग सापेक्ष) बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से साधु के धर्म का महान उद्योत होता है। उससे वह निष्प्रमाद होता है; जिससे कि महान संवर होता है।[2]

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव कर्मणां क्षयकारणम्॥[3]

अर्थात् महान पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा ही चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि उनकी भावना कर्मों के क्षय का कारण होती ही है।[3]

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १; २. तत्त्वसार, ६/४३; ३. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका उपासक संस्कार, श्लोक ४२

विध्याति कषायाग्नि विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात्॥

अर्थात् इन बारह भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है, राग गल जाता है, अन्धकार विलीन हो जाता है और हृदय में ज्ञानरूपी दीपक विकसित हो जाता है।[१]

अनुप्रेक्षा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि —

किसी विषय को पुनः-पुनः चिन्तवन करते रहना अनुप्रेक्षा है। मोक्षमार्ग में वैराग्य की वृद्धि के अर्थ बारह प्रकार की **अनुप्रेक्षाओं** का कथन जिनागम में प्रसिद्ध है, इन्हें वैराग्यमयी **बारह भावनाएँ** भी कहते हैं; इनके भाने से व्यक्ति शरीर व भोगों से उदासीन होकर साम्यभाव में स्थिति पा सकता है।[२]

..... स्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा अर्थात् बारह प्रकार से कहे गये तत्त्व का पुनः-पुनः चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है।[३]

शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा अर्थात् शरीरादिक के स्वभाव का पुनः-पुनः चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा है**।[४]

अधिगतार्थस्य मनसाध्यासोनुप्रेक्षा अर्थात् जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना **अनुप्रेक्षा** है।[५]

कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलण-मणुपेक्खणा णाम अर्थात् कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्णरूप से हृदयङ्गम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम **अनुप्रेक्षणा** है।[६]

सुदत्थस्स सुदणाणुसारेण चिन्तणमणुपेहणं णाम अर्थात् सुने हुए अर्थ का श्रुत के अनुसार चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है।[७]

अपना और शरीरादि का जहाँ-जैसा स्वभाव है, वैसा पहिचानकर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर, राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना — ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिन्तवन करना ही सच्ची **अनुप्रेक्षा** है।[८]

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन का उद्देश्य अथवा प्रयोजन संसार, शरीर, भोगों से उदासीनभावरूप वैराग्यपरिणामों की उत्पत्ति एवं उनकी वृद्धि है। इससे स्वरूप-स्थिरता का पुरुषार्थ और संवर की उपलब्धिपूर्वक निर्जरा एवं मोक्ष की ओर प्रयाण होता है।

आस्रव की दुःखरूपता का विचार करने से संवर और निर्जरा का सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है।

---

१. ज्ञानार्णव भावना अधिकार १९२; २. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृष्ठ ७१; ३.तत्त्वार्थसूत्र, ९/७;
४. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; ५. सर्वार्थसिद्धि, ९/२५; ६. धवला ९/४, १,५५/२६३/१;
७. धवला १४/५, ६, १४/९/५; ८. मोक्षमार्गप्रकाशक, २२९

बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति के अवसरों की दुर्लभता का दृढ़तम चिन्तन करके, प्राप्त अवसर को न गँवाने की तीव्रतम भावना उत्पन्न होती है। लोक के स्वरूप का विचार एवं उसमें परिभ्रमण के दु:ख का चिन्तन करके, **निज चैतन्य लोक** में निवास की प्रेरणा मिलती है। इत्यादि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति इन वैराग्यवर्द्धिनी भावनाओं के चिन्तन से होकर यह चिन्तन वीतरागता की उपलब्धि में सहायक होता है।

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन का महत्व दर्शानेवाले निम्न आगम उद्धरण भी विचारणीय हैं —

जो पुरुष इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करके अनादिकाल से आज तक मोक्ष गये हैं; उनको मैं मन, वचन, कायपूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूँ। इस विषय में अधिक कहने की जरूरत नहीं है, बस! इतना ही बहुत है कि भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए और जो आगे होंगे, वे सब इन्हीं भावनाओं का चिन्तवन करके ही हुए हैं; इसे भावनाओं का ही महत्त्व समझना चाहिए।[१]

जो धर्मध्यान में प्रवृत्ति करता है, उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप हैं; अनुप्रेक्षा के बल पर ध्याता धर्मध्यान में स्थिर रहता है; क्योंकि जो जिस वस्तुस्वरूप में वर्तमान में एकाग्रचित्त होता है, वह भी कालान्तर में विस्मरण होने पर उससे चिगता है; परन्तु यदि अनुप्रेक्षाओं के द्वारा बार-बार उसको एकाग्रता करने के लिए आलम्बन मिल जावेगा तो वह नहीं चिगेगा।[२]

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता हुआ यह जीव उत्तम क्षमादि धर्मों का ठीक तरह से पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है, अत: तपाये हुए लोहे के गोले के समान क्षमादिरूप से परिणत हुए आत्महितैषियों को बारह भावनाओं का अवश्य चिन्तन करना चाहिए।[३]

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन वैराग्य-वृद्धि के लिए किया जाता है। अत: यद्यपि मुनिराज का जीवन तो वैराग्य की साक्षात् मूर्ति होता है; वे तो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि होते हैं; उनके जीवन में तो इन भावनाओं का चिन्तन एवं उसका फल प्रगट भी हो ही जाता है, तो भी वैराग्यभाव की विशेष वृद्धि के लिए वे इनका चिन्तन करते हैं। सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक भी अपने वैराग्यभाव की वृद्धि के लिए इन वैराग्यमय भावनाओं का चिन्तन करते हैं। प्रथमानुयोग के उल्लेख इस बात के साक्षी हैं कि जितने भी तीर्थङ्कर गृहस्थदशा का परित्याग कर मुनिधर्म अङ्गीकार करते हैं, वे सभी इन बारह -भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

यद्यपि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को भी इनके चिन्तन का निषेध नहीं है, तथापि उसे वस्तुस्वरूप का सम्यक् बोध न होने से, उसके चिन्तन में समीचीनता नहीं होती। वह शरीरादि की अनित्यतादि के चिन्तन से उनके प्रति समभाव न लाकर द्वेषभाव भी उत्पन्न कर लेता है; अत: उसे सर्वप्रथम आगम के आधार पर सत्य वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

---

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८९, ९०; २. भगवती आराधना, १८७४; ३. सर्वार्थसिद्धि, ९/७

दूसरी बात यह भी है कि इन बारह भावनाओं का वर्णन संवर के कारणों के अन्तर्गत आया है और मिथ्यादृष्टि को संवर नहीं होता है; अत: उसके सच्ची बारह भावनाएँ नहीं होती हैं। हाँ, वह वस्तुस्वरूप के निर्णयपूर्वक, इनके चिन्तन से अपने चित्त में वैराग्यमय कोमलपरिणामों के द्वारा आत्मानुभव का पुरुषार्थ करे तो उसके चिन्तन को निष्फल नहीं कहा जा सकता।

अनुप्रेक्षाओं को संवर के कारणों में गिना गया है। संवर के कारणों की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वामी कहते है कि —

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।

अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है।[१]

संवर की कारणरूप ये अनुप्रेक्षाएँ बारह प्रकार की होती हैं —

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्त्रव-संवर-निर्जरालोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः।

अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।[२]

मूलाचार एवं भगवती आराधना में भी यद्यपि अनुप्रेक्षा के बारह भेद ही प्ररूपित किये गये हैं, तथापि क्रम में अन्तर है। दोनों ग्रन्थों के अनुसार बारह भावनाओं का क्रम इस प्रकार है —

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि।

यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि संवर का एकमात्र कारण वीतराग शुद्धभाव ही है; अत: इन बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं के काल में ज्ञानी की अन्तरङ्ग शुद्ध परिणति ही संवर की कारण है; अनित्यादि का शुभभावरूप विकल्प नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर जिनागम में अनुप्रेक्षाओं के निश्चय-व्यवहार परक स्वरूप भी प्राप्त होता है। निश्चय अनुप्रेक्षा अर्थात् वीतराग परिणति और व्यवहार अनुप्रेक्षा अर्थात् उस भूमिका में वर्तनेवाला बारह प्रकार से अनुप्रेक्षाओं का शुभरागात्मक चिन्तन।

अनुप्रेक्षाओं के इन प्रकारों में निहित रहस्य के सन्दर्भ में लोकप्रिय प्रवचनकार डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के ये विचार अनुशीलन के योग्य हैं —

संसारी जीव के मुख्यरूप से स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर का ही संयोग है; इनमें सर्वाधिक नजदीक का संयोगी पदार्थ शरीर ही है। अनित्यभावना में इनकी अनित्यता, अशरणभावना में

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९/२; २. तत्त्वार्थसूत्र, ९/७

इनकी अशरणता तथा संसारभावना में इनकी दु:खरूपता व नि:सारता का चिन्तन किया जाता है। स्वयं में एकत्व और संयोगों से भिन्नत्व का विचार क्रमश: एकत्व और अन्यत्वभावना में होता है। संयोगों (शरीर आदि) की मलिनता, अपवित्रता का चिन्तन ही अशुचिभावना है।

उक्त भावनाओं के चिन्तन का विषय यद्यपि संयोग ही है; तथापि चिन्तन की धारा का स्वरूप इस प्रकार है कि संयोगों से विरक्ति हो, अनुरक्ति नहीं। अत: ये छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्योत्पादक हैं।

आस्रव, संवर और निर्जरा तो स्पष्टरूप से तत्त्वों के नाम हैं; अत: इनका चिन्तन सहज ही तत्त्वपरक होता है। बोधिदुर्लभ और धर्मभावना में भी रत्नत्रयादि धर्मों की चर्चा होने से इनका चिन्तन तत्त्वपरक ही रहता है। लोकभावना में लोक की रचना सम्बन्धी विस्तार को गौण करके यदि उसके स्वरूप पर विचार किया जाए तो उसका चिन्तन भी निश्चितरूप से तत्त्वपरक ही है।

इस प्रकार आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक एवं अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं परन्तु इसे नियम के रूप में देखना ठीक न होगा; क्योंकि यह कथन मुख्यता और गौणता की अपेक्षा से ही है।

वैराग्योत्पादक चिन्तन से भावभूमि के सरल हो जाने पर, तरल हो जाने पर, उसमें बोया हुआ तत्त्वचिन्तन का बीज निरर्थक नहीं जाता; उगता है, बढ़ता है, फलता भी है और अन्त में पूर्णता को भी प्राप्त होता है। कठोर-शुष्क भूमि में बोया गया बीज नाश को ही प्राप्त होता है, अत: जमीन को जोतने-सींचने के श्रम को निरर्थक नहीं माना जा सकता। आरम्भ की छह भावनाएँ मुख्यरूप से भावभूमि को जोतने एवं वैराग्यरस से सींचने का ही काम करती हैं; जो कि अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है; क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्तसुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है।[१]

इन बारह अनुप्रेक्षाओं का संक्षिप्त स्वरूप, आगमउद्धरणपूर्वक इस प्रकार है —

१. अनित्यानुप्रेक्षा – संसार, शरीर, भोगों की क्षणभङ्गुरता एवं स्वभाव की नित्यता का चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मात्र अनित्यता का चिन्तन ही अनित्यानुप्रेक्षा नहीं है, अपितु उस अनित्यता के साथ द्रव्यस्वभाव की नित्यता का चिन्तन भी अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना का निम्न छन्द दृष्टव्य है —

द्रव्यरूप कर सर्व थिर, परजय थिर है कौन?
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्जयनय करि गौन।

---

१. बारह भावना : एक अनुशीनल, पृष्ठ ६-७, १०

स्वभाव की नित्यता के चिन्तनपूर्वक, पर्याय को गौण करके, नित्य द्रव्यस्वभाव का अनुभव या स्वसंवेदन करना ही संवर के कारणरूप अनित्यानुप्रेक्षा है। नित्यता अथवा अनित्यता का चिन्तन तो विकल्पात्मक शुभभावरूप होने से पुण्यबन्ध का ही कारण है।

अनित्यानुप्रेक्षा का स्वरूप दर्शानेवाले कुछ आगम उद्धरण इस प्रकार हैं —

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदभिदि चिंतये णिच्चं॥

अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से आत्मा का स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिए कि यह देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पों से रहित है अर्थात् इसमें देवादिक भेद नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहनेवाला है।[१]

तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम्। तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति, तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशम -विनश्वरमात्मानं भावयति, तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। इत्यध्रुवानुप्रेक्षा मता।

अर्थात् धन स्त्री आदि सब अनित्य हैं, इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए। उस भावना सहित पुरुष का उन स्त्री आदि से वियोग होने पर भी जूठे भोजन के समान ममत्व नहीं होता, उनमें ममत्व का अभाव होने से वह, अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है। इस प्रकार वह **जैसी अविनश्वर आत्मा को भाता है; वैसी ही अक्षय, अनन्त सुखस्वभाववाली मुक्त आत्मा को वह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अध्रुव (अनित्य) भावना है।**[२]

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि॥

अर्थात् जब क्षीर-नीरवत् जीव के साथ निबद्ध यह शरीर ही शीघ्र नष्ट हो जाता है तो भोगोपभोग के कारण यह दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं — यह **अनित्यानुप्रेक्षा** है।[३]

इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि जलबुद्‌बुद्‌वदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्था -विशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित् संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनुप्रेक्षा।

अर्थात् जो समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय के विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य, जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाववाले होते हैं तथा गर्भादि अवस्था-विशेषों में सदा प्राप्त होनेवाले संयोगों से विपरीत स्वभाववाले होते हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है, परन्तु वस्तुतः आत्मा के

---

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ७; २. वृहद् द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ३५; ३. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवाय इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है; इस प्रकार चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है।[१]

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह यौवनादि कुछ ही काल में नाश को प्राप्त होते हैं; वे कोई भी पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं; किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।[२]

जोवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥[३]

२. अशरणानुप्रेक्षा — संयोगों की अशरणता एवं निश्चय से निज शुद्धात्मा व व्यवहार से पञ्च परमेष्ठी की शरणरूपता का चिन्तन **अशरणानुप्रेक्षा** है।

शुद्धातम अरु पञ्चगुरु, जग में सरनौ दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥[४]

जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है; इसलिए वास्तव में जो कर्मों की बन्ध, उदय और सत्ता अवस्था से जुदा है, वह आत्मा ही इस संसार में शरण है अर्थात् संसार में अपनी आत्मा के सिवाय अपना और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। यह स्वयं ही कर्मों को खिपाकर जन्म, जरा, मरणादि के कष्टों से बच सकता है।

हे भव्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शरण हैं। परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।[५]

निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो शुद्धात्मद्रव्य और उसकी बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत पञ्चपरमेष्ठियों की आराधना, यह दोनों शरणभूत हैं; उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भौंहरा, मणि, मन्त्र-तन्त्र, आज्ञा, महल और औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ; ये कोई भी मरणादि के समय शरणभूत नहीं होते। जैसे महावन में व्याघ्र द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को अथवा समुद्र में जहाज से छूटे पक्षी को कोई शरण नहीं है। अन्य पदार्थों को अपना शरण न जानकर आगामी भोगों की आकाँक्षारूप निदान-बन्ध आदि का अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभव से उत्पन्न सुखरूप अमृत का धारक निज शुद्धात्मा का ही अवलम्बन करके, उस शुद्धात्मा की भावना करता है। **जैसी आत्मा को यह शरणभूत भाता है, वैसे ही सदा शरणभूत, शरण में आये हुए के लिए वज्र के पिंजरे के समान, निज शुद्धात्मा को प्राप्त होता है।**[६]

---

१. सवार्थसिद्धि, ९/७/४१३; २. छहढाला ५/३ भावार्थ; ३. छहढाला ५/३; ४. बारसाणुवेक्खा, गाथा ११
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०; ६. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५

मरते समय प्राणियों को तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक, हाथी, घोड़ा, रथ और जितनी विद्याएँ, ये कोई भी शरण नहीं हैं अर्थात् ये सब उन्हें मरने से नहीं बचा सकते — यह **अशरणानुप्रेक्षा** है।[१]

जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और माँस के लोभी बलवान व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृगशावक के लिए कुछ भी शरण नहीं होता; उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दु:खों के मध्य में परिभ्रमण करनेवाले जीव को कुछ भी शरण नहीं है। परिपुष्ट हुआ शरीर भी भोजन करने के लिए सहायक है, परन्तु दु:खों के प्राप्त होने पर वह भी सहायक नहीं है। यत्न से सञ्चित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दु:ख को समानरूप से बाँट लिया है — ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते। सब मिलकर इकट्ठे हुए बन्धुजन भी रोग से व्याप्त इस जीव की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दु:खरूपी महासमुद्र में तरने का उपाय हो सकता है। मृत्यु के द्वारा ले जानेवाले इस जीव को सहस्रनयन इन्द्र आदि भी शरण नहीं हैं, इसलिए संसाररूपी विपत्ति स्थान में धर्म ही शरण है, वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ भी शरण नहीं है; इस प्रकार की भावना करना, **अशरणानुप्रेक्षा** है।[२]

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि अशरणानुप्रेक्षा में पञ्च परमेष्ठी, धर्म इत्यादि को शरण कहा गया है तो क्या मृत्युकाल आने पर अथवा रोगादि होने पर वे उसे बचाते होंगे?

समाधान यह है कि भाई! पञ्चपरमेष्ठी अथवा धर्म की शरण का आशय यह नहीं है कि वे मृत्युकाल अथवा रोगादि का अभाव कर देते हैं और न इस उद्देश्य से उनकी शरण अङ्गीकार की जाती है। बात इतनी-सी है कि मृत्यु काल अथवा रोगादि की दशा में होनेवाले आकुलता-व्याकुलतारूप आर्तपरिणाम पञ्चपरमेष्ठी अथवा निज शुद्धात्मा के आश्रयरूप धर्म की शरण से नहीं होते, यही उनकी शरण का प्रयोजन भी है। मरण अथवा रोगादिरूप अवस्था तो जब जैसी होनी है, होकर ही रहती है; उसे टालने में तो इन्द्र, अहमिन्द्र और जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।

यद्यपि अनित्य एवं अशरण अनुप्रेक्षा में संयोगों की अनित्यता एवं अशरणता के चिन्तवनपूर्वक निज भगवान आत्मा की ध्रुवता एवं शरणरूपता का चिन्तवन होता है, उस स्वभाव का आश्रय होता है, तथापि दोनों में मूलभूत अन्तर भी है, जो इस प्रकार है —

अनित्य भावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्य स्वभाव का चिन्तन होता है और अशरण भावना में उनके ही अशरण स्वभाव का चिन्तन किया जाता है। अनित्यता के समान अशरणता भी वस्तु का स्वभाव है। जिस प्रकार अनित्य स्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, नित्य परिणमन करती है; उसी प्रकार अशरण स्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिए पर की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण की आवश्यकता परतन्त्रता की सूचक है, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्णत: स्वतन्त्र है।

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८; २. सर्वार्थसिद्धि ९/७

अनित्य भावना का केन्द्रबिन्दु है — **मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार** और अशरण भावना कहती है — **मरतैं न बचावे कोई —** यही इन दोनों का मूलभूत अन्तर है।[१]

३. संसारानुप्रेक्षा — चतुर्गतिरूप परिभ्रमण एवं पञ्चपरावर्तनरूप संसार के दु:खों के चिन्तनपूर्वक संसार की असारता एवं निजस्वभाव का साररूप चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा** है।

चहुँगति दु:ख जीव भरे हैं, परिवर्तन पञ्च करै हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा॥[२]

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं —

कम्मणिमित्तं जोवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारी णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को॥

अर्थात् यद्यपि यह जीव कर्म के निमित्त से संसाररूपी बड़े भारी वन में भटकता रहता है, परन्तु निश्चयनय से यह जीव कर्म से रहित है और इसीलिए इसका भ्रमणरूप संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है।[३]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार का चिन्तवन करते हुए इस जीव का, संसाररहित निज शुद्धात्मज्ञान का नाश करनेवाले तथा संसार की वृद्धि के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में परिणाम नहीं जाता, किन्तु वह संसारातीत सुख के अनुभव में लीन होकर निज शुद्धात्मज्ञान के बल से संसार को नष्ट करनेवाले निज निरञ्जन परमात्मा में भावना करता है। **तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से विलक्षण मोक्ष में अनन्तकाल तक रहता है।** इस प्रकार **संसारानुप्रेक्षा** पूर्ण हुई।[४]

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं॥

अर्थात् यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नहीं देता हुआ जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भय से भरे हुए पाँच प्रकार के संसार में अनादिकाल से भटक रहा है।[५]

कर्म-विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना, संसार है। उसका पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप से व्याख्यान होता है। उसमें अनेक योनियों और लाखों-करोडों कुलों से व्याप्त उस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्र से प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है; माता होकर भगिनी, भार्या और पुत्री होता है; स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रङ्गस्थल में नट नानारूप धारण करता है, उसी प्रकार यह होता है अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा** है।[१]

---

१. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ २१ व ३१; २. छहढाला ५/५; ३. बारसाणुवेक्खा, गाथा ३७;
४. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०५; ५. बारसाणुवेक्खा, गाथा २४

आत्मा की चार अवस्थाएँ होती हैं – संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण। अनेक योनिवाली चार गतियों में भ्रमण करना, **संसार** है। शिवपद के परमामृत सुख में प्रतिष्ठित होना, असंसार (मोक्ष) है। चतुर्गति में भ्रमण न होने से और मोक्ष की प्राप्ति न होने से सयोगकेवली की जीवन-मुक्ति अवस्था होना, **ईषत् संसार या नोसंसार** है। अयोगकेवली की अवस्था होना, **इन तीनों से विलक्षण** है। अभव्य तथा भव्य सामान्य की दृष्टि से संसार अनादि-अनन्त है। भव्य विशेष की अपेक्षा अनादि-सान्त है। नोसंसार आदि-सान्त है। असंसार सादि-अनन्त है। तीनों से विलक्षण का काल अन्तर्मुहूर्त है। नोसंसार का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक लाख करोड़ पूर्व है। सादि-सान्त संसार का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल अर्द्धपुद्‌गलपरावर्तन काल है।[२]

बहुत पुण्य के उदय से यह मानव की उत्तम देह मिली, परन्तु फिर भी भवचक्र में किञ्चित् भी हानि नहीं कर सका। अरे! अब शीघ्र अपनी आत्मा को पहिचानकर, सर्व आत्माओं को समदृष्टि से देख और इस वचन को हृदय में रख।[३]

संसार अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत पञ्च परावर्तन का स्वरूप भी विचारणीय है परन्तु मात्र उनका स्वरूप विचारना ही पर्याप्त नहीं है, उससे हमें क्या बोध लेना चाहिए – यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में निम्न आगम उल्लेख पर्याप्त हैं —

यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप है, दुःखों से परिपूर्ण है और अशुभ है — ऐसे संसार में प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं —

द्रव्य-संसार – इन तीनों लोकों में ऐसे कोई पुद्‌गल नहीं हैं, जो इस जीव ने कर्म, नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनन्त बार ग्रहण न किये हों और अनन्त बार ही न छोड़े हों। **क्षेत्र-संसार** – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ पर संसार में परिभ्रमण करते हुए यह जीव उत्पन्न न हुआ हो अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। **काल-संसार** – इसी प्रकार इस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है, जिसमें यह प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से न जन्मा हो और न मरा हो। **भव -संसार** – इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से ग्रैवेयक विमान के अन्त तक ऐसी कोई योनि नहीं है, जो इस जीव ने न ग्रहण की हो और मरकर न छोड़ी हो। **भाव-संसार** – विषयों में अन्धे हुए जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा आत्मा में निरन्तर पुद्‌गलात्मक कर्मों का बन्ध करता रहता है।[४]

श्री ब्रह्मदेवसूरि ने इन पाँच परावर्तनरूप संसार का वर्णन अध्यात्मरस गर्भित शैली में निम्न प्रकार किया है —

इस जीव ने पूर्व में मिले हुए, पूर्व में नहीं मिले हुए और मिश्र — ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न पुद्‌गलद्रव्यों

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/४१५; २. राजवार्तिक ९/७, ३;

३. श्रीमद् राजचन्द्र, अमूल्य तत्त्व विचार; ४. मूलाचार प्रदीप, ३०३८-३०४३

को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप से तथा शरीर के पोषण के लिए भोजन, पान आदि पाँच इन्द्रिय के विषयरूप नोकर्मरूप से अनन्त बार ग्रहण कर छोड़ा है; यह **द्रव्य-संसार** है।

सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण स्व-शुद्धात्मद्रव्य सम्बन्धी असंख्य प्रदेशों से भिन्न जो लोकाकाश के प्रदेश हैं, उनमें एक-एक प्रदेश में व्याप्त होकर इस जीव ने अनन्त बार जन्म या मरण न किया हो — ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है; यह **क्षेत्र-संसार** है।

स्व-शुद्धात्मा के अनुभवरूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर, दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल और दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके, इस जीव ने अनन्त बार जन्म या मरण न किया हो — ऐसा कोई भी समय नहीं है; यह **काल-संसार** है।

भवनाशक निजशुद्धात्मभावना से रहित होकर और भव-उत्पादक मिथ्यात्व-रागादिभावना से सहित होकर इस जीव ने अनन्त बार जन्म और मरण किया है; यह **भव-संसार** है।

समस्त प्रकृतिबन्ध आदि के सम्पूर्ण नाश के कारणरूप विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भाव ही इस जीव ने प्राप्त नहीं किया है; यह **भाव-संसार** है।[१]

इन पञ्च परावर्तन का स्वरूप जानकर इनके अभाव के लिए पञ्चम परम पारिणामिकभाव का आश्रय ही कार्यकारी है।

४. एकत्वानुप्रेक्षा — जन्म, जरा, मरण की आवृत्तिरूप महादु:ख का अनुभव करने के लिए अकेला ही मैं हूँ; न कोई मेरा स्व है और न कोई पर है; अकेला ही मैं जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ; मेरा कोई स्वजन या परजन, व्याधि, जरा और मरण आदि के दु:खों को दूर नहीं करता; बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। बस! धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला नित्य सहायक है। इस प्रकार चिन्तवन करना **एकत्वानुप्रेक्षा** है।[२]

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुवादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा॥

अर्थात् मैं एक हूँ, ममतारहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूँ, इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय है — ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए।[३]

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सब जगह सुन्दर है; इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा विसंवाद-विरोध करनेवाली है।[४]

---

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ३५; २. सर्वार्थसिद्धि, ९/७
३. बारसाणुवेक्खा, गाथा २०; ४. समयसार, गाथा ३

निश्चय से केवलज्ञान ही एक सहज या स्वाभाविक शरीर है, सप्तधातुमयी यह औदारिक शरीर नहीं। निजात्म तत्त्व ही एक सदा शाश्वत व परम हितकारी है, पुत्र कलत्रादि नहीं। स्वशुद्धात्म पदार्थ ही एक अविनश्वर व परम हितकारी परम धन है, सुवर्णादिरूप धन नहीं। स्वभावात्मक सुख ही एक सुख है, आकुलता उत्पादक इन्द्रिय सुख नहीं। स्वशुद्धात्मा ही एक सहायी है। इस प्रकार एकत्व भावना का फल जानकर निरन्तर शुद्धात्मा में एकत्व भावना करनी चाहिए। इस प्रकार एकत्व भावना कही गयी।[१]

यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है अर्थात् अन्य कोई इसका साथी नहीं है।[२]

इसी प्रकार के भाव प्राचीन भजनों में भी अभिव्यक्त हुए हैं —

जीव तू भ्रमत सदैव अकेला, संग साथी नहीं कोई तेरा।
अपना सुख-दुख आपहि भुगते, होत कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भयैं सब बिछरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला॥[३]

जीवन-मरण, सुख-दु:ख आदि प्रत्येक स्थिति को जीव अकेला ही भोगता है, किसी भी स्थिति में किसी का साथ सम्भव नहीं है। वस्तु की इसी स्थिति का चिन्तन एकत्व भावना में गहराई से किया जाता है।

एक बात और भी है कि इस दु:खमय संसार में कहने के साथी तो बहुत मिल जायेंगे, पर सगा साथी -वास्तविक साथी कोई नहीं होता क्योंकि वस्तुस्थिति के अनुसार कोई किसी का साथ दे ही नहीं सकता।[४]

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा — शरीरादि जो बाह्य द्रव्य हैं, वे भी सब अपने से जुदा हैं और मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तवन करना ही **अन्यत्वानुप्रेक्षा** है।[५]

शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यथा बन्ध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं शरीर से अन्य हूँ', शरीर ऐन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए भूतकाल में मैंने लाखों शरीर धारण किये हैं, परन्तु उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीर से ही जब मैं अन्य हूँ, तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य है? इस प्रकार मन का समाधान होने पर शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती।[६]

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं, तस्स अण्णत्तं॥

---

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा १४; ३. भागचन्दजी कृत भजन
४. बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ५३; ५. बारसाणुवेक्खा, गाथा १३; ६. सर्वार्थसिद्धि, ६/७

अर्थात् जो जीव अपने स्वरूप से देह को परमार्थ से भिन्न जानकर आत्मस्वरूप को सेता है अर्थात् ध्यान करता है, उसके अन्यत्व भावना कार्यकारिणी है।[१]

जा तन में नित जिय वसै, सो न आपनो होय।
तो प्रतक्ष जो पर दरब, कैसे अपने होय॥

अर्थात् जिस शरीर में जीव नित्य रहता है, जब वह शरीर ही अपना नहीं होता, तब जो परद्रव्य प्रत्यक्ष पर है, वे अपने कैसे हो सकते हैं ?[२]

लोकप्रिय दार्शनिक चिन्तक बाबू 'युगलजी' के शब्दों में —

मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ।
निज में पर से अन्यत्व लिये, निज समरस पीनेवाला हूँ॥[३]

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ये सब जीव से जुदे हैं।[४]

मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है — ऐसा अज्ञानीजन कहते हैं। इस संसार में जब शरीर ही अपना नहीं, तब पुत्र धनादि कैसे अपने हो सकते हैं।[५]

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय॥[६]

जल-पय ज्यौं जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुतरामा॥[७]

एकत्व एवं अन्यत्वानुप्रेक्षा में अन्तर दर्शाते हुए ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं —

एकत्वानुप्रेक्षा में तो 'मैं अकेला हूँ' इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्वानुप्रेक्षा में 'देह आदि पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेधरूप से वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि-निषेध का ही अन्तर है, तात्पर्य दोनों का एक ही है।[८]

६. अशुचि-अनुप्रेक्षा — वैराग्यभाव के उद्देश्य से देह के अपावनस्वरूप के चिन्तनपूर्वक, निज स्वभाव की पवित्रता का चिन्तन करना ही **अशुचि-अनुप्रेक्षा** है।

वास्तव में आत्मा देह से जुदा है, कर्मों से रहित है, अनन्त सुखों का घर है, इसलिए शुद्ध है, इस प्रकार निरन्तर भावना करते रहना चाहिए।[९]

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८२; २. दीपचन्दशाह कृत बारह भावना; ३. बाबू युगलजी कृत बारह भावना
४. बारसाणुवेक्खा, गाथा २१; ५. धम्मपद ५/३; ६. भूधरदासजी कृत बारह भावना, छन्द ५
७. छहढाला ५/६; ८. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५, टीका ; ९. बारसाणुवेक्खा, गाथा ४६

अपवित्र होने से, सात धातुमय होने से, नाकादि नौ छिद्र द्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्टा आदि अशुचि-मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नहीं है; किन्तु यह शरीर स्वरूप से भी अशुचि है और अशुचि मल आदि का उत्पादक होने से अशुचि है... निश्चय से अपने आप पवित्र होने से यह परम आत्मा ही शुचि या पवित्र है।.... 'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस वचन से आत्मा ही में चर्या करनेवाले ब्रह्मचारी मुनि के ही पवित्रता है। जो काम-क्रोधादि में लीन जीव हैं, उनके जलस्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है।... आत्मारूपी शुद्ध नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है, लौकिक गंगादि तीर्थ में स्नान करना नहीं।... इस प्रकार अशुचित्व-अनुप्रेक्षा का कथन हुआ।[१]

निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निज भाव को, या सो तजो सनेह॥[२]

जल में सेवाल काई है सो मल या मैल है, उस सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं इसलिए वे अशुचि हैं-अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप से ज्ञायक है, इसलिए अत्यन्त शुचि ही है-पवित्र ही है-उज्ज्वल ही है।[३]

यह देह दुर्गन्धमय है, डरावनी है, मलमूत्र से भरी हुई है, जड़ है, मूर्तिक है और क्षीण होनेवाली है तथा विनाशीक स्वभाववाली है; इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिए।[४]

अर्थ और काम पुरुषार्थ तथा सर्व मनुष्यों का देह अशुभ है, अशुचि है। एक धर्म ही शुभ है और सर्व सौख्यों का दाता है। अर्थ पुरुषार्थ से इसलोक और परलोक के दु:ख मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। अर्थ पुरुषार्थ के वश होकर पुरुष अन्याय करता है, चोरी करता है और राजा से दण्डित होता है और परलोक नरक आदि में नाना दु:खों का अनुभव करता है, इसलिए अर्थ माने धन अनर्थ का कारण है, महाभय का कारण है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह अर्गला के समान प्रतिबन्ध करता है। काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है, इससे आत्मा नीच होती है, इसकी सेवा से आत्मा दुर्गति में दु:ख पाता है, यह पुरुषार्थ अल्पकाल में ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है और प्राप्त होने में कठिन है।[५]

पल रूधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी॥[६]

जिसके शृङ्गारों में मेरा, यह महँगा जीवन घुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड़ काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥[७]

७. आस्रवानुप्रेक्षा — आस्रवभाव अशुचि हैं, विपरीत हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:ख के कारण हैं, दु:खरूप हैं और दु:खरूप ही फलवाले हैं — ऐसा विचार करके शुभाशुभ आस्रवभावों से भिन्न

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका; २. जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारहभावना; ३. समयसार, गाथा ७२ टीका;
४. बारस अणुवेक्खा, ४४; ५. भगवती आराधना, १८१३-१८१५; ६. छहढाला ५/८; ७. बाबू युगलजी कृत बारह भावना

भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि है, अविपरीत स्वभाववाला है, ध्रुव है, नित्य है, परमशरणभूत है, सुख का कारण है, सुख स्वरूप है और सुखरूप ही फलवाला है — ऐसा चिन्तवन करना ही यथार्थ **आस्त्रवानुप्रेक्षा** है।

जो पाउ वि सो पाउ सुणि सव्व इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ॥

अर्थात् पाप को पाप तो सारा जगत जानता है; ज्ञानी तो वह है, जो पुण्य को भी पाप जाने। तात्पर्य यह है कि जो पापास्त्रव के समान पुण्यास्त्रव को भी हेय मानता है, वही ज्ञानी है।[१]

पुव्वत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उदयासवणिम्मूक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं॥

अर्थात् पूर्वोक्त आस्त्रव मिथ्यात्व आदि भेद निश्चयनय से जीव के नहीं होते हैं, इसलिए निरन्तर ही आत्मा को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के आस्त्रवों से रहित चिन्तवन करना चाहिए।[२]

आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाम मय, आस्त्रव भाव विडार॥[३]

कर्मों का आस्त्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं हो सकता है, इसलिए संसार में भटकानेवाले आस्त्रव को बुरा समझना चाहिए।[४]

आस्त्रवभाव इस लोक और परलोक में दु:खदायी हैं। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप हैं। कषाय आदि भी इस लोक में, वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दु:खों को उत्पन्न करते हैं तथा परलोक में नाना प्रकार के दु:खों से प्रज्ज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्त्रव के दोषों को चिन्तवन करना **आस्त्रवानुप्रेक्षा** है।[५]

आस्त्रवभाव और आस्त्रवभावना में मूलभूत अन्तर यह है कि आस्त्रवभाव तो दु:ख स्वरूप है, जबकि आस्त्रवभावना आस्त्रवभाव के विपरीत संवर स्वरूप है, संवर की कारण है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में बारह भावनाओं को संवर की कारण कहा है, अत: आस्त्रवभावना भी संवर की कारण सिद्ध हुई। वास्तव में आस्त्रवभावना के अन्तर्गत आस्त्रव के स्वरूप का अच्छी तरह चिन्तन करके आस्त्रवभाव के त्याग की भावना भायी जाती है, न कि आस्त्रवभाव करने की; इसलिए आस्त्रवभाव और आस्त्रवभावना में परस्पर विपरीतता होने से छत्तीस का आँकड़ा है।

८. संवरानुप्रेक्षा — आस्त्रव का विरोध करना संवर है। यह संवर सुखस्वरूप है, सुख का कारण है, मोह–राग–द्वेष से विपरीत, सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्रमय है, रत्नत्रय स्वरूप है, मोक्ष का कारण है।

---

१. योगसार दोहा ७१; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६०; ३. जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना
४. बारसाणुवेक्खा, गाथा ५९; ५. सर्वार्थसिद्धि, ६/७/४१६

निश्चय गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र सभी संवर के कारण हैं। इस संवर से नवीन कर्म आने से रुकते हैं। जबकि व्यवहार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से मात्र पाप का संवर होने से पुण्यबन्ध भी होता है। अत: निश्चय से व्यवहार गुप्ति आदि से पुण्यबन्ध ही होता है। मात्र पाप का संवर होने से उन्हें व्यवहार से संवर कहा जा सकता है — इस प्रकार विचार करना **संवर भावना** है।[1]

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं॥[2]

शुद्धनिश्चयनय से जीव के संवर ही नहीं है; इसलिए संवर के विकल्प से रहित आत्मा का निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए।

जैसे समुद्र के जहाज में होनेवाले छेदों के बन्द हो जाने पर जल के न घुसने से निर्विघ्नतया समय पर किनारे को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव-छिद्रों के मुँह बन्द हो जाने पर कर्मरूपी जल के न घुसने से केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्नों से पूर्ण मुक्तिरूपी संसार के किनारे को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है — ऐसे संवर के गुणों के चिन्तवनरूप **संवरानुप्रेक्षा** जानना चाहिए।[3]

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्॥

अर्थात् यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है, इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।[4]

निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरैं पाप की हानि॥[5]

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥[6]

मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभोपयोग का संवर होता है और केवल आत्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग से शुभयोग का संवर होता है तथा शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं; इसलिए संवर का कारण ध्यान है — ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए।[7]

जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढँके रहने पर, क्रम से झिरते हुए जल से उसके व्याप्त होने पर, उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढँके रहने पर निरुपद्रवरूप

---

१. छहढाला ५/१०; २. बारसाणुवेक्खा, ६५; ३. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका; ४. समयसार, कलश १२९
५. जयचन्दजी की कृत बारह भावना; ६. दौलतरामजी की कृत बारह भावना; ७. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६३, ६४

से अभिलषित देशान्तर की प्राप्त होना अवश्यम्भावी है; उसी प्रकार कर्मागमद्वार के ढँके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तवन करना **संवरानुप्रेक्षा** है।[१]

समिति गुप्ति अनुपेहा धर्म, सहन परीषह संजम पर्म।
ये संवर कारन निर्दोष, संवर करे जीव को मोष॥[२]

९. निर्जरानुप्रेक्षा — निर्जरा के गुण-दोष का चिन्तन करना, **निर्जरानुप्रेक्षा** है।[३]

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥[४]

अर्थात् शुभाशुभभाव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के तप करता है; वह नियम से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है।

जो समसोक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इन्दियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा॥

अर्थात् जो साम्यभावरूप सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, ध्यान करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है; उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।[५]

निज परमात्मानुभूति के बल से निर्जरा करने के लिए दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षादिरूप विभावपरिणाम के त्यागरूप, संवेग तथा वैराग्यरूप परिणामों के साथ रहना, वह **निर्जरानुप्रेक्षा** है।[६]

निर्जरा दो प्रकार की है — स्वकालपक्व और तप द्वारा होनेवाली। इनमें से पहली तो चारों गतिवाले जीवों के होती है और दूसरी केवल व्रतधारी श्रावक और मुनियों के होती हैं।[७]

अहङ्कार और निदान रहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्यभावना से निर्जरा होती है।[८]

वेदनाविपाक का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की हैं - अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो **अबुद्धिपूर्वा** (सविपाक) निर्जरा होती है, वह अकुशलानुबन्धा है तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह **कुशलमूला** (अविपाक) निर्जरा है, वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण दोषों का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।[९]

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥[१०]

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/४१७; २. भूधरदासजी कृत बारह भावना; ३. सर्वार्थसिद्धि, ९/७
४. पञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १४४; ५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ११४; ६. वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका
७. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६७; ८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०२; ९. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; १०. छहढाला ५/११

१०. लोकानुप्रेक्षा — छह द्रव्यों के समुदायरूप इस लोक को न तो किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इस लोक में यह आत्मा अनादिकाल से समताभाव बिना भ्रमण करता हुआ अनन्त दु:ख सह रहा है — ऐसा चिन्तन करना, **लोकानुप्रेक्षा** है।।

यह जीव अशुभ भाव से नरक तथा तिर्यञ्च गति पाता है, शुभ उपयोग से देव तथा मनुष्य गति प्राप्त करता है और शुद्धभाव से मोक्ष प्राप्त करता है इस प्रकार लोक भावना का चिन्तन करना चाहिए।[१]

यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यं लोक एवोच्यते। कथं? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्।

अर्थात् यद्यपि लोक अनेक प्रकार का है अर्थात् लोक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; तथापि यहाँ लोक शब्द से जीवद्रव्य को ही लोक कहा जा रहा है; क्योंकि यहाँ जीव की धर्म प्रवृत्ति का प्रकरण चल रहा है।[२]

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकते हैं; उसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मा के सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में शुद्धात्मा आदि सभी पदार्थ आलोकित होते हैं, दिखाई देते हैं, ज्ञात होते हैं — इस कारण वह आत्मा ही निश्चयलोक है अथवा उस निश्चयलोकरूप निजशुद्धात्मा में अवलोकन ही निश्चयलोक है तथा समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागपूर्वक निजशुद्धात्म भावना से उत्पन्न परमसुखामृतरस के स्वाद के अनुभवरूप, आनन्दरूप जो भावना है; वही निश्चय से लोकभावना है, शेष सब व्यवहार है।[३]

इस लोक में जीव अपने कर्मों से उपार्जन किये सुख-दु:ख को भोगते हैं और इस भयङ्कर भवसागर में जन्म-मरण को बारम्बार अनुभव करते हैं। इस संसार में जो माता है, वह पुत्री हो जाती है, पुत्री माता हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक हो जाती है। तेज और प्रताप में अधिक बल-वीर्य से परिपूर्ण राजा भी कर्मवश अशुचि (मैले) स्थान में लट होता है; इसलिए ऐसे संसार में रहने को धिक्कार हो, लोक के स्वभाव को धिक्कार हो, जहाँ देवता और महान ऋद्धिवाले इन्द्र भी अनुपम सुख को भोगकर, पश्चात् दु:ख भोगनेवाले होते हैं। इस प्रकार संक्षेप में लोक को निस्सार (तुच्छ) जानकर तथा पञ्चपरावर्तनरूप संसार को अनन्त जानकर अनन्तसुख के स्थान मोक्ष का यत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए।[४]

एक देश से दूसरे देश को जानेवाले पुरुष के समान इस जीव को सारे जगत में बन्धुलाभ होता है, किसी जीव के साथ इसका पिता-पुत्र आदिरूप सम्बन्ध नहीं हुआ, ऐसा कोई नहीं है, अत: सर्व जीव इसके सम्बन्धी हैं। यह जगत् बिजली के समान चञ्चल है, समुद्र के फेन के समान दुर्बल है, व्याधि और मृत्यु से पीड़ित है। ज्ञानी पुरुष इसे दु:खों से भरा हुआ देखकर, इसमें कैसे प्रीति कर सकते हैं अर्थात् ज्ञानी इस लोक से प्रेम नहीं करते, इसके ऊपर माध्यस्थभाव रखते हैं।[५]

---

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ४२; २.भगवती आराधना, गाथा १७९२; ३. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका
४. मूलाचार, गाथा ७१५-७१९; ५. भगवती आराधना, गाथा १७९८, १८१२

अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्य देश में स्थित लोक के आकारादिक का वर्णन करके, उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना, **लोकानुप्रेक्षा** है।[१]

११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा — रत्नत्रयरूप बोधि की दुर्लभता एवं अदुर्लभता का विचार करके, उस उपाय के प्रति प्रवर्तित होना **बोधिदुर्लभ भावना** है।

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि॥
कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं॥[२]

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय की चिन्ता करने को अत्यन्तदुर्लभ बोधिभावना कहते हैं, क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का पाना अत्यन्त कठिन है। क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मों के उदय से, उत्पन्न होता है, इसलिए हेय है अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वद्रव्य अर्थात् निज आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न होता है, इसलिए उपादेय है।

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं।[३]

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि तो आत्मा का स्वभावभाव है; अत: निश्चय से दुर्लभ नहीं है। संसार में उसकी प्राप्ति कठिन है — यह तो मात्र व्यवहार से कहा जाता है।

अन्तिम ग्रीवक लौ की हद, पायो अनन्त बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥[४]

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से यह सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। जिस प्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका का मिलना दुर्लभ है; उसी प्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

त्रसपर्याय में विकलत्रयों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रियों) की बहुलता है। जिस प्रकार गुणों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है; उसी प्रकार त्रसपर्याय में पञ्चेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पञ्चेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, मृग, पक्षी और सर्पादि तिर्यञ्चों की ही बहुलता है। अत: जिस प्रकार चौराहे पर पड़ी हुई रत्नराशि का प्राप्त होना कठिन है; उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८३-८४
३. बारहभावना: एक अनुशीलन, पृष्ठ १४७; ४. पण्डित दौलतरामजी कृत बारह भावना

यदि एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गई तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुनः हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए। इन सबके मिल जाने पर भी यदि सच्चे धर्म की प्राप्ति न हुई तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ है; उसी प्रकार सद्धर्म बिना मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है।

इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त धर्म को पाकर भी विषयसुख में रंजायमान होना भस्म के लिए चन्दन जला देने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सहज समाधि का, सुख से मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है — ऐसा विचार करना ही **बोधिदुर्लभ भावना** है।[१]

यदि काकतालीयन्याय से इन मनुष्यगति, आर्यत्व, तत्त्वश्रवणादि सबकी प्राप्ति हो जाए तो भी इनके द्वारा प्राप्त करनेरूप जो ज्ञान है, उसके फलभूत जो शुद्धात्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परम-समाधि है, वह दुर्लभ है।.... इसलिए उसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। पहले अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाता है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना, सो **समाधि** है — ऐसा संक्षेप से बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का कथन समाप्त हुआ।[२]

यहाँ प्रश्न सम्भव है कि बोधिदुर्लभ भावना में रत्नत्रयरूप बोधि को कहीं सुलभ तो कहीं दुर्लभ बताया गया है ? तो इसमें सत्यता क्या है ?

समाधान यह है कि भाई ! उक्त दोनों प्रकार के कथन परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक ही हैं। लोकभावना और धर्मभावना के बीच में समागत बोधिदुर्लभभावना का मूल अभिप्रेत यह है कि यह आत्मा इस षट्द्रव्यमयी विस्तृत लोक से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्दस्वभावी निजलोक को जानकर-पहिचानकर, उसी में जम जाने, रम जानेरूप रत्नत्रयस्वरूप धर्मदशा को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर अनन्त सुखी हो।

अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उपलब्ध मनुष्यपर्याय की दुर्लभता का भान कराया जाता है और फिर उसकी सार्थकता के लिए रत्नत्रय प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए रत्नत्रय की दुर्लभता का भान कराया जाता है। तदर्थ भरपूर प्रेरणा भी दी जाती है। साथ ही संयोग अनेक बार उपलब्ध हो गये हैं — यह बताकर उनके प्रति विद्यमान आकर्षण को कम किया जाता है।

किन्तु जब यह जीव बोधिलाभ को अत्यन्त कठिन मानकर अनुत्साहित होकर पुरुषार्थहीन होने लगता है, तो उसके उत्साह को जागृत रखने के लिए उसकी सुलभता का ज्ञान भी कराया जाता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; २. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका;

अत: बोधि की दुर्लभता और सुलभता — दोनों ही एक ही उद्देश्य की पूरक हैं और काल्पनिक भी नहीं, अपितु सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। बोधिलाभ स्वाधीन होने से सुलभ भी है और अनादिकालीन अनुपलब्धि एवं अनभ्यास के कारण दुर्लभ भी।

तात्पर्य यह है कि बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता बताकर उनकी प्राप्ति के लिए सतर्क किया जाता है और सुलभता बताकर उसके प्रति अनुत्साह को निरुत्साहित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि बोधिदुर्लभभावना के चिन्तन में दोनों पक्ष समानरूप से उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।[१]

१२. धर्मानुप्रेक्षा — निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विचार/चिन्तन करके, बारम्बार धर्म भावना करना **धर्मानुप्रेक्षा** है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झस्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं॥[२]

अर्थात् जीव निश्चयनय से सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनिधर्म से बिलकुल जुदा है, इसलिए राग-द्वेषरहित मध्यस्थ परिणामों से शुद्ध स्वरूप आत्मा का ही सदा ध्यान करना चाहिए।

समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया॥

अर्थात् समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना — इन सबको धर्म कहा जाता है।[३]

उत्तम सुख में लीन जिनदेव ने कहा है कि श्रावकों और मुनियों का धर्म सम्यक्त्वसहित होता है तथा क्रम से ग्यारह प्रकार का और दश प्रकार का है। जो जीव श्रावकधर्म को छोड़कर मुनियों के धर्म का आचरण करता है, वह मोक्ष को नहीं छोड़ता है अर्थात् अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है; इस प्रकार धर्मभावना का नित्य ही चिन्तन करते रहना चाहिए।[४]

जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म-विपाक से जायमान दु:ख को अनुभव करते हुए जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं, परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है, ऐसा चिन्तन करना **धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा** है।[५]

१. बारह भावना: एक अनुशीलन, पृष्ठ १४८-१४९ एवं १५०; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८२
३. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ३५७; ४. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६८-८१
५. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/४१९

याचे सुरतरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन।
बिन याचे बिन चिंतबे, धर्म सकल सुख दैन॥[१]

जप तप संयम शील पुनि, त्याग धर्म व्यवहार।
दीप रमण चिद्‌रूप निज, निश्चय वृष सुखकार॥[२]

अर्थात् हे आत्मन! जप, तप, शील, संयम और त्याग आदि तो व्यवहारधर्म हैं। सच्चा सुख देनेवाला निश्चयधर्म तो चैतन्यस्वरूप निजपरमात्मा में रमणता ही है।

संक्षिप्त में बारह भावनाओं की चिन्तन प्रक्रिया को समझाते हुए डॉ. भारिल्ल लिखते हैं —

अनित्य भावना में यह बताया जाता है कि जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है; वे क्षणभङ्गुर हैं, अनित्य हैं। पुत्र-परिवार और कंचन-कामिनी तेरे साथ सदा रहनेवाले नहीं; या तो ये तुझे छोड़कर चल देंगे या फिर तू ही जब मरण को प्राप्त होगा, तब ये सब सहज ही छूट जावेंगे।

— इस बात को सुनकर यह रागी प्राणी इनकी सुरक्षा के अनेक उपाय करता है। जब यह अपने मरणादि को टालने के उपायों का विचार करता है, तब **अशरण भावना** में यह बताया जाता है कि वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा नहीं, मणि-मन्त्र-तन्त्र नहीं; जो तुझे या तेरे पुत्रादि को मरने से बचा लें।

तब यह सोच सकता है कि न सही ये संयोग, दूसरे संयोग तो मिलेंगे ही; तब इसे **संसार भावना** के माध्यम से समझाते हैं कि संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दुःखरूप ही हैं। तब यह सोच सकता है कि मिल-जुलकर सब भोग लेंगे, उसके उत्तर में **एकत्व भावना** में दृढ़ किया जाता है कि दुःख मिल -बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे। इसी बात को नास्ति से **अन्यत्व भावना** में दृढ़ किया जाता है कि कोई साथ नहीं दे सकता। जब यह शरीर ही साथ नहीं देता तो स्त्री-पुत्रादि परिवार तो क्या साथ देंगे?

अशुचि भावना में कहते हैं कि जिस देह से तू राग करता है; वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है।

इस प्रकार आरम्भ की छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है; जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है। इन भावनाओं में देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है।

जब यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों से विरक्त होकर गुण-पर्यायरूप निजद्रव्य की सीमा में आ जाता है, तब **आस्रव भावना** में आत्मा में उत्पन्न मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हैं। यह बताते हैं कि ये

१. भूधरदासजी कृत बारह भावना; २. पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना

आस्रवभाव दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण हैं, मलिन हैं और भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, सुख का कारण है एवं अत्यन्त पवित्र है।

इस प्रकार आस्रवों से भी दृष्टि हटाकर **संवर-निर्जरा भावना** में अतीन्द्रिय आनन्दमय संवर-निर्जरा तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं, उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। फिर **लोक भावना** में लोक का स्वरूप बताकर **बोधिदुर्लभ भावना** में यह बताते हैं कि इस लोक में एक रत्नत्रय ही दुर्लभ है और सब संयोग तो अनन्तबार प्राप्त हुए, पर रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई; यदि हुई होती तो संसार से पार हो गये होते। अन्त में **धर्म भावना** में यह बताते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना ही इस मनुष्यभव का सार है। मनुष्यभव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म की प्राप्ति में ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है।[१]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनुप्रेक्षा जिनागम का बहुचर्चित विषय है। इस कार्तिकेयानुप्रेक्षा के समान ही परम पूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने भी बारसाणुवेक्खा नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना इस विषय पर की है। इनके अतिरिक्त मूलाचार, भगवती आराधना, ज्ञानार्णव, मूलाचार प्रदीप, क्षत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि, अनगार धर्मामृत इत्यादि ग्रन्थों में तथा लगभग सभी पुराण ग्रन्थों में इस विषय पर स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त होते हैं। प्राचीन एवं वर्तमान कवियों ने भी इन वैराग्य अनुप्रेक्षाओं को काव्यमय स्वर प्रदान किये हैं। यदि इन सबका सङ्कलन किया जाए तो सम्भवत: 200-300 प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का सङ्कलन हो सकता है।

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार —

प्रस्तुत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा बारह भावनाओं का वर्णन करनेवाला अत्यधिक प्राचीन ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ में ४८९ गाथाएँ हैं। इनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म — इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसङ्गवश जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन सात तत्त्वों का स्वरूप भी वर्णित है। जीव समास तथा मार्गणा के निरूपण के साथ, द्वादशव्रत, पात्रों के भेद, दाता के सात गुण, दान की श्रेष्ठता, माहात्म्य, सल्लेखना, दश धर्म, सम्यक्त्व के आठ अङ्ग, बारह प्रकार के तप एवं ध्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। आचार्य का स्वरूप एवं आत्मशुद्धि की प्रक्रिया इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णित है।

अध्रुवानुप्रेक्षा में ४-२२ गाथाएँ हैं। अशरणानुप्रेक्षा में २३-३१; संसारानुप्रेक्षा में ३२-७३; एकत्वानुप्रेक्षा में ७४-७९; अन्यत्वानुप्रेक्षा में ८०-८२; अशुचित्वानुप्रेक्षा में ८३-८७; आस्रवानुप्रेक्षा में

१. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८-१०

८८-९४; संवरानुप्रेक्षा में ९५-१०१; निर्जरानुप्रेक्षा में १०२-११४; लोकानुप्रेक्षा में ११५-२८३; बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा में २८४-३०१ एवं धर्मानुप्रेक्षा में ३०२-४३५ गाथाएँ है। ४३६ गाथा से अन्त तक द्वादशतपों का वर्णन आया है।

ग्रन्थ रचनाकार स्वामी कार्तिकेय विशेष प्रतिभा सम्पन्न बाल ब्रह्मचारी मुनि थे। ये अग्नि नामक राजा के पुत्र थे। इनकी बहिन का विवाह रोहेडनगर के राजा कोञ्च के साथ हुआ था और मुनिराज कार्तिकेय ने दारुण उपसर्ग सहन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त किया था।[१]

इनके जीवन के सन्दर्भ में निश्चितरूप से कुछ ज्ञात नहीं है, पर इतना सत्य है कि ये आत्मसाधक, वैराग्यपरायण एवं तत्त्वदृष्टा सन्त थे। बारह भावनाओं के वर्णन में समागत कारण-कार्य व्यवस्था, द्रव्य -गुण-पर्याय इत्यादि की विशद् चर्चा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रस्तुत संस्करण के सन्दर्भ में —

प्रस्तुत प्रकाशन कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर हुए **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रवचनों का सङ्कलन है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस ग्रन्थ में समागत वैराग्य एवं तत्त्वज्ञान को अपनी आध्यात्मिक शैली में प्रस्तुत कर सम्पूर्ण आत्मार्थियों पर अनुपम उपकार किया है। गुरुदेवश्री द्वारा सन् १९५२ में प्रदत्त ये प्रवचन सर्वप्रथम गुजराती सद्गुरु प्रवचन प्रसाद में एवं तत्पश्चात् श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर से २ भाग में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत सङ्कलन गाथा १ से २८३ तक का प्रथम भाग है, द्वितीय भाग का कार्य भी प्रारम्भ हो गया है, जो अतिशीघ्र प्रकाशित होगा।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के सम्पादन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि गुरुदेवश्री के भाव भी सुरक्षित रहें एवं भाषा भी सरल व प्रवाहमयी रहे। तदर्थ गुजराती प्रवचन ग्रन्थ में समागत लम्बे -लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है। मूल ग्रन्थ में जहाँ-कहीं प्राचीन हिन्दी का प्रयोग था उसे आवश्यकतानुसार आधुनिक हिन्दी का रूप प्रदान किया गया है। प्रत्येक गाथा का प्रवचन नये पृष्ठ से प्रारम्भ किया गया है एवं रिक्त पृष्ठों पर पूज्य गुरुदेवश्री के मुनिदशा से सम्बन्धित विविध उद्गारों को स्थान दिया गया है, जिससे पाठक पूज्य गुरुदेवश्री के हृदय में विद्यमान मुनिदशा की उत्कृष्ट भावना एवं उनकी द्वारा प्रतिपादित मुनिदशा के स्वरूप से भी परिचित हो सकें।

आभार प्रदर्शन —

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर सर्व प्रथम **वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु** के श्रीचरणों में वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह सभी इन्हीं की वाणी का प्रसाद है।

इन प्रवचनों की अमूल्य भेंट देकर भव-पार होने की कला सिखानेवाले परम उपकारी तारणहार **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

---

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २/१३४

इस हिन्दी अनुवाद के मूलप्रेरक अपने विद्यागुरु **पण्डित कैलाशचन्दजी जैन,** अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आपश्री के प्रताप से ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभाव जागृत हुआ है।

हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद कर देने के लिए आदरणीय **पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री,** देवलाली के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रुफ संशोधन एवं समुचित मार्गदर्शन के लिए आदरणीय अग्रज **श्री पवनजी जैन,** अलीगढ़ एवं इस ग्रन्थ को शीघ्र तैयार कर देने की बारम्बार प्रेरणा के लिए **पण्डित अशोककुमारजी लुहाड़िया** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इस प्रवचन ग्रन्थ की सुन्दर टाइप सैटिंग के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए अपनी छोटी बहिन **कामना जैन** एवं हमारे कम्प्यूटर विभाग के सुदक्ष सञ्चालक, **विवेककुमार पाल** तथा मुद्रण कार्य के लिए **दिनेश जैन,** देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ को आप तक पहुँचाने के लिए ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के साथ-साथ **श्री भभूतमलजी भण्डारी बैंगलोर** का सहयोग भी विस्मरण करने योग्य नहीं है, तदर्थ आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी आत्मार्थी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर निज स्वभाव सन्मुख हों — यही भावना है।

दिनाङ्क
०२ फरबरी २००७

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दु:खों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है; वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है, परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दु:ख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशम रस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया। *– पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११*

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन

भाग - १

अब, स्वामीकार्तिकेय मुनिराज द्वारा रचित द्वादशानुप्रेक्षा का वाचन प्रारम्भ होता है। श्रीकार्तिकेयस्वामी, वनवासी महान दिगम्बर सन्त थे। उन्होंने इस ग्रन्थ में वैराग्य जननी बारह भावनाओं का अलौकिक वर्णन किया है। यह ग्रन्थ दो हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है।

जितने भी तीर्थङ्कर भगवन्त होते हैं, वे सब वैराग्य होने पर, दीक्षा के समय इन बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते हैं — ऐसा नियम है। पूर्वकाल में जितने तीर्थङ्कर हुए हैं, उन सबने ऐसी भावनाएँ भायी थीं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धरादि तीर्थङ्कर परमात्मा विराजमान हैं, उन्होंने भी दीक्षा-प्रसङ्ग के पूर्व यह वैराग्य भावनाएँ भायी थीं और भविष्य में राजा श्रेणिक आदि तीर्थङ्कर होंगे, वे भी ऐसी भावनाएँ भाकर दीक्षा लेंगे।

वस्तुतः, ये बारह भावनाएँ सम्यग्दृष्टि जीव की हैं। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शनपूर्वक की बारह भावनाओं का अद्भुत वर्णन है। यह वैराग्य का अलौकिक ग्रन्थ है। अहो! मैं तो नित्य चिद्घन हूँ; यह बाह्य शरीर मेरा नहीं है — ऐसे चिदानन्दस्वभाव के भानपूर्वक अनित्य आदि बारह भावनाएँ होती हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र को यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय था। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उनके उद्‌गार श्री मनसुखलाल भाई इस प्रकार लिखते हैं —

'यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्य का उत्तम ग्रन्थ है। इसमें द्रव्य का स्वरूप बतलानेवाली चार गाथाएँ अद्‌भुत हैं। इन चार गाथाओं के लिए इस ग्रन्थ का इन्तजार करते थे। हम गत वर्ष ज्येष्ठ माह में मद्रास गये थे। इस भूमि में श्री कार्तिकेयस्वामी ने बहुत विचरण किया था। उस तरफ के नग्न उन्नत अडोलवृत्ति से स्थित पहाड़ देखकर कार्तिकेयस्वामी की अडोल वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति याद आती थी। उन स्वामी कार्तिकेय को नमस्कार।'

सर्व प्रथम इस ग्रन्थ के हिन्दी अर्थकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा मङ्गलाचरण करते हैं —

प्रथम ऋषभ जिन धर्मकर, सन्मति चरम जिनेश,
विघन हरण मङ्गल करण, भवतम दुरित दिनेश।

जैनधर्म तो अनादि का है; तीर्थङ्कर अनादि से होते आये हैं; अनादि से सुख के अर्थी आत्माएँ हैं और सुख का मार्ग बतलानेवाले तीर्थङ्कर भी अनादि से ही होते रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जगत में मोक्षमार्ग और मोक्ष अनादि का है परन्तु इस वर्तमान चौबीसी में श्री ऋषभदेव भगवान पहले तीर्थङ्कर हुए और अन्तिम श्री सन्मतिनाथ अर्थात् महावीर परमात्मा हुए। जगत में पञ्च परमेष्ठी और जैनधर्म अनादि से है परन्तु जो जीव समझता है, उसको स्वयं की आत्मा में धर्म की नयी शुरुआत होती है।

जो तीर्थङ्कर भगवन्तों द्वारा कथित भाव को स्वयं की आत्मा में याद करता है, उसको विघ्न नहीं होता; इस कारण भगवान विघ्न हरनेवाले और मङ्गल करनेवाले हैं। मङ्गल अर्थात् पवित्रता को प्राप्त करावे और ममकार को गाल दे/नष्ट कर दे — ऐसा आत्मा का पवित्रभाव ही मङ्गल है और उसमें निमित्तरूप तीर्थङ्कर भगवन्त भी मङ्गल हैं।

वे भगवान, भवरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य के समान हैं परन्तु किसके लिये ? जो अपने में समझ कर अज्ञान का अभाव करे, उसके लिये भगवान सूर्य समान हैं। इस प्रकार पहले मङ्गलरूप तीर्थङ्करदेव की स्तुति की।

अब, जिनवाणी की स्तुति करते हैं —

वानी जिनसुख तैं खिरी, परी गणाधिप कान।

अक्षरपदमय विस्तरी, करहि सकल कल्यान॥

श्री जिनमुख से जो वाणी खिरी, उसे गणधरदेव ने झेली और शास्त्र रचना की। यदि उस वाणी के भाव को समझे तो सकल कल्याण का कारण है; इस कारण वाणी को कल्याण करनेवाली कहा गया है ।

अब, श्रीगुरु को वन्दन करते हैं —

गुरु गणधर गुणधर सकल, प्रचुर परम्पर और,

व्रततपधर तनु नगनतर, बंदौं वृष शिरमौर॥

श्री गणधरदेव से लेकर प्रवाहरूप परम्परा में जो वीतरागी सन्त हुए, वे सब दिगम्बर शरीरवाले थे और व्रत, तप को धारण करनेवाले थे। ऐसे सन्त, धर्म के मुकुटमणि हैं। उन श्रीगुरुओं को मैं वन्दन करता हूँ।

स्वामिकार्तिकेयमुनी, बारह भावन भाय,

कियो कथन विस्तार करि, प्राकृत छन्द बनाय॥

ताकी टीका संस्कृत, करी सु-धर शुभचन्द्र,

सुगम देशभाषामयी, करूँ नाम जयचन्द्र॥

पढहु पढावहु भव्यजन, यथाज्ञान मनधारि,

करहु निर्जरा कर्म की, बार-बार सुविचारि॥

यह शास्त्र श्री कार्तिकेय मुनि ने बनाया है। वे स्वयं ४८७वीं गाथा में कहेंगे कि —

जिनवयणभावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।

रइया अणुपेक्खाओ चंचलमणसंभणट्ठं च॥

स्वयं ने अपने चित्त की स्थिरता के लिए यह वीतरागी भावना भायी है। स्वयं बाल

ब्रह्मचारी थे — इस कारण ४८९वीं गाथा में पञ्च बाल-ब्रह्मचारी तीर्थङ्करों को वन्दन करेंगे।

मूल रचना कार्तिकेय मुनिराज ने की है। उसकी एक संस्कृत टीका शुभचन्द्राचार्यदेव ने बनायी है और हिन्दी भाषान्तर पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है। इसमें कथित बारह भावनाओं का यथार्थ भानपूर्वक बारम्बार विचार करना, निर्जरा का कारण है।

इस प्रकार देव-शास्त्र-गुरु को नमस्काररूप मङ्गलाचरणपूर्वक प्रतिज्ञा करके, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका करते हैं। वहाँ संस्कृत टीकानुसार, मेरी बुद्धि अनुसार गाथा का संक्षेप अर्थ लिखूँगा। यदि उसमें कहीं भूल हो तो विशेष बुद्धिमान सुधार लेंगे।

श्रीमान् स्वामी कार्तिकेयाचार्य (१) अपनी ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि, (२) नवीन श्रोताजनों को ज्ञान-वैराग्य उत्पत्ति, (३) विशुद्धता होने से पापकर्म की निर्जरा, (४) पुण्य-उपार्जन, (५) शिष्टाचार का पालन, और (६) निर्विघ्नरूप से ग्रन्थ की समाप्ति इत्यादि अनेक उत्तम फल की इच्छापूर्वक, अपने इष्टदेव को नमस्काररूप मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा करके प्रथम गाथा सूत्र कहते हैं।

ग्रन्थ रचना का उद्देश्य यह है कि स्वयं को ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि हो। वस्तुतः जहाँ यथार्थ ज्ञान होता है, वहाँ वैराग्य होता ही है। अपने ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि के लिए तथा नवीनजनों (श्रोताओं) को वैराग्य उपजाने के लिए ही यह शास्त्र रचा गया है। इस शास्त्र में कथित भावनाओं द्वारा होनेवाली विशुद्धता निर्जरा का कारण है और बीच में रहनेवाला शुभभाव पुण्यबन्ध का कारण है।

चौदह हजार मुनियों के मुकुट श्री गौतम गणधरदेव भी माङ्गलिकरूप से नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं कि —

णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं ॥

— ऐसा शिष्टाचार है। उस शिष्टाचार के पालन के लिए इस शास्त्र में मङ्गल करते हैं तथा निर्विघ्नरूप से शास्त्र की समाप्ति के लिए मङ्गल किया है।

गाथा १

श्रीमत्स्वामिकार्तिकेय नामक आचार्य, अपने ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि होना; नवीन श्रोताओं के ज्ञान-वैराग्य का उत्पन्न होना; विशुद्धता होने से पापकर्म की निर्जरा होना; पुण्य का उत्पन्न होना; शिष्टाचार का पालन; विघ्नरहित शास्त्र की समाप्ति होना इत्यादि अनेक अच्छे फलों को चाहते हुए अपने इष्टदेव को नमस्काररूप मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हुए गाथा कहते हैं —

तिहुवणतिलयं देवं, वंदित्ता तिहुवणिंदपरिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेहाओ, भवियजणाणंदजणणीओ॥

त्रिभुवन तिलक शत-इन्द्र वन्दित, देव श्री अर्हन्त को।
कर नमन कहुँ अनुप्रेक्षाएँ, भव्य को सुखकर अहो॥

अन्वयार्थ : मैं अर्थात् स्वामी कार्तिकेय [**तिहुवणतिलयं**] तीन भुवन का तिलक [**तिहुवणिंदपरिपुज्जं**] तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य (ऐसे) [**देवं**] देव को [**वंदित्ता**] नमस्कार करके [**भवियजणाणंदजणणीओ**] भव्यजीवों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली [**अणुपेहाओ**] अनुप्रेक्षाएँ [**वोच्छं**] कहूँगा।

भावार्थ : यहाँ 'देव' — ऐसी सामान्य संज्ञा है सो क्रीड़ा, रति, विजिगीषा, द्युति, स्तुति, प्रमोद, गति, कान्ति इत्यादि क्रियाएँ करे, उसको देव कहते हैं। सो सामान्यतया तो चार प्रकार के देव या कल्पितदेव भी गिने जाते हैं, उनसे भिन्नता दिखाने के लिए '**तिहुवणतिलयं (त्रिभुवनतिलकं)**' — ऐसा विशेषण दिया। इससे अन्य देव का व्यवच्छेद (निराकरण) हुआ परन्तु तीन भुवन के तिलक इन्द्र भी हैं। उनसे भिन्नता दिखाने

के लिए '**तिहुवणिंदपरिपुज्जं (त्रिभुवनेन्द्रपरिपूज्यं)**' — ऐसा विशेषण दिया, जिससे तीन भुवन के इन्द्रों द्वारा भी पूज्य ऐसा जो देव है, उसको नमस्कार किया।

यहाँ इस प्रकार समझना कि ऊपर कहे अनुसार देवपना अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु, इन पञ्च परमेष्ठियों में ही पाया जाता है क्योंकि परम स्वात्मजनित आनन्दसहित क्रीड़ा; कर्म कलङ्क को जीतनेरूप विजिगीषा; स्वात्मजनित प्रकाशरूप द्युति; स्वस्वरूप की स्तुति; स्वरूप में परम प्रमोद; लोकालोक व्याप्तरूप गति; शुद्धस्वरूप की प्रवृत्ति, कान्ति इत्यादि देवपने को उत्कृष्ट क्रियाएँ, सब एकदेश या सर्वदेशरूप इनमें ही पायी जाती हैं, इसलिए सर्वोत्कृ ष्ट देवपना इनमें ही पाया जाता है; अतः इनको मङ्गलरूप नमस्कार करना उचित है। (मं = पापं गालयति इति मंगलं अथवा मंग = सुखं लाति ददाति इति मंगलं) '**मं**' अर्थात् पाप, उसको गालै (नाश करे) तथा '**मंग**' अर्थात् सुख, उसको लाति ददाति अर्थात् दे, उसको मङ्गल कहते हैं, सो ऐसे देव को नमस्कार करने से शुभपरिणाम होते हैं, जिससे पापों का नाश होता है और शान्तस्वभावरूप सुख की प्राप्ति होती है।

अनुप्रेक्षा का सामान्य अर्थ बारम्बार चिन्तवन करना है। वह चिन्तवन अनेक प्रकार का है,उसके करनेवाले अनेक हैं। उनसे भिन्नता दिखाने के लिए '**भवियजणाणंद -जणणीओ**' (**भव्यजनानन्दजननीः**) — ऐसा विशेषण दिया है। इसलिए मैं (स्वामिकार्तिकेय) जिन भव्यजीवों के मोक्ष होना निकट आया हो, उनको आनन्द उत्पन्न करनेवाली, ऐसी अनुप्रेक्षा कहूँगा।

गाथा १ पर प्रवचन

श्री सर्वज्ञ परमात्मा तीन भुवन के तिलक हैं और तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य हैं — ऐसे सर्वज्ञदेव को नमस्कार करके, मैं बारह वैराग्य भावनाओं का वर्णन करता हूँ। कैसी हैं ये भावनाएँ? भव्यजीवों को आनन्द उत्पन्न करानेवाली हैं। अन्तर में सम्यग्दर्शनपूर्वक चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन से ऐसी बारह भावनाएँ, वीतरागी आनन्द को उत्पन्न करानेवाली है। वहाँ बीच में शुभभाव से बँधनेवाले पुण्य की मुख्यता नहीं है। इस प्रकार बारह भावनाओं को आनन्द को उपजानेवाली कहकर माङ्गलिक किया है।

इस पहली गाथा में मङ्गलरूप से श्री जिनेन्द्र भगवान को पहिचान कर, उन्हें वन्दन किया है। कैसे देव को नमस्कार किया है ? जो तीन भुवन के तिलक हैं और तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य हैं — ऐसे सर्वज्ञ भगवान को नमस्कार करके प्रतिज्ञा की है कि मैं भव्यजीवों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली बारह भावनाओं का कथन करूँगा। वस्तुतः तो सम्यग्दर्शन के बाद ही बारह भावनाएँ यथार्थ होती हैं। ये बारह भावनाएँ संवर का कारण हैं।

यहाँ 'देव' — ऐसी सामान्य संज्ञा है, सो क्रीड़ा, रति, विजिगिषा, द्युति, स्तुति, प्रमोद, गति, कान्ति इत्यादि क्रियाएँ करे, उसे देव कहते हैं। जिसको पर्याय में ऐसी क्रीड़ा इत्यादि प्रकार की क्रिया होती है, उसे देव कहते हैं। यहाँ अलौकिक देव अर्थात् सर्वज्ञदेव की बात है। सामान्यरूप से वैमानिक, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनपति — ऐसे चार प्रकार के देव तथा अन्य कल्पित देव हैं, उनकी बात यहाँ नहीं है।

मणिभद्र, पूर्णभद्र, इत्यादि देव अथवा नाटक के देव अथवा शीतला इत्यादि कोई भी कल्पित देव, पूजनीय नहीं हैं; तीनलोक के नाथ सर्वज्ञदेव ही पूज्य हैं। जगत का कर्ता मानकर ईश्वर को पूजना कल्पितदेव है, वह वास्तविक नहीं है।

देखो! इस मङ्गलाचरण में यह बात आ गयी है कि प्रथम ही सर्वज्ञदेव को पहिचानना चाहिए और कुदेवादिक का वन्दन-पूजन छोड़ना चाहिए। कुदेवादिक की मान्यता करना मिथ्यात्व है। यहाँ चार प्रकार के देव और अन्य कल्पित देवों से जिनदेव को भिन्न बतलाने के लिए उन्हें 'त्रिभुवन तिलक' कहा है। यहाँ जिनदेवरूप से अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - इन सबका ग्रहण करेंगे। तात्पर्य यह है कि पाँचों परमेष्ठी भगवान देव हैं, पूज्य हैं; इनके अतिरिक्त कोई कुदेवादिक पूज्य नहीं है।

प्रश्न - परन्तु उन कुदेवादिक का अनादर किसलिए / क्यों करना चाहिए?

उत्तर - जैसा हो, वैसा जानना तो चाहिए न? जैसे विष्ठा को विष्ठा जानकर छोड़ देते हैं; खाते नहीं, तो क्या उसका अनादर हो गया? उसी प्रकार कुदेव को कुदेवरूप जानकर, उसका आदर छोड़ देने से उसका अनादर नहीं, अपितु विवेक है। आशय यह है कि अपने ज्ञान में यथार्थ वस्तुस्वरूप जानना चाहिए।

तीन भुवन के तिलक तो इन्द्र को भी कहते हैं। उनसे अलग बतलाने के लिए सर्वज्ञदेव को तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य कहा है। यहाँ ऐसे सर्वज्ञदेव को नमस्कार किया है।

यहाँ इस प्रकार जानना कि ऐसा देवपना तो श्री अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु — इन पाँच परमेष्ठियों में ही सम्भव है। कैसे है वे पञ्च परमेष्ठी देव? उनका स्वरूप समझाने के लिए उनकी क्रियाओं का वर्णन करते हैं।

१. परम स्वात्मजनित आनन्दसहित क्रीड़ा :- उनको परम स्वात्मजनित आनन्दसहित क्रीड़ा वर्तती है। जड़ की क्रिया को तो वे अपनी मानते ही नहीं, विकार की क्रिया में आनन्द नहीं मानते; आत्मा के स्वाभाविक आनन्द की क्रीड़ा करते हैं। देखो! अरहन्त और सिद्ध तो देव हैं; परन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु भी देव हैं। कैसे साधु? जिनको आत्मा के स्वभावजनित आनन्दसहित क्रिया वर्तती है, जो व्यवहार से लाभ नहीं मानते। देह की क्रिया से लाभ अथवा व्यवहार के आश्रय से लाभ माननेवाले को स्वात्मजनित आनन्द क्रीड़ा का भान नहीं है और न वह देव है।

२. कर्म के जीतनेरूप विजिगीषा :- कर्म के जीतनेरूप विजिगीषासहित होने से पञ्च परमेष्ठी भगवन्त देव हैं। सिद्धभगवान ने आठ कर्मों को जीता है, इस कारण उसके विजिगीषा क्रिया है और वे देव हैं। अरहन्तों ने चार घातिकर्मों को जीता है, इसलिए वे भी देव हैं। उनके ऐसी विजिगीषा नामक क्रिया है।

देखो! यह पञ्च परमेष्ठी भगवान की क्रिया का वर्णन है। वे चिदानन्दस्वभाव की लीनता में रहकर, आनन्द के अनुभवरूप क्रीड़ा करते हैं और उनके कर्म को जीतनेरूप विजिगीषा है। उनके ऐसी क्रिया वर्तती है, इसलिए वे देव हैं। वे देव वन्दनीय हैं; इसके अतिरिक्त अन्य कुदेव को वन्दन करना योग्य नहीं है। यहाँ पाँचों परमेष्ठी को देव कहा है। उनको आत्मानुभव का आनन्द प्रगट हुआ है और उन्होंने विकार को जीतकर कर्मों का अभाव किया है।

३. स्वात्मजनित ज्ञानप्रकाशरूप द्युति :- उनको स्वात्मजनित प्रकाशरूप द्युति है। अरहन्त और सिद्ध भगवन्तों को तो असंख्यात प्रदेशों में केवलज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ

तथा आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की भी आत्मा के चिदानन्दस्वभाव के अन्तर अवलम्बन से ज्ञान का प्रकाश प्रगट हुआ है। यहाँ शास्त्र पठन के परलक्ष्यी ज्ञान की नहीं, अपितु आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुए स्वात्मजनित प्रकाश की बात ली है।

४. स्वस्वरूप की स्तुति :- पञ्च परमेष्ठी भगवन्त, स्व-स्वरूप की स्तुतिरूप क्रिया करते हैं। पर की स्तुति का भाव तो राग है, पुण्य है। पञ्च परमेष्ठी भगवान निज स्वरूप में एकाग्र होकर, उसकी ही स्तुति करते हैं अर्थात् स्वस्वरूप का ही अनुमोदन करते हैं। बीच में राग-व्यवहार आवे, उसका अनुमोदन नहीं करते हैं।

जो जीव राग अथवा पर की स्तुति से धर्म मानता है, वह तो मूढ़ है। अखण्ड चिदानन्द स्वरूप की स्तुति-बहुमान से चूककर, अकेली पर की स्तुति में रुकनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि जीवों को यहाँ पञ्च परमेष्ठी में नहीं गिना गया है। अरहन्त और सिद्धों को तो स्वरूप की पूर्ण स्तुति हो गयी है, आचार्य-उपाध्याय और साधु भी वीतरागभाव से स्वस्वरूप की स्तुति करते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना स्वस्वरूप की स्तुति नहीं हो सकती।

५. स्वस्वरूप में परम प्रमोद :- पञ्च परमेष्ठी का स्वस्वरूप में परम प्रमोद वर्तता है। धर्मी का अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप में ही परम प्रमोद और उत्साह है; बाहर में मान-प्रतिष्ठा का प्रमोद नहीं है। बहुत से परजीव समझ जाएँ - उसका प्रमोद नहीं है परन्तु ज्ञानानन्द वीतरागी स्वरूप में ही उनको परम उत्साहभाव वर्तता है; इसलिए स्वस्वरूप में ही परम प्रमोद है। राग में, निमित्त में अथवा व्यवहार में उनको प्रमोद अथवा उत्साह नहीं वर्तता — ऐसे पञ्च परमेष्ठी हैं।

६. लोकालोक के जाननेरूप ज्ञान की गति :- लोकालोक में व्याप्तिरूप गति है अर्थात् उनका ज्ञान लोकालोक को जान लेता है। अरहन्त और सिद्ध तो लोकालोक को साक्षात् जानते हैं और आचार्य-उपाध्याय-साधु भी भावश्रुतज्ञान के बल से लोकालोक को जानते हैं। जिनके ज्ञान में लोकालोक के द्रव्य-गुण-पर्याय का ख्याल आ गया है — ऐसी उनके ज्ञान की गति है अर्थात् परिणमन है। उनके अन्तर में सम्यग्ज्ञान का दीपक प्रकाशित

हो गया है। जिनके ज्ञान की गति लोकालोक के समस्त भावों का निर्णय करने में पहुँच जाती है — ऐसे साधु होते हैं और ऐसे साधु परमेष्ठी वन्दनीय हैं। ऐसे साधु को पहिचान कर, उनको वन्दन करनेवाला ही उनका वास्तविक सेवक है।

७. शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्तिरूप कान्ति :- शुद्धस्वरूप में प्रवृत्तिरूप कान्ति — ऐसी पञ्च परमेष्ठी की क्रिया है। बाह्य शरीरादि की कान्ति तो जड़ है परन्तु चैतन्य प्रकाश से शोभित शुद्धस्वरूप में प्रवृत्ति ही पञ्च परमेष्ठी की कान्ति है।

देखो! जीवों ने पूर्व में कमी ऐसे पञ्च परमेष्ठी की यथार्थ पहिचान भी नहीं की है।

इस प्रकार यहाँ सात प्रकार से वर्णन किया है —

(१) परम स्वात्मजनित आनन्दसहित क्रीड़ा।

(२) कर्मों को जीतनेरूप विजिगीषा।

(३) स्वात्मजनित ज्ञानप्रकाशरूप द्युति।

(४) स्वस्वरूप की स्तुति।

(५) स्वस्वरूप में परम प्रमोद।

(६) लोकालोक का जाननेरूप ज्ञान की गति।

(७) शुद्धस्वरूप में प्रवृत्तिरूप कान्ति।

उक्त सातों प्रकार देवपने की उत्कृष्ट क्रिया हैं। जिनमें ऐसी क्रिया नहीं होती, उनको वीतराग शासन 'देवरूप' से स्वीकार नहीं करता। अरहन्त और सिद्ध को आत्मा की पूर्ण उत्कृष्ट पवित्र क्रिया है और आचार्य-उपाध्याय व साधु को भी वह आंशिक होती है; इसलिए ऐसे पञ्च परमेष्ठी भगवान ही सर्वोत्कृष्ट देव हैं। वे ही मङ्गलरूप हैं और नमस्कार करने योग्य हैं; इनके अतिरिक्त अन्य कोई वास्तविक देव नहीं है और वह वन्दनीय भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि ही पञ्च परमेष्ठी को यथार्थरूप से पहिचाननेवाला होता है और ऐसे सम्यग्दृष्टि को ही यथार्थ बारह वैराग्य भावनाएँ होती हैं; कुदेवादिक के माननेवाले के यथार्थ वैराग्य भावनाएँ नहीं होती।

अब, 'मङ्गल' का अर्थ कहते हैं —

'मं' अर्थात् पाप, उसको 'गल' अर्थात् गलावे तथा 'मङ्ग' अर्थात् सुख, उसको 'ल' अर्थात् लाति – ददाति अर्थात् दे, उसे मङ्गल कहते हैं। ऐसे देव को नमस्कार करने से शुभपरिणाम होते हैं और उससे पाप का नाश होता है; शान्तभावरूप सुख प्राप्त होता है।

आत्मा का भान करके, उसका आश्रय करने से पाप का नाश हो जाता है। वस्तुतः तो आत्मा के जिस भाव से पवित्रता प्रगट हो और पाप का नाश हो — ऐसा वीतरागभाव ही मङ्गल हैं और निमित्तरूप से आत्मा की पवित्रता को प्राप्त पञ्च परमेष्ठी भगवन्त मङ्गल हैं। पञ्च परमेष्ठी को पहिचान कर, उनको नमस्कार करने से शुभपरिणाम होते हैं और पाप मिटकर, शान्तभावरूप परिणाम होते हैं, इसलिए वे मङ्गल हैं।

इनके अतिरिक्त कुदेवादिक को वन्दन करने में किञ्चित् मन्द कषाय है, उसको यहाँ शुभ में नहीं गिना है क्योंकि उसमें तो मिथ्यात्व की पुष्ठि का तीव्र अशुभभाव पड़ा हुआ है। वीतरागी पञ्च परमेष्ठी को पहिचानकर, उनका बहुमान करने से अपने को राग टलकर शान्तपरिणाम होते हैं, उतना सुख प्राप्त होता है और अशुभ टलता है।

अब, 'अनुप्रेक्षा' का अर्थ कहते हैं।

इस शास्त्र में बारह भावनाओं का वर्णन है। तीर्थङ्कर भगवान भी ये अनित्यादि बारह भावनाएँ भाते हैं। गृहस्थाश्रम में नित्यानन्दी आत्मा के भानपूर्वक शरीरादि को अनित्यता की भावना भाते हैं। यह ध्रुव चैतन्य की दृष्टिपूर्वक भायी जानेवाली भावनाओं का वर्णन है। नित्य ध्रुव चिदानन्द की दृष्टि बिना अनित्यभावना यथार्थ नहीं होती। 'सब क्षणिक हैं' — ऐसी अकेली अनित्यभावना तो बुद्ध इत्यादि ने भी भायी है। वह तो अनित्य जागरिका है। देहादि अनित्य हैं और आत्मा ध्रुव नित्य है — ऐसा जानकर, नित्यस्वभाव के आश्रयपूर्वक की भावनाओं का यह वर्णन है।

अनुप्रेक्षा का सामान्य अर्थ तो बारम्बार चिन्तवन करना है परन्तु चिन्तवन तो अनेक प्रकार का है और उसके करनेवाले भी अनेक हैं; इसलिए उन सबसे भिन्न बतलाने के लिए यहाँ '**भव्यजनानन्दजननि**' विशेषण दिया है। इसका आशय यह है कि जिन भव्य जीवों की मोक्ष प्राप्ति निकट आयी है, उनको आनन्द उपजानेवाली अनुप्रेक्षा कहूँगा।

बहुत से जीव संसार के व्यापार–धन्धा इत्यादि का बारम्बार चिन्तवन करते हैं — यह बात वैसी अनुप्रेक्षा की नहीं है तथा बुद्ध इत्यादि ने अकेली अनित्यता की जो भावना की है — यह वैसी बात भी नहीं है। यह तो ध्रुव चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से भव्य जीवों को आत्मा को आनन्द प्रदान करनेवाली अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। अभव्य जीव को ऐसी भावना होती ही नहीं। अभव्य जीव तथा अनन्त संसारी भव्य जीव, शास्त्र पढ़कर विचार करते हैं, उसमें शुभभाव है परन्तु चिदानन्द आत्मा के भान बिना उन्हें बारह भावनाएँ नहीं होती। इसीलिए कहा है कि मैं निकट भव्य जीवों को आनन्द उपजानेवाली भावनाएँ कहूँगा।

जिनके संसार का अन्त निकट आ गया है, जिनको विकार की रुचि छूट गयी है और चिदानन्दस्वभाव की रुचि हुई है — ऐसे भव्य जीवों को, ये बारह वैराग्य भावनाएँ आनन्द उपजानेवाली है। आनन्द तो आत्मा के स्वभाव के आश्रय से है। उस स्वभाव के भानसहित इन भावनाओं का चिन्तन भव्य जीवों को आनन्दजनक है। यह यथार्थ भावना करनेवाला जीव, अनन्त संसारी नहीं होता। जिसको स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनपूर्वक ऐसी भावनाएँ प्रगट हुई हैं और अल्पकाल में पूर्णता करनेवाला है — ऐसे जीवों की ही बात यहाँ की गयी है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, पुन: मिथ्यादृष्टि हो जाए और अनन्त संसार में परिभ्रमण करे — ऐसे जीवों की यहाँ बात नहीं है। इसीलिए कहा है कि जिसको मोक्ष प्राप्ति को काल निकट आ गया है — ऐसे भव्य जीवों को आनन्ददायक बारह भावनाएँ मैं कहूँगा।

दूसरे, यहाँ 'अनुप्रेक्षा' — ऐसा बहुवचनरूप पद है। वहाँ अनुप्रेक्षा सामान्य चिन्तवनरूप एक प्रकाररूप है, तो भी (विशेषरूप से) उसके अनेक प्रकार हैं।

इन भावनाओं का सुनते ही भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में उत्साह उत्पन्न होता है।

देखो! मोक्षमार्ग का उत्साह उपजाने की ही बात की है। जिस जीव को पुण्य में अथवा राग में उत्साह आता है, उस जीव ने वस्तुत: ये भावनाएँ सुनी ही नहीं है। ●●

गाथा २-३

यहाँ '**अणुपेहाओ (अनुप्रेक्षाः)**' — ऐसा बहुवचरूप पद है। अनुप्रेक्षा-सामान्य चिन्तवन एक प्रकार है तो भी अनेक प्रकार है। भव्य जीवों को सुनते ही मोक्षमार्ग में उत्साह उत्पन्न हो, ऐसे चिन्तवन के संक्षेप से बारह प्रकार हैं। उनके नाम तथा भावना की प्रेरणा दो गाथाओं में कहते हैं —

अद्धुव असरण भणिया, संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव संवरणामा, णिज्जरलोयाणुपेहाओ॥
इय जाणिऊण भावह, दुल्लह-धम्माणुभावणाणिच्चं।
मन-वयण-कायसुद्धी, एदा दस दोय भणिया हु॥

भावना बारह अध्रुव, अशरण तथा संसार हैं।
एकत्व अरु अन्यत्व अशुचि, आस्रव संवर कहें॥
निर्जरा अरु लोक दुर्लभबोधि, धर्म सुजानिये।
कर शुद्ध मन वच काय ये, सब भावनाएँ भाइये॥

अन्वयार्थ : [**एदा**] ये [**अद्धुवं**] अध्रुव (अनित्य), [**असरण**] अशरण, [**संसारामेगमण्णमसुइत्तं**] संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, [**आसव**] आस्रव [**संवरणामा**] संवर [**णिज्जरलोयाणुपेहाओ**] निर्जरा, लोक अनुप्रेक्षाएँ, [**दुल्लह**] बोधिदुर्लभ, [**धम्माणुभावणा**] धर्मभावना — ये [**दस दोय**] बारह भावना [**भणिया**] कही गयी हैं। [**इय जाणिऊण**] इन्हें जानकर [**मनवयणकायसुद्धी**] मन -वचन-काय शुद्धकर [**णिच्चं**] निरन्तर [**भावह**] भाओ।

भावार्थ : ये बारह भावनाओं के नाम कहे गये हैं। इनका विशेष अर्थरूप कथन तो यथास्थान होगा ही, परन्तु ये नाम भी सार्थक हैं। इनका अर्थ किस प्रकार है ? — अध्रुव तो अनित्य को कहते हैं। जहाँ कोई शरण नहीं, सो अशरण। भ्रमण को संसार। जहाँ कोई दूसरा नहीं, सो एकत्व। जहाँ सबसे भिन्नता, सो अन्यत्व। मलिनता को अशुचित्व। कर्म के आने को आस्रव। कर्म को आने को रोके, सो संवर। कर्म का झरना, सो निर्जरा। जिसमें छह द्रव्य पाये जाएँ, सो लोक। अतिकठिनता से प्राप्त होय, सो दुर्लभ। संसार से उद्धार करे, सो वस्तुस्वरूपादिक धर्म। इस प्रकार इनका अर्थ है।

गाथा २-३ पर प्रवचन

ये वैराग्य भावनाएँ बारह प्रकार की हैं। अब, उनके नाम कहते हैं, साथ ही उन भावनाओं को भाने की प्रेरणा देते हैं —

देखो, ये भावनाएँ सदा ही भाने योग्य हैं। दुकान, मकान इत्यादि बाह्य पदार्थों के कार्य तो स्वयं उनके काल में होते हैं; जीव राग करता है परन्तु उसके कारण पर के कार्य नहीं होते। यदि जीव स्वयं से राग का अभाव करके, वीतरागता प्रगट करे तो इससे कहीं जगत के कार्य रुक नहीं जाते; वे तो उनका जैसा होना है, हुआ ही करते हैं। अन्य जीव उन्हें करने का अभिमान तथा राग करता है परन्तु पर में कुछ नहीं करता और उसके अभिमान तथा राग छोड़ने पर जीव का स्वयं का कार्य सुधर जाता है परन्तु इससे कहीं जगत के कार्य रुक नहीं जाते। — इस प्रकार जो पहिचानता है, उसे ही ये बारह भावनाएँ होती हैं। बारह भावनाएँ भाने में मेरा कार्य है, बाहर के कार्यों में मेरा कार्य नहीं है; इस प्रकार समझकर स्वयं अपने चैतन्यस्वरूप में उत्साह प्रगट करके, ये बारह भावनाएँ बारम्बार भाने योग्य हैं।

जिसको आत्मा का ज्ञानानन्द नित्यस्वरूप दृष्टि में आया है, वही जीव वास्तव में ये अनित्यादि बारह भावनाएँ भा सकता है। आत्मा का स्वरूप स्व-पर प्रकाशक चैतन्यमय है। उसके भानपूर्वक धर्मी को ये भावनाएँ होती हैं। अज्ञानी जीव, नित्य चिदानन्दस्वभाव को भूलकर शरीरादि पर संयोगों का स्थिर रखना चाहता है परन्तु संयोग तो अस्थिर हैं - अध्रुव हैं। अरे ! पुण्य की वृत्ति उत्पन्न हो, वह भी अस्थिर है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा, स्थिर रहनेवाला है। जो जीव उसको भावना छोड़कर विकार की भावना करता है , वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ आत्मा

के भानपूर्वक होनेवाली वैराग्य भावनाओं का वर्णन है। ये बारह भावनाएँ संक्षिप्त में इस प्रकार हैं —

(१) अध्रुव / अनित्यभावना : चिदानन्द आत्मा नित्य है और इसके अतिरिक्त सभी संयोग तथा पुण्य-पाप अनित्य हैं — ऐसी भावना, अनित्यभावना है।

(२) अशरणभावना : मेरा चिदानन्द परम स्वभाव ही शरण है, इसके अतिरिक्त पर में कहीं मेरा शरण नहीं है। जिसने आत्मा को शरण जाना है, वही पर को अशरणरूप जानकर अशरणभावना भाता है। अरहन्त भगवान आदि को शरण कहना तो उपचार है। वस्तुतः तो अरहन्त भगवान द्वारा कथित अपना स्वभाव ही अपने को शरण है। इसके अलावा क्षणिकभाव अथवा परवस्तु, ये कुछ भी जीव को शरण नहीं है। चैतन्य की शरणपूर्वक यथार्थ अशरणभावना होती है। मैं किसी परवस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं करता — ऐसे भानपूर्वक ध्रुव शरण का अवलम्बन करने में ही वास्तविक अनित्य और अशरणभावना है।

ज्ञान सामर्थ्य में एकाग्र होना ही वास्तविक भावना है। आत्मा एक और भावना बारह! ये भावना बारह हैं — यह तो भेद से कथन है। वहाँ बारह भावना के विकल्प की मुख्यता नहीं गिनकर, अन्तरस्वभाव मैं एकाग्रता होना ही वास्तविक भावना है। नित्य शरणरूप चैतन्य के भान बिना 'सब अनित्य है' — ऐसा कहने को वास्तविक अनित्यभावना नहीं कहा जाता। चैतन्य भगवान ही शरणभूत है। उसको भाने से संवर होता है। उसके अतिरिक्त अन्य सब अशरण है।

(३) संसारभावना : परिभ्रमण, सो संसार है। जीव ने अज्ञानभाव से पूर्व में अनन्त भवों में भ्रमण किया है। जो पूर्वभव की माता हो, वही दूसरे भव में स्त्री हो जाती है। — इत्यादि प्रकार से अनन्त भवों में भ्रमण किया है। चैतन्यस्वभाव का भान करके, उसका अवलम्बन करने से भव-भ्रमण का अभाव होता है।

(४) एकत्वभावना : मेरा शुद्ध आत्मा अकेला है। निज शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ मुझमें नहीं है। देह, पुत्र आदि कोई मुझमें नहीं है। मेरे स्वरूप में पुण्य-पाप की वृत्तियाँ भी नहीं है। मैं एकरूप चैतन्यमूर्ति हूँ — ऐसी भावना, वह एकत्वभावना है। ऐसे भान बिला बोले कि 'जीव अकेला आया है और अकेला जाएगा' - तो वह शुभराग है; वह वास्तविक

भावना नहीं है। शुभभाव तो अभव्य को भी होता है परन्तु यह यथार्थ भावना तो संवर धर्म है, जो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अहो! मेरा चिद्घनस्वरूप आत्मा सिद्धसदृश है। उसमें विकार अथवा पर का प्रवेश नहीं है — ऐसी भावना करना, एकत्वभावना है।

(५) अन्यत्वभावना : निज चिदानन्द स्वरूप के अतिरिक्त अन्य सब से मेरा अन्यत्व है। शरीर-मन-वाणी-लक्ष्मी-पुत्र - इन सबसे मुझे अन्यत्व है। वस्तुत:तो विकार से भी अन्यत्व है; ज्ञानस्वभाव से अन्यत्व (प्रथक्पना) नहीं है। मैं तो ज्ञानमात्र निरुपाधि तत्त्व हूँ — ऐसी भावना करना, अन्यत्वभावना है।

(६) अशुचिभावना : मलिनता ही अशुचि है। शरीर अशुचि है — ऐसा कहा है, वहाँ वस्तुत: तो धर्मी को शरीर ज्ञेय है परन्तु चिदानन्द पवित्र स्वभाव की भावना करने के लिए और देहादिक का राग छोड़ने के लिए कहते हैं कि 'शरीर अशुचिरूप है'। वहाँ कहीं शरीर को देखकर धर्मी को राग-द्वेष नहीं होते। पर को देखने से राग-द्वेष होना माननेवाला तो मूढ़-मिथ्यादृष्टि है। धर्मी, पर के कारण तो राग-द्वेष मानते ही नहीं, परन्तु स्वयं की अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होते हैं। शरीर अशुचि है — यह कथन शरीर के प्रति द्वेष करने के लिए नहीं है, अपितु शरीर से भिन्न पवित्र ज्ञानस्वभाव की भावना करने के लिए ऐसा कहा है।

शरीर के समस्त अङ्गों से अशुचि (मल) झरती है और मेरे आत्मस्वभाव में से पवित्र ज्ञानानन्द झरता है — ऐसा समझकर धर्मी अपने अन्तरस्वभाव में जितना एकाग्र होते हैं, उतनी भावना है। बीच में शुभविकल्प है, उसकी मुख्यता नहीं है।

(७) आस्रवभावना : सम्यग्दृष्टि विचारता है कि अहो! मेरे चिदानन्दस्वभाव में कर्म की उपाधि नहीं है। जो व्रतादि की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी कर्म के आस्रव का कारण है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना में कर्म का आस्रव नहीं होता।

(८) संवरभावना : कर्म के आस्रव को रोकना संवर है। वस्तुत: कर्म को रोकना - यह उपचरित कथन है। वास्तविकता यह है कि चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र रहने से कर्म आते ही नहीं; कर्म तो आनेवाले थे, किन्तु उन्हें रोका — ऐसा नहीं है परन्तु वे आने योग्य ही नहीं थे। चिदानन्दस्वरूप की भावना में एकाग्र रहने से राग की उत्पत्ति ही नहीं होती — इसी का नाम संवर है।

(९) निर्जराभावना : शुद्ध चैतन्यस्वरूप के आश्रय से एकाग्र होने पर शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता का नाश तथा कर्मों के खिर जाने का नाम निर्जरा है। एकाकार अखण्ड द्रव्य की दृष्टि रखकर यह सब भावना का वर्णन है। देखो! इस बारह भावना में भी अलौकिक वीतरागता है।

महा अलौकिक अध्यात्म शास्त्र समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और पञ्चास्तिकाय के वाँचन के पश्चात् इन बारह भावनाओं के शास्त्र का वाँचन हो रहा है - इसमें सन्धि है। जिसको बारह भावनाएँ नहीं रुचती, उसको वस्तुतः अध्यात्म का भान नहीं है। तीर्थङ्कर भी ये बारह भावनाएँ भाते हैं। जहाँ अन्दर के अखण्ड स्वभाव की दृष्टि हुई, वहाँ ऐसी वैराग्य भावनाएँ होती हैं तथा भूमिकानुसार पूजा-भक्ति-स्वाध्याय आदि का शुभभाव भी होता है। यद्यपि वह जीव शुभराग को धर्म नहीं मानता, तथापि भक्ति इत्यादि का शुभराग आये बिना नहीं रहता। भाई! जिस भूमिका में जो दशा होती है, उसका विवेक होना चाहिए।

नित्य चैतन्यस्वभाव की भावनापूर्वक शुद्धि की वृद्धि होने और कर्मों के खिरने को निर्जरा कहते हैं। सामान्यरूप से प्रत्येक जीव को प्रति समय कर्म परमाणु खिरते हैं, वह सविपाक निर्जरा है, उसमें कहीं धर्म नहीं है। द्रव्यलिङ्गी साधु पुण्य में धर्म मानता है, उसको भी पूर्व के कर्म खिरते हैं परन्तु साथ ही मिथ्यात्व के अनन्त नये कर्म बँधते हैं; इसलिए उसको वास्तविक निर्जरा नहीं कहा जाता।

(१०) लोकभावना : छह द्रव्यों का समुदाय, लोक है। मैं छह द्रव्यों का ज्ञाता हूँ — ऐसे ज्ञान की भावनापूर्वक छह द्रव्यों को जानना लोकभावना है।

(११) बोधिदुर्लभभावना : जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभता से हो, वह बोधिदुर्लभ है। इस जगत में जीव को बोधि ही महादुर्लभ है। बोधि अर्थात् सच्ची समझ। वह जीव को अनन्त काल में महादुर्लभ है। देखो! सम्यग्दृष्टि ऐसी सम्यग्दर्शनादि की दुर्लभता की भावना करता है।

(१२) धर्मभावना : जो संसार से जीव का उद्धार करे, उसका नाम धर्म है। वस्तुस्वरूप धर्म है। चैतन्यस्वरूप का भान करके, उसमें एकाग्र होने पर जीव के जन्म-मरण का अभाव होकर मुक्तदशा हो जाती है — ऐसी धर्मभावना है।

इस प्रकार यह संक्षिप्त में बारह भावनाओं का वर्णन किया। अब, प्रत्येक भावना का वर्णन विस्तार से करते हैं।

१

अध्रुव अनुप्रेक्षा

गाथा ४

पहले, अध्रुव अनुप्रेक्षा का सामान्यस्वरूप कहते हैं :—

जं किंचिवि उप्पण्णं, तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणामसरूवेण वि, ण य किंचिवि सासयं अत्थि॥

जो भी हुआ उत्पन्न है, वह नष्ट होता नियम से।
पर्यायदृष्टि से जगत में, नहीं कुछ भी नित्य है॥

अन्वयार्थ : [**जं किंचिवि उप्पण्णं**] जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, [**तस्स विणासो हवेइ णियमेण**] उसका नियम से नाश होता है; [**परिणामसरूवेण वि**] परिणामस्वरूप से तो [**किंचिवि सासयं णय अत्थि**] कुछ भी नित्य नहीं है।

भावार्थ : सब वस्तुएँ सामान्य-विशेषस्वरूप हैं। सामान्य तो द्रव्य को और विशेष गुण-पर्याय को कहते हैं, सो द्रव्यरूप से तो वस्तु नित्य ही है तथा गुण भी नित्य ही है और

पर्याय है, वह अनित्य है, इसको परिणाम भी कहते हैं। यह प्राणी पर्यायबुद्धि है, सो पर्याय उत्पन्न होते व नष्ट होते देखकर हर्ष-विषाद करता है तथा उसको नित्य रखना चाहता है; इस प्रकार के अज्ञान से दु:खी होता है। उसको इस भावना का चिन्तवन इस प्रकार करना योग्य है कि —

मैं द्रव्यरूप से नित्य जीवद्रव्य हूँ। जो उत्पन्न होती है तथा नाश होती है, यह पर्याय का स्वभाव है, इसमें हर्ष-विषाद कैसा? यह शरीर, जीव-पुद्गल की संयोगजनित पर्याय है। धन धन्यादिक, पुद्गलपरमाणुओं की स्कन्ध पर्याय है। इनके संयोग और वियोग नियम से अवश्य है, इसमें स्थिरता की बुद्धि करता है, सो मोहजनित भाव है; इसलिए वस्तुस्वरूप को समझकर हर्ष-विषादादिकरूप नहीं होना चाहिए।

गाथा ४ पर प्रवचन

जो कोई उत्पन्न हुआ है, उसका नियम से नाश होता है अर्थात् परिणामस्वरूप से तो कोई भी वस्तु शाश्वत् नहीं है।

देखो! यह वैराग्य की भावना है। समयसार में भी वैराग्य साथ ही है। वहाँ कहा है कि सम्यग्ज्ञान के साथ वैराग्य भी साथ ही है। जितना स्वरूप में स्थिर हुआ, उतना परद्रव्यों से विरक्त हुआ — इसका नाम वैराग्य है। ये वैराग्य भावनाएँ, चैतन्य के आनन्द की जननी हैं। आत्मा, अनाकुल शान्ति/आनन्द का कन्द है। उसकी भावना में वीतरागी आनन्द की शान्ति उत्पन्न होती है। अकेला शुभराग कहीं आनन्ददायक नहीं है। ये भावनाएँ, भव्य जीवों को आनन्द की जननी हैं। — इस बात को प्रत्येक भावना में समझ लेना चाहिए। द्रव्य को लक्ष्य में रखकर ऐसी भावनाएँ भानेवाले को आनन्द और शान्ति प्रगट होते हैं। अकेली पर्याय की भावना में आनन्द नहीं है।

मेरा आत्मा ही परमानन्दस्वभाव से नित्य है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई संयोग नित्य रहनेवाले नहीं हैं। देखो भाई! ऐसे स्वभाव की वैराग्य भावना भी अनन्त काल में दुर्लभ है। यह भावना भाने योग्य है। अज्ञानी जीव, संसार और विकार की भावना भाते हैं, उसमें कहीं शान्ति नहीं है।

भगवान श्री तीर्थङ्करदेव माता के गर्भ में आते हैं, तब भी सम्यग्दर्शनसहित होते हैं और नित्यानन्दस्वभाव की भावना है, उतनी समाधि तो उस समय भी वर्तती है। समाधिमरण हो, उसमें विशेष शान्ति होती है। उत्तमार्थ प्रतिक्रमण इत्यादि के समय आनन्दकन्द आत्मा में झूलते-झूलते समाधिमरण होता है, उसमें बहुत शान्ति होती है परन्तु वैसा 'समाधिजन्म' नहीं होता। जन्म-समय तो सम्यग्दर्शन तक की समाधि होती है; चारित्रदशा की समाधि नहीं होती। तत्पश्चात् अन्दर में चिदानन्दस्वभाव की भावना भाते हुए समाधिमरण से देह छूटती है।

देखो, यहाँ अनित्यभावना में वस्तुस्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषरूप है। परिणामस्वरूप से कोई ध्रुव नहीं है। वस्तु के परिणाम प्रतिक्षण पलट जाते हैं। वस्तु सामान्यरूप से ध्रुव/टिकती है परन्तु उसके परिणाम अध्रुव हैं, केवलज्ञान भी (परिणाम अर्थात् पर्याय होने से) अध्रुव है। — यह जानकर, उस अध्रुव की भावना छोड़कर, ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की भावना करना ही वास्तविक अध्रुवभावना है।

जो परमाणु, दूध और चावलरूप थे, वे ही पलटकर इस शरीररूप हुए हैं, वहाँ उनकी पर्याय पलट गयी परन्तु वे परमाणु तो कायम रहे हैं। हार पलटकर कुण्डल हुआ, वहाँ सोने की अवस्था पलटने पर भी सोना तो कायम है। पानी कायम रहकर उसमें तरङ्ग उठती हैं; उसी प्रकार आत्मा सामान्यस्वभाव से कायम रहता है और उसके विचार (परिणाम-अवस्था) प्रतिक्षण पलटते हैं, यह अध्रुवता है।

वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप है। उसमें एकरूप रहनेवाला द्रव्य, वह सामान्य है और गुण-पर्यायें, वह विशेष है। द्रव्य और गुण नित्य/ध्रुव हैं और उनकी पर्याय परिवर्तनशील/अध्रुव हैं। पदार्थों की पर्याय प्रतिक्षण पलट जाती है तो मैं किसके प्रति मोह करूँ? — ऐसा जानकर धर्मी जीव अपने स्वभाव की भावना करता है।

मैं परजीव की अवस्था को टिका सकूँ — ऐसा तो है ही नहीं परन्तु उससे स्वयं से भी उसकी अवस्था कायम नहीं रहती। पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षण-क्षण में पलट जाती है। वहाँ पर्यायबुद्धिवाला अज्ञानी जीव क्षणिक पर्याय को उपजती-विनशती देखकर हर्ष-शोक करता है और उस पर्याय को नित्य रखना चाहता है। जगत के पदार्थों की

पर्याय का रूपान्तर तो हुआ ही करता है। वहाँ यदि त्रिकाल रहनेवाली वस्तु को जाने तो पर्यायबुद्धि के राग-द्वेष न हों। पुत्र का जन्म होने पर हर्ष और मरण होने पर शोक; वस्त्र नये आने पर हर्ष और वस्त्र जल जाने पर शोक; इस प्रकार अज्ञानी पर्याय को देखकर हर्ष-शोक करता है परन्तु नित्य ध्रुव वस्तु को देखे तो पर्याय को उपजती-विनशती देखकर, पर्यायबुद्धि के अर्थात् मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष नहीं हों।

पहले शरीर में अङ्ग-अङ्ग में युवा अवस्था हो और वृद्धावस्था होने पर कुबड़ निकल आती है, इस प्रकार एक क्षण में पर्याय बदल जाती है।

एक बार कुबड़वाली एक बुढ़िया चली जा रही थी, तभी एक युवा ने मज़ाक करते हुए उससे पूछा बुढ़िया — माँ! क्या खोज रही हो?

बुढ़िया कहती है — बेटा! युवापन कहाँ चला गया, उसको खोजती हूँ। आशय यह है कि तेरा युवापन भी कायम नहीं रहेगा, क्षण में दशा पलट जाएगी; इसलिए उसका अभिमान मत कर। ज्ञानानन्द आत्मा ही नित्य एकरूप रहनेवाला है, वही ध्रुवरूप है — ऐसे भानपूर्वक, पर्याय को अध्रुवपने भाना, वह अध्रुवभावना है। अज्ञानी जीव, पर्याय को नित्य रखना चाहता है; इसलिए पर्याय के पलटने से वह आकुल-व्याकुल होता है। यदि शाश्वत द्रव्य के भानपूर्वक, अध्रुवभावना भावे तो पर्याय के पलटने से आकुलता नहीं हो; इसीलिए कहते हैं कि यह अध्रुवभावना भाने योग्य है। किस प्रकार भाने योग्य है, वह आगे कहेंगे।

यह बारह भावनाओं का वर्णन चल रहा है। कैसी हैं ये बारह भावनाएँ? भव्य जीवों को आनन्द की जननी हैं और इन्हें सुनते ही भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में उत्साह उत्पन्न होता है।

यह धर्मी जीव द्वारा भायी जानेवाली बारह भावनाओं का वर्णन है। मैं ज्ञानानन्द आत्मा नित्य द्रव्य हूँ — ऐसे भानपूर्वक प्रतिक्षण शुद्धता की वृद्धि होती है, इसके लिए ये बारह वैराग्य भावनाएँ हैं। तीर्थङ्कर भी ये भावनाएँ भाते हैं। त्रिकाल चिदानन्दस्वभाव कौन है? उसके भान बिना, 'सब अनित्य है' — ऐसा मानकर जो वैराग्य करे, वह तो मिथ्यात्व गर्भित वैराग्य है। नित्यस्वभाव की भावनापूर्वक, क्षणिक पर्याय को देखकर, उसमें हर्ष-शोक उत्पन्न नहीं होने का नाम वास्तविक अनित्यभावना और वैराग्य है।

अज्ञानी जीव को परवस्तु की पर्याय देखकर, उसमें इष्ट–अनिष्ट की मान्यता से राग –द्वेष होते हैं। केवलज्ञानी की पर्याय देखकर राग होता है। वहाँ उस पर के कारण प्रमोद मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मी जानता है कि वस्तुत: पर के कारण मुझे राग नहीं है। इसी प्रकार जो जीव, शत्रु के कारण द्वेष होना मानता है, वह पर्यायबुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है। धर्मी जानता है कि जगत में समस्त पदार्थ, पर्याय अपेक्षा से अनित्य है; इसलिए उसको पर्यायबुद्धि के (मिथ्यात्वसहित) राग–द्वेष तो होते ही नहीं।

अज्ञानी जीव को अनादि से द्रव्यस्वभाव का तो भान नहीं है और क्षणिक पर्याय को देखकर, उसे ही स्थिर रखना चाहता है। जिस जीव की भावना देहादि संयोग अथवा शुभराग को कायम टिका रखने की है, वह पर्यायमूढ़ है। मैं तो शुद्ध ज्ञायक नित्य टिकनेवाला हूँ – ऐसे द्रव्य के भानपूर्वक धर्मी को अस्थिरता से राग–द्वेष होते हैं, वे अत्यन्त अल्प होते हैं। जिसको नित्यस्वभाव को भान नहीं है, वह संयोग को और पर्याय को कायम टिकाने की भावना भाता है। वैसे जीव को सच्ची अनित्यभावना नहीं होती।

हे भगवान! भव–भव में आपकी शरण होओ, आपके चरण समीप ही सदा रहूँ — भक्ति में ऐसा बोला जाता है। वहाँ धर्मी को अन्तर में उस समय भी संयोग की भावना नहीं है। धर्मी जानता है कि मुझे पर तो शरणभूत है ही नहीं, मेरी अनित्य पर्याय भी मुझे शरण नहीं है; नित्य ज्ञायक चैतन्यस्वभाव ही मुझे शरण है। मैं उस स्वभाव के समीप रहा करूँ–धर्मी की ऐसी भावना है। तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर का विरह होने पर धर्मी को धर्मी को आँख में से आँसू आवें, वहाँ तीर्थङ्कर के विरह के कारण वह खेद नहीं हुआ है परन्तु अस्थिरता के कारण राग हो गया है, तो भी पर्यायबुद्धि नहीं है। अज्ञानी जीव को तो पर्यायबुद्धि होने से, वह अज्ञान से आकुल–व्याकुल होता है। उसको संयोग की भावना है किन्तु नित्य ध्रुव स्वभाव की भावना नहीं है। धर्मी तो नित्यस्वभाव के भानपूर्वक अनित्यादि भावनाएँ भाता है।

देखो! ये भावनाएँ भव्य जीव की आनन्द की जननी हैं। जिसको यह बात रूखी लगती है, उसको वस्तु स्वरूप का भान नहीं है। धर्मी को इन भावनाओं से प्रतिक्षण पर्याय में राग टूटता जाता है और आनन्द बढ़ता जाता है।

अनित्यभावना का चिन्तवन किस प्रकार करना चाहिए? यह कहते हैं —

अनित्यभावना भानेवाले को नित्य वस्तु की दृष्टि होना चाहिए; इसीलिए कहते हैं कि 'मैं द्रव्य से तो शाश्वत आत्मद्रव्य हूँ; यह उपजती है - विनशती है, सो तो पर्याय का स्वभाव है, उसमें हर्ष-विषाद क्या?' मैं स्थायी रहनेवाला आत्मा हूँ' — ऐसे आत्मस्वभाव के भानपूर्वक, उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाली निर्दोष पर्याय ही धर्म है। इसके अतिरिक्त बाह्य की भक्ति इत्यादि की क्रिया अथवा शुभभाव धर्म नहीं है। अहो! मुझे निज चिदानन्द आत्मा ही ध्रुव है। संयोग तो अध्रुव है ही, शुभ-अशुभ वृत्तियाँ भी क्षणिक/अध्रुव हैं; इस प्रकार धर्मी को वस्तुस्थिति का भान है, इस कारण उसको पर्यायबुद्धि से हर्ष-शोक नहीं होते। अल्प (अस्थिरताजन्य) हर्ष-शोक के समय भी ध्रुवस्वभाव की भावना की मुख्यता का अभाव नहीं होता।

शरीर है, वह जीव और पुद्‌गल के संयोगजनित पर्याय है और धन-धान्यादि हैं, वह पुद्‌गल परमाणुओं की स्कन्ध पर्याय है; इसलिए उसको मिलना-बिछुड़ना अवश्य होता है तथापि अज्ञानी जीव उसमें स्थिरता की बुद्धि करता है, यही मोहजनित भाव है; अतः वस्तुस्वरूप जानकर, अनित्य पर्याय में हर्ष-विषादरूप नहीं होना चाहिए।

नित्य ध्रुव ज्ञायक वस्तु को जाने बिना हर्ष-शोक का अभाव नहीं होता। 'मैं शुद्ध हूँ, राग भी मेरा स्वरूप नहीं है' - इस तरह अकेली अध्यात्म की बात आती है, वह सुनना अच्छी लगे और इन वैराग्य भावनाओं के श्रवण - चिन्तवन में उत्साह नहीं आवे, तो वह शुष्क है। अन्तर स्वभाव सन्मुखता के ज्ञान के साथ ऐसी वैराग्य भावनाएँ भी होती हैं। जिसके अन्तर शुद्धस्वभाव की रुचि हुई है, उसे पर्याय में राग घटने पर ऐसी वैराग्य भावनाएँ आती हैं।

पर्याय का स्वभाव अनित्य है। पर्याय का पलटना, वह तो वस्तु का धर्म है। पर्याय का पलटना, वह कहीं विकार का कारण नहीं है। यदि पर्याय का पलटना विकार का कारण हो, तब तो कभी विकार का अभाव हो ही नहीं सकता क्योंकि पर्याय तो सदा सिद्ध के भी पलटा ही करती है। पर्याय के पलटने पर भी 'मैं वस्तुरूप से ध्रुव हूँ' — ऐसे ध्रुवस्वभाव का जिसको भान नहीं है, वह पर्याय के पलटने पर 'मानों मैं पूरा ही पलट गया' — ऐसा मानकर, पर्यायबुद्धि से हर्ष-शोक करता है; इसलिए पर्यायबुद्धि ही संसार का कारण है।

सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वभाव नित्य-अनित्यरूप कहा है। उसमें अनित्यता कहीं विकार का कारण नहीं है। यदि अनित्यता विकार का कारण हो तो मिथ्यात्व का अभाव होकर शुद्धता कभी नहीं हो सकती। देखो, यह भावना! धर्मी को इसी भावना में वीतरागता है, आनन्द है।

यह शास्त्र कार्तिकेयानुप्रेक्षा बहुत प्राचीन है। अहो! अडोल दिगम्बरवृत्ति के धारक और चिदानन्द आत्मा में झूलते मुनिवर! जो छठवें-सातवें गुणस्थान में आत्मा के अमृत कुण्ड में झूलते हैं, उनका अवतार सफल है। वे सन्त भी ये वीतरागी बारह भावनाएँ भाते हैं। इसी शास्त्र को अन्तिम ४८७वीं गाथा में ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि 'जिनवचन की भावना के लिए स्वामीकुमार अर्थात् स्वामी कार्तिकेय नामक मुनि ने ये बारह अनुप्रेक्षाएँ रची हैं।'

मुनिराज भी ऐसी वैराग्य भावनाएँ भाते हैं। वस्तुस्वरूप को लक्ष्य में रखकर ये सब भावनाएँ हैं। वस्तुस्वरूप समझकर ये भावनाएँ बारम्बार चिन्तवन करने योग्य हैं। पर्यायें प्रतिक्षण पलट जाती हैं और द्रव्यस्वभाव कायम टिकनेवाला है — ऐसा जानने से पर्यायें पलटने पर भी स्वभाव सन्मुख एकाग्रता रहा करती है। पर्याय में क्षणिक विकार होता है, वह दूसरे समय मिट जाता है; इसलिए वह मेरा नित्यस्वभाव नहीं है - इस प्रकार जाने तो अल्प काल में राग-द्वेष का अभाव हुए बिना नहीं रहे।

वास्तव में पर्याय को अनित्य माना कब कहलाये? जब पर्याय का अवलम्बन छोड़कर ध्रुववस्तु का अवलम्बन करे तो वास्तव में पर्याय की अनित्यता की भावना भायी कही जाती है। पर्याय का स्वभाव ही प्रतिक्षण पलटने का है, जिसने ऐसी पर्याय की अनित्यता को जाना, उसको पर्याय पलटने पर हर्ष-शोक नहीं होता। जिसको पर्याय पलटने पर पर्यायबुद्धि से हर्ष-शोक होता है, उसको अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष है। शरीर को निरोग अवस्था के कारण हर्ष माने और शरीर में रोग होने पर उसमें पर्यायबुद्धि से शोक करे, मिथ्यादृष्टि के ऐसे हर्ष-शोक अनन्त संसार का कारण हैं।

यह शरीर तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप पर्याय है। वह संयोग अनित्य है, क्षण में पलट जाएगा। संयोग के समय ही उसे क्षणिक जाने तो उसमें एकत्वबुद्धि नहीं रहती और वियोग में भी एकत्वबुद्धि से शोक नहीं होता।

धन, धान्यादि पदार्थ दिखते हैं, वह भी पुद्गल की स्कन्धरूप पर्याय है; इस कारण वह भी क्षण में पलट जाती है। मुझ आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है, उसका कभी नाश नहीं होता तथा मूल पुद्गलद्रव्य का भी नाश नहीं होता। वस्तु कायम रहकर पर्याय पलटती है। पर्याय पलटने से कहीं ध्रुववस्तु का नाश नहीं हो जाता; इसलिए जिसको ध्रुववस्तु का भान है, उसको पर्याय के पलटने से एकत्वबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष नहीं होते, अपितु ध्रुववस्तु की भावना में प्रतिक्षण वीतरागता ही बढ़ती जाती है। समकिती को ही वास्तविक अनित्यभावना होती है। सर्वज्ञ को तो राग-द्वेष होते ही नहीं। धर्मी साधक को राग-द्वेष होते हैं परन्तु पर्याय को देखकर वे राग-द्वेष नहीं होते। तात्पर्य यह है कि दृष्टि में दोष नहीं है परन्तु अस्थिरता में राग-द्वेष होते हैं, वे अत्यन्त अल्प होते हैं। अज्ञानी तो पर्याय की भावना से राग-द्वेष करता है; इसलिए उसके राग-द्वेष अनन्त संसार का कारण है।

ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में महान अर्थात् पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है, जो अज्ञानी को समझना कठिन पड़ता है। युद्ध के समय भी धर्मी को शत्रु के कारण द्वेष नहीं होता। उसको भान है कि मुझे इस परजीव के कारण द्वेष नहीं होता, स्वयं अपनी कमजोरी से द्वेष आ जाता है; इसलिए द्वेष का अभाव करना भी अपने अधिकार में रहा। जबकि अज्ञानी की तो मान्यता ही यह है कि मुझे शत्रु को देखकर द्वेष हुआ है अर्थात् उसने पर की पर्याय के कारण द्वेष होना माना है; यही मिथ्यात्वसहित अनन्त द्वेष है।

धर्मी और अधर्मी के द्वेष में अनन्त गुना अन्तर है। धर्मी और अधर्मी दोनों एक साथ बैठकर दूधपाक खा रहे हों, वहाँ अज्ञानी को उस दूधपाक की पर्याय के कारण राग होता है और धर्मी को राग हो, वहाँ वह अपनी अस्थिरता के कारण होता है – ऐसा जानता है। अज्ञानी जीव खाते-खाते कदाचित् वैराग्य का चिन्तवन करता हो कि 'अहो! यह देह तो अनित्य है' परन्तु अन्दर में नित्य चिदानन्द वस्तु के भान बिना, उसकी अनित्यभावना यथार्थ नहीं होती। धर्मी को नित्य वस्तु के भानपूर्वक वास्तविक अनित्यभावना होती है।

जैसे दो रेलगाड़ियाँ पास-पास खड़ी हों। एक का मुख उत्तर और दूसरी का मुख दक्षिण की तरफ हो तो उनकी गति में कितना अन्तर है ? वैसे ही धर्मी और अधर्मी दोनों को राग होता दिखायी दे, तो भी धर्मी की दृष्टि नित्य स्वभाव पर पड़ी है और अज्ञानी की दृष्टि अकेली

पर्याय पर ही पड़ी है; इस कारण दोनों को गति में अर्थात् अन्तरङ्ग परिणमन में अनन्त अन्तर है। — यह बात समझने योग्य है।

यदि पर्याय के कारण राग-द्वेष होना माना जाए, तब तो पर्याय तीनों काल हुआ करेगी, इसलिए उसके अभिप्राय में भी अनन्त राग-द्वेष करना आया और तब तो पर्यायबुद्धिवाले के कभी राग-द्वेष के अभाव का प्रसङ्ग ही नहीं आयेगा। धर्मी तो जानता है कि मेरे मूलस्वभाव में राग-द्वेष नहीं है और पदार्थों की पर्याय का अनित्यस्वभाव है, उसके कारण भी मुझे राग -द्वेष नहीं होते; स्वभाव में एकाग्रता नहीं रहने से राग-द्वेष होते हैं, वे निजस्वभाव में एकाग्रता करने से मिट जाएँगे। इस प्रकार धर्मी को ध्रुवस्वभाव की भावनापूर्वक अनित्यभावना होती है।

मैं कायम रहनेवाला नित्य चैतन्य हूँ — ऐसे अपने स्वभाव की भावना न करके अज्ञानी जीव, पर्याय को स्थिर रखने की भावना करता है। पर्याय एक समयवर्ती अनित्य है, उसको टिका रखने की भावना मिथ्यात्व है। तेरी रुचि कहाँ पड़ी है? - नित्य वस्तु के आश्रय में रुचि पड़ी है या क्षणिक पर्याय की रुचि है? - उस पर (धर्म-अधर्म का) आधार है। पर्याय तो नियम से पलटा ही करेगी तो तुझे क्या करना है? ज्ञातारूप से जानना है या फेरफार करना मानना है? यदि तू पर्याय को स्थिर - टिका रखने की भावना करेगा तो पर्यायबुद्धि का मिथ्यात्व होगा। तू अपने नित्यस्वभाव के आश्रय से पलटती पर्याय का ज्ञाता रहे, तो हर्ष-शोक नहीं होंगे।

भाई! वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ जाने बिना अन्दर में शान्ति होगी ही नहीं। इसलिए 'मैं ज्ञाता हूँ, वस्तुरूप से ध्रुव हूँ और पर्यायरूप से समस्त पदार्थ क्षणिक हैं' — ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर, पर्याय के उत्पन्न-विनष्ट होने पर हर्ष-शोक नहीं करना। क्षण-क्षण में पर्याय के पलटने से अज्ञानी को एकत्वबुद्धि से हर्ष-शोक होता है। वह पर में ही एकाकार हो गया है। धर्मी तो अन्दर में ध्रुव स्वभाव के आश्रय से जानता है कि अहो! पदार्थों की पर्याय का स्वभाव ही प्रतिक्षण पलटने का है, और मेरा स्वभाव जानने का है। उसको ऐसे भानपूर्वक अनित्यभावना होती है; इस कारण उसे वीतरागता बढ़ती जाती है। ●●

गाथा ५

आगे, इस ही को विशेषरूप से कहते हैं :—

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणास सहिया, इयं सव्वं भंगुरं मुणह॥

जन्म मृत्यु सहित है, यौवन जरा के साथ है।
लक्ष्मी विनाश सहित अहो!, इस तरह क्षण भङ्गुर सभी॥

अन्वयार्थ : [जम्मं मरणेण समं] यह जन्म है, सो मरणसहित है; **[जोव्वणं जरासहियं संपज्जइ]** यौवन है, सो जरासहित उत्पन्न होता है; **[लच्छी विणास सहिया]** लक्ष्मी है, सो विनाशसहित उत्पन्न होती है; **[इयं सव्वं भंगुरं मुणह]** इस प्रकार सब वस्तुओं को क्षणभङ्गुर जानो।

भावार्थ : जितनी अवस्थाएँ संसार में हैं, वे सब ही विरोधीभाव को लिए हुए हैं। यह प्राणी, जन्म होता है तब उसको स्थिर मानकर हर्ष करता है; मरण होने पर नाश मानकर शोक करता है। इसी प्रकार इष्ट की प्राप्ति में हर्ष, अप्राप्ति में विषाद तथा अनिष्ट की प्राप्ति में विषाद, अप्राप्ति में हर्ष करता है, सो यह मोह का माहात्म्य है। (नित्य पूर्ण ज्ञायकभाव के आलम्बन के बल द्वारा) ज्ञानियों को समभाव से रहना चाहिए।

गाथा ५ पर प्रवचन

अब, अध्रुवभावना के वर्णन में शरीरादि का अनित्यपना बतलाते हैं।

हे भव्य! भावना तो ज्ञानानन्द नित्यस्वभाव की करना है। अनित्यभावना का यह अर्थ नहीं है कि अपने को अनित्यरूप भाना। 'मैं तो नित्य ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' — ऐसी

भावनापूर्वक, पर के प्रति वैराग्य होता है; इसलिए 'यह शरीरादि अनित्य हैं' — ऐसी अनित्यभावना भाते हैं। इससे धर्मी को पर के प्रति एकत्वबुद्धि से हर्ष-शोक नहीं होते।

जगत् में जितनी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वे सब प्रतिपक्षसहित हैं अर्थात् जिसका जन्म हुआ है, उसका नाश होता ही है। जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग हो जाता है — ऐसा जानने से संयोग-वियोग के कारण हर्ष-शोक नहीं होता। जब से बालक का जन्म हुआ, तब से ही वह मरण को साथ लाया है।

स्वर्ग में जन्म होने पर 'मैं उत्पन्न हुआ' — ऐसा मानकर, पर्यायबुद्धि से हर्ष करना मिथ्यादृष्टि का हर्ष है। देह का वियोग होने पर भी ज्ञानी का नित्यस्वभाव की ही भावना होने से उसको पर्यायबुद्धिपूर्वक शोक नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को तो अखण्ड द्रव्य की ही रुचि और भावना है। वह नित्यस्वरूप के आश्रयपूर्वक ऐसी अनित्यभावना भाता है कि यह जन्म तो क्षणिक है। जन्म हुआ, वह मरणसहित है और पर्याय में क्षणिक राग-द्वेष होते हैं, वह मेरा नित्यस्वरूप नहीं है; वे तो क्षणिक हैं। वे राग-द्वेष पर के कारण भी नहीं हुए हैं और मेरे स्वभाव से भी नहीं हुए हैं। वे क्षणिक पर्याय हैं — ऐसा जानता हुआ धर्मी, उस विकार की भावना नहीं करता है।

जन्म हो, वहाँ अज्ञानी उसे ही स्थिर जानकर हर्ष करता है। स्थिर तो अपना आत्मद्रव्य है, उसका जिसको भान नहीं है — ऐसा अज्ञानी जीव, पर्याय में ही स्थिरता की बुद्धि करके राग करता है। पुत्र का जन्म हो, वहाँ ज्ञानी उस पुत्र के जन्म के कारण राग होना नहीं मानता। राग होना तो चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है। धर्मी उसका जाननेवाला रहता है। राग के समय भी राग के अभावरूप ज्ञान का परिणमन है। तात्पर्य यह है कि धर्मी को राग के साथ एकत्वबुद्धि से राग नहीं होता।

'अहो! यह देह का संयोग अनित्य है' — धर्मी ऐसा चिन्तवन करता है, उसमें विकल्प की मुख्यता नहीं है क्योंकि धर्मी को पर्यायबुद्धिपूर्वक राग नहीं होता। जिसको पर्यायबुद्धि है, वह पर्याय को नित्य रखना चाहता है, वह मिथ्याबुद्धि है। धर्मी जीव तो नित्यस्वभाव की दृष्टि साथ रखकर, पर्यायों को अनित्यरूप भाता है; इसलिए नित्यस्वभाव की भावना के बल से

प्रतिक्षण वीतरागता बढ़ती जाती है — इसी का नाम वास्तविक भावना है। धर्मी ने ज्ञानस्वभाव को जाना है, उसे उसकी ही मुख्य भावना है।

देखो भाई! धर्मी को पर संयोग की भावना तो नहीं है और वस्तुत:ज्ञानी पर को देखता भी नहीं है, अपितु ज्ञान के स्व-परप्रकाशक परिणमन में परज्ञेयों का ज्ञान हो जाता है परन्तु धर्मी की दृष्टि में तो अखण्ड ज्ञानस्वभाव की ही मुख्यता है। पूर्व की पर्याय को भी वह मुख्यरूप से नहीं देखता।

आत्मा को केवलज्ञान होने पर उसमें लोकालोक एक साथ ज्ञात होते हैं और उस ज्ञान में सदा लोकालोक ज्ञात हुआ ही करते हैं अर्थात् वहाँ लोकालोक का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक समान रहा करता है। यहाँ केवलज्ञान की एकरूप धारा है, उसको लोकालोक सदा ज्ञेयरूप रहा करता है परन्तु छद्मस्थ की ज्ञानपर्याय प्रतिक्षण अन्य-अन्य ज्ञेयों को जाननेरूप पलट जाती है। नयी-नयी पर्याय पलटती है, वह पर्याय उस-उस काल के ज्ञान को और उस-उस काल के ज्ञेय को जानती है; इसलिए उस ज्ञान और ज्ञेय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक समान नहीं रहता। स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाला पूर्ण केवलज्ञान सदा ऐसा का ऐसा टिका रहता है। निचलीदशा में प्रगट होनेवाली ज्ञानपर्याय भी स्वयं से ही है। वह ज्ञान, ज्ञान के कारण और पर की पर्याय पर के कारण है — ऐसा भान होने से धर्मी को पर्याय के परिवर्तन में हर्ष-शोक नहीं होता किन्तु स्वभाव की भावना करने से एकाग्रता और संवर बढ़ते जाते हैं। अज्ञानी को पर संयोग से कारण हर्ष-शोक की मान्यता के कारण आस्रव बढ़ता जाता है।

जन्म होने पर उसे स्थिर मानकर, अज्ञानी हर्ष करता है परन्तु वह अनित्यता को नहीं जानता है और मरण होने पर सर्वथा अपना नाश मानकर, अज्ञानी शोक करता है परन्तु भाई! पर्याय पलटने का तो जगत का स्वभाव है। जगत् में से किसी जीव या अजीव वस्तु का नाश नहीं हो जाता। वस्तु कभी उपजती या नष्ट नहीं होती है परन्तु उसकी पर्याय उपजती और विनष्ट होते देखकर, अज्ञानी जीव, वस्तु की ही उत्पत्ति और विनाश मानकर हर्ष-शोक करता है। वह पर्याय के अनित्य स्वभाव को नहीं जानता, इस कारण उसको मिथ्यात्वसहित हर्ष-शोक होते हैं।

इष्ट पदार्थ का संयोग होना अथवा वियोग होना तथा अनिष्ट पदार्थ का संयोग होना अथवा वियोग होना तो परपदार्थ की पर्याय का धर्म है। उसका संयोग-वियोग इस जीव के कारण नहीं होता। धर्मी तो जानता है कि परवस्तु का संयोग-वियोग मेरे आधीन नहीं है और न उस परवस्तु के संयोग-वियोग के कारण मुझे हर्ष-शोक ही होते हैं। संयोग और वियोग — ये दोनों तो क्षणिक पर्याय का धर्म है, मैं तो असंयोगी चैतन्यतत्त्व हूँ - धर्मी जीव ऐसे नित्यस्वभाव को भावनापूर्वक संयोगों की अनित्यता की भावना भाता है।

अज्ञानी को ध्रुव ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है, इसलिए वह क्षणिक संयोग-वियोग में ही हर्ष-शोक करता है। जगत के पदार्थ तो उनके पर्यायधर्मानुसार बदला ही करते हैं, वहाँ 'यह संयोग मुझे इष्ट है और यह संयोग अनिष्ट हैं' — ऐसा मानकर, अज्ञानी उनकी पर्याय में हर्ष-शोक करता है।

बन्दूक की गोली आने पर 'हाय-हाय' करके अज्ञानी शोक करता है और गोली से बच जाने पर उत्साह से हर्ष करता है। उसने संयोग-वियोग में ही सर्वस्व मान लिया है परन्तु उसको यह भान नहीं है कि मेरे चैतन्यस्वभाव में पर का संयोग-वियोग है ही नहीं। अतः उसे संयोग में एकत्वबुद्धि से हर्ष-शोक होते हैं।

इसलिए नित्य ज्ञानानन्द स्वभाव को जानकर, संयोग-वियोग अनित्य है — ऐसी भावना भाकर समतारूप रहना योग्य है। ●●

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

अहा! मुनिदशा कैसी होती है? उसका विचार तो करो! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। **प्रचुर स्वसम्वेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्ररहित निर्ग्रन्थदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है।** उनको अपवाद-व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अधःकर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०

गाथा ६

अब, दृष्टान्तपूर्वक अनित्यता को समझाते हैं —

अथिरं परिणय-सयणं, पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं, णव-घण-विंदेण सारिच्छं॥

परिवार बन्धुवर्ग सुत, नारी तथा रमणीय तन।
घरबार गोधन आदि सब हैं, अथिर ज्यों नव मेघ घन॥

अन्वयार्थ : [**परिणयसयणं**] परिवार, बन्धुवर्ग, [**पुत्तकलत्तं**] पुत्र, स्त्री, [**सुमित्त**] अच्छे मित्र, [**लावण्णं**] शरीर की सुन्दरता, [**गिह-गोहणाइ सव्वं**] गृह, गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ [**णवघणविंदेण**] नवीन मेघ के समूह के समान [**अथिरं**] अस्थिर हैं।

भावार्थ : ये सब ही वस्तुएँ नाशवान जानकर (नित्य ज्ञानस्वभाव में ही एकत्व द्वारा) हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए।

गाथा ६ पर प्रवचन

अब, दृष्टान्तपूर्वक अनित्यता को समझाते हैं।

जैसे, आकाश में बादल आकर बिखर जाते हैं, वैसे ही जगत में स्त्री-पुत्रादि का संयोग आता है, वह क्षण में चला जाता है। वस्तुतः तो स्त्री-पुत्रादि की पर्याय एक-एक समय में पलट जाती है। ज्ञानी तो उनकी पर्याय को एक-एक समय में पलटती जानता है, इस कारण उसको उनमें सुखबुद्धि नहीं होती। जो कोई स्त्री-पुत्रादि का परिवार है, वह प्रत्येक समय में पलट रहा है। पुत्र का जन्म हुआ, उसी समय से प्रत्येक समय वह मरण के सन्मुख (निकट) होता जाता है।

माता कहती है, 'लड़का बड़ा होता है' तो ज्ञानी कहते हैं कि उसकी आयु प्रत्येक समय कम हो रही है अर्थात् वह मरण के सन्मुख होता जा रहा है। 'पचास वर्ष की आयु' कहना तो स्थूल ऋतुसूत्रनय का कथन है परन्तु वह स्थूल ऋजुसूत्रनय कब कहलाता है? यदि उसी समय सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का भी भान हो कि प्रत्येक समय उसकी पर्याय का विनाश हो रहा है।

अज्ञानी को यथार्थ अनित्यभावना नहीं होती। वह तो पर्याय को नित्य रखना चाहता है। यदि वास्तव में पदार्थ के पर्यायधर्म को जाने तो उसका आश्रय छोड़कर, ध्रुव स्वद्रव्य के सन्मुख हुए बिना न रहे। जो जीव अनुकूल पुत्र-मित्र आदि पर्याय को देखकर, उस क्षणिक पर्याय को ही स्थिर मानता है, उस जीव ने पर्याय को ही सर्वस्व मानकर अखण्ड द्रव्य को उड़ा दिया है।

अभी सुन्दर शरीर हो और भविष्य में दुर्गन्धित कुत्ता होना हो, वहाँ अज्ञानी तो वर्तमान सुन्दर देह को देखकर, उसे ही नित्य मानकर राग करता है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय को अनित्य जानकर, तू निज ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना कर! धर्मी को ध्रुवस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ये अनित्य आदि भावना भाते हुए पर्याय में प्रतिक्षण आनन्द बढ़ता जाता है; इसलिए इन बारह भावनाओं को 'भव्यजन आनन्द जननी' कहा गया है।

पदार्थ आते हैं, वे स्वयं के पर्यायधर्म से आते हैं, वहाँ मेरे कारण वह पदार्थ आये — ऐसा मानकर मूढ़ जीव राग करता है परन्तु पदार्थ तो उनके पर्यायधर्म से आते हैं। उनके पर्यायधर्म में फेरफार करना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु में 'द्रव्यधर्म' और 'पर्यायधर्म' — ऐसे दोनों प्रकार का धर्म हैं। वस्तु पर्यायधर्म से प्रतिसमय पलटती है और द्रव्यधर्म से त्रिकाल शाश्वत् रहती है। पदार्थ का पर्यायस्वभाव ही प्रतिक्षण पलटने का है। मैं उसे मिलाऊँ या हटाऊँ — ऐसी मान्यतावाले ने पर्याय को अनित्य नहीं जाना अर्थात् वस्तु के पर्यायधर्म को नहीं जाना।

अहो! पदार्थ की पर्याय प्रतिक्षण पलटा करती है — ऐसा ही उसका स्वभाव है। उसमें हर्ष-शोक क्या? वस्तु द्रव्यरूप से ध्रुव है — ऐसा जानकर, नित्य वस्तु की भावना करके, पर्यायधर्म को जैसा हो, वैसा जानने में अकेली वीतरागता ही होती है। यह बात तो जिसे

वीतरागता चाहिए, उसके लिए है। जहाँ पदार्थों को पर्याय से अनित्य जाना, वहाँ पर्याय के कारण हर्ष-शोक मानकर होनेवाले हर्ष-शोक का अभाव हो गया और स्वभाव सन्मुख झुका। स्वभाव के कारण हर्ष-शोक नहीं होते, इसलिए अकेला ज्ञातापना और वीतरागभाव ही होता है।

पुत्र, मकान, लक्ष्मी इत्यादि पदार्थों को देखकर, अज्ञानी मानता है कि 'मुझे ये मिले' — इस प्रकार उन्हें स्थिर मानकर, मोहपूर्वक उससे राग करता है परन्तु वे सब तो अस्थिर हैं; नित्य तो ध्रुवद्रव्य है। ध्रुवद्रव्य और अध्रुवपर्याय — इन दोनों के मेल बिना परवस्तु की पर्याय में हर्ष-शोक की बुद्धि का अभाव नहीं होता। जगत के समस्त पदार्थों की पर्याय उसके स्वभाव से ही अस्थिर है। द्रव्य कभी भी अपनी पर्याय बिना नहीं होता और पर्याय कभी स्थिर नहीं रहती — ऐसे भानवाले धर्मी को ही यथार्थ अनित्यभावना होती है। जिसको नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि और दृष्टि हुई हो, उस जीव को ही यह अनित्यभावना यथार्थ होती है — ऐसा सिद्धान्त है। उसको इस भावना से शुद्धि की वृद्धि होती है।

यह भावना तो शुद्धि की वृद्धि के लिए है, इसलिए इस भावना को आनन्द की जननी कहा है। तीर्थङ्कर भगवन्त भी पुरुषार्थपूर्वक यह वैराग्य भावना भाते हैं।

स्त्री-पुत्रादि सर्व पदार्थों का संयोग क्षणिक है। मेरा असंयोगीस्वभाव ध्रुव है — ऐसे स्वभाव के भानपूर्वक, क्षणिक संयोग-वियोग को अस्थिर जाकर, उसमें हर्ष-शोक नहीं करना। ध्रुवस्वभाव का आश्रय करने से अस्थिर संयोगों में हर्ष-शोक का अभाव हो जाता है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति होने से वस्तुस्वभाव की रुचि होकर, राग मन्द (हीन) पड़ता जाता है और वीतरागता बढ़ती जाती है; इसलिए क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति (ज्ञान) में भी ऐसी भावनाएँ आ ही जाती हैं। ●●

गाथा ७

अब, इन्द्रिय विषयों की क्षणिकता बतलाते हैं —

सुरधणु-तडि व्व चवला, इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे, तुरय-गया रहवरादी य॥

इन्द्रिय-विषय सेवक सभी, गजरथ तुरंगादिक अहो।
सुर-धनु तथा बिजली समान, दिखाई देकर नष्ट हों॥

अन्वयार्थ : [**इंदियविसया**] इन्द्रियों के विषय, [**सुभिच्चवग्गा**] अच्छे सेवकों का समूह [**य**] और [**तुरयगया रहवरादी य**] घोड़े-हाथी, रथ आदिक [**सव्वे**] ये सब ही [**सुरधणुतडि व्व चवला**] इन्द्रधनुष तथा बिजली के समान चञ्चल हैं; [**दिट्ठपणट्ठां**] दिखाई देकर नष्ट हो जानेवाले हैं।

भावार्थ : यह प्राणी, श्रेष्ठ इन्द्रियों के विषय, अच्छे नौकर, घोड़े, हाथी, रथादिक की प्राप्ति से सुख मानता है, सो ये सब क्षण विनश्वर हैं; इसलिए (निज आत्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय) अविनाशी सुख को प्राप्त करने का उपाय करना ही योग्य है।

गाथा ७ पर प्रवचन

आत्मा, अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वभावी है। उससे भिन्न बाह्य में जो इन्द्रिय विषय दिखते हैं, वे तो इन्द्रधनुषवत् क्षणिक हैं। जैसे इन्द्रधनुष क्षण में दिखकर विलय को प्राप्त हो जाता है; वैसे ही इन्द्रियों के विषय भी क्षणभङ्गुर हैं — ऐसा जानने से धर्मी जीव को उन विषयों में रुचि से अर्थात् मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष नहीं होते, अपितु चैतन्य की ध्रुवता के अवलम्बन से निर्विकारता बढ़ती जाती है।

अज्ञानी को इन्द्रिय विषयों के ग्रहण के काल में उनकी ही मुख्यता भासित होती है परन्तु वह उनकी क्षणिकता को नहीं देखता, इसलिए उसे तो वहाँ ही एकाकार बुद्धि से राग-द्वेष होते हैं। धर्मी को बाह्य में इन्द्रिय विषयों के ग्रहण के काल में भी अन्दर में ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की रुचि पड़ी है, इसलिए उसे संयोगबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष नहीं होते, अपितु ध्रुवस्वभाव की भावना से प्रतिक्षण वीतरागता और शुद्धता बढ़ती जाती है — इस भावना का यह फल है।

हाथी, घोड़ा, रथ इत्यादि पदार्थ बिजली की चमकारवत् क्षणभङ्गुर हैं। एक बार दीक्षा की शोभायात्रा के लिए दो कीमती घोड़े आये किन्तु आग लग जाने से दोनों घोड़े खड़े-खड़े जल गये। देखो, यह क्षणभङ्गुरता! धर्मी जीव ऐसी क्षणभङ्गुरता को देखकर, अनित्य संयोगों की भावना छोड़ता हुआ और ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की भावना करता हुआ अनित्यभावना भाता है।

विशाल बँगला देखते-देखते क्षणभर में नष्ट हो जाता है। हरा-भरा वृक्ष क्षणमात्र में ठूँठ हो जाता है परन्तु फिर भी अज्ञानी को संयोग की क्षणिकता भासित नहीं होती; इस कारण वह संयोग की भावना छोड़कर स्वभाव की भावना नहीं भाता। अहो! जिस क्षण जो संयोग या वियोग होना है, उसे कौन बदले? आगे ३२१-३२२वीं गाथा में, धर्मी जीव, वस्तु स्वभाव की कैसी भावना करता है? — यह बतलाते हुए कहते हैं :—

'जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जन्म-मरण उपलक्षण से सुख-दुख-रोग-दरिद्र आदि होना सर्वज्ञदेव ने जाना है, उसी अनुसार नियम से होता है और वह जिस प्रकार होने योग्य है, उस प्राणी को, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से नियम से होता है, उसको इन्द्र अथवा जिनेन्द्र-तीर्थङ्करदेव कोई नहीं रोक सकते।'

सर्वज्ञदेव, सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अवस्थाओं को जानते हैं और सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, वही नियम से होता है परन्तु उसमें हीनाधिक कुछ नहीं होता — ऐसा विचार सम्यग्दृष्टि करता है।

अहो! दिगम्बर सन्तों का कोई भी ग्रन्थ लो, सभी में एकाकार बात ली है कि तू निज चिदानन्द ज्ञायक सन्मुखता का पुरुषार्थ कर! पर में परिवर्तन की बुद्धि मिथ्या है।

सर्वज्ञ के ज्ञान का निर्णय करते हुए आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर। जो जीव ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करता है, वह सम्यग्दृष्टि है; इसीलिए 323वीं गाथा में कहते हैं कि —

'इस प्रकार निश्चय से सर्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन छह द्रव्यों की पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है - श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है तथा जो इस प्रकार श्रद्धान नहीं करता परन्तु शङ्का -सन्देह करता है, वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।'

अनित्यभावना में भी यह सब साथ रखकर ही बात है। देखो न! क्षण में युवा मनुष्य चले जाते हैं। बोटाद में आग लगी, उसे देखने जानेवाला एक व्यक्ति मर गया। आग में बड़े सर्पादि मर गये। जिस क्षण जो होना हो, उसे कौन बदले? इसका अर्थ यह है कि हे जीव! तू निर्णय कर कि मैं तो ज्ञान हूँ, जाननेवाला हूँ। जाननेवाला क्या करे? जैसा हो, वैसा जाने परन्तु कुछ फेरफार नहीं करे — ऐसे ज्ञानस्वभाव में शङ्का करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। पर में फेरफार करना माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। बाहर में फेरफार करने में कोई पुरुषार्थ काम नहीं आता। स्वयं ज्ञान में समाधान करके जाननेवाला रहे और राग-द्वेष न हो — यही पुरुषार्थ है। ज्ञान में निःशङ्क होकर ज्ञानरूप रहा और विकाररूप नहीं हुआ — इसी का नाम पुरुषार्थ है। ज्ञानस्वभाव नित्य है। उसे पहिचानकर उसकी भावना करना और क्षणिक संयोग की भावना छोड़ना ही अनित्यभावना है।

यह जीव अच्छे-अच्छे इन्द्रिय विषयों, उत्तम नौकर, घोड़ा, हाथी और रथादिक की प्राप्ति में सुख मानता है परन्तु वे सब क्षणभङ्गुर है; इसलिए उनका लक्ष्य छोड़कर अविनाशी सुख का ही उपाय करना योग्य है।

अन्तरङ्ग चिदानन्द तत्त्व में ही मेरी शान्ति है। इसके अतिरिक्त सङ्कल्प-विकल्प में कहीं शान्ति नहीं है और न बाह्य संयोग में शान्ति है। स्वयं के क्षणिक शुभाशुभपरिणाम में भी

अपनी शान्ति नहीं है, तब उन शुभाशुभपरिणाम के बाह्य विषय में तो सुख होगा ही कैसे ? बाह्य पदार्थों को विषय करनेवाले तो अपने शुभाशुभपरिणाम हैं। उन परिणामों में भी सुख नहीं है और बाह्य विषयों में भी सुख नहीं है। सुख तो अविनाशी ज्ञानस्वभाव की भावना में ही है; इसलिए क्षणभङ्गुर संयोगों और उनके लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभपरिणामों की भावना छोड़कर, ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की भावना करना ही अविनाशी सुख का उपाय है।

अपने में होनेवाले क्षणिक सङ्कल्प-विकल्प भी विभाव हैं और उनके विषयभूत दृष्टिगोचर बाह्य पदार्थ भी विभावपर्याय हैं। आम का रस खाने के परिणाम हों, वहाँ उस आम के रस में सुख नहीं है। पर्यायबुद्धिवाला जीव अन्तरस्वभाव सन्मुख नहीं होता, इसलिए उसको बाह्य विषयों में सुख भासित होता है; इस कारण उसको संयोग की भावना है।

धर्मी तो जानता है कि मेरा सुख, बाह्य विषयों में नहीं है और पर्याय के शुभाशुभभावों में भी मेरा सुख नहीं है। मेरा सुख तो ध्रुव आत्मा में है; इस कारण उस जीव को अविनाशीस्वभाव की भावना नहीं छूटती। स्वद्रव्य के सन्मुख ढलना ही मोक्षमार्ग है। यही अविनाशी सुख का उपाय है। स्वद्रव्य के सन्मुख होने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं और यही अविनाशी सुख का मार्ग है। इसलिए ध्रुवस्वभाव को जानकर, उसकी भावना करना चाहिए और संयोग को अध्रुव जानकर, उसकी भावना छोड़ना चाहिए। ●●

जङ्गल में भी मुनिराज परम सुखी

किसी को ऐसा लगे कि जङ्गल में मुनिराज को अकेले कैसे अच्छा लगता होगा? **अरे भाई! जङ्गल के बीच निजानन्द में झूलते मुनिराज तो परम सुखी हैं; जगत के राग-द्वेष का शोरगुल वहाँ नहीं है।** किसी परवस्तु के साथ आत्मा का मिलन ही नहीं है, इसलिए पर के सम्बन्ध बिना आत्मा स्वयमेव अकेला आप अपने में परम सुखी है। पर के सम्बन्ध में आत्मा को सुख हो –ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करते हैं और उसी को उपादेय मानते हैं। ***- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, १७६, पृष्ठ १०१***

गाथा ८

अब, बन्धुजनों का संयोग कैसा है ? सो दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

पंथे पहिय-जणाणं, जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा, संजोओ अद्धुओ होइ॥

ज्यों मार्ग में मिलते पथिकजन, मात्र क्षणभर को अहो।
त्यों बन्धुजन का मिलन भी, अस्थिर सदा यह जान लो॥

अन्वयार्थ : [**जह**] जैसे [**पंथे**] मार्ग में [**पहियजणाणं**] पथिकजनों का [**संजोओ**] संयोग [**खणमित्तं**] क्षणमात्र [**हवेइ**] होता है, [**तहा**] वैसा ही (संसार में) [**बंधुजणाणं**] बन्धुजनों का [**संजोओ**] संयोग [**अद्धुओ**] अस्थिर [**होइ**] होता है।

भावार्थ : यह प्राणी बहुत कुटुम्ब परिवार पाता है, तब अभिमान करके सुख मानता है, उस मद से अपने स्वरूप को भूल जाता है। यह बन्धुवर्ग का संयोग, मार्ग के पथिकजनों के समान है, जिसका शीघ्र ही वियोग होता है। इसमें सन्तुष्ट होकर अपने असली स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए।

गाथा ८ पर प्रवचन

अब, दूसरा दृष्टान्त देकर बन्धुजनों इत्यादि संयोगों की अध्रुवता बतलाते हैं —

आत्मा को स्त्री-पुत्र, बन्धुजनों इत्यादि का संयोग तो इस भव में नया हुआ है और वह अस्थिर है। इस संयोग का तो वियोग हो जानेवाला है। स्त्री आदि, जिनका वियोग हुआ, उनका संयोग तो फिर से हो या नहीं हो, कोई नियम नहीं है परन्तु जिनका संयोग हुआ, उनका तो वियोग अल्पकाल में अवश्य हो जाएगा।

चैतन्यद्रव्य असंयोगी है, वह त्रिकाल रहनेवाला है; इसलिए उसी की भावना करना योग्य है। जैसे नदी में पानी का प्रवाह आवे, तो लोग कहते हैं कि अपनी नदी में पानी आया है परन्तु पानी तो चला ही जाता है, कोई उसके पास खड़ा नहीं रहता; उसी प्रकार जगत के पदार्थों का परिणमन होते-होते संयोग हुआ, वहाँ अज्ञानी कहता है कि हमको ये पदार्थ मिले, परन्तु भाई! वे पदार्थ तो उनके परिणमन प्रवाह में बहते जा रहे हैं, कोई पदार्थ तेरे पास स्थिर रहनेवाला नहीं है; इसलिए उस संयोग की भावना छोड़कर निजस्वभाव की भावना कर।

एक बार एक व्यक्ति अकेला मुम्बई गया। मुम्बई में व्यापार किया, धन हुआ, विवाह हुआ और पुत्र हुए। सब मिलाकर परिवार में बारह लोग हो गये और थोड़े समय में सब मर गये। पैसा चला गया और जैसा अकेला गया था, वैसा ही अकेला वापस आ गया। देखो, यह संयोग! इसलिए संसार में सुख की मान्यता छोड़कर, स्वभाव की भावना करना चाहिए।

यह जीव, अनुकूल कुटुम्ब-परिवार प्राप्त होने पर अभिमान से उसमें सुख मानता है और उससे अपने स्वरूप को भूल जाता है परन्तु यह बन्धुवर्गादि का संयोग तो मार्ग के पथिकजन जैसा ही है अर्थात् थोड़े ही समय में बिखर जाता है; इसलिए उसमें ही सन्तुष्ट होकर स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए।

हे जीव! अपने ज्ञायकस्वभाव में ही सन्तोष कर! बाह्य संयोगों में सन्तोष मानेगा तो वे संयोग तो चले जानेवाले हैं। इसलिए दृष्टि का अन्तर्मुख करके, स्वभाव की भावना में पुरुषार्थ को स्फुरित कर। ●●

मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा

भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकर किन्हीं मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करते थे और मुनिराज के पधारने पर परमभक्ति से आहारदान देते थे। **अहा! मानों आँगन में कल्पवृक्ष फला हो, उससे भी विशेष आनन्द धर्मात्मा को मोक्षमार्गसाधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर होता है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, २०, पृष्ठ १२

गाथा ९

अब, देहसंयोग को अस्थिर दिखाते हैं —

अइलालिओ वि देहो, ण्हाण सुयंधेहिं विविह भक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ, जल-भरिओ आम घडओ व्व॥

यह तन सजाया स्नान कर, अरु विधि गन्धित द्रव्य से।
आहार से पोषित किया, कच्चे घड़े वत् नष्ट हो॥

अन्वयार्थ : [**देहो**] यह देह [**ण्हाण सुयंधेहिं**] स्नान तथा सुगन्धित पदार्थों से सजाया हुआ भी, (तथा) [**विविह भक्खेहिं**] अनेक प्रकार के भोजनादि भक्ष्य पदार्थों से [**अइलालिओ वि**] अत्यन्त लालन-पालन किया हुआ भी [**जलभरिओ**] जल से भरे हुए [**आम घडओ व्व**] कच्चे घड़े की तरह [**खणमित्तेण वि**] क्षणमात्र में ही [**विहडइ**] नष्ट हो जाता है।

भावार्थ : ऐसे शरीर में स्थिर बुद्धि करना बड़ी भूल है।

गाथा ९ पर प्रवचन

अब, देह के संयोग की अस्थिरता बतलाते हैं —

देह का कितना ही लालन-पालन करे परन्तु वह तो अशुचि का घड़ा है, उसमें से तो अशुचिता ही निकलेगी। देह को स्नान कराये, ऋतु के अनुकूल भोजन कराये — ऐसे भाव करे, तो भी देह का तो क्षण में वियोग हो जाएगा। आत्मा, देह की क्रिया तो नहीं कर सकता परन्तु देह को रखने की इच्छा करता है। देह कहीं उसके रखने से रहनेवाली नहीं है।

एक समय में जीवन और दूसरे समय में मृत्यु, इसमें बीच में कोई अन्तर नहीं है। तेरे रखने से देह एक क्षण भी रहनेवाली नहीं है। तेरा आत्मा सदा शाश्वत् है, उसकी ही भावना

कर ! पानी से भरे हुए मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह, यह देह तो क्षणभङ्गुर है।

यहाँ ग्रन्थकार देह की क्षणभङ्गुरता बताकर, उसकी भावना छोड़ने को और नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना करने को कहते हैं।

'नियमसार' में कहते हैं कि धर्मात्माओं को नित्यस्वभाव की भावना करना चाहिए, क्षणिकभावों की भावना छोड़ना चाहिए। उसी को यहाँ अनित्यभावना कहा गया है। इसमें भी वस्तुतः अनित्य पदार्थों की भावना करने को नहीं कहा है, अपितु नित्यस्वभाव की भावना करने का ही कथन है। विकल्प उत्पन्न होने पर संयोग के प्रति लक्ष्य जाता है तो वहाँ धर्मी जीव उसे क्षणिक जानकर, निजस्वभाव की भावना को बढ़ाते हैं, इसी का नाम अनित्यभावना है।

अहो ! देखो न ! (सोनगढ़ के) टी.बी. हॉस्पिटल में कैसे-कैसे युवा मनुष्य हैं ? युवा शरीर होने पर भी एक क्षण में क्षयरोग हो जाता है। बीस-पच्चीस वर्ष की उम्र हो, बढ़ता हुआ खून हो, वहाँ भी क्षयरोग हो जाता है। उसमें आत्मा क्या कर सकता है ? देह के सन्मुख देखकर, उसमें ही (तुझे) शरण भासित होती है परन्तु भाई ! देह तो क्षणिक है, उसका एक परमाणु भी तेरे पास नहीं रहेगा। इसलिए देह की दृष्टि छोड़कर, निज ज्ञानानन्द-स्वभाव की दृष्टि करके, उसकी भावना कर।

धर्मात्मा चक्रवर्ती हीरा-माणिक की शिला पर बैठकर स्नान करे, उत्कृष्ट प्रकार का भोजन करे, उस समय भी अन्दर में भान है कि यह देह हमारी नहीं है, देह का क्षणिक स्वाङ्ग हमारा नहीं है; हम तो शुद्ध ज्ञानानन्द आत्मा हैं, वही हमारा शरण है। चक्रवर्ती का शरीर भी क्षणभर में विलय को प्राप्त हो जाता है। इसलिए ऐसे शरीर में स्थिरबुद्धि छोड़कर, आत्मा के नित्यस्वभाव के सन्मुख होना चाहिए। ●●

गाथा १०

अब, लक्ष्मी की अस्थिरता दिखाते हैं —

जा सासया ण लच्छी, चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बधेइ रइं, इयर-जणाणं अपुण्णाणं॥

पुण्यशाली चक्रवर्ती, के निकट नहिं नित्य जो।
वह लक्ष्मी कैसे करेगी, प्रीति पुण्य विहीन से॥

अन्वयार्थ : [जा लच्छी] जो लक्ष्मी (सम्पदा)**[पुण्णवंताणं चक्कहराणं पि]** पुण्यउदयसहित चक्रवर्तियों के भी **[सासया ण]** नित्य नहीं है, **[सा]** वह (लक्ष्मी) **[अपुण्णाणं इयरजणाणं]** पुण्यहीन अथवा अल्प पुण्यवाले अन्य लोगों से **[किं रइं बधेइं]** कैसे प्रेम करे? अर्थात् नहीं करे।

भावार्थ : (अपने त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानानन्दमय आत्मलक्ष्मी को भूल जाना ही बड़ा दुःख है; अतः) इस लक्ष्मी पर अभिमान कर यह प्राणी प्रेम करता है, सो वृथा है।

गाथा १० पर प्रवचन

अब, लक्ष्मी आदि संयोग पूर्व पुण्य से प्राप्त होते हैं, उनकी प्राप्ति में जीव की वर्तमान चतुराई कुछ भी कार्यकारी नहीं है। चक्रवती का पुण्योदय ऐसा होता है कि हजारों देव उसकी सेवा करते हैं, छह खण्ड का राज्य होता है, छियानवै करोड़ सेना और नौ निधान होते हैं — ऐसी लक्ष्मी प्राप्त हुई, वह चक्रवर्ती जैसे पुण्यवन्त के भी शाश्वत् रहनेवाली नहीं है, साधारण जीवों की तो बात ही क्या है? जीव, अध्रुव लक्ष्मी के मोह से चैतन्य चमत्कार की सम्पदा को भूल जाते हैं।

अहो! आश्चर्य है कि चक्रवर्ती जैसे पुण्यवन्त जीवों के पास भी लक्ष्मी का संयोग शाश्वत् नहीं रहता, तो वह लक्ष्मी अल्प पुण्यवन्त जीवों के प्रति राग कैसे बाँधेगी ? अर्थात् उनके लक्ष्मी का संयोग शाश्वत् कैसे रहेगा ?

जिसकी दृष्टि में चैतन्य की दौलत पड़ी है, उन धर्मात्मा की दृष्टि, जड़ लक्ष्मी को अपनी दौलत के रूप में स्वीकार नहीं करती। पुण्य के विकल्प क्षणिक हैं, उसके निमित्त से प्राप्त सम्पदा भी क्षणिक है; इसलिए पर्याय को उस क्षणिक की ओर न झुकाकर, ध्रुवस्वभाव की ओर झुकाकर, ध्रुव की भावना करना ही अनित्यभावना का तात्पर्य है।

अज्ञानी जीव, चैतन्य का स्वामीपना चूककर, बाह्य सम्पदा का अभिमान करते हैं। उनसे कहते हैं कि अरे भाई! जब चक्रवर्ती जैसों को भी बाह्य सम्पदा क्षणभङ्गुर है तो तेरे पास वह सम्पदा शाश्वत् कैसे रहेगी ? नहीं रहेगी। इसलिए उसका अहङ्कार छोड़कर, स्वभाव की दृढ़ता और भावना कर। चैतन्य की भावना के अतिरिक्त बाह्य संयोग की प्रीति करना व्यर्थ है; इसलिए उस प्रीति का परित्याग करके चैतन्यस्वरूप की भावना कर।

लक्ष्मी आदि अध्रुव हैं। जिनके यहाँ चौरासी लाख हाथी झूलते हों — ऐसे चक्रवर्ती को भी वह हाथी आदि सम्पदा ध्रुव नहीं रहती। संयोग उसके कारण आया है और उसका काल पूरा होने पर चला जाता है। संयोग, आत्मा के प्रयत्न से नहीं आते; पूर्व पुण्योदय के निमित्त से ही लक्ष्मी इत्यादि आते हैं परन्तु उन लक्ष्मी इत्यादि का संयोग चक्रवर्ती जैसों के साथ भी ध्रुव नहीं रहता तो साधारण पुण्यहीन जीवों के पास लक्ष्मी ध्रुव कैसे रहेगी।

'लक्ष्मी ध्रुव नहीं है' — ऐसा जानकर, उसकी प्रीति छोड़ना और निज ध्रुवद्रव्य की प्रीति करना ही अनित्यभावना का प्रयोजन है। अज्ञानी देखता है कि नदी में पानी आया, ज्ञानी कहते हैं कि पानी का प्रवाह चला जा रहा है। इसी प्रकार संयोग मेरे पास आये — ऐसा मानकर अज्ञानी संयोग के साथ एकत्वबुद्धि करता है और धर्मी तो जानता है कि ये पदार्थ स्वयं के पर्यायधर्म के कारण प्रतिक्षण पलट रहे हैं। वे मेरे कारण आये नहीं हैं और मेरे पास रहनेवाले नहीं है। धर्मात्मा चक्रवर्ती को नव निधान और छह खण्ड राज्य का संयोग होने पर भी, वे अन्तरङ्ग में एक रजकण के संयोग को भी अपना नहीं मानते। उन्हें तो ध्रुवद्रव्य की ही रुचि

है। जैसे समुद्र में उछलनेवाली तरङ्ग, समुद्र में ही समा जाती है; बाहर नहीं निकलती; उसी प्रकार संयोग का आना, वह परद्रव्य की पर्याय का उत्पाद है और दूसरे क्षण उसकी पर्याय का व्यय होकर उसी में समा जाता है। इस प्रकार धर्मी को पदार्थ के संयोग के समय हर्ष अथवा वियोग के समय शोक नहीं होता। उसको तो ध्रुववस्तु की रुचि की मुख्यता है; वहाँ अल्प राग हो, उनकी मुख्यता नहीं है क्योंकि पर्यायबुद्धि नहीं है।

लक्ष्मी का संयोग हुआ और लाख रुपये दान में गये। वहाँ लाख रुपये तो उनके पर्यायधर्म से ही गये हैं, आत्मा ने उन्हें नहीं दिया है। यदि जीव वहाँ धन खर्च करने का अभिमान करे – मान कषाय करे, तब तो पापभाव है। उस समय शुभभाव हो तो पुण्यभाव है परन्तु यदि ऐसा मानें कि मैंने शुभभाव किया, इसलिए यह धन दान में खर्च हुआ है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। उसे अल्प शुभराग के साथ मिथ्यात्व का महान पाप बँधता है। अतः यह तो बिल्ली को निकाला और ऊँट आ बैठा, जैसा हुआ। अज्ञानी जीव, लक्ष्मी इत्यादि का कर्तापना मानकर, दानादि में किञ्चित शुभभाव करता है, इसमें उसे पुण्य बँधता है परन्तु साथ ही विपरीत मान्यता का सेवन होने से मिथ्यात्व का पाप भी लगता है। दान का शुभभाव होना पाप नहीं है परन्तु विपरीत मान्यता है, वह पाप है। इसलिए प्रथम यथार्थ वस्तुस्वरूप को पहिचानना चाहिए। इन बारह भावनाओं में यथार्थ वस्तुस्वरूप का वर्णन गर्भित ही है।

ध्रुव चैतन्य की दृष्टिवन्त जीव, क्षणिक संयोग-वियोग में अपना कारणपना नहीं मानता; इसलिए उसको ममता घटे बिना नहीं रहती। अहो! मेरा चिदानन्दस्वभाव ममतारहित है। एक रजकण भी मेरे कारण आता या जाता नहीं है — जिसे ऐसा भान होता है, उसे पर की ममता कितनी छूट जाती है? इसलिए जिसे ध्रुवस्वभाव की दृष्टि है, उसे लक्ष्मी इत्यादि की अनित्यता की यथार्थ भावना होती है। ●●

गाथा ११

आगे, इसी अर्थ को विशेषरूप से कहते हैं —

कत्थ वि ण रमइ लच्छी, कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य, सुवत्त सुयणे महासत्ते॥

कुल-रूप-धैर्य-महापराक्रमवन्त हों अथवा सुजन।
धर्मात्मा से भी नहीं, लक्ष्मी कभी करती रमण॥

अन्वयार्थ : [लच्छी] यह लक्ष्मी **[कुलीणधीरे वि पंडिए सूरे]** कुलवान्, धैर्यवान्, पण्डित, सुभट **[पुज्जे धम्मिट्ठे वि य]** पूज्य, धर्मात्मा, **[सुवत्त सुयणे महासत्ते]** रूपवान्, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि **[कत्थवि ण रमइ]** किसी भी पुरुष से प्रेम नहीं करती।

भावार्थ : कोई समझे कि मैं बड़ा कुलवान् हूँ, मेरे बड़ों की सम्पत्ति है, वह कहाँ जाती है ? तथा मैं धैर्यवान् हूँ, कैसे गमाऊँगा ? तथा पण्डित हूँ, विद्वान हूँ, मेरी कौन लेगा ? उलटा मुझको तो देगा ही तथा मैं सुभट हूँ, कैसे किसी को लेने दूँगा ? तथा मैं पूजनीक हूँ, मेरी कौन लेवे है ? तथा मैं धर्मात्मा हूँ, धर्म से तो आती है, आई हुई कहाँ जाती है ? तथा मैं बड़ा रूपवान् हूँ, मेरा रूप देखकर ही जगत प्रसन्न है, लक्ष्मी कहाँ जाती है ? तथा मैं सज्जन हूँ, परोपकारी हूँ, कहाँ जाएगी ? तथा मैं बड़ा पराक्रमी हूँ, लक्ष्मी को बढ़ाऊँगा, जाने कहाँ दूँगा ? ये सब विचार मिथ्या हैं। यह लक्ष्मी देखते-देखते नष्ट हो जाती है; किसी के रक्षा करने से नहीं रहती है।

गाथा ११ पर प्रवचन

अब, कोई लक्ष्मी इत्यादि को स्थिर रखने का अभिमान करे तो वह मिथ्या है — ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी जीव, अभिमान करता है कि हमारी पिछली दश पीढ़ियों से लक्ष्मी चली आ रही है तो अब वह मेरे पास से कहाँ जानेवाली है ? परन्तु उसे भान नहीं है कि लक्ष्मी आयी तो भी उसके कारण और जाएगी तो भी उसके कारण। भले ही पीढ़ी दर पीढ़ी से लक्ष्मी चली आ रही हो परन्तु क्षण में वह अन्यत्र चली जाएगी क्योंकि उसकी पर्याय अध्रुव है।

यह मानना भी मिथ्या है कि मैं बड़े कुल का हूँ, इसलिए मेरे पास से लक्ष्मी नहीं जाएगी। लक्ष्मी की पर्याय पलटने पर वह एक क्षण भी रहनेवाली नहीं है। वह रहती भी अपने कारण से है और जाती भी अपने कारण से ही है। अन्य के कारण से वह क्षणमात्र भी नहीं रहती।

कोई ऐसा माने कि मैं तो धीरजवान हूँ, इसलिए अपनी लक्ष्मी को मैं कैसे गवाऊँगा ? अरे भाई! तेरा धीरज तो तेरी पर्याय में रहता है या लक्ष्मी में ? लक्ष्मी की पर्याय पलटने में तेरा धीरज क्या करेगा ? क्या तेरे धीरज के कारण लक्ष्मी की पर्याय पलटने से रुक जाएगी। लक्ष्मी की पर्याय क्षणमात्र में पलट जाएगी, इसलिए उसका अभिमान छोड़! तेरा धीरज तेरी पर्याय में और लक्ष्मी का संयोग-वियोग लक्ष्मी की पर्याय में है। 'हम तो व्यापार-धन्धे में धीरज से रुख देखकर काम लेते है, उतावल नहीं करते; इसलिए हमारी लक्ष्मी कहीं नहीं जाएगी' — ऐसा अभिमान करके, अज्ञानी जीव लक्ष्मी को ध्रुव मान बैठता है, वह मूढ़ है, उसे वस्तुस्वरूप का भान नहीं है।

अरे भाई! तू लक्ष्मी को गाड़ देगा तो भी उसका परिणमन होकर वह कोयला हो जाएगी। इसलिए उसका अभिमान छोड़! तेरे रखने से उसका परिणमन नहीं रहेगा। दो व्यक्तियों ने रुपये जमीन में गाड़ दिए, कुछ समय बाद देखा तो वहाँ रुपयों के बदले धूल! वे रुपये किसी ने निकाल नहीं लिए थे परन्तु वे रुपये पलटकर धूल हो गयी। क्षणमात्र में पलट जाना तो वस्तु की पर्याय का स्वभाव ही है।

कोई माने कि मैं पण्डित और चतुर हूँ; इसलिए अपनी बुद्धि से लक्ष्मी को टिका रखूँगा, अपनी लक्ष्मी को जाने नहीं दूँगा। उससे कहते हैं कि अरे भाई! क्या तेरी विद्या के कारण लक्ष्मी जाते हुए रुक जाएगी? उसकी पर्याय के काल में वह चली जाएगी? उसमें तेरी बुद्धि का लाख चतुरपना भी काम नहीं आयेगा।

मैं पण्डित हूँ, मेरी लक्ष्मी कोई नहीं लेगा, उल्टे मुझे तो देते हैं — अज्ञानी की ऐसी बुद्धि है। अरे मूढ़! परमाणु की पर्याय क्षण में पलट जाएगी। उसकी पर्याय में तेरी बुद्धि काम नहीं आएगी। पुण्य क्षीण होते ही क्षण में लक्ष्मी चली जाएगी?

मैं बलवान-सुभट हूँ, किसकी शक्ति है कि मेरी लक्ष्मी ले सके? — ऐसा अभिमान करे परन्तु भाई! लक्ष्मी जाने के काल में तुझसे नहीं रोकी जा सकेगी। परमाणु की पर्याय में तेरा बल काम नहीं आयेगा। यदि यह समझे तो पर का अभिमान मिटकर, अन्दर में ध्रुव ज्ञाता-दृष्टास्वभाव के बल से शान्ति प्रगट हो।

मैं तो पूज्य हूँ, लोग मुझे बहुमान देते हैं; अत: मेरी लक्ष्मी को कौन लेगा? — ऐसा मानकर लक्ष्मी को स्थिर माननेवाला अज्ञानी है।

'मैं धर्मी हूँ, व्रत-तप करता हूँ, तो मेरी लक्ष्मी कहाँ जाएगी? धर्म से तो मुझे लक्ष्मी प्राप्त होगी' — अज्ञानी ऐसा मानता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की बात नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टि को तो ध्रुव-चिदानन्दस्वभाव की भावना है और वह लक्ष्मी को अध्रुव जानता है। यहाँ तो मिथ्यादृष्टि जीव व्रत, यात्रा और मन्द कषाय करके अपने को धर्मात्मा मानता है, उसकी बात है। वह लक्ष्मी इत्यादि का अभिमान करता है परन्तु अरे मूढ़! बाह्य लक्ष्मी की प्राप्ति होना, क्या वह धर्म का फल है? तथा 'हमारे घर में तो भगवान को स्थापित किया है, इसलिए हमारे घर में से लक्ष्मी कभी नहीं जाएगी' — ऐसा मानना भी मूढ़ जीव की मान्यता है। भाई! तेरे शुभपरिणाम हों, इससे कहीं लक्ष्मी जाते रुक नहीं जाएगी। पूर्व पुण्य क्षीण होगा तो क्षण में चली जाएगी।

देखो! इस पर्यायधर्म को अनित्य समझकर, ध्रुवद्रव्य की भावना करने के लिए यह बात है। ध्रुवद्रव्य की भावना के बिना ऐसे ही लक्ष्मी छोड़कर भगने को अनित्यभावना नहीं कहा जाता। अनित्यभावना भानेवाले की दृष्टि में ध्रुवद्रव्य का आश्रय पड़ा है।

कोई ऐसा मानता है कि मैं रूपवान हूँ, इसलिए लक्ष्मी नहीं जाएगी। मेरे शरीर के अवयवों में कभी नहीं है तो लक्ष्मी में कमी कैसे पड़ेगी ? परन्तु यह बात भी मिथ्या है।

इसी प्रकार सज्जन और परोपकारी होने पर भी, लक्ष्मी तो अध्रुव है, वह क्षण में चली जाएगी। मैं सज्जन हूँ, इसलिए वह मेरे पास ध्रुव रहती है — ऐसा विचार मिथ्या है।

मैं महा-पराक्रमी हूँ, इसलिए लक्ष्मी को नहीं जाने दूँगा — ऐसा मानना भी मिथ्या है। लक्ष्मी तो देखते-देखते विलय हो जाती है, वह किसी के रखने से नहीं रहती है; इसलिए उसे स्थिर रखने का अभिमान छोड़ ! तेरी ध्रुव-चैतन्य सम्पदा सदा स्थिर है, उसको पहिचान कर ! उसकी भावना कर !!

●●

मुनि बनने की भावना

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनि बनने की ही होती है। वह विचारता है कि अहो! मैं कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसङ्ग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूँ। मुनि बनकर चैतन्य के जिस मार्ग पर तीर्थङ्कर विचरे, मैं भी उसी मार्ग पर विचरण करूँ - ऐसा धन्य स्वकाल कब आयेगा? धर्मीजीव आत्मा के भानपूर्वक इस प्रकार मुनि बनने की भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुए भी निज पुरुषार्थ की मन्दता और निमित्तरूप में चारित्रमोह की तीव्रता से कुटुम्बीजनों के आग्रहवश स्वयं ऐसा मुनिपद नहीं ले सके तो उस धर्मात्मा को गृहस्थपने में रहकर देवपूजा आदि षटकर्मों का पालन अवश्य करना चाहिए।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, श्रावकधर्मप्रकाश

गाथा १२

अब, कहते हैं कि जो लक्ष्मी मिली है, उसका क्या करना चाहिए? सो बतलाते हैं —

ता भुंजिज्जउ लच्छी, दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जल-तरंगचवला, दो तिण्णि दिणाणि चिट्ठेइ॥

यह लक्ष्मी है जल-तरङ्ग समान, अति चञ्चल अहो।
मात्र दो दिन रहे इसको भोग लो, या दान दो॥

अन्वयार्थ : [जा लच्छी] जो लक्ष्मी **[जल-तरंगचवला]** पानी की लहर के समान चञ्चल है। **[दो तिण्णि दिणाणि चिट्ठेइ]** दो तीन दिन तक चेष्टा करती है अर्थात् विद्यमान है, तब तक **[ता भुंजिज्जउ]** उसको भोगो (अथवा) **[दया-पहाणेण दाणे दिज्जउ]** दया प्रधान होकर दान दो।

भावार्थ : कोई कृपणबुद्धि इस लक्ष्मी को इकट्ठी करके स्थिर रखना चाहता हो, उसको उपदेश है कि यह लक्ष्मी चञ्चल है, रहनेवाली नहीं है, जो थोड़े दिन विद्यमान है तो भगवान की भक्ति निमित्त तथा परोपकार निमित्त दान में खरचो और विवेकसहित भोगो।

यहाँ प्रश्न – भोगने में तो पाप होता है फिर भोगने का उपदेश क्यों दिया?

उसका समाधान – इकट्ठी करके रखने में पहिले तो ममत्व बहुत होता है तथा किसी कारण से नाश हो जाए, तब बड़ा ही दुःख होता है। आसक्तपने से कषाय तीव्र तथा परिणाम सदा मलिन रहते हैं। भोगने से परिणाम उदार रहते हैं, मलिन नहीं रहते। उदारता से भोग सामग्री में खर्च करे, तो संसार में यश फैलता है और मन भी उज्ज्वल/प्रसन्न रहता है। यदि

किसी अन्य कारण से नाश भी हो जाए तो बहुत दुःख नहीं होता है — इत्यादि भोगने में भी गुण होते हैं। कृपण के तो कुछ भी गुण नहीं होता; केवल मन की मलिनता का ही कारण है। यदि कोई सर्वथा त्याग ही करे तो उसको भोगने का उपदेश नहीं है।

गाथा १२ पर प्रवचन

अब, कोई पूछता है कि हमको प्राप्त लक्ष्मी का संयोग अध्रुव है तो उसका क्या करना चाहिए? उसका उत्तर इस गाथा में देते हैं।

यह लक्ष्मी जलतरङ्ग के समान चञ्चल है, इसलिए जब तक यह दो-चार दिन तक चेष्टा करे अर्थात् मौजूद है, वहाँ तक उसे भोगो या दया प्रधानी होकर दान में दो।

यहाँ लक्ष्मी को भोगने को कहा है, उसमें आशय यह है कि लक्ष्मी की तीव्र ममता छोड़कर किञ्चित् मन्द परिणाम हों। तीव्र लोभ से लक्ष्मी को रखे रखने की भावना किया करे और खर्च करने में कंजूसाई करे, तो उसे कहते हैं कि अरे भाई ! तेरी लक्ष्मी अध्रुव है, इसलिए जिनेन्द्रभक्ति आदि कार्यों में लक्ष्मी का उपयोग करो, दानादि में खर्च करो, अथवा उसे भोगो।

यहाँ प्रश्न होता है कि लक्ष्मी को भोगने में तो पाप होता है, तो उसके भोगने का उपदेश कैसे दिया?

इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो मात्र सञ्चय करके रखने में ममत्व बहुत होता है तथा किसी कारणवश वह विनश जाए तो उस समय विषाद-खेद भी बहुत होता है और फिर आसक्तपने से कषायवान तीव्र-मलिन रहता है परन्तु उसके भोगने में परिणाम उदार रहते हैं; मलिन नहीं रहते।

यदि उदार परिणाम हों तो इसे लक्ष्मी आदि के जाने पर तीव्र संक्लेशभाव नहीं होता। तीव्र कंजूस को तो थोड़ा कुछ नुकसान होने पर महा-संक्लेशभाव होता है। उसके बदले यदि लक्ष्मी की आसक्ति घटाकर, उसे खर्च करता हो तो परिणामों में कुछ उदारता रहती है। यद्यपि भोगने का भाव तो पाप है परन्तु उदारवृत्ति कराने के लिए कहते हैं कि तू लक्ष्मी को भोग! पाँच करोड़ की सम्पत्ति हो और एक पैसा खर्च करने में भी पसीना छूटता हो, वैसे व्यक्ति से कहते हैं कि अरे भाई! अपनी लक्ष्मी को भोग तो सही! इस कथन की इतनी ही अपेक्षा समझना

चाहिए कि तीव्र संक्लेशपरिणाम छूटकर किञ्चित् उदारता के परिणाम हों। यदि उदारतापूर्वक खर्च करता होगा तो किसी कारणवश लक्ष्मी का विनाश होने पर तीव्र संक्लेशभाव नहीं होंगे।

लाखों-करोड़ो रुपये पास में हों, उन्हें दान में भी खर्च नहीं करे और स्वयं के लिए भी खर्च नहीं करे, उसे तो तीव्र लोभपरिणाम हैं। पहले तो धन को धर्म-प्रभावना आदि के लिए दान में खर्च करने को कहा है और तत्पश्चात् भोगने की बात की है। जिसे स्वयं के लिए लक्ष्मी खर्च करने की उदारता होगी तो उसे कभी दानादि में खर्च करने का अवकाश भी रहेगा, इसी आशय से यह उपदेश समझना चाहिए।

जो स्वयं अपने लिए एक पैसा खर्च नहीं कर सकता हो, वह अन्यत्र दानादि में तो खर्च करेगा ही कैसे? इसलिए उदारपरिणाम कराने के लिए यह उपदेश है। यहाँ लक्ष्मी को भोगने में गुण कहा, उसे धर्म की बात नहीं समझना चाहिए, उसे तो मन्दपरिणाम की अपेक्षा से गुण कहा है। जो ध्रुवस्वभाव का भान करके, लक्ष्मी इत्यादि का सर्वथा त्याग करता है, वह तो उत्तम ही है; उसके लिए कहीं लक्ष्मी को भोगने का उपदेश नहीं है।

पर की पर्याय, पर के कारण नहीं मानकर, अपने कारण पर की पर्याय माननेवाले को, पर्यायमूढ़ता से तीव्र राग-द्वेष होते हैं और उसको स्वद्रव्य के सन्मुखता की भावना नहीं होती।

यहाँ अनित्यभावना में यह बतलाते हैं कि हे भाई! परद्रव्य की पर्याय, उसके स्वभाव से प्रतिक्षण पलट रही है। तेरे कारण न तो उसकी पर्याय होती है और न तेरे रखने से वह स्थायी रहती है; इसलिए उसके परिणमन में हर्ष-शोक छोड़कर, तेरे ध्रुवस्वभाव की भावना कर। ध्रुवस्वभाव की भावना करने से, पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होती जाती है और राग-द्वेष मिटते जाते हैं — यही सच्ची भावना है। ●●

गाथा १३

यहाँ, लक्ष्मी की अनित्यता का वर्णन चल रहा है —

जो पुण लच्छिं संचदि, ण य भुञ्जदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिप्फलं तस्स॥

संचय करे जो लक्ष्मी, नहिं भोगता ना दान दे।
निज आत्म को ठगता सदा, नर जन्म उसका व्यर्थ है॥

अन्वयार्थ : [**पुण**] और [**जो लच्छिं संचदि**] जो लक्ष्मी को इकट्ठी करता है, [**ण य भुञ्जदि**] न तो भोगता है [**पत्तेसु णेय देदि**] और न पात्रों के निमित्त दान करता है, [**सो अप्पाणं वंचदि**] वह अपनी आत्मा को ठगता है; [**तस्स मणुयत्तं णिप्फलं**] उसका मनुष्यपना निष्फल है।

भावार्थ : जिस पुरुष ने लक्ष्मी को पा करके सञ्चय ही किया, दान तथा भोग में खर्च नहीं की, उसने मनुष्यभव पा करके क्या किया? निष्फल ही खोया, केवल अपनी आत्मा को ठगा।

गाथा १३ पर प्रवचन

जो पुरुष, लक्ष्मी के प्रति ममता करके, उसे इकट्ठी कर रखना चाहता है किन्तु धर्मात्मा सुपात्र को पहिचानकर, दानादिक में खर्च नहीं करता अर्थात् ममता नहीं घटाता और भोगता भी नहीं, वह तो ममताभाव से मात्र अपने आत्मा को ही ठगता है। जिसको पैसा रखने की बुद्धि है और चैतन्य की दृष्टि-रुचि नहीं करता तथा पात्रदान का शुभभाव भी नहीं करता, वह तो मनुष्यपना हार जानेवाला है। अरे! ऐसा मनुष्य अवतार मिला, उसमें भगवान आत्मा की

चैतन्यलक्ष्मी की प्रीति नहीं करके जो जीव, जड़लक्ष्मी के मोह में पड़ा है, वह अपने आत्मा को ठग रहा है। धर्मी जीव को तो चैतन्यलक्ष्मी की प्रीति होने से जड़लक्ष्मी की रुचि उड़ गयी है।

जिसने लक्ष्मी को पर जाना है, वह क्षणिक है — ऐसा जाना है, और अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव की रुचि हुई है — ऐसे धर्मी को लक्ष्मी के प्रति रुचि से अर्थात् एकत्व की मान्यतापूर्वक राग-द्वेष नहीं होता। भगवान आत्मा स्वयं एक समय में तीन काल - तीन लोक की लक्ष्मी का ज्ञाता है। उसकी रुचि और जानने की दरकार नहीं करके, जड़लक्ष्मी की ममता में ही रुक जानेवाले जीव का मनुष्यपना निष्फल है।

जिसे चैतन्य के ध्रुव चिदानन्द चमत्कार की महिमा भासित हुई है, उसको चैतन्य की प्रीति की अपेक्षा जगत की किसी वस्तु की विशेष प्रीति नहीं होती। अवसर आने पर भी जिसे देव-गुरु-धर्म की भक्ति-प्रभावना इत्यादि प्रसङ्ग में भी लक्ष्मी इत्यादि खर्च करने का भाव न आवे तो वह मायाचारी है; उसे धर्म का प्रेम नहीं है।

अहो! चैतन्य की महिमा करके राग का अभाव करने का अवसर आया, उस प्रसङ्ग में भी जो लक्ष्मी इत्यादि की ममता में ही अटकता है और धर्मात्मा को देखकर पात्रदान आदि में धन खर्च करने का भाव भी जिसको नहीं आता तो उसका मनुष्यपना और लक्ष्मी दोनों निष्फल हैं; उसने आत्मा को ठगा है। अज्ञानी मानता है कि मैंने दुनिया को ठग कर लक्ष्मी संग्रहीत की है परन्तु वस्तुतः तो उसका आत्मा ही ठगाया गया है। ●●

मानो परमात्मा का ही वन-विहार

अहो! मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ मुनिराज, काया के प्रति उदासीन वर्तते हुए स्वरूप में लीन होकर आनन्द में झूलते हैं। **जैसे वन में वनराज सिंह विचरण करता है, वैसे मुनिराज विचरण करते है; मानो परमात्मा ही वन-विहार कर रहे हों** — ऐसे मुनि भगवन्त, भव का अन्त करके सिद्धदशा प्राप्त कर लें — इसमें क्या आश्चर्य है? *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ५, पृष्ठ ५५*

गाथा १४

लक्ष्मी को जमीन में गाड़नेवाला, उसे पत्थर के समान करता है – ऐसा अब कहते हैं —

जो संचिऊण लच्छिं, धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं, पाहाण-समाणियं कुणइ॥

संचय करे जो लक्ष्मी को, भूमितल में गाड़ता।
वह पुरुष लक्ष्मी को करे, पाषाणवत् यह जानना॥

अन्वयार्थ : [जो लच्छिं संचिऊण] जो पुरुष, लक्ष्मी को सञ्चय करके **[अइदूरे धरणियले संठवेदि]** बहुत नीचे जमीन में गाड़ता है, **[सो पुरिसो तं लच्छिं]** वह पुरुष उस लक्ष्मी को **[पाहाण-समाणियं कुणइ]** पत्थर के समान करता है।

भावार्थ : जैसे मकान की नींव में पत्थर रखा जाता है, वैसे ही इसने लक्ष्मी को गाड़ी, तब वह पत्थर के समान हुई।

गाथा १४ पर प्रवचन

पुराने समय में जमीन में लक्ष्मी (धन) गाड़ देते थे, उसके बदले अभी तिजोरी में सम्भाल कर रखते हैं। शास्त्र में अलङ्कारिक भाषा में कहते हैं कि कृपण के घर में लक्ष्मी स्थिर क्यों रहती है ? क्योंकि उदारचित्त व्यक्ति के यहाँ बारम्बार हेरफेर होने से लक्ष्मी को थकावट लगी, सो वह कृपण के यहाँ स्थिर बैठी है — ऐसा कहकर लोभी के प्रति व्यङ्ग किया है। जैसे जमीन में पत्थर गाड़ते हैं, वैसे ही चैतन्यलक्ष्मी से अनजान और जड़लक्ष्मी के लोभी जीव, लक्ष्मी को जमीन में गाड़ते हैं किन्तु दानादिक में खर्च नहीं करते; इस कारण उनकी लक्ष्मी भी पत्थर के समान ही है।

जिसके पास लक्ष्मी न हो और लक्ष्मी की ममता कर रहा हो तो वह भी कृपण ही है। वस्तुतः तो आत्मा को चिद्घन ज्ञानलक्ष्मी में स्थिर करना चाहिए। जिसे यह भावना होती है कि 'सिद्ध समान सदा पद मेरो', उसे लक्ष्मी इत्यादि की ममता नहीं होती। लक्ष्मी को अनित्य जानने के पश्चात् उसे स्थिर रखने की ममता कैसे रहेगी? अज्ञानी मानता है कि जमीन में दबाकर अथवा तिजोरी में भरकर मैं लक्ष्मी का सञ्चित कर रखता हूँ परन्तु यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि तू अपनी लक्ष्मी को पत्थरवत् करता है। ●●

प्रतिकूलता में भी सन्तों को दुःख नहीं

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है।

धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दुःखी थे – ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च–महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, राजकोट : वीर सं. २४७६, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षाकल्याणक दिवस

गाथा १५

ऐसी लक्ष्मी को परलक्ष्मी के समान कहा है —

अणवरयं जो संचदि, लच्छिं ण य देदि णेय भुञ्जेदि।
अप्पणिया विय लच्छी, पर-लच्छिसचाणिया तस्स॥

संचय करे जो लक्ष्मी, नहिं भोगता ना दान दे।
उसके लिए निज लक्ष्मी, पर लक्ष्मीवत् ही जानिए ॥

अन्वयार्थ : [**जो**] पुरुष [**लच्छिं**] लक्ष्मी को [**अणवरयं**] निरन्तर [**संचदि**] सञ्चित करता है; [**ण य देदि**] न दान करता है, [**णेय भुञ्जेदि**] न भोगता है, [**तस्स अप्पणिया विय लच्छी**] उसके अपनी लक्ष्मी भी [**पर लच्छिसमाणिया**] पर की लक्ष्मी के समान है।

भावार्थ : जो लक्ष्मी को पाकर दान-भोग नहीं करता है, उसके वह लक्ष्मी, दूसरे की है; आप तो रखवाला (चौकीदार) है, लक्ष्मी को कोई दूसरा ही भोगेगा।

गाथा १५ पर प्रवचन

जो व्यक्ति, पात्र दानादि में लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता है और पुत्रादि के लिए संग्रह कर रखता है, वह तो लक्ष्मी का रखवाला है। जो शरीर के पोषण के लिए तो धन खर्च करता है और धर्म-प्रभावना इत्यादि में धन खर्च करने में कंजूसी करता है, वस्तुत: उसे धर्म का प्रेम ही नहीं है।

देखो! भगवान की दिव्यध्वनि में भी तृष्णा घटाने के लिए ऐसा उपदेश आता है। जिस जीव को उस जाति का क्षयोपशम हो, उसको ऐसा सुनायी देता है कि भगवान ने पात्रदान का

उपदेश किया है, भगवान ने लक्ष्मी के प्रति ममता घटाने का उपदेश दिया है।

भाई! यह बात अत्यन्त ध्यान रखकर समझना चाहिए क्योंकि यह लौकिक बात नहीं है।

मैं ध्रुव चिदानन्द आत्मा हूँ और लक्ष्मी इत्यादि सब अध्रुव हैं — ऐसे वस्तुस्वरूप के ज्ञानपूर्वक अध्रुवभावना भाते-भाते लक्ष्मी इत्यादि की ममता घट जाती है। इस प्रकार यह स्वरूप की भावनासहित भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का वर्णन है। ●●

मुनिराज की क्रीड़ा और उनका क्रीड़ास्थल

जैसे कोई फूलों की सुगन्ध लेने बाग में जाए और वहाँ उनकी सौरभ में तल्लीन हो जाए, वैसे ही **मुनिराज राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के बाग में खेलते-खेलते कर्म के फल का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय आनन्द के फल का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं।** चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करनेवाले मुनिराज को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र हुआ है, आनन्दादि अनन्त गुण खिल उठे हैं, अन्तर्निमग्नदशा तीव्र प्रगट हुई है। **अहा! मुनिपना बड़ी अद्भुत वस्तु है!**

भाई! बाग में हजारों पुष्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को भगवान आत्मा के बाग में अनन्त गुण निर्मल पर्यायोंरूप से खिल उठे हैं, क्योंकि चारित्र है ना! मुनिराज आत्म-उद्यान में खेलते-खेलते, लीला करते-करते, किञ्चित दुःख बिना अन्तर में अनन्त आनन्द की धारा में निमग्न रहकर कर्म के फल का नाश करते हैं। वास्तव में तो उस समय कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होता, उसे 'नाश करते हैं' — ऐसा कहा जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २०९

गाथा १६

और भी लक्ष्मी के प्रति मोहित जीव की दशा बतलाते हैं —

लच्छी-संसत्तमणो, जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण।
सो राइ-दाइयाणं, कज्जं साहे हि मूढप्पा॥

आसक्त चित हो लक्ष्मी में, आत्मा को कष्ट दे।
वह मूढ़ नृप अरु परिजनों के, कार्य ही साधन करे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष **[लच्छीसंसत्तमणो]** लक्ष्मी में आसक्त चित्त होकर **[अप्पाणं कट्ठेण धरेदि]** अपनी आत्मा को कष्टसहित रखता है, **[सो मूढप्पा]** वह मूढ़ात्मा **[राइदाइयाणं]** राजा तथा कुटुम्बियों का **[कज्जं साहेहि]** कार्य सिद्ध करता है।

भावार्थ : लक्ष्मी में आसक्त चित्त होकर, इसको पैदा करने के लिए तथा रक्षा करने के लिए अनेक कष्ट सहता है, सो उस पुरुष को तो केवल कष्ट ही फल होता है। लक्ष्मी को तो कुटुम्ब भोगेगा या राजा लेवेगा।

गाथा १६ पर प्रवचन

जो लक्ष्मी में अत्यन्त आसक्त है और दानादिक के कुछ भी शुभपरिणाम नहीं करता, उसकी लक्ष्मी तो राजा या परिवारीजन ले लेंगे। वह पुरुष स्वयं लक्ष्मी का वास्तविक स्वामी नहीं है, अपितु वह तो राजा या परिवारजनों के लिए लक्ष्मी की रखवाली कर रहा है। स्वयं की लक्ष्मी तो तब कहलाए कि यदि स्वयं शुभभाव करके दानादिक में खर्च करे।

देखो! धर्मात्मा चक्रवर्ती के भी लक्ष्मी के ढ़ेर होने पर भी, अन्दर में ध्रुव चैतन्य की प्रीति छूटकर जड़लक्ष्मी की प्रीति नहीं होती। जो चैतन्य की रुचि छोड़कर, लक्ष्मी की रुचि में ही लीन होते हैं, उन जीवों को अनन्त संसार की कारणरूप ममता है। ●●

गाथा १७-१८

— ऐसा जीव लक्ष्मी का दास है —

जो वड्ढारदि लच्छिं, बहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वारंभं कुव्वदि, रत्ति-दिणं तं पि चिंतेइ॥
ण य भुंजदि वेलाए, चिंतावत्थो ण सुवदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि, विमोहिदो लच्छि-तरुणीए॥

बहु भाँति बुद्धि से बढ़ाये, लक्ष्मी नहिं तृप्त हो।
आरम्भ सब ही करे इसका, रात दिन चिन्तन करे॥
भोजन करे नहिं समय पर, चिन्तिन रहे सोये नहीं।
श्री कामिनी में मुग्ध होकर, दास वह उसका बने॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**बहुविहबुद्धीहिं**] अनेक प्रकार की कला चतुराई और बुद्धि के द्वारा [**लच्छिं वड्ढारदि**] लक्ष्मी को बढ़ाता है, [**णेय तिप्पेदि**] तृप्त नहीं होता है, [**सव्वारंभं कुव्वदि**] इसके लिए असि, मसि, कृषि आदिक सब आरम्भ करता है, [**रत्तिदिणं तं पि चिंतेइ**] रात-दिन उसी के आरम्भ का चिन्तवन करता है, [**वेलाए ण स भुंजदि**] समय पर भोजन नहीं करता है, [**चिंतावत्थो रयणीए ण सुवदि**] चिन्तित होता हुआ रात में सोता भी नहीं है, [**सो**] वह पुरुष [**लच्छि-तरुणीए विमोहिदो**] लक्ष्मीरुपी युवती से मोहित होकर [**दासत्तं कुव्वदि**] उसका किङ्करपना करता है।

भावार्थ : जैसे, जो स्त्री का किङ्कर होता है, उसको संसार में 'मोहल्या' ऐसे निंद्यनाम

से पुकारते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष निरन्तर लक्ष्मी के निमित्त ही प्रयास करता है, वह लक्ष्मीरूपी स्त्री का मोहल्या है।

गाथा १७-१८ पर प्रवचन

लक्ष्मी तो पूर्व पुण्योदय के कारण आती है। मूढ़ जीव ऐसा मानता है कि मैं अपनी चतुराई के कारण लक्ष्मी कमाता हूँ। वह लक्ष्मी कमाने लिए हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है - इत्यादि अनेक उपाय करके लक्ष्मी प्राप्त करना चाहता है और रात-दिन उस लक्ष्मी में ही मोहित हुआ है। वस्तुत:वह जीव लक्ष्मी का किङ्कर है; जड़ का दास है।

अरे! अनन्त काल में महादुर्लभ मनुष्य देह प्राप्त हुआ, सत्समागम प्राप्त हुआ, इस समय आत्मा का हित कर लेने योग्य हैं — इस प्रकार आत्महित करने का विचार भी नहीं करता और रात-दिन चौबीसों घण्टे पैसों का भिखारी हो रहा है। वह जीव पैसों का किङ्कर होकर मनुष्यपना गँवा देता है। मूढ़ जीव, आत्मा को चूककर लक्ष्मी का चाकर होता है।

अरे भाई! आत्मा को पहिचान कर उसका किङ्करपना कर! अहो! मैं तो अनन्त केवलज्ञान लक्ष्मी का स्वामी हूँ — ऐसी चैतन्य की महिमा लाकर, उसकी रुचि कर। जिसे चैतन्य की महिमा और रुचि होती है, उसे लक्ष्मी इत्यादि की तीव्र ममता नहीं होती।

●●

मुनिराजों से जैनशासन की शोभा!

मुनिराज निरन्तर ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। वे कभी-कभी पिछली रात्रि में थोड़ी निद्रा लेते हैं, उन्हें विशेष प्रमाद नहीं होता। **अहा, जिनका आत्मा चैतन्य की साधना में अत्यन्त जागृत है, उन्हें नींद लेना कैसे सुहाएगा? जागृत रहकर सिद्धपद को साधनेवाले मुनिराजों से जैनशासन की शोभा है।** उनका समावेश 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में होता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २८

गाथा १९

अब, जो लक्ष्मी को धर्मकार्य में लगाता है, उसकी प्रशंसा करते हैं :—

जो वड्ढमाण लच्छिं, अणवरयं देदि धम्मकज्जेसु।
सो पंडिएहिं थुव्वदि, तस्स वि सहला हवे लच्छी॥

जो वृद्धिगत लक्ष्मी सदा, देता धरम के कार्य में।
पण्डित जनों से स्तुत्य, उसकी लक्ष्मी ही सफल है॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष (पुण्य के उदय से) **[वड्ढमाण लच्छिं]** बढ़ती हुई लक्ष्मी को **[अणवरयं]** निरन्तर **[धम्मकज्जेसु देदि]** धर्म के कार्यों में देता है, **[सो पंडिएहिं थुव्वदि]** वह पुरुष पण्डितों द्वारा स्तुति करने योग्य है **[वि तस्स सहला हवे लच्छी]** और उसी की लक्ष्मी सफल है।

भावार्थ : पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा, पात्रदान, परोपकार इत्यादि धर्मकार्यों में खर्च की गयी लक्ष्मी ही सफल है, पण्डित लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

गाथा १९ पर प्रवचन

जिस जीव को पूर्व पुण्योदय से लक्ष्मी बढ़ती जाती है, उस लक्ष्मी को जो जीव निरन्तर धर्मकार्यों में खर्च करता है, वह पुरुष प्रशंसनीय है। धर्मात्मा के पास लक्ष्मी हो तो वह हमेशा धर्म के नये-नये महोत्सव किया करता है। वह प्रतिदिन नये-नये महोत्सव के निमित्त धर्मकार्यों में अपनी लक्ष्मी का व्यय करता है क्योंकि धर्मी को श्रद्धा है कि पुण्य के फल से प्राप्त लक्ष्मी, खर्च करने से कम नहीं होती अपितु पुण्य समाप्त होने पर समाप्त होती है। पैसा

खर्च करने से पुण्य समाप्त नहीं होता और पुण्य समाप्त हो जाने पर पैसा रहनेवाला नहीं है। इसीलिए उस धर्मी को धर्मकार्यों में धन खर्च करते हुए कंजूसी नहीं होती। उल्टे सत्कार्यों में धन खर्च करने से नये पुण्य की वृद्धि होती है।

अज्ञानी को तो पूर्व पुण्य का भी विश्वास नहीं है और ध्रुव चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा भी नहीं है तथा वह वास्तव में लक्ष्मी आदि को अनित्य भी नहीं जानता; इस कारण ममतावश उसे स्थिर रखना चाहता है।

धर्मी की दृष्टि में निरन्तर शुद्ध आत्मा की भावना होती है तथा बाह्य में धर्म-प्रभावना आदि के कार्यों में धन खर्च करने के भाव भी उसे निरन्तर होते हैं। धर्मी को चैतन्य की रुचिपूर्वक अपने परिणाम में धर्म का प्रेम है। जगत में देव-गुरु-धर्म के जो कार्य हैं, वे तो हुआ ही करते हैं परन्तु जीव को धर्म की रुचिपूर्वक प्रभावना आदि के भाव आये बिना नहीं रहते।

देखो! यह शास्त्र निर्ग्रन्थ दिगम्बर भावलिङ्गी सन्त द्वारा रचित है। उनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं होता। वे तो बारम्बार आत्मा के आनन्द में लीन हो जाते हैं। ऐसे सन्तों को कहीं तेरी लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं है परन्तु जिसे धर्म की प्रीति होती है, उस जीव को सुपात्रदान आदि में लक्ष्मी खर्च करने का भाव आये बिना नहीं रहता। धर्म की प्रीतिवन्त विवेकी जीव को अपने परिणाम में से रागादि घटाने के लिए धर्म कार्यों में लक्ष्मी इत्यादि खर्च करने का भाव आये बिना नहीं रहता।

देखो! कितने ही जीव तो धार्मिक कार्यों की तरफ देखते भी नहीं और बाह्य में लौकिक कार्यों में धनादि खर्च करते हैं, उन जीवों को धर्म का विवेक नहीं है। यहाँ तो कहा है कि जिसे धर्म कार्यों में लक्ष्मी खर्च करने का उत्साह है, उसे स्वयं को धर्म की प्रीति है; इसलिए उस जीव की पण्डित पुरुष प्रशंसा करते हैं। मूढ़ जीवों को तो कुछ विवेक ही नहीं है, इसलिए वे तो विवाहादि में वैश्या के नृत्य में हजारों रुपये खर्च कर देनेवाले जीव की भी महिमा करते है परन्तु पण्डित पुरुष ऐसे जीवों की महिमा नहीं करते।

जिसे आत्मस्वभाव के प्रति अपरिमित बहुमान प्रगट हुआ है और बाह्य में निमित्तरूप

से सर्वज्ञदेव के जिनमन्दिर, पात्रदान आदि में लक्ष्मी खर्च करने का उत्साह आता है, उसे संसार के अनुराग की तुलना में धर्म के निमित्तों के प्रति, साधर्मी जीवों के प्रति अनुराग बढ़ जाता है।

अज्ञानी तो कहता है कि अरे! जिनमन्दिरादि के निर्माण में आरम्भ होता है और ऐसा मानकर जिनमन्दिर आदि कार्यों का निषेध करता है। वस्तुत: उसे धर्म अथवा धर्म के निमित्त का भान नहीं है। त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर के विरह में सम्यग्दृष्टि को भगवान की प्रतिमा की पूजा-भक्ति का भाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहता। जैसे शीलवती स्त्री को परदेश गए हुए अपने पति का फोटो देखने का मन होता है; वैसे ही धर्मात्मा को सर्वज्ञदेव के प्रति बहुमान होने से, उनकी प्रतिमा आदि को देखकर भक्ति-भाव आये बिना नहीं रहता। जैसे दश लाख की पूँजीवाले व्यक्ति के पुत्र का विवाह हो तो वहाँ धन खर्च करने का कैसा उत्साह आता है? वैसे ही पात्रजीवों को जिनमन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा, पात्रदान इत्यादि धर्मकार्यों में धन खर्च करने का भाव आता है। वस्तुत: तो वही लक्ष्मी सफल है, जो जिनेन्द्रदेव की पूजा-प्रतिष्ठा आदि कार्यों में खर्च होती है। ●●

मुनिराज और सर्वज्ञ में भेद नहीं

मुनिराज इस प्रकार परिणमित हो गये हैं, **मानो वीतरागता की मूर्ति हों! राग-द्वेष के अंशरहित मात्र वीतरागता की मूर्ति हैं मुनिराज!** मुनि को तो तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, उन मुनिराज को शान्ति का सागर उछलता है। भगवान आत्मा स्वभाव से वीतरागमूर्ति है और **मुनिराज तो पर्याय में वीतराग की मूर्ति हैं।** श्री नियमसार के कलश में तो कहा है कि अरेरे! हम जड़मति हैं कि मुनिराज में और सर्वज्ञ में भेद मानते हैं। **अहाहा! मुनिराज तो मानों साक्षात् वीतराग की मूर्ति हों, इस प्रकार परिणमित हो गये हैं; उन्हें मुनि कहते हैं।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ८९२, पृष्ठ २०४

गाथा २०

सत्कार्यों में लक्ष्मी खर्च करनेवाले का जन्म सफल है —

एवं जो जाणित्ता, विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि, हु तस्स हवे जीवियं सहलं॥

यह जानकर धर्मात्मा, निर्धन जनों के लिए जो।
निरपेक्ष होकर दान दे, नर-जन्म उसका सफल है॥

अन्वयार्थ : [**जो एवं जाणित्ता**] जो पुरुष ऐसा जानकर [**धम्मजुत्ताणं विहलियलोयाण**] बढ़ती हुई लक्ष्मी को, धर्मयुक्त — ऐसे निर्धन लोगों के लिए [**णिरवेक्खो**] प्रत्युपकार की इच्छा से रहित होकर, [**तं देदि**] देता है, [**हु तस्स जीवियं सहलं हवे**] निश्चय से उसी का जन्म सफल होता है।

भावार्थ : अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए तो दान देनेवाले संसार में बहुत हैं। जो प्रत्युपकार की इच्छा से रहित होकर, धर्मात्मा तथा दु:खी दरिद्री पुरुषों को धन देते हैं, ऐसे विरले हैं; उनका जीवन सफल है।

गाथा २० पर प्रवचन

जिसने शुद्ध चैतन्य से प्रेम किया है और लक्ष्मी का प्रेम छोड़ा है, उस धर्मी जीव को, अन्य निर्धन साधर्मी आदि को देखकर, उनके प्रति वात्सल्यभाव आये बिना नहीं रहता। कोई साधर्मी निर्धन हो तो उसे देखकर, उससे प्रत्युपकार की आशा बिना, जो अपनी लक्ष्मी इत्यादि देता है, उसका जीवन सफल है। धन देकर, अन्य जीव को दीन बनाकर रखनेवाले जीव तो जगत में बहुत हैं परन्तु जो साधर्मी जीव तथा अन्य जीवों को प्रत्युपकार की आकाँक्षा रखे बिना

धनादि दे, ऐसे जीव विरले हैं।

जिनको स्वभाव में राग घटाने का प्रयत्न वर्तता है, उन जीवों को साधर्मी आदि के लिए धन खर्च करने का भाव आता है। जिसे निरपेक्ष चैतन्य का भान और भावना वर्तती है, उसे ही दानादि में प्रत्युपकार की अपेक्षा छूटती है और उसी जीव का जीवन सफल है। उसे चैतन्य की रुचि वर्तती है और राग घटाने का प्रयत्न है; इस कारण उसका जीवन सफल कहा है।

अहा, देखो तो सही! छठवें गुणस्थान में झूलते मुनियों को भी ऐसे उपदेश का विकल्प आता है कि धर्मी गृहस्थ जिनमन्दिर बनावें, पूजा-प्रतिष्ठा करें, पात्रदान करें, यात्रा करें, साधर्मियों को सहायता करें। गृहस्थ की भूमिका में ऐसे भाव होते हैं और मुनियों को छठवें गुणस्थान में ऐसे उपदेश का विकल्प आता है। - इस कारण यह उपदेश किया है।

यद्यपि मुनि स्वयं जिनमन्दिर बनवाना, पूजादि करना इत्यादि कार्य नहीं करते, तथापि गृहस्थ धर्मात्माओं को वैसे शुभकार्य करने का उपदेश देने का विकल्प तो उनको भी आता है और गृहस्थ कहें कि हमें ऐसा भाव नहीं आता, हम तो निश्चय के विचार में ही रहते हैं, तो उस जीव का अपनी भूमिका का भी विवेक नहीं है। भूमिकानुसार भगवान की पूजा-भक्ति, बहुमान, साधर्मी के प्रति प्रेम इत्यादि भाव आये बिना नहीं रहते, यह समझना चाहिए।

●●

मुनिराज का निज वैभव

सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अल्प स्वाद आता है, परन्तु मुनि को उसका अतिप्रचुर आस्वादन होता है। समयसार की पाँचवी गाथा की टीका में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निजवैभव बतलाते हुए कहा है कि **कैसा है निजवैभव?** निरन्तर झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा अर्थात् छापवाला अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन से आचार्य भगवान का निजवैभव उत्पन्न हुआ है। **आत्मवस्तु स्वभाव से तो वीतरागस्वरूप है, परन्तु मुनिराज को पर्याय में भी अतिशय वीतरागता-समताभाव है।** *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २५०*

गाथा २१

अब, मोह का माहात्म्य दिखाते हैं —

जल बुब्बुय-सारिच्छं, धणजोव्वण जीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि ण्च्चिं, अइ-बलिओ मोह-माहप्पो॥

जल बुदबुदे सम देखकर, जीतव्य यौवन लक्ष्मी।
पर नित्य माने जो उन्हें, यह मोह महिमा है बली॥

अन्वयार्थ : (यह प्राणी) [**धणजोव्वणजीवियं**] धन, यौवन, जीवन को [**जलबुब्बुय-सारिच्छं**] जल के बुदबुदे के समान (तुरन्त नष्ट होते) [**पेच्छंता पि**] देखते हुए भी, [**णिच्चं मण्णंति तो वि**] नित्य मानता है, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है! सत्य ही है [**मोह-माहप्पो अइबलिओ**] मोह का माहात्म्य बड़ा बलवान है।

भावार्थ : वस्तुस्वरूप का अन्यथा ज्ञान कराने में मदिरा पीना, ज्वरादिक रोग, नेत्र विकार, अन्धकार इत्यादि अनेक कारण हैं परन्तु यह मोहभाव सबसे बलवान है; वस्तु को प्रत्यक्ष विनाशीक देखता है तो भी नित्य ही मान्य कराता है तथा मिथ्यात्व, काम, क्रोध, शोक इत्यादिक हैं, वे सब मोह ही के भेद हैं, ये सब ही वस्तुस्वरूप में अन्यथा बुद्धि कराते हैं।

गाथा २१ पर प्रवचन

यह अनित्यभावना का वर्णन चल रहा है। आत्मा नित्य ज्ञानानन्द है — ऐसा निजघर जिसने देखा है, वही जीव जगत के पदार्थों की पर्याय की अनित्यभावना भाता है। जिसे पर्यायबुद्धि हो अर्थात् जो पर्याय की क्षणिकता को न जानकर, उसे स्थिर रखना चाहता हो — ऐसे जीव को वास्तविक अनित्यभावना नहीं होती। तात्पर्य यह है कि ध्रुव चैतन्य की

दृष्टिपूर्वक यह अनित्यभावना है — ऐसा समझना चाहिए। जो पुण्य-पाप, देहादिक को अनित्य मानता है और फिर उनसे ही लाभ भी मानता है, उसे अनित्यभावना नहीं होती क्योंकि जिससे लाभ मानेगा, उसे तो स्थिर रखना चाहेगा।

अज्ञानी अपने ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि छोड़कर, परसंयोग से लाभ मानकर उन्हें स्थिर रखना चाहता है, यह मोह का माहात्म्य है – ऐसा अब कहते हैं —

जगत में दिखता है कि लक्ष्मी क्षण में चली जाती है। क्षण में देह का विनाश हो जाता है और युवावस्था पलटकर वृद्धावस्था हो जाती है। अरे! बीस-पच्चीस वर्ष के युवा मनुष्य क्षण में जीवन पूर्ण करके चले जाते हैं। प्रत्यक्ष में ऐसी अनित्यता देखकर भी जीव मोह के कारण उन शरीर-धन-जीवन इत्यादि को नित्य मानकर उनमें मोहित हो रहा है, यह महा आश्चर्य है। किसी को मृत्यु आदि प्रसङ्ग देखकर क्षणिक वैराग्य आता है, उसकी बात यहाँ नहीं है। यह तो ध्रुव चैतन्य की भावनासहित, अनित्य पदार्थ के प्रति वैराग्य की बात है।

इन पदार्थों का संयोग तो पानी के परकोटा की तरह क्षणिक है। धन, यौवन अथवा जीवन तो जल बुदबुदा के समान क्षणिक हैं। यह बात प्रत्यक्ष दिखती है कि वे सब संयोग क्षण में विलय को प्राप्त हो जाते हैं, तथापि जीव उन्हें स्थिर रखने की भावना का परित्याग करके ध्रुवद्रव्य के आश्रय की भावना नहीं करता – यह मोह का महा बलवान माहात्म्य है। देखो! इसमें कर्म का जोर नहीं है किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं मोहभाव करता है, उसका ही बल है।

जैसे स्वप्न स्थिर नहीं रहता; वैसे ही शरीर, धन आदि भी जीव के पास स्थिर नहीं रहते। वे तो क्षणिक हैं। युवा शरीर हो और शादी करने जाए, वहाँ मण्डप मे ही आयु पूर्ण हो जाती है – ऐसे प्रसङ्ग देखकर भी मूढ़ जीव स्वयं अन्तर में ध्रुव द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता नहीं करता, यह महा आश्चर्य है। धर्मात्मा को तो सदा ही ध्रुव चैतन्य के भानपूर्वक संयोग में अनित्यता की भावना रहती है। पर्याय को स्थिर रखने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है; इसलिए उस पर्याय की भावना को छोड़कर, तेरी विद्यमान ध्रुव ज्ञायकशक्ति की भावना कर! तेरे अन्दर केवलज्ञान का भण्डार भरा है, उसे खोल!

देखो ! छठवें गुणस्थान में सन्तों–मुनियों को भी ऐसा शुभविकल्प आता है कि गृहस्थ श्रावक जिनमन्दिर बनवावें, प्रतिष्ठा करावें, धर्म का महोत्सव करें। इसमें आशय तो यह है कि उस भूमिका में देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति–प्रभावना आदि का शुभभाव आये बिना नहीं रहता; इसलिए यह वर्णन किया है।

अरे ! जगत् के जीव, लक्ष्मी को नित्य मान रहे हैं। उसके बदले उसे अध्रुव जाने तो उसके प्रति राग कम किये बिना न रहें। जिसको आत्मा की प्रीति होती है, उसे देव–गुरु–धर्म के प्रति भक्ति–बहुमान आए बिना नहीं रहता और उनके लिये धनादि खर्च करने का उत्साह भी आये बिन नहीं रहता। इस कारण मुनिवरों ने भी उसका उपदेश किया है। स्वभाव के भानपूर्वक की भूमिका में और उसके पूर्व भी ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। शरीरादि की अनित्यता जान लेने पर उनके प्रति ममता कम न हो — ऐसा नहीं हो सकता।

यहाँ कहते हैं कि अरे जीव ! यह निश्चित है कि जीवन, धन और यौवन तो क्षण में विलय को प्राप्त होंगे, वे कोई ध्रुव रहनेवाले नहीं हैं। ध्रुव तो आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है। ऐसे वस्तुस्वरूप के भान बिना जीव, मोहवश देहादि के संयोग में स्थिरता की बुद्धि करता है।

●●

वस्तुस्वरूप की गर्जना करनेवाले मुनिराज

आ...हा..हा! जङ्गल में रहनेवाले वीतरागी सन्तों को तो देखो। जङ्गल में जैसे सिंह गर्जन करता है, वैसे ही मुनिराज वस्तुस्वरूप की गर्जना करते हैं। सिद्ध भगवान जैसा आत्मानुभव करते हैं, ठीक वैसा ही आत्मानुभव मुनिराज भी करते हैं। सिद्ध तथा साधक दोनों एक ही जाति का अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवते हैं; उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है।.... यही मोक्षमहल का सीधा मार्ग है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, योगसार प्रवचन, पृष्ठ-१०९, ११०

गाथा २२

अब, इस कथन का सङ्कोच / उपसंहार करते हैं —

चइऊण महामोहं, विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहइ॥

हे भव्य! त्यागो मोह जानो, विषय सुख नश्वर सदा।
मन को करो विरहित विषय से, पाओ उत्तम सुख सदा॥

अन्वयार्थ : (हे भव्य जीवों!) **[सव्वे विसए भंगुरे मुणिऊण]** समस्त विषयों को विनाशीक जानकर **[महामोहं चइऊण]** महामोह को छोड़कर, **[मणं णिव्विसयं कुणह]** अपने मन को विषयों से रहित करो। **[जेण उत्तम सुहं लहइ]** जिससे उत्तम सुख को प्राप्त करो।

भावार्थ : पूर्वोक्त प्रकार से संसार, देह, भोग, लक्ष्मी इत्यादि को अस्थिररूप दिखाये, उनको सुनकर जो अपने मन को विषयों से छुड़ाकर (अपने को नित्य ज्ञानानन्दमय और) उनको अस्थिररूप भावेगा, वह भव्यजीव सिद्धपद के सुख को पावेगा।

गाथा २२ पर प्रवचन

यह अनित्यभावना अधिकार की अन्तिम गाथा है। इसमें कहते हैं कि अरे जीव! तुमने हमारे समीप चैतन्यशक्ति का श्रवण किया और विषयों की क्षणभङ्गुरता को जाना है, तो अब तो अपने ध्रुवस्वभाव की भावना करके महामोह को छोड़! विषय विनाशीक हैं — ऐसा जानकर, पर विषयों की रुचि छोड़कर, स्वविषय (निज आत्मा) को दृष्टि में ले। विषयों की रुचि छोड़कर, चिदानन्दस्वभाव की रुचि से निज अन्त:करण को विशुद्ध कर। यदि तू अपने

अन्तरङ्ग को विषयों से खाली करेगा तो उसमें चैतन्य की दृष्टि समायेगी। अनादिकाल से जैसी विषयों की प्रीति है, वैसी ही प्रीति रहेगी तो तुझे चैतन्यस्वभाव दृष्टि में नहीं आयेगा।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो! जो जीव ऐसी अनित्यभावना को सुनकर, नित्य ध्रुव स्वद्रव्य की भावना करेगा और क्षणिक विषयों की भावना का परित्याग करेगा, वह भव्य जीव अल्पकाल में सिद्धदशा में सुख प्राप्त करेगा।

आशय यह है कि उपरोक्त कथनानुसार संसार, देह, भोग, लक्ष्मी इत्यादि सर्व की अस्थिरता को सुनकर, जो अपने मन को विषयों से छुड़ाकर इस अस्थिर/अनित्यभावना को भायेगा, वह भव्य जीव सिद्धपद के सुख को प्राप्त करेगा।

दोहा

द्रव्यदृष्टि तैं वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहारि।
उपजत-विनशत देखि कै, हरष-विषाद निवारि॥ १॥

अरे जीव! तूने अनन्त काल से विषयों में हर्ष-शोक किया है परन्तु उसमें आत्मा का हित नहीं हुआ; इसलिए वैराग्य प्राप्त कर! हर्ष-शोक का परित्याग कर!! द्रव्यदृष्टि से वस्तु की स्थिरता जानकर उसकी भावना कर और पर्यायदृष्टि से वस्तु की अस्थिरता जानकर, उसमें हर्ष-शोक का परित्याग कर। अरे जीव! अब वैराग्य पा.... वैराग्य पा.....! तीर्थङ्कर भगवान भी दीक्षा लेने से पहले गृहस्थदशा में ये वैराग्य भावनाएँ भाते हैं।

देखो! श्री ऋषभदेव भगवान राज्यसभा में विराजमान थे। वहाँ अप्सराएँ भक्ति से नृत्य कर रहीं थीं। नृत्य करते-करते ही नीलाञ्जना नामक देवी की आयु पूर्ण हो गयी। यह बात भगवान के ज्ञान में आ गयी और वे तुरन्त ही वैराग्यभाव को प्राप्त कर, अनित्य आदि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे —

'अहो! सम्पूर्ण संसार अनित्य है। बिजली की चमकारवत् क्षण में विलय को प्राप्त हो जाता है।' उनको अन्दर में ध्रुव चैतन्य का भान था और ऐसी भावनाएँ भाकर, वैराग्य पाकर दीक्षित हुए।

इस प्रकार जीव को ये वैराग्य भावनाएँ प्रतिक्षण भाने योग्य हैं।

इस प्रकार पहली अध्रुवभावना पूर्ण हुई। ●●

२

अशरण अनुप्रेक्षा

गाथा २३

अब, अशरण अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं —

तत्थ भवे किं सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ।
हरिहरबंभादीया, कालेण य कवलिया जत्थ॥

हरि हर तथा ब्रह्मादि को भी, काल ग्रसित करे अहो।
देवेन्द्र भी हों नष्ट फिर, जग में शरण किसकी कहो॥

अन्वयार्थ : [जत्थ सुरिंदाण विलओ दीसदे] जिस संसार में देवों के इन्द्र का नाश देखा जाता है, **[जत्थ हरिहरबंभादीया कालेण य कवलिया]** जहाँ हरि अर्थात् नारायण, हर अर्थात् रुद्र, ब्रह्मा अर्थात् विधाता आदि शब्द से बड़े-बड़े पदवीधारक सब ही काल द्वारा ग्रसे गये, **[तत्थे किं सरणं भवे]** उस संसार में कौन शरण होवे ? अर्थात् कोई भी नहीं होवे।

भावार्थ : शरण उसको कहते हैं, जहाँ अपनी रक्षा हो; सो संसार में जिनका शरण विचारा जाता है, वे ही काल-पाकर नष्ट हो जाते हैं, वहाँ कैसा शरण?

गाथा २३ पर प्रवचन

अब, अशरण भावना का वर्णन करते हैं।

अहो! अपना चिदानन्द तत्त्व ही जीव को शरणभूत है; इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती पद अथवा बलदेव-वासुदेव पद इत्यादि कोई भी जीव को शरण नहीं हैं। इसलिए हे जीव! अपने स्वभाव को शरणभूत जानकर, उसकी ही श्रद्धा कर।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे जीव! तुझे बाहर में कोई शरण नहीं है। देह से भिन्न आत्मा ही तुझे शरणभूत है। बड़े-बड़े राजा और इन्द्र भी काल का ग्रास बन जाते हैं तो जीव को कौन शरणभूत है? कोई शरण नहीं है। शरण तो उसे कहते हैं, जो अपनी रक्षा करे। अपनी रक्षा करनेवाला तो अपना ज्ञानानन्दस्वभाव ही है, वही शरणभूत है। ●●

श्रमण अर्थात् साक्षात् मोक्षतत्त्व

जो श्रमण, त्रिलोक के मुकुटमणि के समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाश द्वारा, यथास्थित पदार्थ के निश्चय द्वारा, उत्सुकता को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, आनन्द की धारा में मस्त हो गये हैं, उपशमरस के साँचे में ढल गये हैं और उसमें से बाहर आने में निरुद्यमी हो गये हैं; वन में बाघ, सिंह और भेड़िये चिंघाड़ते हो, तथापि निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस का, अतीन्द्रिय आनन्द का पान करते हैं, चूसते हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, उन श्रमण को साक्षात् मोक्षत्तत्व कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ४८४, पृष्ठ ११५

गाथा २४

अब, इसका दृष्टान्त कहते हैं —

सिंहस्स कमे पडिदं, सारंगं जह ण रक्खदे को वि।

तह मिच्चुणा य गहिदं, जीवं पि ण रक्खदे को वि॥

ज्यों सिंह पग में फँसे मृग का, कोई नहिं रक्षक अहो!।

त्यों मृत्यु-मुख में पड़े जन का, कौन है रक्षक कहो?॥

अन्वयार्थ : [जह सिंहस्स कमे पडिदं] जैसे (वन में) सिंह के पैर नीचे पड़े हुए **[सारंगं को वि ण रक्खदे]** हिरण की कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है; **[तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि]** वैसे ही (संसार में) मृत्यु के द्वारा ग्रहण किए हुए जीव की **[को वि ण रक्खदे]** कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है।

भावार्थ : वन में सिंह, मृग को पैर के नीचे दाब ले, तब उसकी (मृग की) कौन रक्षा करे? वैसे ही यहाँ काल का दृष्टान्त जानना चाहिए।

गाथा २४ पर प्रवचन

अब, अशरणता का दृष्टान्त देते हैं —

जहाँ काल पूर्ण हो गया, वहाँ कोई शरण हो – क्या ऐसा है? एक क्षण भी कोई शरणभूत नहीं है। बड़े राजा भी जङ्गल में अशरणरूप होकर मर जाते हैं। मृत्यु के समय चारों ओर सगे–सम्बन्धी खड़े हों परन्तु मरनेवाले जीव को उन किसी की शरण नहीं है। जीव को शरण तो एकमात्र शुद्धरत्नत्रय की ही है।

इस गाथा में मरण का दृष्टान्त दिया है परन्तु जीवितदशा में भी कोई अन्य जीव को शरणभूत नहीं है — ऐसा जानकर, बिजली की चमकवत् इस मनुष्य देह में (मनुष्यभव में) भेदविज्ञान कर लेना चाहिए। ●●

गाथा २५

आगे, इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं —

जइ देवो वि य रक्खदि, मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति॥

यदि देव कोई मन्त्र तन्त्र, क्षेत्रपालादिक अरे।
मरते हुए को बचावें तो, मनुज कोई नहीं मरे॥

अन्वयार्थ : [जइ मियमाणं पि मणुस्सं] यदि मरते हुए मनुष्य को **[देवो वि य मंतो तंतो य खेत्तपालो य रक्खदि]** कोई देव, मन्त्र, तन्त्र, क्षेत्रपाल और उपलक्षण से संसार जिनको रक्षक मानता है, वे सब ही रक्षा करने में समर्थ हों **[तो मणुया अक्खया होंति]** तो मनुष्य अक्षय होवें; कोई भी मरे नहीं।

भावार्थ : (नित्य निर्मोही पूर्ण ज्ञानानन्द स्व को भूलकर) लोग जीवित रहने के निमित्त (मोहवश होकर) देवपूजा, मन्त्र-तन्त्र, औषधि आदि अनेक उपाय करते हैं परन्तु निश्चय से विचार करें तो कोई जीवित दीखता नहीं है; लोग वृथा ही मोह से विकल्प पैदा करते हैं।

गाथा २५ पर प्रवचन

यदि मरते हुए मनुष्य को कोई मृत्यु से बचा सकता हो, तब तो जगत में कोई मरेगा ही नहीं। भले ही कोई 'मृत्युञ्जय' मन्त्र का जाप करे परन्तु उस जीव को मृत्यु से बचानेवाला कोई नहीं है। जो डोरा-धागा करते हैं, वह तो तीव्र मूढ़ता है। सर्वज्ञ का भक्त कुदेव-देवियों को नहीं मानता है, डोरा-धागा (गण्डा-ताबीज) नहीं करता है।

अहो! अरहन्तों से कथित मेरा आत्मस्वभाव ही मुझे शरण है। अज्ञानी जीव, मोह के वशीभूत होकर मन्त्र–तन्त्र–पूजा इत्यादि उपाय करके जीवन बनाये रखना चाहता है परन्तु मृत्युकाल में वे कोई शरण नहीं होते। किसी का इकलौता पुत्र मरणासन्न हो और कोई कहे कि अमुक मनौती करे तो पुत्र मरने से बच जाएगा, तो भगवान का भक्त इस बात को नहीं मानता।

धर्म का फल 'अमर' है — इस कारण धर्म ही अमरफल है। इसके अतिरिक्त दुनिया में अन्य कोई अमरफल नहीं है। ●●

ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि महाराज!

मुनिराज को वीतरागता फली-फूली है; जिस प्रकार फूल की कली खिल उठती है, उसी प्रकार वीतरागता खिल उठी है। श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया था; करोड़ों चीटियाँ शरीर पर चढ़ गयी और जगह-जगह काटा – ऐसे उपसर्ग के समय भी मुनि खेद-खिन्न नहीं हुए थे, परन्तु अन्तर में वीतरागी आनन्द में क्रीड़ा करते थे। चेलना रानी कहने लगी – **देखो! ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि! अन्तर आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य नहीं जाता।** अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं जाता। अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में लीन हो गये हैं। **यहाँ तो कहते हैं कि मुनिराज को प्रतिकूलता में खेद नहीं है और अनुकूलता में हर्ष नहीं है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २५२

गाथा २६

आगे, इसी अर्थ को और दृढ़ करते हैं —

अइ-बलिओ वि रउद्दो मरण-विहीणो ण दीसए को वि।
रक्खिजंतो वि सया रक्ख-पयारेहिं विविहेहिं॥

यदि कोई नर हो अति बली, अथवा भयङ्कर रुद्र हो।
बहु भाँति रक्षित जीव भी, नहिं मरणहीन कभी अहो!॥

अन्वयार्थ : (इस संसार में) [**अइबलिओ वि रउद्दो**] अत्यन्त बलवान् तथा अत्यन्त रौद्र (भयानक) [**विविहेहिं रक्खपयारेहि रक्खिजंतो वि सया**] और अनेक रक्षा के प्रकार, उनसे निरन्तर रक्षा किया हुआ भी [**मरणविहीणो को वि ण दीसए**] मरणरहित कोई भी नहीं दीखता है।

भावार्थ : (अपने को तो भूलते ही हैं और पर में इष्ट-अनिष्ट मानकर) अनेक रक्षा के प्रकार — गढ़, कोट, सुभट, शस्त्रादिक को शरण मानकर, कोटि उपाय करते हैं परन्तु मरण से कोई बचता नहीं; सब उपाय विफल जाते हैं।

गाथा २६ पर प्रवचन

मजबूत किले में रहे और चारों तरफ सुरक्षा रखे तो भी कोई मृत्यु से बच नहीं सकता। पर्याय तो पलट ही जाएगी; इसलिए उसके सन्मुख मत देख! नित्य चिदानन्द प्रभु तेरा आत्मा ही तुझे शरणभूत है; उसी के सन्मुख देखकर, उसी की भावना कर!

निमित्त अपेक्षा से अरहन्त की शरण, सिद्ध की शरण इत्यादि कथन आते हैं, वस्तुत: वे कोई जीव को शरण देने नहीं आते; शरण तो एकमात्र अपना आत्मा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान

–चारित्र ही जीव को सच्ची शरण हैं। किसी भी उपाय से देह की रक्षा करना चाहे तो वह सम्भव नहीं है। जिसने अपने उपयोग को चैतन्यतत्त्व में अन्तरोन्मुख करके स्थिर किया, उसने अपने उपयोग का ऐसा गढ़ बनाया है कि देह में लाखों बिच्छुओं के काटने पर भी चैतन्य की शरण नहीं छूटेगी। ऐसे चैतन्य की पहिचान कर, उसकी शरण लेने योग्य है; इसके अतिरिक्त जगत में कहीं शरण नहीं है। ●●

गणधरों के द्वारा नमस्कार योग्य मुनिदशा

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार-मन्त्र बोलते हैं, **तब 'ण्मो लोए सव्व साहूणं' – इस पद के द्वारा, गणधर भगवान का नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है, तो यह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थङ्करों के धर्मवजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा?**

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की ताकत है - ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रगट की है -ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी-अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों तो भी वे कहते हैं– **'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।'** इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। **गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो – ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं, उन सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, वे सन्त दुःखी नहीं हैं।** *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महा-महोत्सव प्रवचन*

गाथा २७

अब, शरण की कल्पना करे, उसको अज्ञान बताते हैं —

एवं पेच्छंतो वि हु, गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं।
सरणं मण्णइ मूढो, सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो॥

यह जानकर भी शरण माने, मूढ़ मिथ्याभाव से।
ग्रह भूत व्यन्तर यक्ष और, पिशाच योगिनि आदि में॥

अन्वयार्थ : [एवं पेच्छंतो वि हु] ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार अशरण) प्रत्यक्ष देखता हुआ भी **[मूढो]** मूढ़ प्राणी **[सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो]** तीव्र मिथ्यात्वभाव से **[गह - भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं]** सूर्यादि ग्रह, भूत, व्यन्तर, पिशाच, योगिनी, चण्डिकादिक, यक्ष, मणिभद्रादिक को **[सरणं मण्णइ]** शरण मानता है।

भावार्थ : यह प्राणी प्रत्यक्ष जानता है कि मरण से बचानेवाला कोई भी नहीं है तो भी ग्रहादिक को शरण मानता है, सो यह तीव्र मिथ्यात्व का माहात्म्य है।

गाथा २७ पर प्रवचन

जगत् में अशरणपना प्रत्यक्ष दिखलायी देता है क्योंकि कोई किसी को बचा नहीं सकता, फिर भी मूढ़ जीव, सूर्य आदि ग्रह की, व्यन्तर, मणिभद्र आदि की शरण मानकर, उनकी पूजा करते हैं — यह मूढ़ता है। मूढ़ जीव मानते हैं कि मुझे कोई मृत्यु से बचा देगा परन्तु अरे भाई! देह तो संयोगी और अनित्य है, उसका वियोग होने से कोई नहीं रोक सकता; इसलिए तू तो चैतन्य की शरण को पहिचान! कोई देवी-देवता मुझे बाधक होते हैं, इसलिए यदि उनकी पूजा-मान्यता करेंगे तो वे अपनी रक्षा करेंगे — ऐसी मान्यतावाला मूढ़ जीव, मिथ्यात्व के महापाप का सेवन करता है।

शरीरादि संयोगी वस्तुओं का तो वियोग होता ही है परन्तु स्वभाव का वियोग कभी नहीं होता तथा अपने स्वभाव के साथ एकता हो सकती है; पर-संयोग के साथ एकता नहीं हो सकती, इसलिए संयोग में शरणबुद्धि का परित्याग कर दे और अन्तरस्वभाव को शरणरूप जानकर, उसके साथ एकता कर!

संसार में बाह्य संयोग तो पुण्योदय होगा, तब तक रहेंगे; अतः भूत-ग्रहादिक को माननेवाले को तो पुण्य की भी श्रद्धा नहीं है। पुत्र की आशा से पीर-मणिभद्र आदि को माननेवाले जीव तो महा-मूढ़ता का सेवन कर रहे हैं। सर्वज्ञदेव का भक्त किसी को नहीं मानता। यदि पुण्योदय न हो तो जगत में कोई कुछ दे नहीं सकता और पुण्योदय हो तो कोई विघ्न करने में समर्थ नहीं हो सकता।

धर्मी तो कहता है कि मुझे संयोग की शरण नहीं है, पुण्य की शरण नहीं है क्योंकि पुण्य भी क्षणिक वस्तु है; मेरा शरण तो निज चिदानन्द आत्मा ही है। इस प्रकार धर्मी को निरन्तर शरणभूत आत्मा के भानसहित अशरणभावना निरन्तर होती है। ●●

मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

मुनिराज, निर्मल विज्ञानघन में निमग्न हैं। अहा! कैसी भाषा का प्रयोग किया है। साधुपना कोई अलग ही है भाई! विज्ञान का घन ऐसा जो निज भगवान आत्मा, उसमें वे अन्तर्निमग्न हैं। निमग्नपना, वह पर्याय है, परन्तु वह पर्याय त्रैकालिक एकाकार विज्ञानघनस्वभाव में निमग्न है, डूबी हुई है। अहा! इस **दशा के बिना मुक्ति नहीं** है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थान में होते हैं, परन्तु इतने से ही सम्पूर्ण मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रचुर स्वसम्वेदनस्वरूप निर्ग्रन्थ चारित्रदशा आये, उससे मुक्तिदशा प्राप्त होती है। बाह्य में वेष धारण कर ले, नग्नता ले ले और पञ्च महाव्रतादि का पालन करे, वह कोई मुनिदशा नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ १८४

गाथा २८

अब, मरण आयु क्षय से होता है, यह कहते हैं —

आयु-क्खयेण मरणं, आउं दाऊण सक्कदे को वि।
तह्मा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को वि॥

आयु क्षय से मरण हो, पर आयु दे सकता नहीं।
कोई किसी को अतः सुर भी, बचा सकते हैं नहीं॥

अन्वयार्थ : [आयु-क्खयेण मरणं] आयुकर्म के क्षय से मरण होता है **[आउं दाऊ ण सक्कदे को वि]** और आयुकर्म कोई किसी को देने में समर्थ नहीं है; **[तह्मा देविंदो वि य]** इसलिए देवों का इन्द्र भी **[मरणाउ को वि ण रक्खदे]** मरने से किसी की रक्षा नहीं कर सकता।

भावार्थ : मरण, आयु पूर्ण होने से होता है और आयु कोई किसी को देने में समर्थ नहीं है, तब रक्षा करनेवाला कौन ? इसका विचार करो !

गाथा २८ पर प्रवचन

जिस क्षण जीव का मरण होना हो, उस क्षण कोई इन्द्र, नरेन्द्र भी उसे बचाने में समर्थ नहीं है; आयु पूर्ण होने पर मरण होता ही है। दूसरा कोई जीव किसी को आयु दे नहीं सकता; किसी को भी दवा अथवा अन्य किसी भी उपाय से मरने से नहीं बचाया जा सकता। दूसरा जीव कल्पना करता है कि 'मैं इसको बचा दूँ' तो यह उसकी मिथ्या कल्पना है। कोई जीव किसी को आयु देकर बचा नहीं सकता; इसी प्रकार कोई जीव किसी को मार भी नहीं सकता।

देखो ! यह अशरणपना बताकर कहते हैं कि तुझे निज आत्मा के अलावा अन्य कोई शरणभूत नहीं है; इसलिए तू निज आत्मा की श्रद्धा कर। ●●

गाथा २९

आगे, इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं —

अप्पाणं पि चवंतं, जह सक्कदि रक्खिदुं सुरिदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं, सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं॥

देवेन्द्र भी यदि मरण से, निज को बचा सकते कभी।
तो भोगमय सुरधाम को, क्यों छोड़ते वे इन्द्र भी॥

अन्वयार्थ : [जह सुरिंदो वि] यदि देवों का इन्द्र भी **[अप्पाणं पि चवंतं]** अपने को चयते (मरते) हुए **[रक्खिदुं सक्कदि]** रोकने में समर्थ होता **[तो सव्वुत्तम -भोय-संजुत्तं]** तो सर्वोत्तम भोगों से संयुक्त **[सग्गं किं छंडदि]** स्वर्ग को क्यों छोड़ता ?

भावार्थ : सर्व भोगों का निवास स्थान अपना वश चलते कौन छोड़े ?

गाथा २९ पर प्रवचन

जब असंख्यदेवों के स्वामी इन्द्र की भी आयु पूर्ण होती है, तब वह भी अपने को स्वर्ग से च्युत होने से नहीं बचा सकता। स्वर्ग के इन्द्र की भी आयु पूर्ण होने पर कोई मरण से बचाने में समर्थ नहीं है तो अन्य जीवों की तो बात ही क्या है ?

जिसे शरणरूप चैतन्य का भान नहीं है, वह मरते समय अशरणरूप होकर मरता है। धर्मी को तो सदा शरणभूत चैतन्य का भान है; इसलिए वह तो चैतन्य की शरणपूर्वक देह का त्याग करता है।

अहो! जिसने जगत में चैतन्य का शरण नहीं जाना है और देह, मकान आदि संयोगों को शरणभूत माना है, वह जीव, मृत्यु के समय अशरणरूप होकर मरता है। ●●

गाथा ३०

अब, परमार्थ शरण दिखााते हैं —

दंसण-णाण-चरित्तं, सरणं सेवेहि परम-सद्धाए।
अण्णं कि पि ण सरणं, संसारे संसरंताणं॥

दृग-ज्ञान-चारित्र शरण हैं, सेवन करो श्रद्धान से।
संसार में भ्रमते हुए को, अन्य कुछ नहिं शरण है॥

अन्वयार्थ : (हे भव्य!) [**परम-सद्धाए**] परम श्रद्धा से [**दंसणणाणचरित्तं**] दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप [**सरणं सेवेहि**] शरण का सेवन कर। [**संसारे संसरंताण**] इस संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को [**अण्णं कि पि ण सरणं**] अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र अपना स्वरूप है, सो यह ही परमार्थरूप (वास्तव में) शरण है; अन्य सब अशरण हैं। (सम्यग्दर्शन का विषय अपना त्रैकालिक निश्चय परमात्मा है, ऐसी) निश्चयश्रद्धापूर्वक यह ही शरण ग्रहण करो, ऐसा उपदेश है।

गाथा ३० पर प्रवचन

अब, यह बतलाते हैं, कि जीव को सच्ची शरण क्या है?

शरीर तो जड़ परमाणुओं का पिण्ड है। चैतन्य को उन परमाणुओं का शरण नहीं है। शरणभूत तो एकमात्र अपना चैतन्यस्वभाव है। उस स्वभाव में भव नहीं है, दु:ख नहीं है। इस प्रकार हे भव्य! तू अपने शरणभूत स्वभाव का परमश्रद्धापूर्वक सेवन कर! स्वसंवेद्य ज्ञानानन्द आत्मा की नि:शङ्करूप से श्रद्धा कर! उसे ही परम श्रद्धापूर्वक जान और उसी में रमणता कर!

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रस्वरूप निज आत्मा को ही शरणरूप जानकर उसका सेवन कर!; इसके अतिरिक्त बाहर में अन्य कोई शरण नहीं है।

तेन्दुआ को आते देखकर लोग भयभीत होकर भागते हैं, मानों बाहर में कहीं शरण हो। परन्तु अरे भाई! अन्दर में चैतन्य की शरण में जा तो तुझे तेन्दुआ अथवा अन्य किसी का भय नहीं रहेगा। तेन्दुआ तो शरीर को खाता है परन्तु अन्दर शरणभूत चिदानन्द आत्मा की परम श्रद्धा करके, उसकी शरण लेनेवाले जीव को प्रतिकूलता का भय नहीं रहता।

अहो! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही आत्मा का स्वरूप है, वही अपने को शरणभूत है। अपने से भिन्न शरण नहीं होता। मुनिराजों को उत्पन्न होनेवाली पञ्च महाव्रतादि की वृत्ति भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा का निजस्वरूप तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है — ऐसा जानकर, उसी का शरण अङ्गीकार करो!; इसके अतिरिक्त बाह्य में स्त्री-पुत्रादिक कोई भी शरण नहीं है।

लोग कहते हैं न '**अपुत्रस्य गतिः नास्ति**' — उसका यह आशय समझना चाहिए कि आत्मा को सम्यग्दर्शनरूपी पुत्र के बिना मोक्षगति नहीं होती। आत्मा की शुद्धोपयोगरूप परिणति ही उसकी वास्तविक रमणी है। बाहर में रमणी/स्त्री इत्यादि कोई भी जीव को शरणरूप नहीं है। शुद्धरत्नत्रयरूप परिणमित अपना आत्मा ही अपने को शरण है। शरीर तो नष्ट होने योग्य है, उसे कोई रोक नहीं सकता है। ●●

गाथा ३१

आगे, इसी को दृढ़ करते हैं —

अप्पाणं पि य सरणं, खमादि-भावेहिं परिणदं होदि।
तिव्व-कषायाविट्ठो, अप्पाणं हणदि अप्पेण॥

जो क्षमादिक भावमय, परिणमित हो, वह शरण है।
जो युक्त तीव्रकषाय है वह, आप से आपहि हने॥

अन्वयार्थ : [य अप्पाणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि सरणं] जो अपने को क्षमादि दश लक्षणरूप परिणत करता है, सो शरण है **[तिव्वकषायाविट्ठो अप्पेण अप्पाणं हणदि]** और जो तीव्रकषायुक्त होता है, सो अपने ही द्वारा अपने को ही हनता है।

भावार्थ : परमार्थ से विचार करें तो (स्वयं अपना गुरु-शिष्य, उपास्य-उपासक, भक्त-भगवान और स्वयं ही शत्रु व मित्र है)। आप ही अपनी रक्षा करनेवाला है तथा आप ही आपको घातनेवाला है। (ज्ञातास्वभाव की अरुचि ही क्रोध है और रागादि करनेयोग्य हैं - मेरे हैं, वह रागादि की रुचि है; उसी का नाम निश्चय से क्रोध है)। क्रोधादिरूप परिणाम करता है, तब शुद्धचैतन्य का घात होता है और क्षमादि परिणाम करता है, तब अपनी रक्षा होती है। इन ही भावों से जन्म-मरण से रहित होकर अविनाशी पद प्राप्त होता है।

गाथा ३१ पर प्रवचन

फिर, इसी बात को दृढ़ करते हैं —

शुभाशुभभावरहित आत्मा के चैतन्यस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्रता से उत्तम क्षमादि धर्मरूप अपने आत्मा को परिणमित करना ही शरणभूत है।

जो जीव, हिंसादि तीव्र कषाय भावोंरूप परिणमित होता है, वह जीव स्वयं अपने ही आत्मा की हिंसा करता है। जिसकी यह मिथ्या मान्यता है कि मैं पर को मारता अथवा बचाता हूँ, वह जीव इस मिथ्या मान्यता से स्वयं अपना ही घात करता है और जो जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्रता से वीतरागभावरूप परिणमित हुआ, वह जीव स्वयं अपनी रक्षा करनेवाला है।

इस प्रकार जीव स्वयं ही अपनी रक्षा करनेवाला और स्वयं ही अपना घात करनेवाला है।

तात्पर्य यह है कि जब यह जीव, शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें एकाग्रता से उत्तम क्षमादि धर्मरूप परिणमित होता है, तब वह स्वयं अपनी रक्षा करता है और अविनाशी पद को प्राप्त करता है तथा जब चैतन्य को चूककर मिथ्यात्व और कषायभाव करता है, तब स्वयं अपनी हिंसा करके अशरणरूप होकर चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

इसलिए निरन्तर ऐसी भावना करना चाहिए कि मेरा एकमात्र शरण, चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना ही है।

दोहा

वस्तुस्वभावविचारतैं, शरण आपकूं आप।
व्यवहारे पञ्च परमगुरु, अवर सकल संताप॥

वस्तुस्वरूप का विचार करने पर चिदानन्द भगवान स्वयं ही अपना शरण है। नित्यानन्द की प्रतीति करके ,उसमें डुबकी लगाना अर्थात् एकाग्रता करना ही जगत में शरण है और व्यवहार से पञ्च परमेष्ठी भगवान शरणरूप हैं। पञ्च परमेष्ठी के लक्ष्य से अशुभभाव मिटकर शुभभाव होता है, इस अपेक्षा से वे व्यवहार शरण हैं; इसके अतिरिक्त बाह्य में जो भी शरणरूप माना गया है, वह सब मिथ्या है। बाहर में शरण मानना तो सन्ताप है। आत्मा को बाहर में कोई शरण नहीं है; अपना स्वरूप ही एकमात्र शरण है।

इस प्रकार दूसरी अशरण अनुप्रेक्षा पूर्ण हुई। ●●

३

संसार अनुप्रेक्षा

गाथा ३२-३३

पहले दो गाथाओं में संसार का सामान्य स्वरूप कहते हैं —

एक्कं चयदि शरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं, गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥
एक्कं जं संसरणं, णाणदेहेसु हवदि जीवस्स।
जो संसारो भण्णदि, मिच्छकसाएहिं जुत्तस्य॥

एक तन को छोड़ चेतन, अन्य तन धारण करे।
बार-बार नवीन तन, ग्रहना यही संसार है॥
मिथ्यात्व और कषाय से, होता विविध तन का ग्रहण।
नए तन को ग्रहण करना – छोड़ना संसार है॥

अन्वयार्थ : [मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स जीवस्स] मिथ्यात्व अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वस्तु को श्रद्धा में लाना और कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ — इनसे युक्त इस जीव का **[जं णाणदेहेसु संसरणं हवेदि]** जो अनेक शरीरों में संसरण अर्थात् भ्रमण होता है, **[जो संसारो भण्णदि]** वह संसार कहलाता है। वह किस तरह? सो ही कहते हैं। **[जीवो एक्कं शरीरं चयदि]** यह जीव, एक शरीर को छोड़ता है **[पुणु णवणवं गिण्हेदि]** फिर नवीन (शरीर) को ग्रहण करता है; **[पुणु अण्णं अण्णं बहुवारं गिण्हदि मुंचेदि]** फिर अन्य-अन्य शरीर को कई बार धारण करता है और छोड़ता है। **[सो संसारो भण्णदि]** वह ही संसार कहलाता है।

भावार्थ : (निश्चय अपने को भूल जानेरूप मिथ्यात्व ही संसार है और व्यवहार से) एक शरीर से अन्य शरीर की प्राप्ति होते रहना ही संसार है।

गाथा ३२-३३ पर प्रवचन

अब, तीसरी 'संसारभावना' का वर्णन करते हैं।

सर्व प्रथम संसार का सामान्यस्वरूप कहते हैं।

मैं पर का अथवा पर मेरा कुछ करता है, पुण्य से मुझे धर्म होता है — ऐसी विपरीत मान्यता, वह मिथ्यात्व है। इस जीव का वस्तुस्वरूप से विपरीत मान्यता और क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय से संसार में परिभ्रमण होता है। देखो, कर्म, जीव को संसार में परिभ्रमण नहीं कराता, अपितु जीव अपने मिथ्यात्वादिभाव से ही संसार में परिभ्रमण करता है।

इस प्रकार मिथ्यामान्यता और राग-द्वेष के कारण जीव, एक देह से दूसरी देह में भ्रमण कर रहा है, इसका नाम संसार है। जीव अज्ञानभाव से मरते-मरते व्यथित होता है परन्तु भाई! तुझे कौन रख सकता है? तूने अज्ञानभाव से अनन्त-अनन्त देह धारण की और छोड़ी हैं परन्तु अन्दर में देहरहित चिदानन्द तत्त्व क्या है? — उसका भान कभी नहीं किया। अन्दर चैतन्यस्वरूप आत्मा विकार से रहित है, उसका भान कर और उसकी शरण ले, तो तेरे संसार परिभ्रमण का अभाव होगा।

जीव, बाहर में नये-नये शरीर धारण करके परिभ्रमण करता है, इसका नाम संसार है। वहाँ वस्तुत: तो जिस भाव से नवीन देह का ग्रहण होता है, वह विकारीभाव ही संसार है।

अरे भाई! चार गतियों में भटकते-भटकते महा-कठिनता से यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है। यदि इसमें आत्मा का भान करके, सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया तो फिर अनन्त संसार के दु:ख का कहीं अन्त नहीं आयेगा।

तात्पर्य यह है कि जीव अज्ञानभाव से चारों गतियों में दु:ख ही भोगता है। ●●

मुनिराज की अन्तर-साधना

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले मुनिराज, छठवें-सातवें गुणस्थान में रहने के काल में भी आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना, वहीं के वहीं नहीं रहते। छठवें-सातवें गुणस्थान में रहते हुए भी आत्मशुद्धि की दशा विकसित होती ही रहती है। केवलज्ञान न हो, तब तक मुनिराज शुद्धि की वृद्धि करते ही जाते हैं। **यह तो मुनिराज की अन्तर-साधना है; जगत के जीव मुनिराज की इस अन्तर-साधना को नहीं देख पाते।** साधना कोई बाह्य से देखने की वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अन्तर की दशा है।

वन में अकेले विचरण करते हों, बाघ-सिंह की दहाड़ गूँजती हो, सिर पर जोरदार पानी बरसता हो व शरीर में रोग हो तो भी मुनिराज को इनका बिल्कुल भान नहीं रहता; वे तो अन्तर में एकाग्र रहते हैं – ऐसे मुनिराज की अन्तरशुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है; अन्तर में शुद्धता के लिए चलनेवाला पुरुषार्थ भी उग्र होता जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ४०

गाथा ३४

अब, ऐसे संसार में संक्षेप से चार गतियाँ हैं तथा अनेक प्रकार के दुःख हैं। सो प्रथम ही नरकगति में दुःख है, यह छह गाथाओं में कहते हैं–

पावोदयेण णरए, जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं।
पंच-पयारं विविहं, अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं॥

पाप कर्मों के उदय से, नरक में उत्पन्न हो।
पञ्च विध उपमारहित, बहुभाँति दुःख सहन करे॥

अन्वयार्थ : [जीवो पावोदयेण णरए जायदि] यह जीव, पाप के उदय से नरक में उत्पन्न होता है, **[विविहं अण्णदुक्खेहिं पंचपयारं अणोवमं बहुदुक्खं सहेदि]** वहाँ कई तरह के पञ्च प्रकार से उपमारहित, ऐसे बहुत से दुःख सहता है।

भावार्थ : जो जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, परधन हरता है, परस्त्री तकता है, बहुत आरम्भ करता है, परिग्रह में आसक्त होता है, बहुत क्रोधी, प्रचुर मानी, अति कपटी, अति कठोर भाषी, पापी, चुगल, कृपण, देव-शास्त्र-गुरु का निन्दक, अधम, दुर्बुद्धि, कृतघ्नी और बहुत शोक/दुःख करने ही की जिसकी प्रकृति हो — ऐसा जो जीव होता है, वह मरकर नरक में उत्पन्न होता है; अनेक प्रकार के दुःख को सहता है।

गाथा ३४ पर प्रवचन

अब, चारों ही गतियों में दुःख है — यह वर्णन करते हुए, सर्व प्रथम नरक के दुःख का वर्णन करते हैं।

जो माँस भक्षण करता है, शराब पीता है इत्यादि महापाप करने से जीव नरक में जाता

है और वहाँ अनेक प्रकार के भयङ्कर दु:ख भोगता है। जिसने अज्ञान का अभाव नहीं किया, उसको अनन्त बार नरकादि गति के योग्य भाव हुए बिना नहीं रहेंगे।

अहो ! मैं तो चैतन्यस्वभावी हूँ!! मेरे स्वभाव में भव नहीं हैं — ऐसा भान नहीं होनेवाले जीव तो स्वर्ग में भी दु:खी हैं और नरक में भी दु:खी हैं।

नरक के दु:ख सुनकर, उनसे भयभीत हो और स्वर्ग के भव की प्रीति करे, तो वास्तव में उस जीव ने भवरहित स्वभाव को नहीं जाना है और न उसने चारों गतियों में दु:ख माना है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जिसे चारों गतियाँ दु:खरूप लगती हैं, वह जीव अन्दर चिदानन्दस्वभाव का भान करके, उसकी शरण लेता है। चैतन्य के भान बिना, पुण्य करके स्वर्ग में जानेवाले अथवा पाप करके नरक में जानेवाले सभी जीव, दु:खी ही है।

जो मिथ्यात्वसहित तीव्र क्रोधादि परिणाम हैं, वे नरक के कारण हैं। सर्वज्ञ के मार्ग की निन्दा करना, देव-शास्त्र-गुरु की निन्दा करना, उनका विरोध करना इत्यादि अधर्म परिणाम से जीव, नरक में जाता है। जिसने आत्मा की सम्भाल नहीं की, उस जीव को संसार में परिभ्रमण करते हुए ऐसे परिणाम भी आते हैं और वह नरक में जाता है।

इसलिए तू अपने आत्मस्वभाव को पहिचानकर ऐसे परिणााम छोड़ ! ज्ञान में भव नहीं होते — ऐसा भान किये बिना चार गतिरूप भव-भ्रमण का अभाव नहीं होगा।

यहाँ बारह अनुप्रेक्षाओं के अन्तर्गत संसार अनुप्रेक्षा का वर्णन चल रहा है। संसार -भावना कौन भा सकता है ? कि आत्मा की पर्याय में क्षणिक विकार और परिभ्रमण है, वह संसार है; ज्ञान-स्वभाव में दु:ख नहीं है — ऐसे ज्ञानस्वभाव के भानपूर्वक, संसार के दु:ख का चिन्तवन करके धर्मी जीव वैराग्यभावना को बढ़ाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा धर्मी जीव ही संसारभावना भा सकता है।

संसार की चारों गतियों में दु:ख है। तीव्र पाप परिणामवाला जीव, नरकगति में जाता है। यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का तीव्र विरोध का परिणाम आ जाए तो जीव सीधे नरक में चला जाता है। जैसे कि सर्वज्ञ भगवान से एक समय में केवलज्ञान और केवलदर्शन — दोनों एक साथ होते हैं। उसके बदले एक समय में ज्ञान और दूसरे समय में दर्शन — ऐसा

माननेवाला केवली भगवान का अवर्णवाद करता है। सर्वज्ञदेव अरिहन्त परमात्मा को आहारादि न होने पर भी, (आहार होना) माननेवाला जीव, देव की निन्दा करता है। अहो! जगत के जीवों के परमहित के उपायरूप धर्म से विपरीत स्वरूप मनवाकर, अहित के मार्ग की प्ररूपणा करनेवाला जीव, अनन्त संसार का कारणरूप महापाप बाँधता है। इस प्रकार तीव्र आसातना के भाव से जीव, नरक में जाता है।

अहा! वीतरागी दिगम्बर सन्त, वे मुनि हैं। उन सन्त की महा-विराधना करनेवाला जीव, नरक में जाता है। अनादि से सर्वज्ञ परम्परा में चले आये, जो देव-शास्त्र-गुरु हैं, उनका तीव्र विरोध करनेवाले मिथ्यादृष्टि को नरक की आयु बँधती है। सम्यग्दर्शन होने के बाद तो नरक की आयु बँधती ही नहीं।

वस्तुतः नरक में भी संयोग का दुःख नहीं है, अपितु जीव के तीव्र पापपरिणाम का दुःख है। वह अन्दर के तीव्र पापपरिणाम को विस्तारित करता है — इसी से दुःख है परन्तु यहाँ निमित्त से / संयोग से नरक के दुःख का वर्णन किया है।

जो जीव, अधम होता है अर्थात् बहुत जीवों का अहित हो, वैसा चिन्तवन करता है, वह नरक में जाता है। मिथ्या कुतर्क और कुयुक्ति करके असत् की स्थापना और सत् की निन्दा करना, नरक का कारण है। इसी प्रकार कृतघ्नी अर्थात् उपकार का लोप करनेवाला और तीव्र शोक परिणाम से तथा तीव्र आर्त-रौद्रध्यान करनेवाला जीव, मरकर नरक में जाता है। उस नरक में अत्यन्त तीव्र दुःख हैं। यहाँ उन दुःखों का वर्णन कर रहे हैं। ●●

गाथा ३५

अब, पाँच प्रकार के दु:खों को कहते हैं —

असुरोदीरिय-दुक्खं, सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं, अण्णोण्ण-कयं च पंचविहं॥

असुर देवों ने दिया, बहुभाँति तन, मन से हुआ।
क्षेत्र से उत्पन्न, आपस में परस्पर दु:ख दिया॥

अन्वयार्थ : नरक में [**असुरोदीरियदुक्खं**] (१) असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किया हुआ दु:ख, [**सारीरं माणसं**] (२) शरीर से उत्पन्न हुआ और (३) मन से हुआ, [**तहा विविहं खित्तुब्भवं**] (४) अनेक प्रकार क्षेत्र से उत्पन्न हुआ, [**च अण्णोण्णकयं पंचविहं**] और (५) परस्पर में किया हुआ — ऐसे पाँच प्रकार के दु:ख हैं।

भावार्थ : तीसरे नरक तक तो (१) असुरकुमारदेव कुतूहलमात्र जाते हैं, वे नारकियों को देखकर आपस में लड़ाते हैं, अनेक प्रकार से दु:खी करते हैं; (२) नारकियों का शरीर ही पाप के उदय से स्वयमेव अनेक रोगोंसहित, बुरा, घिनावना, दु:खमयी होता है; (३) उनका चित्त भी महाक्रूर दु:खरूप ही होता है; (४) नरक का क्षेत्र महाशीत, उष्ण, दुर्गन्ध और अनेक उपद्रवसहित होता है; (५) नारकी जीव आपस में बैर के संस्कार से छेदन, भेदन, मारन, ताड़न और कुम्भीपाक आदि करते हैं। वहाँ का दु:ख उपमारहित होता है।

गाथा ३५ पर प्रवचन

देखो! नीचे सात नरक हैं। जगत में तीव्र पापपरिणाम करनेवाले को, उसका फल भोगने का स्थान नीचे / नरक में है।

उन नरकों में असुरकुमारदेव जाकर नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं। यद्यपि यह संयोग तो परवस्तु है; संयोग कहीं दुःख का कारण नहीं है परन्तु वे जीव वीतरागी चैतन्य की भावना / जिनभावना / सम्यक्भावना को चूककर, तीव्र संक्लेशपरिणाम में पड़े होने से दुःखी हैं — ऐसा समझना।

उन नारकियों के शरीर स्वयमेव ही तीव्र पाप कर्मोदय से रोगी हैं तथा वे महाक्रूर परिणाम से एक-दूसरे को दुःख देते हैं। नरक में अत्यधिक सर्दी-गर्मी है।

अहो! मेरा चिदानन्दस्वरूप, सहज शीतल आनन्दकन्द है। उसकी भावना के बिना मैंने आज तक नरक के ऐसे दुःख अनन्त बार भोगे हैं। अब, मुझे निज चैतन्य की भावना से पुनः उन दुःखों को नहीं भोगना है। अहो! यहाँ की सर्दी-गर्मी की तो नरक में क्या गिनती है? वहाँ तो अनन्त सर्दी-गर्मी है। वहाँ की गर्मी से सुमेरुपर्वत के बराबर लोहे का गोला भी घी की तरह बह जाता है।

आत्मा, अनन्त शान्त अनाकुलस्वरूप है। जीव ने उसका अनादर करके तीव्र पाप किया, उसके फल में बाहर में ऐसी अनन्त प्रतिकूलता का संयोग प्राप्त होता है।

जिसने अनन्त शान्ति के पिण्डरूप आत्मस्वभाव का आदर नहीं किया है, उसने अनन्त विकार का आदर किया है। उसने स्वभाव की अनन्त शान्ति की प्राप्ति नहीं की, तो वहाँ बाह्य में अनन्त अशान्ति में निमित्तभूत संयोग प्राप्त होते हैं। देखो! नरक आयु का बन्ध मिथ्यादृष्टि को ही होता है। धर्मी का कदाचित् पूर्व में नरकायु बँध गयी हो और वह नरक में जाए, तो भी उसे अज्ञानी के समान तीव्र वेदना नहीं है।

देखो! नरक-स्वर्ग आदि सब शाश्वत् हैं। उन्हें नहीं माननेवाला नास्तिक है। स्वर्ग का स्थान, उसकी अनुकूल सामग्री और उसके कारणरूप पुण्य-परिणाम; तथा नरक का स्थान, उसकी प्रतिकूल सामग्री और उसके कारणरूप पाप-परिणाम, यह सब जगत में है। इनमें नरकायु तो अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि को ही बँधती है।

नरक में महादुर्गन्ध होती है तथा नारकी जीव, बैरभाव के संस्कार से परस्पर एक-दूसरे का छेदन-भेदन करते हैं, अग्नि में पकाते हैं।

प्रतिकूल संयोग की प्राप्ति तीव्र असाता के उदय से होती है और असाताकर्म, विभाव से बँधता है। वह विभाव, स्वभाव के अनादर से हुआ है। स्वभाव का भान करके, उसका आदर करनेवाले जीव को ऐसा तीव्र विभाव नहीं होता, न ऐसा तीव्र असाताकर्म बँधता है और न नरक का ऐसा संयोग होता है। नरक में उपमारहित दु:ख है।

देखो तो सही! जिसने निज अनुपम चैतन्य का अनादर किया, उसके दु:ख को भी अनुपम कहा है। जिसने आत्मा की अनन्त अनुपम शान्ति का अनादर किया है, वही जीव नरक के दु:ख का वेदन करता है और केवली ही उस दु:ख को जानते हैं; इसलिए नारकी का दु:ख भी अनुपम है। जीव यदि स्वभाव का भान करे तो स्वभाव की शान्ति अनुपम है और विपरीत चलनेवाले को नरक का दु:ख भी अनुपम है। — इस प्रकार विचार करके धर्मी जीव अपने संवेग अर्थात् वैराग्य को बढ़ाता है। ●●

छोटे से सिद्ध भगवान....

अहा! आठ वर्ष का छोटा-सा राजकुमार, जब दीक्षा लेकर मुनि हो, तब वैराग्य का वह अद्भुत दृश्य! आनन्द में लीनता!! **मानों छोटे-से सिद्ध भगवान ऊपर से उतरें हों! वाह रे वाह! धन्य यह मुनिदशा!**

जब वे छोटे से मुनिराज दो-तीन दिन में आहार के लिए निकलें, तब आनन्द में झूलते-झूलते धीरे-धीरे चले आ रहे हों और योग्य विधि का मेल मिलने पर आहार ग्रहण के लिए छोटे-छोटे हाथों को अञ्जलि जोड़कर खड़े हों। **अहा! वह दृश्य कैसा होगा!!**

बाद में वे आठ वर्ष के मुनिराज, आत्मा के ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके सिद्ध हो जाएँ – ऐसी आत्मा की शक्ति है। **वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरादि भगवान के पास आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों की दीक्षा के ऐसे प्रसङ्ग बनते रहते हैं।** *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, १८९, पृष्ठ ११६*

गाथा ३६

आगे इसी दु:ख को विशेषरूप से कहते हैं —

छिज्जइ तिलतिलमित्तं, भिंदिज्जइ तिल तिलंतरं सयलं।
वज्जग्गिए कढिज्जइ, णिहिप्पए पूयकुंडम्हि॥

तिल मात्र छेदन करें तन, पुनः छेदें खण्ड को।
वज्राग्नि में उसको पकाकर, फेंक देते कुण्ड में॥

अन्वयार्थ : (नरक में) **[तिलतिलमित्तं छिज्जइ]** तिलतिलमात्र छेद देते हैं, **[सयलं तिलतिल भिंदिज्जइ]** शकल अर्थात् खण्ड को भी तिलतिलमात्र भेद देते हैं, **[वज्जग्गिए कढिज्जइ]** वज्राग्नि में पकाते हैं **[पूयकुंडम्हि णिहिप्पए]** राध के कुण्ड में फेंक देते हैं।

गाथा ३६ पर प्रवचन

इस गाथा में फिर से नरक के दु:खों का विशेष वर्णन करते हैं। जैसे खोपरे को कसनी पर कसते है, इसी तरह नरक में नारकी जीव, शरीर के तिल-तिल के समान टुकड़े कर देते हैं। जिसने विपरीत श्रद्धा से अखण्ड चिदानन्दस्वभाव को खण्ड-खण्ड कर दिया है, उसे बाह्य में भी देह के खण्ड-खण्ड हो जाने योग्य संयोग प्राप्त होते हैं। नरक में उस नारकी को महावज्र अग्नि में पका देते हैं और रुधिर, पीव आदि के कुण्ड में फेंक देते हैं।

देखो! तीर्थङ्कर भी ऐसी भावना भाते हैं। यद्यपि उन्हें वर्तमान में इस प्रकार का संयोग नहीं होता, तथापि स्वयं उनका विचार करके अपने में वैराग्य की वृद्धि करते हैं। धर्मी जीव को नरक में दु:ख की बात सुनकर ऐसी पीड़ा नहीं होती कि अरे रे! अपने को ऐसे नरक में

जाना पड़ेगा। धर्मी तो निःशङ्क है कि अब हमारे भवभ्रमण का अन्त आ गया है; अब तो हम अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं। अब, हमें कभी ऐसे दुःख का संयोग होनेवाला नहीं है। यदि अपूर्णता रह जाए तो एक-दो भव स्वर्ग के हों परन्तु नारकी के भव अब होनेवाले नहीं हैं। जो चैतन्य की भावना भाता है, उसे नरक का भय नहीं होता है। ●●

आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत -निर्झर प्रवाहित किया है। **आचार्यदेव तो धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को जीवन्त कर रखा है... गजब का काम किया है!** साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीषहों को जीतकर, परम सत् को अक्षुण्णरूप से जीवन्त रखा है। **आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार गूँजती है –** ऐसे महान शास्त्रों की रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचनायें तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य का शङ्खनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महा भाग्य की बात है तथा उसकी समझ तो मुक्ति का वरण करने जाने के लिए श्रीफल समान है; जो समझे उसका तो मोक्ष ही होनेवाला है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, १००६, पृष्ठ ७७

गाथा ३७

नरक के दुःख वर्णनातीत हैं —

इच्चेवमाइ-दुक्खं, जं णरए सहदि एयसमयम्हि।
तं सयलं वण्णेदुं, ण सक्कदे सहस-जीहो वि॥

इत्यादि पूर्व कथित दुःखों को, सहे वह इक समय में।
इक सहस रसना से नहीं, वर्णन दुःखों का हो सके॥

अन्वयार्थ : [इच्चेवमाइ जं दुक्खं] इति अर्थात् ऐसे एवमादि अर्थात् पूर्व गाथा में कहे गये, उनको आदि लेकर जो दुःख, उनको **[णरए एयसमयम्हि सहदि]** नरक में एक समय में जीव सहता है, **[तं सयलं वण्णेदुं]** उन सबका वर्णन करने के लिए **[सहसजीहो वि ण सक्कदे]** हजार जीभवाला भी समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : इस गाथा में नरक के दुःख, वचन द्वारा अवर्णनीय हैं — ऐसा कहा है।

गाथा ३७ पर प्रवचन

अहो! स्वामीकार्तिकेय निर्ग्रन्थ सन्त थे, वन-जङ्गल मे विचरते थे। उन्होंने इन वैराग्य भावनाओं का वर्णन किया है। नयी-नयी वैराग्य भावनाएँ भाते हुए भव्य जीव को आनन्द आता है; इसलिए इन भावनाओं को आनन्दजननी कहा गया है। जो जीव, मिथ्यात्व और अज्ञान आदि भावों से मुक्त है, वही वस्तुतः मुक्त है। जीव को अनादि से ही मिथ्यात्व और राग-द्वेष की वासना बैठ गई है; इसलिए कहते हैं कि अरे जीव! उस गन्ध का परित्याग करके, निज अन्तरङ्ग चिदानन्दस्वरूप की गन्ध बिठा अर्थात् उसकी रुचि और वेदन कर / बारम्बार चैतन्य की भावना कर।

भावपाहुड गाथा ४२ में भी कहा है कि बाहर में घर-बार छोड़ देनेमात्र से कहीं मुक्त नहीं हुआ जाता परन्तु जो अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व और राग-द्वेष के भाव को छोड़ता है, वही वास्तव में मुक्त है। इस प्रकार विचार करके हे जीव! तू मिथ्यात्वादि भावों को गन्ध को छोड़! अर्थात् चैतन्यस्वभाव की भावना करके, इन मिथ्यात्वादि भावों को छोड़। बाहर में बाबा हो जानेमात्र से संसार मिटनेवाला नहीं है। अन्दर उतरकर चैतन्यस्वभाव का भान और उसी की भावना / एकाग्रता करने से संसार का अभाव होता है। ●●

णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं

जिस प्रकार व्यापारी लोग, दीपावली आदि के अच्छे मौसम में व्यापार की धूम मचाकर थोड़े ही समय में बहुत कमाई कर लेते हैं; उसी प्रकार धर्मात्मा जीव, धर्मसाधना के मौसमरूप चारित्रदशा में धर्म की धूम मचाकर महान मोक्ष का वैभव प्राप्त कर लेते हैं। **धर्मसाधना का मौसम ही साधुपद कहलाता है।** उसी के लिए बारह भावनाएँ हैं। धर्मीजीव भावना भाता है कि अहा! चारित्रदशा किसे अच्छी न लगेगी? **हम तो ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के दास हैं। उन्हें हम 'णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं' कहकर अत्यन्त बहुमान से नमस्कार करते हैं।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ५, पृष्ठ ११२

गाथा ३८

अब, कहते हैं कि नरक का क्षेत्र और नारकियों के परिणाम दुःखमयी ही हैं —

सव्वं पि होदि णरये, खित्तसहावेण दुक्खदं असुहं।
कुविदा वि सव्वकालं, अण्णोण्णं होंति णेरइया॥

है नरक क्षेत्र स्वभाव सब, कारण दुःखद अरु अशुभ हैं।
सब नारकी रहते सदा क्रोधित परस्पर दुःख सहें॥

अन्वयार्थ : [णरये खित्तसहावेण सव्वं पि दुक्खदं असुहं होदि] नरक में क्षेत्र स्वभाव से ही सब कारण दुःखदायक तथा अशुभ हैं। **[णेरइया सव्वकालं अण्णोण्णं कुविदा होंति]** नारकी जीव सदा काल परस्पर में क्रोधित होते रहते हैं।

भावार्थ : क्षेत्र तो [उपचार के] स्वभाव से दुःखरूप है [किन्तु तीव्र क्रोधादिवश नारकी जीव ही] आपस में क्रोधित होते हुए, वह उसको मारता है, वह उसको मारता है — इस तरह निरन्तर दुःखी ही रहते हैं।

गाथा ३८ पर प्रवचन

देखो! यहाँ नरक के क्षेत्र को दुःखदायक कहा है, वस्तुतः तो वह ज्ञेयरूप है परन्तु नरक का अज्ञानी जीव उसे ज्ञेयरूप न बनाकर, दुःख का निमित्त बनाता है। वह स्वयं अपने परिणाम में दुःख भोगता है; इसलिए निमित्त अपेक्षा के क्षेत्र को भी दुःखदायक कहा है। इस प्रकार उपादान-निमित्त की बात भी साथ ही साथ समझना चाहिए। ●●

गाथा ३९

नारकी जीव दीर्घकाल तक नरक में दुःख सहता है —

अण्ण-भवे जो सुयणो, सो वि य णरये हणेइ अइ-कुविदो।
एवं तिव्व-विवागं, बहु-कालं विसहदे दुःखं ॥

पूर्व भव का सुजन भी, हो नारकी क्रोधित हुआ।
घात करता इस तरह, चिरकाल तक बहु दुःख सहे॥

अन्वयार्थ : [अण्णभवे जो सुयणो] पूर्वभव में जो सज्जन कुटुम्ब का था, **[सो वि य णरये अइ-कुविदो हणेइ]** वह भी नरक में क्रोधित होकर घात करता है; **[एवं तिव्वविवागं दुःखं बहुकालं विसहदे]** इस प्रकार तीव्र है विपाक जिसका, ऐसा दुःख बहुत काल तक नारकी सहता है।

भावार्थ : (नारकी जीव) ऐसे दुःख कई सागरों तक सहता है, आयु पूरी हुए बिना वहाँ से निकलना नहीं होता है।

गाथा ३९ पर प्रवचन

देखो! दो भाई थे। उनमें से छोटा भाई बीमार हुआ तो उसके बड़े भाई ने उसे दवा के रूप में अण्डा का रस आदि खिलाया। वह मरकर नरक में गया और छोटा भाई मरकर परमाधामी हुआ। वह परमाधामी नरक में जाकर, अपने पूर्वभव के भाई को मारता था। उस समय वह कहता है — 'अरे मैंने तो तेरे लिए ही सब किया था और अब तू ही मुझे मारता है।' तब छोटा भाई कहता है — 'यह सब मुझे पता नहीं है। अरे भाई! तूने कहाँ उसके (मेरे) लिए कुछ किया था, तूने तो तेरे लिए ही उल्टे भाव किए थे, उसका फल तू भोग।'

पूर्वभव में स्त्री के लिए पाप किए हों और नरक में जाए, वहाँ उस स्त्री का आत्मा ही परमाधामी होकर उसे मारता है — ऐसा संसार में अनन्त बार बनता है। सगी माता, परमाधामी होकर पुत्र को मारती है। जीव को आत्मा के भान बिना ऐसे-ऐसे प्रसङ्ग अनन्त बार आ गए हैं। इसलिए ऐसे अनन्त अवतारों के अभाव का उपाय सच्चा ज्ञान करना ही है। जगत में जीव को संसार के दु:खों से बचानेवाला एक सम्यग्ज्ञान ही है।

नारकी जीव, सातवें नरक में तैंतीस सागरोपम तक दु:ख भोगता है। एक सागरोपम में तो असंख्य अरबों वर्ष होते हैं। वह आयु पूर्ण हुए बिना जीव वहाँ से निकल नहीं सकता। नरक को कम से कम आयु दश हजार वर्ष की है।

इस प्रकार नरकगति के दु:ख को वर्णन हुआ। ●●

मुनिराज की परिणति में वैराग्य का ज्वार

जैसे पूर्णमासी के दिन पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार **मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है; वैराग्य का ज्वार आता है, आनन्द का ज्वार आता है, सर्व गुण-पर्याय का यथासम्भव ज्वार आता है।** यह ज्वार बाहर से नहीं, भीतर से आता है। पूर्ण चैतन्यचन्द्र को स्थिरतापूर्वक निहारने पर अन्दर से चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है; सब कुछ उछलता है। **धन्य है वह मुनिदशा।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ४०३, पृष्ठ ११३

गाथा ४०-४१

अब, तिर्यञ्चगति सम्बन्धी दुःखों को साढ़े चार गाथाओं में कहते हैं —

तत्तो णीसरिदूणं, जायदि तिरएसु बहुवियप्पेसु।
तत्थ वि पावदि दुःखं, गब्भे वि य छेयणादीयं॥
तिरिएहिंखज्जमाणो, दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो वि।
सव्वत्थ वि संतट्ठो, भय-दुक्खं विसहदे भीमं॥

निकले वहाँ से विविध भाँति, तिर्यञ्च में उत्पन्न हो।
सम्मूर्च्छन गर्भज हुआ, बहु छेदनादिक दुःख सहे॥
व्याघ्रादि से खाया गया, मारा गया नर क्रूर से।
सन्तप्त होता सब जगह, भयभीत हो अति दुःख सहे॥

अन्वयार्थ : यह जीव [**तत्तो णीसरिदूणं**] उस नरक से निकलकर [**बहुवियप्पेसु तिरएसु जायदि**] अनेक भेदवाले तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है, [**तत्थ वि गब्भे दुःखं पावदि**] वहाँ भी गर्भ में दुःख पाता है। [**वि ये छेयणादीयं**] अपि शब्द से सम्मूर्च्छन होकर छेदनादि का दुःख पाता है।

(उस तिर्यञ्चगति में यह जीव)[**तिरिएहिंखज्जमाणो**] सिंह-व्याघ्रादिक से खाये जाने का [**वि दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो**] तथा दुष्ट मनुष्य, म्लेच्छ, व्याघ्र, धीवरादिक से मारा जाता है। [**सव्वत्थ वि संतट्ठो**] सब जगह दुःखी होता हुआ [**भीमं भयदुक्खं विसहदे**] रौद्र भयानक दुःख को विशेषरूप से सहता है।

गाथा ४०-४१ पर प्रवचन

अब, तिर्यञ्चगति के दुःखों का वर्णन करते हैं।

यह जीव, तिर्यञ्चगति में हिरण हुआ हो और सिंह आकर, झपट्टा मारकर खा जाता है। यदि सिंह-बाघ हुआ हो तो शिकारी गोली मार देता है — इस प्रकार यह जीव तिर्यञ्चगति में रौद्र/भयङ्कर दुःख भोगता है। यह जीव चैतन्यसत्ता के भान बिना ऐसे दुःख भोगता है। जिन जीवों को चैतन्यबुद्धि नहीं है, देहबुद्धि है, वे जीव अनन्त बार ऐसे दुःख भोगते हैं। धर्मी को तो चैतन्य के आनन्द का भान है। वह चैतन्य के भानसहित ऐसी भावना भाता है।

●●

हम भी उस ही पन्थ के पथिक

अहो! धन्य यह मुनिदशा!! मुनिराज फरमाते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इस संसार के भोग हेतु अवतरित नहीं हुए हैं। अब हम अपने आत्मस्वभाव में प्रवृत्त होते हैं। अब हमारे स्वरूप में विशेष लीन होने का अवसर आया है। अन्तर आनन्दकन्दस्वभाव की श्रद्धासहित उसमें रमणता हेतु जागृत हुए हमारे भाव में अब भङ्ग नहीं पड़ना है। अनन्त तीर्थङ्करों ने जिस पन्थ में विचरण किया, हम भी उस ही पन्थ के पथिक हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ७५, पृष्ठ ४

गाथा ४२-४३

ऐसी दशा में कौन रक्षा करे ? —

अण्णोण्णं खज्जंता, तिरियां पावंति दारुणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि, अण्णो को तत्थ रक्खेदि॥
तिव्व-तिसाए तिसिदो, तिव्व-विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो।
तिव्वं पावदि दुक्खं, उयर-हुयासेण डज्झंतो॥

भक्षण करें वे परस्पर, अति तीव्र दारूण दुःख लहें।
जननी करे भक्षण जहाँ, फिर अन्य क्या रक्षा करे॥
अति प्यास से प्यासा तथा, अति भूख से भूखा रहे।
उदराग्नि से जलता हुआ, अति तीव्र दारूण दुःख सहे।॥

अन्वयार्थ : (जिस तिर्यञ्चगति में) **[तिरियां अण्णोण्णं खज्जंता]** यह तिर्यञ्च (जीव) परस्पर में खाये जाने का **[दारुणं दुक्खं पावंति]** उत्कृष्ट दुःख पाता है। **[जत्थ माया वि भक्खदि]** जहाँ जिसके गर्भ में उत्पन्न हुआ — वही माता भी भक्षण कर जाती है, **[तत्थ अण्णो को रक्खेदि]** वहाँ दूसरा कौन रक्षा करे ?

(उस तिर्यञ्चगति में यह जीव) **[तिव्वतिसाए तिसिदो]** तीव्र प्यास से प्यासा, **[तिव्वविभुक्खाइ भुक्खिदो संतो]** तीव्र भूख से भूखा होता हुआ **[उयर-हुयासेण डज्झंतो]** उदराग्नि से जलता हुआ **[तिव्वं दुक्खं पावदि]** तीव्र दुःख पाता है।

गाथा ४२-४३ पर प्रवचन

इस तिर्यञ्चगति में बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती हैं। बलवान प्राणी, निर्बल को खा जाते हैं। अरे! माता अपने ही बच्चों को खा जाती है। सर्पिणी और कुत्ती अपने ही बच्चों को खा जाती है। यह संसार ऐसा है! अहो! जहाँ माता ही पुत्र का भक्षण करती हो, वहाँ रक्षा करनेवाला कौन है? अन्दर चैतन्य का भान ही ऐसे अवतारों से बचानेवाला है।

आत्मा अनादि-अनन्त है, वह पूर्व में कहाँ रहा? यदि मोक्ष प्राप्त किया होता, तब तो अवतार नहीं होता। इस कारण जीव ने अनादिकाल ऐसे अवतारों में ही व्यतीत किया है। यदि अन्दर में स्वतत्त्व की सम्भाल करे तो संसार का अन्त हुए बिना नहीं रहे। ●●

बाघ-सिंह तो हमारे मित्र हैं

'जहाँ सिंह और बाघ गरजते हुए विचरण करते हों - ऐसे जङ्गल में मैं अकेले आत्मस्वरूप का ध्यान करूँगा... सिंह और बाघ शरीर को खा जाएँगे तो भी उसका विकल्प न हो और मैं निर्भय होकर अडोल आसन में बैठकर स्वरूप का ध्यान करूँगा। अरे! मैं तो चैतन्यगुफा में विश्रान्त अरूपी आनन्दकन्द भगवान आत्मा हूँ... मुझे कौन खाएगा? यदि बाघ आकर शरीर को खा जाएँ तो भी हमें शरीर से ममत्व नहीं है; हम तो उसे छोड़ना ही चाहते हैं और उसे वह ले जा रहा है... इस प्रकार वह तो हमारा मित्र ही है।'

— यह मुनियों की वीतरागता समझाने के लिए किया गया कथन है, लेकिन मुनियों को ध्यान में ऐसे विकल्प नहीं होते, उन्हें तो चैतन्य की लीनता में देह -सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३४*

गाथा ४४

अब, तिर्यञ्चगति के दुःखों के कथन का सङ्कोच/उपसंहार करते हैं —

एवं बहुप्पयारं, दुक्खं विसहेदि तिरियजोणीसु।
तत्तो णीसरदूणं, लद्धि-अपुण्णो णरो होदि॥

पूर्वोक्त विविध प्रकार के, दुःख सहे तिर्यक् योनि में।
उस योनि को तज कर हुआ, लब्धि अपर्याप्तक मनुज॥

अन्वयार्थ : [एवं] ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार), **[तिरियजोणीसु]** तिर्यञ्च योनि में (जीव) **[बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि]** अनेक प्रकार के दुःख सहता है। **[तत्तो णीसरदूणं]** उस तिर्यञ्चगति से निकलकर **[लद्धिअपुण्णो णरो होदि]** लब्धि –अपर्याप्त (जहाँ पर्याप्ति पूरी ही नहीं होती) मनुष्य होता है।

गाथा ४४ पर प्रवचन

इस प्रकार यह जीव, तिर्यञ्चगति में अनेक प्रकार से दुःख प्राप्त करता है, उन्हें सहन करता है। उस तिर्यञ्चगति में से निकलकर कदाचित् मनुष्य होता है, तो कैसा होता है? लब्धि अपर्याप्त होता है अर्थात् जहाँ पर्याप्ति पूर्ण ही नहीं होती।

एकेन्द्रिय जीव को भी अन्दर अनन्त दुःख है। पत्ता पानी में पड़ा हो, तब भी उसे अनन्त दुःख है। ऐसी तिर्यञ्चगति में से निकलकर कोई जीव तो अपर्याप्तरूप से मनुष्यगति में उत्पन्न होते हैं। वहाँ गर्भ में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। मनुष्यगति में भी कैसे–कैसे दुःख हैं – यह वर्णन आगे करेंगे।

संयोगरहित निज ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक, ज्ञानी प्रतिक्षण ऐसी भावना भाकर वैराग्य की वृद्धि करता है; इसलिए उसको शुद्धता बढ़ने से निर्जरा होती है। ●●

गाथा ४५

अब, मनुष्यगति के दुःख बारह गाथाओं में कहते हैं। उनमें प्रथम ही गर्भ में उत्पन्न होने की अवस्था बतलाते हैं।

अह गब्भे वि य जायदि, तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो।
विसहदि तिव्वं दुक्खं, णिग्गममाणो वि जोणीदो॥

गर्भ मे सिकुड़े हुए सब, अङ्ग और प्रत्यङ्ग हैं।
बाहर योनि से निकलते, समय अतिशय दुःख सहे॥

अन्वयार्थ : [अह गब्भे वि य जायदि] अथवा गर्भ में भी उत्पन्न होता है तो **[तित्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो]** वहाँ भी सिकुड़ रहे हैं हाथ, पैर आदि अङ्ग तथा उँगली आदि प्रत्यङ्ग जिसके, ऐसा होता हुआ तथा **[जोणिदो णिग्गममाणो वि]** योनि से निकलते समय भी **[तिव्वं दुक्खं विसहदि]** तीव्र दुःख को सहता है।

गाथा ४५ पर प्रवचन

अब, मनुष्यगति के दुःखों का बारह गाथाओं में वर्णन करते हैं। वहाँ सर्व प्रथम गर्भावस्था का वर्णन करते हैं।

यह वैराग्य भावनाओं का वर्णन है। भावना, चारित्रगुण की पर्याय है। आत्मा का स्वभाव, शुद्ध चैतन्य निर्मल है; पुण्य-पाप आत्मा का स्वरूप नहीं है। देहादि का संयोग -वियोग तो पर है — ऐसा भान करके, विकार और संयोग की भावना छोड़नेवाले जीव को अन्तर-एकाग्रता से शुद्धता वृद्धिगत होती जाती है, उसका यह वर्णन है।

जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसे ही यह भावना होती है और सम्यग्दर्शन उसे होता है

कि जिसे देहादिक के संयोग से रहित और पुण्य-पाप से भी रहित चिदानन्दस्वरूप का भान हो — ऐसे भानसहित स्वरूप में एकाग्रता की श्रेणी चलना भावना है।

चिदानन्दस्वरूप का भान होकर, उसमें ज्ञान की बारम्बार एकाग्रता होना, भावना है। जिसने वस्तु को नहीं देखा है, वह उसकी भावना किस प्रकार करेगा? जैसे भोगभूमि में जुगलियों को कल्पवृक्ष होते हैं। वहाँ वे कल्पवृक्ष के फल इत्यादि का चिन्तवन करते हैं और उन्हें वे मिलते हैं परन्तु वहाँ वे यहाँ के दूधपाक, भुजिया इत्यादि की भावना नहीं भाते; इसी प्रकार जिसने चैतन्य-चिन्तामणि आत्मा का भान किया हो, वही उसकी भावना करता है परन्तु जिसने आत्मा को नहीं जाना, देह के संयोग से रहित चिदानन्द तत्त्व को जिसने नहीं भाया / नहीं देखा, वह किसकी भावना करेगा? वह तो संयोग और विकार की भावना भाता है और संसार में भटकता है; इसलिए कहा जाता है कि जिसने चैतन्य- चिन्तामणि आत्मद्रव्य को पहिचाना हो, वही उसकी यथार्थ भावना भाता है।

ज्ञानी, पुण्य-पाप को बन्धन समझता है और अन्दर में जिस चिदानन्द ध्रुवस्वभाव को जाना है, अनुभव किया है, उसी की भावना करता है। उस धर्मी की भावनाओं का यह वर्णन है। इस भावना से धर्मी को पर्याय में प्रतिक्षण वीतरागता और आनन्द बढ़ता जाता है, इस कारण ये भावनाएँ भव्य जीव को आनन्द की जननी है।

पूर्व में अध्रुव और अशरणभावना का वर्णन किया जा चुका है। अब, इस तीसरी संसार -भावना का वर्णन चल रहा है। अहो! चिदानन्द ध्रुवतत्त्व तो मुझ आत्मा है, वही मुझे शरण है। इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप अथवा देहादिक का संयोग तो सब अध्रुव है। वह कोई मुझे शरणभूत नहीं है, शरणभूत तो शुद्धरत्नत्रय ही है — ऐसा धर्मी जानता है।

यह जीव, मिथ्यात्व और राग-द्वेषादिभावों के वश होकर चार गति में परिभ्रमण करता है, उसका नाम संसार है। संसार की चारों ही गतियों में दुःख है, उसका यह वर्णन चल रहा है। उसमें यहाँ मनुष्यगति के दुःखों का वर्णन चल रहा है।

अहो! मेरा आत्मा अनन्त आनन्द का सागर है। उस आनन्द की समीपता छोड़कर, पर में आनन्द मानकर, जीव अनादि से संसार में दुःखी हो रहा है। ●●

गाथा ४६

फिर कैसा होता है ?, सो कहते हैं —

बालोपि पियरचत्तो, परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो।
एवं जायण-सीलो, गमेदि कालं महादुक्खं॥

बालपन में ही मरे, माता-पिता तो दुःख सहे।
भीख माँगे और जूठन, से उदर पूर्ति करे॥

अन्वयार्थ : [बालोपि पियरचत्तो, परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो] (गर्भ से निकलने के बाद में) बाल अवस्था में ही माता-पिता मर जाएँ, तब दूसरों की झूठन से बड़ा हुआ, **[एवं जायण-सीलो, महादुक्खं कालं गमेदि]** इस तरह भीख माँग-माँगकर उदरपूर्ति करके महा-दुःखी होता हुआ काल बिताता है।

गाथा ४६ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, अपने स्वभाव की दृष्टिपूर्वक की भूमिका में ऐसा विचार करता है कि अहो! संसार परिभ्रमण में जीव कभी मनुष्यपना प्राप्त करता है तो बहुत से जीव तो गर्भावस्था में ही मर जाते हैं। गर्भ से जन्मने पर, किसी के माता-पिता तो बाल्यावस्था में ही मर जाते हैं, तब वह दूसरे के आधीन होकर झूठन खाकर पेट भरता है।

जो जीव चिदानन्दस्वभाव की भावना नहीं करता, उसे ऐसा दुःख सहन करना पड़ता है। यह संयोग का कथन तो निमित्त अपेक्षा से है। वस्तुतः तो अन्दर जीव को उस जाति की दीनता का भाव ही दुःख है। आत्मा, चिदानन्द से भरा है। उसका भान और महिमा जाने बिना, जीव, दीन-हीन होकर जीवन पूरा करता है।

किसी से पास धन का ढेर हो तो वह भी ममत्वभाव से दु:खी ही है। चैतन्य भगवान परिपूर्ण स्वभाव से भरा है, उसकी दृष्टि न करके बाहर का याचक होता है। धर्मी तो कहता है कि मैं तो अपने स्वभाव की दृष्टि से पूर्णता को साधूँगा। अब हमें ये अवतार नहीं करना है।

●●

साक्षात् मोक्षतत्त्व! त्रिलोक के मुकुटमणि!!

जो श्रमण त्रिलोक के मुकुटमणि समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाश द्वारा, यथास्थित पदार्थ के निश्चय द्वारा, उत्सुकता छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, आनन्द की धारा में मस्त हो गये हैं, उपशमरस के साँचे में ढल गये हैं और उसमें से बाहर आने के लिए निरुद्यमी हो गये हैं; वन में बाघ, सिंह और भेड़िये चिंघाड़ते हों, तथापि निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस का / अतीन्द्रिय आनन्द का पान करते हैं-चूसते हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, उन श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं। अभी है तो साधकदशा, तथापि स्वरूप में ही अभिमुखरूप से वर्तते श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

अहाहा! पञ्चमकाल के सन्त मुनि, पञ्चमकाल के श्रोता से यह कहते हैं। स्वरूप में वर्तते सन्त को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहा है, क्योंकि उन्हें अल्पकाल में मोक्ष होना है, इसलिए उस अल्पकाल को गौण करके साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ४८४

गाथा ४७

अब, कहते हैं कि यह पाप का फल है —

पावेण जणो एसो, दुक्कम्म-वसेन जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पावं, ण य पुण्णं को वि अज्जेदि॥

पाप के ही उदय से, दुष्कर्म वश ये दुःख सहे।
पुनः पापहि करे, नहिं शुभ करे, यह अज्ञान है॥

अन्वयार्थ : [एसो सव्वो जणो पावेण दुक्कम्म-वसेन जायदे] यह लौकिकजन सब ही पाप के उदय से असातावेदनीय, नीचगोत्र, अशुभनाम, आयु आदि दुष्कर्म के वश से ऐसे दुःख सहता है **[पुणरवि पावं करेदि]** तो भी फिर पाप ही करता है; **[ण य पुण्णं को वि अज्जेदि]** पूजा, दान, व्रत, तप, ध्यानादि लक्षण पुण्य को पैदा नहीं करता है, यह बड़ा अज्ञान है।

गाथा ४७ पर प्रवचन

देखो, धर्मी जीव अपने वैराग्य की वृद्धि के लिए विचार करता है कि अरे रे! जगत् के बहुत जीव तो पूर्व के पाप से वर्तमान में तो दुःखी हो ही रहे हैं और फिर से वर्तमान में भी नवीन पाप को ही बाँधते हैं परन्तु जिनेन्द्रदेव की पूजादि का शुभभाव नहीं करते। देखो! धर्मी विचारता है कि अरे! जगत् के जीवों को पुण्य-पापरहित चैतन्य का भान तो अत्यन्त दुर्लभ हैं परन्तु भक्ति, पूजा, व्रतादि के शुभभाव भी वे नहीं करते और अकेले पाप में ही पड़े हुए हैं — यह महा-अज्ञान है।

कोई धर्मात्मा जीव है तो उसके घर में जन्मनेवाले पुत्र की आयु लम्बी ही हो — ऐसा

नियम नहीं है। धर्मी के यहाँ भी कोई जीव अल्पायुसहित आ सकता है और छोटी उम्र में ही मर सकता है। परदेश में किसी पुत्र मर गया, यह सुनकर वह कहने लगा कि मैं धर्मी हूँ, इसलिए मेरा पुत्र नहीं मर सकता — यह सुनकर कोई अज्ञानी कहता है कि देखो, इसे धर्म की कैसी दृढ़ता है ? परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि वह मूढ़ है। धर्मी के धर्म के साथ पुत्र की आयु का कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई महा-अधर्मी होने पर भी उसके यहाँ दीर्घायुवाला पुत्र हो सकता है और धर्मात्मा के भी अल्पायु लेकर आनेवाला पुत्र मर भी जाता है। अरे ! धर्मी स्वयं भी अल्पायु हो तो छोटी उम्र में देह का परित्याग करके, एकावतारी होकर चला जाता है; इसलिए बाह्य संयोग के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है। पुण्योदय हो तो बाह्य संयोग रहता है और पुण्योदय न हो तो बाह्य संयोग चला जाता है।

आयु के साथ धर्म का क्या सम्बन्ध है ? धर्मी तो कहता है कि मेरी आयु है ही नहीं; मैं तो अनादि-अनन्त आत्मा हूँ। धर्मी जीव ऐसे भानसहित वैराग्य भावनाएँ भाता है।

अज्ञानी जीव, मनुष्यभव पाकर पुण्य भी नहीं करता तो उसे धर्म तो होगा ही कैसे ? जगत् के जीवों को तो सर्वज्ञ-परमात्मा की भक्ति-पूजादि का शुभभाव भी दुर्लभ है। जगत् के जीव तो पाप छोड़कर पुण्य भी नहीं करते तो उन्हें चैतन्यस्वभाव का भान करके, धर्म तो होगा ही कैसे ?

देखो, यहाँ पूजा-दान-व्रतादि की बात की है परन्तु वह धर्म नहीं है; वह तो शुभभाव है। यहाँ तो यह बतलाना है कि जो जीव, अकेले विषय-कषाय के पापभाव में ही मग्न हैं, मन्द-कषाय का भी जिन्हें ठिकाना नहीं है, ऐसे जीव चैतन्य की भावना तो करेंगे ही कैसे ?

पूजा-दान-व्रत और तप — इन सबको यहाँ पुण्य का लक्षण कहा है। तात्पर्य यह है कि इन पूजादि के शुभभाव से पुण्य बँधता है। ऐसे पुण्यभाववाले जीव भी जगत में थोड़े हैं। यहाँ पूजादि की बात की है, वह शुभभाव है।

वस्तुतः तो चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करके, उपयोग को अन्तरोन्मुख करके उससे आत्मा की पूजन करना, धर्म है। दान अर्थात् चैतन्यस्वभाव का भान करके, उसे वीतरागी पर्याय का दान करना, दान है। इसका आशय यह है कि स्वयं ने स्वयं को दान दिया।

व्रत अर्थात् पुण्य-पाप की वृत्ति छोड़कर, चैतन्यस्वरूप में स्थिर हो जाना — एकाग्र हो जाना, व्रत है।

तप अर्थात् जिसमें चैतन्य ज्योति प्रज्ज्वलित हो — ऐसी चैतन्य की एकाग्रता, सो तप है और निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता की धुन से चैतन्य में उपयोग जम जाना, ध्यान है। ऐसे पूजा-व्रत-तप-दान और ध्यान, धर्म हैं। अज्ञानी को यह धर्म तो नहीं है परन्तु शुभभावरूप पूजादि भी जगत के जीवों को दुर्लभ है। ●●

वैराग्य महल के शिखर के शिखामणि

मुनिराज का वैराग्य तो कोई और ही होता है। '**मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं।**' वैराग्य का महल, उसका शिखर और उसके शिखामणि। अहाहा! अन्तर में वैराग्य एवं आनन्द की कैसी दशा!

नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि मुनिराज अर्थात् स्ववश योगी को भूमिकानुसार किञ्चित् राग का मन्द अंश है, तथापि सर्वज्ञ-वीतराग में और उन स्ववश योगियों में कुछ भी भेद नहीं है; अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं। सच्चे भावलिङ्गी सन्त की यह बात है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग तो अनन्तबार धारण किया, नग्न हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ीं – वह कोई वैराग्य नहीं है, वह कोई त्याग नहीं है।

भीतर पूर्णानन्दस्वभाव में जाने पर वहाँ स्वरूप की आसक्ति (लीनता) होती है और राग की आसक्ति छूट जाती है – ऐसा ज्ञान एवं वैराग्य ज्ञानी के अन्तर में वर्तता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

गाथा ४८

इस प्रकार इस गाथा में साधारण पुण्य की चर्चा की है। अब, आगामी गाथा में धर्मी के पुण्य की चर्चा करते हैं।

विरलो अज्जदि पुण्णं, सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो।
उवसमभावे सहियो, णिंदणगरहाहि संजुत्तो॥

कोई विरला शुभ करे, सम्यक्त्व एवं व्रत सहित।
दोष की निन्दा तथा, गर्हा करे उपशम सहित॥

अन्वयार्थ : [सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो] सम्यग्दृष्टि अर्थात् यथार्थ श्रद्धावान् और मुनि-श्रावक के व्रतों से संयुक्त; **[उवसमभावे सहियो]** उपशमभाव अर्थात् मन्द कषायरूप परिणामसहित, **[णिंदणगरहाहि संजुत्तो]** निन्दन अर्थात् अपने दोष याद कर पश्चाताप करना; गर्हण अर्थात् अपने दोष गुरु के पास जाकर प्रकट करना — इन दोनों से युक्त **[विरलो पुण्णं अज्जदि]** विरला ही ऐसा जीव है, जो पुण्य प्रकृतियों का (स्वभाव के भानपूर्वक) बन्ध करता है।

गाथा ४८ पर प्रवचन

जिसे आत्मा का भान हुआ है, पुण्य-पाप से रहित चैतन्य की वीतरागी दृष्टि प्रगट हुई है, उस जीव को अहिंसादि के शुभभाव से पुण्य उत्पन्न होता है और अन्दर में विद्यमान यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान धर्म है। यहाँ तो यह कहना है कि संसार में परिभ्रमण करते हुए जगत के जीवों को मनुष्यपना दुर्लभ है और उसमें भी बहुत से अज्ञानी जीव तो पाप में ही डूबे हुए हैं। चैतन्य की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानवाले जीव तो अत्यन्त विरले होते हैं।

जिन्हें चैतन्य की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान हो, मुनि अथवा श्रावक के व्रत हों, मन्द कषायरूप उपशमभाव हो — ऐसे जीव बहुत विरले होते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही यथार्थ निन्दा-गर्हणा होते हैं। धर्मी जीव को कभी अशुभभाव आ जाए तो वह अपनी आत्मा की ऐसे निन्दा करता है कि अरे आत्मा! ऐसा अवसर प्राप्त होने पर भी तुझे ऐसे परिणाम! यद्यपि उसे अन्दर में निर्दोष परमात्मस्वरूप का भान तो है, उस भानसहित वह विचार करता है कि अरे! मनुष्यभव का अल्पकाल! उसमें ऐसे परिणाम आ जाते हैं!! — ऐसा विचार करने में शुभपरिणाम है, वह शुभपरिणाम तो पुण्यबन्ध का कारण है और उस समय स्वभाव के आश्रय से जितना राग का अभाव है, वह धर्म है। धर्मी को आत्मा का भान होने पर भी अभी विशेष वीतरागभाव की शक्ति प्रगट नहीं हुई है। धर्मी, अपनी शक्ति देखकर व्रत-तप करता है; हठ से अथवा किसी की देखादेखी नहीं करता। एक बार तो वर्षी तप करे और दूसरे वर्ष पूरे वर्ष में एक दिन भी उपवासदि को याद नहीं करे — यह तो हठ है। धर्मी तो अन्तरङ्ग परिणामों को शक्ति देखकर, शक्ति अनुसार व्रत-तप करता है।

यदि धर्मी को अपने परिणाम में अशुभभाव हो जाए तो वह वैराग्यपूर्वक विचार करता है — अरे आत्मा! अरे वीर! ऐसे अवसर में भी ऐसे परिणाम। अशुभपरिणाम आ जाना खेदजनक है। ऐसा आत्मनिन्दा का भाव तथा गुरु के पास जाकर विनयपूर्वक अपने दोष को कहना और दोष को छोड़ना — ऐसा शुभभाव भी पुण्य है। उस समय स्वभाव की दृष्टिपूर्वक अन्तर में जितनी शुद्धता बढ़ती है, वह निर्जरा और धर्म है।

यहाँ संसारभावना भाते हुए धर्मी विचारता है कि जगत के जीवों को अन्तरस्वरूप के भानपूर्वक ऐसे परिणाम दुर्लभ हैं अर्थात् ऐसे जीव विरले ही हैं।

जगत में चैतन्य के भान बिना पुण्य करनेवाले जीव तो बहुत हैं परन्तु चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक, ऐसे वैराग्यपरिणाम होनेवाले जीव तो जगत में विरले ही हैं। सम्यग्दृष्टि को आत्मा का भान हुआ है परन्तु अभी परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई है — इस कारण वह अपनी भूमिका का विवेक करता है और ऐसी भावना करके अपने पुरुषार्थ को बढ़ाता है। ●●

गाथा ४९

अब, कहते हैं कि पुण्यवान के भी इष्ट वियोगादि देखे जाते हैं —

पुण्णजुदस्स वि दीसइ, इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो, परिज्जिओ लहुय-भायेण॥

इष्ट से बिछुड़े अनिष्ट, संयोग हो शुभवन्त हो।
अभिमान युत चक्री भरत भी, पराजित हुआ अनुज से॥

अन्वयार्थ : [पुण्णजुदस्स वि इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं दीसइ] पुण्य उदय सहित पुरुष के भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग देखा जाता है। **[साहिमाणो भरहो वि लहुयभायेण परिज्जिओ]** अभिमानसहित भरत चक्रवर्ती भी, छोटे भाई बाहुबली से पराजित हुआ।

भावार्थ : कोई समझता होगा कि जिनके बड़ा पुण्य का उदय है, उनके तो सुख है; सो संसार में तो सुख किसी के भी नहीं है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी अपमानादि से दुःखी ही हुए तो औरों की क्या बात?

गाथा ४९ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि संसार में पुण्यवन्त पुरुषों को भी इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग होता है।

देखो! भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के स्वामी थे, उनके ६४००० सर्वाङ्ग सुन्दर पुत्र थे। एक बार जयकुमार की दीक्षा के समाचार सुनते ही वैराग्य पाकर सौ पुत्र भगवान के समवसरण में दीक्षा लेने जाते हैं। उनका रूप देखकर इन्द्र को भी आश्चर्य होता है कि अरे! यह कौन हैं?

मनुष्य हैं या देव ? — ऐसा अद्‌भुतरूप तो भरत चक्रवर्ती के पुत्रों का था। वे पुण्यवन्त भरत चक्रवर्ती भी अपने छोटे भाई बाहुबली से पराजित होकर अपमानित हुए। देखो, भरत और बाहुबली दोनों चरमशरीरी हैं। उनमें भरत चक्रवर्ती जैसे पुण्यवन्त, इन्द्र भी जिनके मित्र, गङ्गा- सिन्धु जैसी देवियाँ जिनकी बहिन होने आवें — ऐसे पुण्यवन्त भरत चक्रवर्ती भी बाहुबली से पराजित हो गए। तात्पर्य यह है कि संसार में बड़े-बड़े मानधाताओं के भी अपमान आदि का प्रसङ्ग आता है; इसलिए संसार में जीव को पुण्य भी शरणभूत नहीं है। अतः पुण्य और पाप के फल की भावना छोड़ने और ध्रुव चैतन्य की भावना करने के लिए यह उपदेश है।

मूढ़ जीव तो जरा सी प्रतिकूलता आने पर अपमान मानकर उदास हो जाता है। धर्मी तो कहता है कि संसार में महापुण्यवन्तों को भी अपमान आदि के प्रसङ्ग आते हैं। ऐसा जानकर धर्मी तो चैतन्यस्वभाव की भावना करके, वीतरागता को बढ़ाता है — यही धर्म है।

आत्मा का वास्तविक स्वभाव ज्ञान-आनन्द है। उस स्वभाव में संसार नहीं है, ऐसे स्वभाव का भान करने से धर्म होता है। धर्मी जीव, स्वभाव के भानपूर्वक संसार के स्वरूप का इस प्रकार विचार करता है — अहा! चैतन्यस्वरूप शान्त सुखरूप है; इसके अतिरिक्त संसार में कोई सुखरूप नहीं है। संसार तो विकार है, वह दुःखरूप है। आत्मा के स्वभाव में पूर्णता है परन्तु पुण्य के संयोग में पूर्णता नहीं होती। तीर्थङ्करपद में पूर्ण पुण्योदय होता है परन्तु वहाँ तो केवलज्ञान हो गया है; इसलिए संयोग के प्रति लक्ष्य ही नहीं है। अपूर्णदशावन्त संसारी जीवों को पुण्य के संयोग में पूर्णता नहीं होती। धर्मी को दृष्टि का विषय परिपूर्ण चैतन्य है और उसमें स्थिरता होने से ज्ञानादि की पूर्णता प्रगट होती है परन्तु किसी को संयोगों में इच्छानुसार पूर्णता नहीं होती।

स्वभाव परिपूर्ण है, उसमें संसार नहीं है। संसार में कहीं संयोग की पूर्णता नहीं होती; इसलिए धर्मी जीव, पूर्णस्वभावी आत्मा को दृष्टि में लेकर, उसी की भावना करता है।

पुण्य का फल मिलता है परन्तु उसमें परिपूर्णता नहीं होती। छद्मस्थदशा में तीर्थङ्कर प्रकृति नहीं फलती; तीर्थङ्कर प्रकृति का फल केवलज्ञान होने के बाद ही आता है परन्तु वहाँ किसी बाह्य संयोग को भोगने का लक्ष्य नहीं है, वहाँ तो अपने आनन्द से पूर्णता का ही भोग

है। निचलीदशा में संयोग के भोगने के प्रति जिसका लक्ष्य है, उसे पुण्य का संयोग पूरा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि संसार में कोई प्राणी सुखी नहीं है।

कोई जाने कि 'जिसे महापुण्य का उदय है, उसे तो सुख है' परन्तु वास्तविकता यह है कि संसार में तो किसी को सुख नहीं होता। जब भरत चक्रवर्ती जैसे भी अपमानादि से दुःखी हुए, तब अन्य की तो बात ही क्या करना? इस प्रकार संयोग में सुख तो नहीं है, संयोग में पूर्णता भी नहीं है। धर्मी जीव, संयोग में सुख नहीं मानते; इसलिए उन्हें संयोग की भावना नहीं होती। धर्मी तो अखण्डस्वभाव की ही भावना भाते हैं, वे संसार में सुख नहीं मानते।

चिदानन्द आत्मा अखण्ड ज्ञानमूर्ति है, वीतरागता का पिण्ड है। उस अखण्डस्वभाव में भेद पड़कर विकल्प उत्पन्न होने पर पुण्य का भाव हुआ है। वह पुण्य स्वयं खण्ड-खण्डरूप है और उसके फल में संसारी को जो संयोग प्राप्त होते हैं, उनमें भी पूर्णता नहीं होती। अरे भाई! यदि तू संसार में सुख मानता हो तो मुनिराज कहते हैं कि शान्त हो! शान्त हो!! इस संसार में चक्रवर्ती को भी संयोग में पूर्णता नहीं है, तो अन्य की तो क्या बात है! देखो, स्वभाव का सुख पूर्ण होता है परन्तु सामग्री का सुख पूर्ण नहीं होता। वस्तुतः सामग्री में सुख तो है ही नहीं परन्तु जिस सामग्री में जीव, सुख की कल्पना करता है, वह सामग्री भी किसी के सम्पूर्ण नहीं होती। भरत चक्रवर्ती तो धर्मात्मा थे, उन्हें भान था कि मेरा सुख तो मेरे स्वभाव में ही है; संयोग में मेरा सुख नहीं है।

वे भरत चक्रवर्ती जब छह खण्ड पर विजय प्राप्त कर वापस आते हैं, तब उनके छोटे भाई बाहुबली उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं, इसलिए उनमें युद्ध होता है। देखो, दोनों भाई सम्यग्ज्ञानी हैं, उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं परन्तु थोड़े से अभिमान के लिए दोनों परस्पर युद्ध करते हैं। उस युद्ध में भरत चक्रवर्ती पराजित हो जाते हैं और उनका अपमान होता है। देखो! चक्रवर्ती जैसे पुण्यवन्त का भी अपमान हुआ, तब अन्य साधारण जीवों की तो बात ही क्या है? इसलिए इस संसार में पुण्योदयवाला जीव भी सुखी नहीं है। भरत चक्रवर्ती जैसे पुण्यवन्त को भी पुण्य में इतनी कमी थी, जिससे वे पराजित हो गये। वस्तुतः पुण्य कोई स्वभाव नहीं है, इस कारण उसमें पूर्णता नहीं हो सकती। अतः तू पुण्य

और संयोग की भावना छोड़कर, अन्दर विद्यमान परिपूर्ण चिदानन्दस्वभाव की भावना कर! आत्मा, ज्ञान-आनन्दादि स्वभाव से भरपूर/परिपूर्ण है। उसकी प्रतीति करके, उसमें लीन होने से पर्याय में ज्ञान-आनन्द की पूर्णता प्रगट होती है परन्तु कोई जीव, संयोग में पूर्णता करना चाहे तो यह कभी सम्भव नहीं है। देखो, यह संसारभावना है।

जिसको संसार में / पुण्य के फल में सुख लगता हो, उस जीव को वास्तविक संसार-भावना नहीं होती। एक ओर स्वभाव तथा दूसरी ओर संयोग है। जिस जीव ने स्वभाव की पूर्णता की भावना नहीं की है, वह जीव अज्ञान से संयोग में पूर्णता की भावना करता है। धर्मी जीव तो अपने पूर्ण स्वभाव की रुचि और भावना करके संयोग की भावना छोड़ता है।

देखो, जब भरत चक्रवर्ती पराजित हो गये, तब अपमान का दुःख लगा और क्रोध से बाहुबली पर चक्र चला दिया परन्तु चक्र कभी भी चरमशरीरी अथवा परिजनों पर वार नहीं करता, इस कारण बाहुबली पर चक्र नहीं चला और बाहुबली को वैराग्य हो गया। वे विचारने लगे — अरे! धिक्कार है इस संसार को! एक पृथ्वी के टुकड़े के लिए, भरत चक्रवर्ती जैसा सगा भाई भी घात करने को तत्पर हुआ!! इस प्रकार संसार से विरक्त होकर, बाहुबली दीक्षा के लिए तैयार हुए। भाई को दीक्षा के लिए तैयार हुआ देखकर भरत को भी दुःख हुआ।

देखो, यहाँ कहना यह है कि संसार में पुण्य के फल की पूर्णता नहीं होती। पूर्णता तो चिदानन्दस्वभाव में है। सिद्ध भगवन्तों को आत्मा में सब प्रकार से पूर्णता है। अहो! पूर्णता तो सिद्धदशा में है। प्रत्येक आत्मा सिद्धसमान परिपूर्ण है। ऐसे आत्मस्वभाव की भावना करने योग्य है। बाह्य में संसार को सुधारना चाहे तो सुधारा नहीं जा सकता परन्तु संसार की भावना छोड़कर स्वभाव की भावना करे तो पर्याय में पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट हो जाता है।

धर्मी जीव, संसार का ऐसा विचित्र स्वरूप विचारकर, स्वभाव की भावना बढ़ाता है और उसे प्रतिक्षण शुद्धता बढ़ती जाती है।

पुण्य और पुण्य का फल, आत्मा की चीज नहीं है। यह जीव, पुण्य तो अनन्तबार कर चुका है परन्तु जिस भावना से आत्मा के जन्म-मरण का अन्त आए, वह भाव पूर्व में कभी प्रगट नहीं किया। अहो! स्वभाव का भान करके, उसी की भावना करने से जन्म-मरण का अन्त आता है — यही करने योग्य है।

●●

गाथा ५०

आगे, इसी अर्थ से दृढ़ करते हैं —

सयलट्ठ विसह-जोओ, बहुपुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि, सव्वं जे णिच्छिदं लहदि॥

बहु पुण्यशाली भी नहीं, पाते समस्त विषय अहो।
सभी मनवाञ्छित लहे, यह पुण्य है किसको कहो?॥

अन्वयार्थ : (इस संसार में) **[सयलट्ठ विसहजोओ]** समस्त जो पदार्थ, वे ही हुए विषय अर्थात् भोग्य वस्तु, उनका योग **[बहुपुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि]** बड़े पुण्यवानों को भी पूर्णरूप से नहीं मिलता है। **[तं पुण्णं पि ण कस्स वि]** ऐसा पुण्य किसी के भी नहीं है, **[जे सव्वं णिच्छिदं लहदि]** जिससे सब ही मनवाञ्छित मिल जाए।

भावार्थ : बड़े पुण्यवान् के भी वाञ्छित वस्तु में कुछ कमी रह ही जाती है, सब मनोरथ तो किसी के भी पूरे नहीं होते हैं, तब सर्वसुखी कैसे होवे ?

गाथा ५० पर प्रवचन

चिदानन्द आत्मा, स्वभाव से परिपूर्ण है। उसकी दृष्टि और भावना करने से अपूर्णता नहीं रहती। आत्मा से भिन्न संयोगों का भोग कभी पूर्ण नहीं होता। कोई बाह्य संयोग में पूर्णता करना चाहे तो वह कभी नहीं हो सकती। देखो, यहाँ चैतन्यस्वभाव के समक्ष सम्पूर्ण संसार को तुच्छ बतलाते हैं। अरे! चैतन्यस्वभाव की पूर्णता है और संसार में संयोग को भोगपना तो कभी किसी को पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं होता। संसार तो स्वप्नवत् है। पुण्य का फल आता है और पाँच-पच्चीस वर्ष रहकर क्षण में विनष्ट हो जाता है। स्वभाव की पूर्णता प्रगट हुई, उसका कभी विरह नहीं होता और संसार में पुण्य का संयोग कभी शाश्वत् नहीं रहता।

अहो! प्रथम तो संसार में किसी को पुण्य का पूरा योग मिलता ही नहीं और पुण्य का संयोग मिले, उसमें भी सुख नहीं है। पुण्य के फल को भोगने की तृष्णा, वह दु:ख है। ज्ञानी, संयोग में से सुख भोगना नहीं मानते। अज्ञानी, स्वभाव की भावना चूककर संयोग में सुख मानता है। पहले यह बात लक्ष्य में लेना चाहिए कि अरे! संसार में मेरा सुख कहीं बाहर में नहीं है; मेरा सुख तो निज आत्मा में ही है। इस प्रकार पहिचान करनेवाले की भावना बदल जाती है। उसे संसार और संयोगों की भावना छूट जाती है अर्थात् संसार को तीव्र लोलुपता का भाव छूट जाता है।

अज्ञानी तो 'मानो संयोग में से ही सुख ले लूँगा' — ऐसा मानता है; इसलिए वह संयोगों का अभिमान करता है। अरे भाई! तेरे सुख का धाम तो आत्मा में है, इसलिए उसे पहिचानकर, उसी की भावना कर। तुझमें तो सुख की खान है; संयोग में तेरा सुख नहीं भरा है। पुण्य का वैभव हो भले ही, परन्तु तू निज चैतन्यवैभव का आदर छोड़कर पुण्य के वैभव की भावना मत करना। भरतजी के छह खण्ड का राज्य वैभव होने पर भी, वे अन्तरङ्ग में भावना करते थे कि अरे चिदानन्द हंस! ये संयोग तेरी वस्तु नहीं है। तेरा परमात्मस्वरूप परिपूर्ण है, उसी में तेरी शान्ति है। इस प्रकार वे अपने स्वभाव की ही भावना भाते थे।

श्री समन्तभद्रस्वामी, तीर्थङ्करों की स्तुति करते हुए कहते हैं — हे नाथ! सम्यग्दृष्टि ही आपको पहिचानकर पूज्य मानता है। जिसे पुण्य की रुचि है, ऐसा अभव्य अथवा मिथ्यादृष्टि जीव, आपको वास्तव में नहीं पूज सकता क्योंकि आपका आत्मा पुण्य-पाप से रहित चिदानन्दस्वरूप है; इस कारण आप को पूज्य माननेवाले को पुण्य की रुचि नहीं हो सकती। इसलिए वस्तुत: सम्यग्दृष्टि जीव ही भगवान की पूजा-वन्दना करता है।

'द्रव्यसंग्रह' के मङ्गलाचरण में भी भगवान को सौ इन्द्रों से वन्दनीय कहा है, इस कारण वे सब इन्द्र भी सम्यग्दृष्टि होना चाहिए। जिसे पुण्य-पाप से रहित निर्मलस्वभाव का आदर हुआ है, वही जीव वस्तुत: भगवान को वन्दन करनेवाला है। हे भगवान! आप सम्यग्दृष्टि से ही पूज्य हैं। अज्ञानी जीव, सामान्यरूप से आपका वन्दन करते हैं, उसमें शुभभाव है; वह धर्म नहीं है। जिसने परमार्थ से अपने स्वरूप को पूज्य जाना है - ऐसे धर्मी जीव के द्वारा ही वास्तव में भगवान वन्द्य-पूज्य हैं।

वस्तुत: पूर्णस्वभाव की भावना करने योग्य है; बाह्य संयोगों की भावना करने योग्य नहीं है। जिसे संयोगों की भावना है, वह भगवान का सच्चा भक्त नहीं है। ●●

गाथा ५१

कस्स वि णत्थि कलत्तं, अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती।
अह तेसिं संपत्ती, तह वि सरोओ हवे देहो॥

कोई नर नारी रहित, यदि नार हो तो सुत नहीं।
सुत प्राप्ति हो यदि भाग्य से, तो देह रोग रहित नहीं॥

अन्वयार्थ : [कस्स वि कलत्तं णत्थि] किसी मनुष्य के तो स्त्री नहीं है, **[अहव कलत्तं पुत्त-संपत्ती ण]** किसी के स्त्री है तो पुत्र की प्राप्ति नहीं है, **[अह तेसिं संपत्ती]** किसी के पुत्र की प्राप्ति है **[तह वि सरोओ हवे देहो]** तो शरीर रोगसहित है।

गाथा ५१ पर प्रवचन

आत्मा, देह से भिन्न तत्त्व है, उसे सुखी होने के लिए क्या करना चाहिए? — यह बात चल रही है।

अरे जीव! बाह्य संयोगों में सब प्रकार का मेल नहीं खाता। तू व्यर्थ ही संयोग की भावना करके निजस्वभाव के साथ मेल तोड़ देता है। संसार में तो किसी जीव के इकलौता पुत्र हो और विवाह के अवसर पर मण्डप में ही मर जाता है। किसी के स्त्री हो तो पुत्र नहीं होता। किसी के पुत्र हो तो धन नहीं होता। किसी के पुत्रादि होने पर भी शरीर रोगी होता है – इत्यादि प्रकार से संसार में तो 'तीन जोड़ो, तेरह टूटे' — ऐसी स्थिति है। इसलिए धर्मात्मा जीवों को संसार का एक भी भव आदरणीय नहीं है। अन्दर में चिदानन्दस्वभाव का भान करके, उसी का आदर और भावना करने योग्य है।

आत्मा, अनादि-अनन्त वस्तु है, वह कभी नया नहीं हुआ है। वह अनादि से स्वयं ही अपने स्वभाव को भूलकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं चैतन्यस्वभावमय वस्तु है, यदि उसे स्वयं अपने स्वभाव की महिमा होवे तो संयोगी वस्तु में अपना सुख नहीं माने। मैं आत्मा हूँ और मेरी शान्ति मुझमें ही है; मेरे लिए संयोगी वस्तुएँ तो निरर्थक हैं। उन बाह्य वस्तुओं में से तो अपने में कुछ नहीं आता।

इस जीव ने अनादिकाल से एक सैकेण्डमात्र भी अपने स्वभाव को नहीं जाना है, इस कारण शरीर में, स्त्री में, लक्ष्मी इत्यादि में सुख की कल्पना की है परन्तु बाह्य में अपना सुख कभी नहीं हो सकता। अज्ञानी को इस बात का भान नहीं है। वह चैतन्य को विस्मृत कर, पर में सुख-दु:ख की कल्पना करता है। वह कल्पना, आत्मा का वास्ततिक स्वरूप नहीं है। उस कल्पना का अभाव कर देने पर अकेला आत्मा का सहज ज्ञानस्वभाव रह जाता है। उस स्वभाव में सुख है। जीव अनादिकाल से निजस्वभाव को भूलकर, मिथ्यात्व के कारण चार गतियों में भ्रमण कर रहा है, यही संसार है।

धर्मी जीव जानता है कि मेरा सुख मेरे ज्ञान आनन्दस्वभाव में ही है। आत्मा, नित्य रहनेवाला है और शरीर का संयोग तो नया-नया परिवर्तित हुआ करता है। उस शरीर में मेरा सुख नहीं है — ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव द्वारा भायी जानेवाली संसारभावना का यह वर्णन है।

जगत् के सभी जीव सुख चाहते हैं परन्तु सुख का उपाय नहीं जानते और दु:ख नहीं चाहते, परन्तु दु:ख के उपाय में अर्थात् मिथ्यात्वादि में निरन्तर लगे रहते हैं। सुख का उपाय तो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें एकाग्र होना ही है। इसके बदले अज्ञानी जीव, बाह्य पदार्थों का संग्रह करके, उनसे सुखी होना चाहते हैं परन्तु बाह्य पदार्थों की इच्छा स्वयं ही दु:ख है। यदि सुखी हो तो पर को क्यों मिलाना चाहता है? इसलिए जिन्हें चैतन्य का भान नहीं है, वे जीव संयोग में सुख मान रहे हैं। उन जीवों को संसार में कहीं सुख नहीं है।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त पर में कहीं भी सुख है — ऐसा धर्मी का अभिप्राय नहीं होता। ●●

गाथा ५२

अह णीरोओ देहो, तो धण-धण्णाण णेय सम्पत्ति।
अह धण-धण्णं होदि हु, तो मरणं झत्ति ढुक्केइ॥

यदि हो निरोग शरीर तो, धन-धान्य की प्राप्ति नहीं।
धन-धान्य की भी प्राप्ति हो तो, मरण हो अल्पायु में॥

अन्वयार्थ : [अह णीरोओ देहो] यदि किसी के नीरोग शरीर भी हो **[तो धण-धण्णाण णेय सम्पत्ति]** तो धन्य-धान्य की प्राप्ति नहीं है, **[अह धण-धण्णं होदि हु]** यदि धन-धान्य की भी प्राप्ति हो जाए [**तो मरणं झत्ति ढुक्केइ**] तो शीघ्र मरण हो जाता है।

गाथा ५२ पर प्रवचन

अज्ञानी जीवों ने संसार के संयोग में सुख की कल्पना की है परन्तु उन्हें संयोग भी इच्छानुसार नहीं मिलता, यह बात चल रही है।

जो प्राणी, चैतन्य में सुख नहीं मानता, वह प्राणी दुःखी होकर चार गतियों में परिभ्रमण किया करता है। जो जीव, स्वभाव में भरे हुए सुख का स्वीकार नहीं करता और संयोंगो में से सुख प्राप्त करना चाहता है, उसे पर में से कभी सुख प्राप्त होनेवाला नहीं है क्योंकि पर में आत्मा का सुख है ही नहीं।

संसार में किसी को लाखों की लक्ष्मी प्राप्त हो और तुरन्त ही आयु पूर्ण हो जाती है। वस्तुतः शान्ति तो चैतन्य में है, उस चैतन्य का विरह कभी नहीं होता। यदि लक्ष्मी प्राप्त हो और जीवित भी रहें तो भी उसे भोगने की आकुलता ही दुःख है। आशावन्त प्राणी दुःखी है। जिसने चैतन्यस्वभाव की पूर्णता की भावना भायी है और पर की आशा दूर की है, उसे सच्ची शान्ति और सुख है।

●●

गाथा ५३

कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं, कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरिसमबंधू, कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया॥

किसी की स्त्री दुराचारिणि, तथा दुर्व्यसन रत रहे।
सुत, भ्रात अरि-सम और पुत्री भी दुराचारिणि रहे॥

अन्वयार्थ : (इस मनुष्यभव में) **[कस्स वि दुट्ठकलत्तं]** किसी के तो स्त्री दुराचारिणी है, **[कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो]** किसी का पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनों में रत है, **[कस्स वि अरिसमबंधू]** किसी के शत्रु के समान कलही (कलह/झगड़ा करनेवाला) भाई है, और **[कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया]** किसी की पुत्री दुराचारिणी है।

गाथा ५३ पर प्रवचन

जो जीव, मनुष्यपना पाकर तीव्र दुराचरण करते हैं, वे जीव मरकर नरक में जाते हैं। जो तीव्र माया/कपट करते हैं, वे जीव तिर्यञ्च होते हैं। अज्ञानी जीव, चिदानन्द आत्मा को भूलकर, बाह्य संयोग में एकत्वबुद्धि करता है — यही दु:ख का मूलकारण है। जिसने सत्समागम से श्रवण, मनन करके अन्दर में चैतन्य का भान और एकाग्रता की है, उसे दु:ख नहीं होता।

अहो! सुख तो मेरे अन्तर्मुख स्वरूप में है; बाह्य में मेरा सुख नहीं है और उत्पन्न होनेवाली बहिर्मुख वृत्तियों में भी मेरा सुख नहीं है — ऐसा यथार्थ निर्णय भी जीव ने कभी नहीं किया है। यदि यथार्थ निर्णय करे तो अन्त:स्वरूप में एकाग्रता होकर संसार से मुक्त हुए बिना नहीं रहे।

कोई जीव बड़ा राजा हो और अन्दर घर की रानी ही महादुराचारिणी हो और ऐसी धमकी दे कि यदि हमें कुछ कहोगे तो जहर देकर मार दूँगी। संसार में भटकते हुए जीव को अनेक बार ऐसे प्रसङ्ग बनते हैं। संसार के संयोंगो में कहीं शान्ति नहीं है। अनुकूल संयोंगो में भी सुख नहीं है। सगा भाई, सगे भाई का सिर काट दे — ऐसा भी संसार में होता है। यह सब जानकर, अन्दर चैतन्य की भावना भाने के लिए यह सब वर्णन है। अज्ञानी जीव, संयोगों का विश्वास करता है परन्तु चिदानन्द आत्मा के सुख का विश्वास नहीं करता।

मैं त्रिकाल शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ, मेरे स्वभाव में दुःख नहीं है; जिसे अन्तरङ्ग में ऐसी निःशङ्क श्रद्धा हो गई है, वह जीव सम्पूर्ण संसार को दुःखरूप विचार करता है। नरक-स्वर्ग अथवा अनुकूलता-प्रतिकूलता में कहीं मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख तो यदि मैं चैतन्यस्वभाव की भावना करके, उसमें एकाग्रता करूँ तो प्रगट होता है।

शरीर में रोग हो जाता है। जब शरीर में भी अपना विचारा हुआ नहीं होता तो मैं पर संयोंगो को बदलूँ, यह तो अत्यन्त मिथ्याबुद्धि है। अज्ञानी मानता है कि मैं परजीव को बचाता हूँ। उसे पर का अहङ्कार नहीं मिटता और स्वभाव की दृढ़ता नहीं होती। धर्मी तो जानता है कि संयोग में कहीं भी फेरफार करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। मैं तो ज्ञान और दर्शनस्वरूप हूँ। जगत की सम्पूर्ण वस्तुएँ मेरा दृश्य है और मैं तो दृष्टा हूँ परन्तु कहीं फेरफार कर दूँ — ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है और न संयोगों से फेरफार से मुझे सुख या दुःख होता है। मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव तो पर से भिन्न और पुण्य-पाप से भी पृथक् है, उसमें ही मेरा सुख है। ऐसी प्रतीति करके चैतन्य की भावना करना ही सुख का उपाय है।

मुझ आत्मा में ही मेरा सुख हैं, इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप में अथवा जगत् के किसी संयोग में मेरा सुख नहीं है; इस प्रकार जब तक आत्मा के सुख का विश्वास नहीं आवे, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और न भवभ्रमण का अभाव ही होता है। ●●

गाथा ५४

कस्स वि मरदि सुपुत्तो, कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गिपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेइ॥

मरता किसी का पुत्र प्यारा, और प्रिय नारी मरे।
किसी का घर और सब, परिवार अग्नि में जले॥

अन्वयार्थ : [कस्स वि सुपुत्तो मरदि] किसी का सुपुत्र मर जाता है, **[कस्स वि इट्ठा महिला विणस्सदे]** किसी के इष्ट (प्यारी) स्त्री मर जाती है, **[कस्स वि अग्गिपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेइ]** किसी के घर और कुटुम्ब सब ही अग्नि से जल जाते हैं।

गाथा ५४ पर प्रवचन

यहाँ प्रतिकूल संयोग बताकर संसार के दु:ख का वर्णन किया है। वहाँ वस्तुत:संयोग का दु:ख नहीं है, अपितु चैतन्य के सुख का विश्वास न करके, संयोग की भावना करता है – इस कारण यह जीव अपनी ही आकुलता से दु:खी होता है। चैतन्य का बेहद स्वभाव है, उसे भूलने से संयोग में सुख मानकर अनन्तानुबन्धी कषाय हुई। उसके फल में संसार के ऐसे प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं। धर्मी जीव, निज चैतन्य को पर से भिन्न जानकर, स्वभाव की भावना भाता है। वह स्वभाव की दृष्टिपूर्वक संसार के दु:खमय स्वरूप का विचार करके, अपने वैराग्य में वृद्धि करता है। इसी कारण इन भावनाओं को भव्य जीवों के आनन्द की जननी कहा है।

आत्मा और परवस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं तो वे एक-दूसरे का क्या करेंगे? देखो, ये दो अँगुलियाँ हैं, उनका कार्य एक है या अलग-अलग? यदि दोनों का कार्य अलग न हो तो ये अँगुलियाँ दो नहीं रह सकती, अपितु एक हो जाएँगी परन्तु दोनों अँगुलियाँ भिन्न हैं और दोनों

का कार्य भी भिन्न हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाए तो दो अँगुलियों का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव और शरीर – दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। जगत की अनन्त वस्तुएँ हैं, वे सब पृथक्–पृथक् हैं और उन प्रत्येक का अपना–अपना कार्य भी भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रकार भिन्नता का निर्णय करने से, संयोग से मुझे सुख–दुःख है — ऐसी मिथ्याबुद्धि का अभाव हो जाता है और चैतन्य के स्वभाव सुख की दृढ़ता होती है।

देखो न! किसी का युवा पुत्र मर जाए, किसी की स्त्री मर जाए, क्षणमात्र में किसी का घर–बार भस्म हो जाए, इसमें जीव का विचारा हुआ कुछ नहीं होता। चूहे सामान खा जाते हैं, चोर आकर चोरी कर जाते हैं, अग्नि में जल जाते हैं, यह सब जीव सहन करते हैं परन्तु स्वयं राग घटाकर धर्म कार्य में लक्ष्मी खर्च करना हो तो वहाँ उल्लास नहीं आता। अनेक प्रकार से लक्ष्मी चली जाती है। लक्ष्मी आदि का संयोग स्थायी नहीं रहता। चिदानन्दस्वभाव ही शाश्वत् है, वही मेरे सुख का कारण है — ऐसा समझकर, धर्मी जीव धर्म–प्रभावना इत्यादि के निमित्त लक्ष्मी आदि का राग घटाता हैं। ●●

दीक्षा के लिए तैयार भगवान शान्तिनाथ की भावना

'जिस मार्ग पर अनन्त तीर्थङ्कर चले, उसी पथ का मैं पथिक बनूँगा। हमारे पुरुषार्थ की धारा टूटेगी नहीं, हम अप्रतिहत पुरुषार्थवाले हैं; अब हम अपने स्वभाव में ही ढलते हैं। जिस निर्विकल्प स्वभाव के गीत हम गाते थे, उसे प्रगट करने को अब हम तैयार हैं, अब हमारे स्वरूप में ठहरने का समय आ गया है। अब स्वभाव में लीन होने का भाव जागा है, उसे हम शिथिल नहीं होने देंगे। अखण्डानन्द स्वभाव की भावना के सिवाय अब हमें पुण्य-पाप का भाव नहीं आयेगा।' — दीक्षा के लिए तैयार शान्तिनाथ भगवान ऐसी भावना भाते थे।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३१

गाथा ५५

एवं मणुयगदीए, णाणा दुक्खाइं विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं, आरंभं णेय परिचयइ॥

इस तरह नरगति में अनेक, प्रकार बहु दुःख सहे पर।
धर्माचरण बुद्धि करे नहिं, पाप कार्य तजे न नर॥

अन्वयार्थ : [एवं मणुयगदीए] इस तरह (यह जीव), मनुष्यगति में **[णाणा दुक्खाइं]** अनेक प्रकार के दुःखों को **[विसहमाणो वि]** सहता हुआ भी **[धम्मे मइं ण वि कुणदि]** धर्माचरण में बुद्धि नहीं करता है **[आरंभं णेय परिचयइ]** (और) पापारम्भ नहीं छोड़ता है।

गाथा ५५ पर प्रवचन

यद्यपि बाहर के संयोग-वियोग तो पूर्व के प्रारब्धानुसार प्राप्त होते हैं, तथापि अज्ञानी जीव उसमें अपना पुरुषार्थ मानता है और धर्म करने में अपना वर्तमान पुरुषार्थ होने पर भी, पुरुषार्थ नहीं करता।

अरे भाई! संयोग-वियोग तो पूर्व प्रारब्ध के अनुसार होता है, जबकि धर्म तो तेरे वर्तमान पुरुषार्थ से होता है; इसलिए अपनी बुद्धि को धर्म में जोड़! मनुष्यभव में अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पर भी मूढ़ जीव, वहाँ से वैराग्य पाकर सद्धर्म में बुद्धि नहीं लगाते। देखो, यहाँ सद्धर्म में बुद्धि लगाने को कहा है तो इसमें अपना पुरुषार्थ है न?

प्रश्न – परन्तु धर्म में सूझ नहीं पड़ती न?

उत्तर – क्या नहीं सूझता? 'नहीं सूझता' — यह निर्णय किसने किया? 'स्वभाव है,

परन्तु वह सूझता नहीं है' — ऐसा कहा तो उसमें स्वभाव का ख्याल तो आता है परन्तु स्वयं अन्तर्दृष्टि करके, उसका विश्वास नहीं करता। अज्ञानी को चैतन्य में क्षणिक सङ्कल्प-विकल्प तो भासित होते हैं परन्तु उन सङ्कल्प-विकल्प के समय भी ध्रुवस्वभाव विद्यमान है, उस स्वभाव का स्वयं विश्वास नहीं करता, इसलिए सूझ नहीं पड़ती।

जैसे, धुएँ के गोले की आड़ में पूरा बर्तन नहीं दिखता; वैसे ही अज्ञानी को अकेले संयोग और विकार की आड़ में चिदानन्द भगवान भासित नहीं होता। वह तो क्षणिक पुण्य-पाप तथा संयोग को ही देखता है। अन्तर्दृष्टि करके आत्मस्वभाव को नहीं देखता; इसीलिए कहा है कि ऐसा मनुष्यभव पाकर भी मूढ़ जीव, सद्धर्म में बुद्धि को नहीं लगाते और पापारम्भ में ही लगे रहते हैं।

भाई! यह बात तो ऐसी है कि यदि सत्समागम पाकर अन्तरङ्ग में विचार करे तो सब समझ में आ सकता है। जीवों में समझने को शक्ति है, इसी कारण सन्त उन्हें समझाने के लिए उपदेश करते हैं।

धर्मी जीव विचार करता है कि सुख मेरे स्वभाव में है, मेरा सुख किसी संयोग में नहीं है। संसार की ओर झुकाववाले सभी भाव दु:ख हैं और स्वभाव की ओर झुकाव करके, उसमें एकाग्र होना ही सुख है। इस प्रकार धर्मी जीव संसारभावना भाकर अपने वैराग्य की वृद्धि करता है।

आज यहाँ (सोनगढ़ में) समवसरण की स्थापना का दिवस है। आज यहाँ समवसरण की स्थापना को दश वर्ष पूर्ण होकर ग्यारहवाँ वर्ष लगा है।

समवसरण क्या चीज है और उसका स्वीकार करनेवाले को कितना स्वीकार करना चाहिए? उसे स्वीकार करना चाहिए कि जगत में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा अनादि से ही अपने स्वभाव का भान भूलकर, चार गतियों में परिभ्रमण करता था, फिर आत्मा का यथार्थ भान किया और पूर्ण वीतरागता नहीं हुई तो वहाँ राग रहा, उस राग में किसी जीव को ऐसा शुभभाव होता है कि तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाए। ऐसे परिणाम अमुक विशिष्ट जीव को ही आते हैं और उसे ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

कोई जीव यह चाहे कि मुझे तीर्थङ्कर होना है, इसलिए मैं शुभराग करके अथवा सोलहकारणभावना भाकर तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधूगा – तो ऐसे तीर्थङ्कर नहीं हुआ जाता। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य राग आता है परन्तु उस धर्मी जीव को उस राग अथवा तीर्थङ्कर नामकर्म की भावना नहीं होती और सम्यग्दृष्टि जीवों में भी तीर्थङ्कर नामकर्म सबको नहीं बँधता। उसका कारण यह है कि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों का राग एक समान नहीं होता।

राग, आत्मा के चारित्रगुण की विपरीत अवस्था है। स्वभाव के भान की भूमिका में भी जब तक वीतरागता न हो, तब तक राग होता है परन्तु उसमें तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य राग तो अमुक जीव को ही होता है और तत्पश्चात् जब वह राग का अभाव करके, वीतरागता प्रगट करके सर्वज्ञ होता है, तभी उसे तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय आता है। उस समय इन्द्र आकर उन तीर्थङ्कर के दैविक समवसरण की रचना करते हैं। अभी भरतक्षेत्र में ऐसा समवसरण नहीं है परन्तु जब यहाँ महावीर परमात्मा विराजमान थे, तब समवसरण था और देव आकर भगवान की सेवा करते थे। अभी महाविदेहक्षेत्र में श्रीसीमन्धर परमात्मा तीर्थङ्कररूप में विराजमान हैं, उनके ऐसा समवसरण है। यहाँ तो उसकी स्थापना है।

देखो, समवसरण का स्वीकार करने से कितना स्वीकार करना आया ? कि —

● आत्मा है; वह एक ही नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ हैं।

● उसकी अवस्था में विकार है।

● उस विकार के निमित्त से कर्म बँधते हैं अर्थात् जगत में अजीवतत्त्व भी है।

● तीर्थङ्कर नामकर्म अमुक जीव को ही बँधता है, सबको नहीं अर्थात् जीवों के परिणामों की विचित्रता है।

● राग का अभाव होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होती है और उस दशा में तीर्थङ्कर के समवसरण होता है।

● इस क्षेत्र (भरतक्षेत्र) के अतिरिक्त महाविदेहक्षेत्र आदि क्षेत्र भी हैं – यह सब स्वीकार करनेवाला समवसरण को मान सकता है।

जगत् में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वभाव है, वह त्रिकाल है और उसकी अवस्था प्रतिक्षण पलटती है। उस अवस्था में श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होने पर भी, चारित्रगुण की अवस्था में आंशिक विपरीतता / विकारीपना भी रहता है। चारित्रगुण की विपरीतता से राग होता है। वह राग प्रत्येक जीव को एक समान नहीं होता; अपितु उसमें प्रत्येक आत्मा के तारतम्यता होती है। किसी को अमुक प्रकार का, तो किसी को अन्य प्रकार का राग आता है। यदि कोई जीव यह मानता है कि 'मुझे इसी प्रकार का राग करना है' तो वह जीव, राग का कर्ता अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

मैं ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ, राग का अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसे आत्मा का भान तो हुआ हो परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई हो, उन जीवों में जो जीव, तीर्थङ्कर होनेयोग्य हो, उसे ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य परिणाम आते हैं और तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

देखो, अन्दर में रागरहित स्वभाव का भाव होने पर भी, पर्याय में चारित्र की कमजोरी से राग और उसमें भी जिसके फल में तीर्थङ्कर नामकर्म बँधे, उस जाति का राग; उस राग के निमित्त से तीर्थङ्करप्रकृतिरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु और उनके फल में समवसरण की रचना, आत्मा की पूर्ण वीतरागदशा में भी समवसरण की विभूति का संयोग — यह सब माननेवाला ही यथार्थरूप से समवसरण का स्वीकार कर सकता है।

तीर्थङ्करप्रकृति किसको बँधती है ? जिसे राग का आदर न हो उसे; और उस प्रकृति का फल कब आता है ? जब उस राग का अभाव होकर वीतरागता प्रगट होती है, तब।

तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध तो निचलीदशा में धर्मी को होता है परन्तु उसका उदय तेरहवें गुणस्थान में ही आता है। जिस राग से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है, उस राग का अभाव होने के बाद ही उसका उदय आता है — यह बात समझने योग्य है।

जिसे पुण्यसामग्री के भोग की इच्छा है, उसे पुण्यसामग्री की पूर्णता नहीं होती। यद्यपि तीर्थङ्कर का पुण्य सर्वोत्कृष्ट होता है परन्तु उसका फल साधकदशा में नहीं आता; राग का अभाव होकर केवलज्ञान होने पर ही उस तीर्थङ्करप्रकृति का फल आता है परन्तु उस समय उस जीव को सामग्री भोगने का रागभाव नहीं होता।

पहले निचलीदशा में रागरहित पूर्णस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई, उस भूमिका में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हुआ और तत्पश्चात् अन्तर में पूर्ण स्वभाव की भावना भाते-भाते केवलज्ञान हुआ; वहाँ बाह्य में तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आया और समवसरण की रचना हुई परन्तु उन केवलीभगवान को संयोग को भोगने का भाव नहीं रहा।

अहो! सौ इन्द्र आकर भक्तिपूर्वक तीर्थङ्कर के चरण कमलों की पूजा करते हैं और दैविक समवसरण की रचना करते हैं, फिर भी भगवान को राग नहीं है; भगवान तो निज स्वरूप के पूर्णानन्द के भोग में ही लीन हैं।

देखो! समवसरण को माननेवाले को आत्मा की ऐसी दशा की पहिचान करनी चाहिए। ऐसी पूर्णानन्दी वीतरागदशा में ही समवसरण का योग होता है; रागी जीव को समवसरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार आत्मा के त्रिकाली स्वभाव का, राग का और संयोग का — इन सबका स्वीकार करनेवाले को राग अथवा संयोग की भावना नहीं होती, अपितु अपने स्वभाव की ही भावना होती है। यह सब स्वीकार किये बिना तीर्थङ्कर अथवा तीर्थङ्कर के समवसरण को यथार्थरूप से नहीं माना जा सकता है।

स्वभाव, राग और संयोग — यह तीनों एक साथ विद्यमान हैं, उसमें धर्मी की रुचि स्वभाव पर पड़ी है, उसे संयोग अथवा राग की रुचि नहीं होती।

समवसरण का संयोग आत्मा के लाने से नहीं आता, वह तो जगत के परमाणुओं का परिणमन है। जगत में जीव और जड़ - सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण स्वतन्त्ररूप से परिणमित हो रही हैं। उसमें अनादि से उस प्रकार की विशेष योग्यतावाले जीव को ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य शुभपरिणाम आते हैं और उसके उदय के समय बाहर में समवसरण की रचना के योग्य परमाणुओं का ऐसा परिणमन होता है। समकिती जीव को तो समवसरण के संयोग की अथवा जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, उस शुभभाव की भी भावना नहीं होती; उसे तो अपने असंयोगी चैतन्यतत्त्व की ही भावना है। मिथ्यादृष्टि जीव को संयोग और राग की भावना है, उसे कभी तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता है।

देखो तो सही, जगत के जीवों के परिणामों की विचित्रता! एक जीव के समवसरण की रचना होती है और दूसरे को नहीं — इसका कारण क्या? अनेक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, उनमें भी किसी को ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य शुभपरिणाम आते हैं और अन्य जीवों को वैसे परिणाम आते ही नहीं; इसी प्रकार किसी जीव को आहारकशरीर बँधनेयोग्य शुभभाव आता है और किसी अन्य जीव को मोक्ष प्राप्ति के काल तक भी उस प्रकार का परिणाम नहीं आता; किसी सम्यग्दृष्टि जीव को सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त होनेयोग्य परिणाम होता है तो किसी सम्यग्दृष्टि जीव को पहले स्वर्ग का इन्द्रपद प्राप्त होनेयोग्य परिणाम होता है; कोई जीव चक्रवर्ती होकर, तत्पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है और कोई जीव साधारण मनुष्य होकर, तत्पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है — ऐसी संसार के जीवों के परिणामों की विचित्रता है और निमित्तरूप पुद्गल के परिणमन में भी वैसी ही विचित्रता है।

सभी जीव अनादि से हैं। द्रव्य और गुण से तो सभी जीव समान हैं, फिर भी परिणाम में भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं - इसका कारण क्या है? — इसका कारण कोई नहीं है; संसार में परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है। धर्मी जीव, अपने त्रिकाल एकरूप स्वभाव की दृष्टिपूर्वक संसार की इस विचित्रता का विचार करता है।

बहुत से जीवों को तो अनादि-अनन्त काल में कभी तीर्थङ्करपने का भाव ही नहीं आता और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और किसी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य भाव आता है। यद्यपि मोक्ष तो दोनों जीव प्राप्त करते हैं परन्तु उनके परिणामों में विचित्रता है - इसका क्या कारण है? इसका कारण है, उस-उस पर्याय की वैसी ही योग्यता! **यह एक 'योग्यतावाद' ऐसा है, जो कि समस्त प्रकारों में लागू पड़ता है अर्थात् समस्त प्रकारों का / प्रश्नों का समाधान कर देता है। यह निश्चित करने से 'ऐसा क्यों?' — यह प्रश्न ही ज्ञान में नहीं रहता।**

देखो, यह संसार के स्वरूप की विचारणा! यह विचार कौन करता है? 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे स्वभाव में संसार नहीं है' — ऐसे भानपूर्वक धर्मीजीव, संसार के स्वरूप का विचार करता है। जिसे संसाररहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, उसे संसार के स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता।

जिससे तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो, जिससे सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त हो, जिससे आहारकशरीर प्राप्त हो और जिससे इन्द्रपद अथवा चक्रवर्तीपद प्राप्त हो — इस प्रकार के परिणाम सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को उनकी भावना नहीं होती और सभी सम्यग्दृष्टियों को उस प्रकार के परिणाम भी नहीं आते। जिसमें उस-उस जाति की योग्यता हो, उसे ही वैसे परिणाम होते हैं। किसी सम्यग्दृष्टि को भी अनादि-सान्त संसार में उस जाति के परिणाम कभी नहीं आते।

अरे! जिसने संसार में कभी स्वर्ग अथवा नरक का एक भी भव नहीं किया हो, अनादि निगोद (नित्य निगोद) में से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर ले — ऐसे जीव भी जगत में होते हैं। देखो तो सही विचित्रता! कोई जीव तो अनन्त बार नरक या स्वर्ग का अवतार कर चुके और किसी जीव को अनादि-सान्त संसार में, स्वर्ग या नरक का भव हो, वैसे परिणाम ही नहीं आये। एक जीव तो तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा जीव साधारण राजा भी नहीं होता; सामान्य मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। जीवों के उस-उस जाति के विकल्पों की विचित्रता है।

धर्मी को यह विचित्रता देखकर आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह मात्र विचित्रता को ही नहीं देखता; अपितु एकरूप स्वभाव की दृष्टि को मुख्य रखकर, पर्याय की विचित्रता का ज्ञान करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही संसार के समस्त पहलुओं का भान होता है; अत: उसे ही सच्ची संसारभावना होती है। अकेली पर्यायबुद्धिवाले अज्ञानी जीव को संसारभावना नहीं होती। स्वभाव क्या है और संसार क्या है? इसका ही जिसे भान नहीं है, वह अज्ञानी तो पर्याय की विचित्रता को देखकर विस्मयता में अटक जाता है और ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर होने से उसे पर्याय की विचित्रता में विस्मयता नहीं होती, अपितु प्रतिक्षण वीतरागता बढ़ती है।

अज्ञानी को तो यथार्थ बारह भावनाएँ होती ही नहीं। जिसकी रुचि विचित्रता के परिणाम पर है और द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि नहीं है, उसे विचित्रता में राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते। संसारभावनावाले को पर्यायबुद्धि नहीं होती, अपितु चिदानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ही इस प्रकार के विचार की श्रेणी चलती है। धर्मी को पर्याय की विचित्रता का विस्मय नहीं होता।

संसार में अनादिकाल से किसी जीव ने तो तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय भव ही प्राप्त नहीं किया हो, वैसे भाव ही उसे नहीं आए हों और निगोद में से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है तथा किसी जीव को एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तक के अनन्त भव हो गये हों, नौवें ग्रैवेयक के तथा सातवें नरक के अनन्त भव हो गये हों — ऐसे परिणाम आते हैं।

देखो, यह संसार की विचित्रता! धर्मी जीव को स्व-पर की पर्याय की अनेक प्रकार की विचित्रता ख्याल में आने पर भी, उसमें विस्मयता नहीं लगती। 'ऐसा क्यों?' — यह प्रश्न ही उसे नहीं रहता। वह जानता है कि संसार में ऐसी ही विचित्रता होती है।

धर्मी को पर्यायबुद्धि नहीं है। जो पर्याय होनेवाली है, उसे बदला नहीं जा सकता — ऐसा जाननेवाले को द्रव्यबुद्धि हुए बिना नहीं रहती। पर्याय को स्वतन्त्र माननेवाले की दृष्टि द्रव्य पर होना चाहिए और द्रव्यदृष्टिवन्त की पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है।

जगत् में अनन्त जीव हैं, उनके द्रव्य-गुण समान होने पर भी पर्याय में विचित्रता है, क्योंकि पर्याय भी स्वतन्त्र होती है। 'इस काल में ऐसी ही पर्याय करूँ' — ऐसा माननेवाले को पर्याय की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है और द्रव्य-गुण की भी प्रतीति नहीं है।

जैन सिद्धान्त की किसी एक बात का भी यथार्थ स्वीकार होने पर अन्तरङ्ग में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। पुण्य, तीर्थङ्कर, समवसरण इत्यादि किसी एक बात का भी यथार्थ स्वीकार होने पर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

पर्याय में विचित्रता के काल में विचित्रता है। द्रव्य-गुण समान होने पर भी पर्याय के प्रकार में अन्तर क्यों? — ज्ञानी को ऐसा सन्देह अथवा विस्मयता नहीं होती। धर्मी जीव तो निज एकरूप स्वभाव पर दृष्टि रखकर, उस विचित्रता को जानता है।

देखो, जगत् में समवसरण अनादि से है। जब यहाँ भगवान महावीर परमात्मा विराजमान थे, तब यहाँ भी समवसरण था। अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, वहाँ समवसरण हैं, सन्त-मुनियों के झुण्ड हैं। वहाँ भगवान की वाणी में एक साथ बारह अङ्ग का रहस्य आता है, एक समय में सम्पूर्ण रहस्य उद्घाटित होते हैं और समझनेवाले अपनी योग्यतानुसार समझते हैं। अभी भी कहनेवाले के अभिप्राय में जितनी गम्भीरता होती है, उस

अनुसार ही सभी नहीं समझ लेते परन्तु सब अपने-अपने क्षयोपशम की योग्यतानुसार ही समझते हैं।

जगत् में अनन्त जीवों के द्रव्य-गुण एक समान हैं, पर्याय में विकार है। उसमें किसी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है और उसके फल में समवसरण की रचना होती है। इन सबकी अस्ति स्वीकार करनेवाला ही समवसरण को मान सकता है।

देखों, कोई जीव आत्मा का भान करके, यथार्थ चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होता है। वह हजारों वर्ष आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहने पर भी उसे तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता और किसी चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को भी तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाता है। उस स्थिति में मुनि को यह शङ्का नहीं होती कि 'अरे! इस अविरत सम्यग्दृष्टि को तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो गया और मुझे चारित्रदशा होने पर भी तीर्थङ्कर नामकर्म क्यों नहीं बँधा? क्या मेरे चारित्र में कोई कमी है?' इस प्रकार शङ्का नहीं होने का कारण यह है कि मुनि को पता है कि मेरे चारित्र का फल बाहर में नहीं आता। चारित्र के फल में तो केवलज्ञान प्रगट होकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

अरे! तीर्थङ्कर नामकर्म तो राग का फल है। आत्मा के चारित्र के फल में तो अन्दर में शान्ति आती है। क्या चारित्र से भी कर्मबन्ध होता है? चारित्र तो धर्म है, उससे बन्धन नहीं हो सकता और जिस भाव से बन्धन हो, उस भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता। सम्यग्दृष्टि को राग के फल में तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है किन्तु उस धर्मात्मा को उसकी भावना नहीं होती, वह ज्ञानी उस राग को धर्म नहीं मानता। देखो, यह संसारभावना! यथार्थ तत्त्व के भान बिना बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होती।

जगत् में अनेक जीव हैं, वे द्रव्य-गुण से समान होने पर भी कोई तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधता है, कोई नहीं बाँधता। क्षायिकसम्यग्दर्शन होने पर भी किसी को तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता और क्षयोपशम सम्यग्दर्शनवाले को बँध जाता है। इसका कारण? वह-वह पर्याय सत् है। 'उसमें ऐसा क्यों?' यह प्रश्न ही नहीं है। वस्तु का सत्स्वरूप है; द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय भी सत् है — ऐसे सत् की प्रतीति करे तो ऐसा क्यों? — यह प्रश्न ही नहीं रहता, अपितु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होकर वीतरागता प्रगट हो जाती है।

देखो, आज समवसरण का दिवस है और यह संसारभावना का वर्णन है। जगत् में विचित्रता है, प्रत्येक जीव के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं और उनके निमित्त से बँधनेवाले कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। उनके फल में किसी को समवसरण होता है, किसी को नहीं होता। जिसे संसार की ऐसी विचित्रता जँचती है, उसे पर्याय की विचित्रता को देखकर सन्देह नहीं होता।

यहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ५५वीं गाथा चलती है। इसमें कहते हैं कि जगत् में अनेक प्रकार के विचित्र दु:ख सहन करने पर भी जीव सद्धर्म में वृद्धि नहीं करता। धर्मी को तो सद्धर्म की बुद्धि है, उसे संयोग-वियोग देखकर, उनमें पर्यायबुद्धि नहीं होती। ऐसा क्यों? यह प्रश्न नहीं होता, क्योंकि पदार्थ सत् है; इसलिए उसकी पर्याय की योग्यता अनुसार ही संयोग-वियोग होता है। स्वभाव की दृष्टिपूर्वक ऐसी भावना भाने से धर्मी को स्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है और सहज आनन्द बढ़ता जाता है; इसलिए यह भावना भव्य जीवों को आनन्द की जननी है।

इन भावनाओं की रचना, जिन वचन की भावना के लिए है; इसलिए यह भावनाएँ भाकर, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों जैसे हैं, वैसे समझकर, उनकी प्रतीति करता है; उसमें उसे वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और आनन्द का अंश प्रगट होता है। बारह भावनाएँ भानेवाले की योग्यता कितनी होती है? उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान होता है। सम्यग्दर्शन के बिना बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होती। जिन वचन से विरुद्ध कहनेवाले कोई भी देव-शास्त्र-गुरु को जो मानता है, उसे बारह भावनाएँ नहीं होती।

अहो! संसार में विचित्र संयोगों, विचित्र परिणामों का कारण क्या है? पर्याय का विचित्र स्वभाव ही उसका कारण है। मैं द्रव्य-गुण से त्रिकाल एकरूप हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टिपूर्वक धर्मी जीव, पर्याय की विचित्रता को जानता है। क्षण-क्षण का राग और संयोग स्वतन्त्र है और उस क्षण ध्रुवस्वभाव भी स्वतन्त्र है, इस प्रकार सबको जानकर, धर्मी जीव ध्रुवस्वभाव के सन्मुख होता है।

अहो! जगत् में जीव इस मनुष्यभव को पाकर क्षणिक राग और संयोग को ही देखते हैं परन्तु उनके चारित्रगुण की विपरितदशा होकर राग हुआ है। वे निज ध्रुव चिदानन्दस्वभाव का स्वीकार नहीं करते; इसलिए संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

इस प्रकार धर्मी जीव, संसारभावना भाता है। यह भावना भानेवाले को अपने स्वभाव का भान है, उसकी पर्यायबुद्धि छूट गयी है। ●●

गाथा ५६

सधणो वि होदि णिधणो, धण-हीणो तह य ईसरो होदि।
राया वि होदि भिच्चो, भिच्चो वि य होदि णर णाहो॥

धनवान हो निर्धन तथा, निर्धन मनुज धनवान हो।
नृप भी लहे दासत्व को, नौकर कभी नर नाथ हो॥

अन्वयार्थ : [सधणो वि होदि णिधणो] धनसहित तो निर्धन हो जाता है, **[तह य धणहीणो ईसरो होदि]** वैसे ही जो धनरहित होता है, सो ईश्वर (धनी) हो जाता है **[राया वि भिच्चो होदि]** राजा भी किंकर (नौकर) हो जाता है **[य भिच्चो वि णरणाहो होदि]** और जो किंकर होता है, सो राजा हो जाता है।

गाथा ५६ पर प्रवचन

जीव के राग अलग-अलग प्रकार का, उसके फल में प्राप्त संयोग भी अलग-अलग प्रकार के और उस समय क्षयोपशम भी उस जाति का होता है। किसी को सधनता से निर्धनता हो जाती है, वहाँ उस समय ज्ञान में भी वैसा ही जानने का क्षयोपशम है; इसलिए धर्मी को ज्ञान की प्रतीति भी साथ ही है। एक मनुष्य के पास लक्ष्मी है, तब उसकी ज्ञान की पर्याय में 'लक्ष्मी है', ऐसा वह जानता है और राग करता है, वहाँ ज्ञानगुण तो त्रिकाल है। ज्ञान के कारण लक्ष्मी नहीं आती, लक्ष्मी के कारण ज्ञान नहीं हुआ; लक्ष्मी के कारण राग नहीं हुआ, राग अपनी योग्यता से हुआ है। ज्ञान की पर्याय स्वयं से विकसित हुई है और धन का संयोग, जड़ के कारण हुआ है। इस प्रकार स्वतन्त्रता जानकर स्वभाव का ज्ञान करना चाहिए।

जब सधनता से निर्धनता हो जाए, तब ज्ञान का उस समय का क्षयोपशम वैसा जानने का है। द्वेष का अंश आ जाए, वह निर्धनता के कारण नहीं है। संयोग सत्, ज्ञान सत् और द्वेष का अंश भी सत् है। यह जीव निर्धनता के कारण दु:खी नहीं है, अपितु अपने द्वेषभाव के कारण दु:खी है। यदि उस द्वेष पर्याय को अपनी जानें तो पर्यायवान द्रव्य प्रतीति में आये बिना नहीं रहता। तीन लोक के नाथ द्वारा कही गयी और वस्तु के स्वभाव में रही हुई, ऐसी यह चीज है — ऐसा प्रमाण से कहा जाता है।

मोक्षमार्ग की यही रीति और यही प्रकार है; दूसरा मार्ग नहीं है। निर्धनता हुई, वह ज्ञान में ज्ञात हुई और अरुचि हुई; वहाँ अज्ञानी इतना ही देखता है परन्तु उस समय अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को नहीं देखता। अरे भाई! तू निर्धन नहीं है। तुझमें त्रिकाल ज्ञानशक्ति का भण्डार भरा हुआ है, उसमें एकाग्र हो तो केवलज्ञान प्रगट हो, ऐसा निधान तुझमें भरा है। ज्ञानगुण त्रिकाल है और उसकी पर्याय स्वतन्त्र उस-उस काल में होती है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान में धर्मी जानता है कि अहो! जीव अन्तर्मुख नहीं होते। धर्मी स्वयं अन्तर्मुख होकर ऐसी भावना करता है।

देखो, यह सत् का मेल! निर्धनता हुई, वह उसका काल है; ज्ञान में वैसा जानने का क्षयोपशम हुआ, वह ज्ञान का काल है; उस काल में द्वेष का अंश आया, वह चारित्र की पर्याय का काल है — ऐसी प्रतीति करे तो अन्दर में सब समाधान हो जाता है और द्रव्य पर दृष्टि जाती है। ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य पर है; इसलिए उसे निर्धनता में अथवा द्वेष के अंश में अथवा उस समय के क्षयोपशम में ही मैंपना नहीं होता; अपितु चिदानन्द अखण्ड तत्त्व में ही मैंपने का वेदन होता है।

निर्धन में से सधन हुआ, वहाँ अज्ञानी को एकत्वबुद्धि से राग होता है और सधन से निर्धन होने पर एकत्वबुद्धि से द्वेष होता है। धर्मी को उस समय स्वभाव का भान है; इसलिए पर्यायबुद्धि नहीं होती और उसे स्वभाव से चूककर राग-द्वेष नहीं होते। ऐसे धर्मी को ही यथार्थ संसारभावना होती है।

आज, मानस्तम्भ के शिलान्यास का मुहूर्त है। कितने ही जीवों यह को नया लगता है परन्तु भाई! तीर्थङ्करों की सभा में भी मानस्तम्भ होता है। जो जीव तीर्थङ्कर होता है, उसने पूर्व में आत्मा का भान किया है परन्तु पूर्ण वीतरागता नहीं हुई; इसलिए तीर्थङ्करनामकर्म बँधने योग्य

शुभभाव आता है। आत्मा का भान होने के पश्चात् एक ही जाति के शुभराग का परिणाम नहीं होता। इस जीव को ऐसा ही शुभराग क्यों? पूर्व में कहीं तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा नहीं है कि जिसके निमित्त से ऐसा शुभराग आता है। वह जीवद्रव्य ही ऐसा है कि उसे ही उस प्रकार का शुभराग होता है और तीर्थङ्कर पुण्यप्रकृति बँधती है। जब तेरहवें गुणस्थान में उस प्रकृति का उदय आता है, तब तीर्थङ्कर को राग नहीं होता। उस पुण्यप्रकृति के पुण्योदय के निमित्त से इन्द्र आकर समवसरण की रचना करते हैं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरस्वामी विराजमान हैं, वहाँ इन्द्रों द्वारा रचित समवसरण है, उसी का प्रतीक यहाँ है।

भगवान के समवसरण में चारों ओर चार मानस्तम्भ होते हैं। उन्हें देखकर मान गल जाता है। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व कदाचित् न जाए तो भी उसे ऐसा तो लगता है कि ये कोई अलौकिक पुरुष हैं, इस प्रकार उसका मान गल जाता है।

तीर्थङ्कर भगवान तो वीतराग हैं, उन्हें समवसरण के साथ कुछ लेना-देना नहीं है। तेरहवें गुणस्थान में तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आता है, इन्द्र समवसरण की रचना करते हैं, उसमें वह पुण्योदय निमित्त है। तीर्थङ्कर पुण्यप्रकृति के विपाक के समय जो संयोग आनेवाले हों, वे आते हैं। जिसे चिदानन्द आत्मस्वभाव का अनुभव हुआ, ऐसे किसी जीव को ऐसे पुण्य परिणाम होने पर उसके निमित्त से भगवान के समवसरण में मानस्तम्भ होते हैं। यहाँ भरतक्षेत्र में जब भगवान महावीर तीर्थङ्कररूप में थे, तब उनके समवसरण में चारों ओर चार मानस्तम्भ थे। गौतम ब्राह्मण थे, मानस्तम्भ देखते ही उनका मान गल गया। उस समय गौतम ने आत्मा का भान पाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा को प्राप्त किया। भगवान की दिव्यध्वनि छूटी, वे गणधर पद को प्राप्त हुए और द्वादशाङ्ग की रचना की।

मध्यलोक में आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप है, उसमें शाश्वत् प्रतिमाएँ हैं। वहाँ देवगण कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ माह का अष्टाह्निका महोत्सव मनाते हैं और वहाँ शोभा का पार नहीं है। वहाँ भी मानस्तम्भ होते हैं, उन मानस्तम्भों को धर्मवैभव भी कहते हैं। वस्तुत: वास्तविक धर्मवैभव तो आत्मा में है परन्तु जिसने शुभभाव करके देवगति प्राप्त की हो, उसे नन्दीश्वरद्वीप का धर्मवैभव देखने का भाग्य होता है। मनुष्य तथा पशु की उस नन्दीश्वरद्वीप में जाने की शक्ति नहीं है।

भुवनपति और व्यन्तरलोक में शाश्वत् प्रतिमाएँ हैं। वहाँ, तथा वैमानिक देव में भी मानस्तम्भ होते हैं। पहले स्वर्ग का मानस्तम्भ छत्तीस योजन ऊँचा है — ऐसे अनेक हैं। उस मानस्तम्भ में नीचे छह और छह योजन छोड़कर चौबीस योजन के अन्दर भरतक्षेत्र के तीर्थङ्करों के लिए कपड़े और गहने रहते हैं।

समकिती जीव, संसारभावना का विचार करते हैं कि तीर्थङ्कर के पुण्य के और बाह्य संयोग के मेल है। साधारण मनुष्य को तो देखने को भी नहीं प्राप्त हो, मानस्तम्भ में रत्नों के ऐसे बड़े सींक होते हैं। उसमें पिटारे होते हैं और भरतक्षेत्र के तीर्थङ्करों के जन्म से लेकर दीक्षा तक उनके लिए वस्त्र-गहने स्वर्ग से आते हैं। तीर्थङ्कर बालक अवस्था में माता का दूध नहीं पीते तथा बालक से मुनि हों, तब तक इन्द्रों द्वारा लाये जानेवाले गहने-वस्त्र-भोजन को भोगते हैं।

ऐरावतक्षेत्र के तीर्थङ्करों के लिए गहने-वस्त्र दूसरे देवलोक के मानस्तम्भ में रहते हैं और वहाँ से देव लाते हैं। महाविदेह के तीर्थङ्करों के लिए गहने इत्यादि सनतकुमार और महेन्द्र देवलोक में से इन्द्र लाते हैं।

मानस्तम्भ मानियों का मान गलाने के लिए निमित्त है। उसे देखकर जीव विचारते हैं कि यह जिसका वैभव है, वह आत्मा कैसा ? समवसरण की ऋद्धि में विराजनेवाला आत्मा कैसा ? इतना वैभव होने पर भी उनका आत्मा अकषायी चैतन्य है। पर की उपेक्षावाला, अन्तर सर्वज्ञता प्रगट हुई, वह आत्मा कैसा होगा ? फिर भी उनके वैभव का पार नहीं। भाई ! यह बात तो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते और पाँच महाव्रतधारी महामुनियों और सर्वज्ञ द्वारा कथित है।

शास्त्र में मानस्तम्भ का वर्णन आता है। वर्तमान में हिन्दुस्तान में भी बहुत जगह मानस्तम्भ हैं। बहुत से लोगों को प्रश्न होता है कि आत्मा की बात सुननेवाले को इसकी क्या आवश्यकता है ? तो उनसे कहते हैं कि रागी जीव को विचित्र प्रकार के शुभभाव आते हैं परन्तु शुभभाव आते हैं, इसलिए कार्य होता है — ऐसा नहीं है। यद्यपि कार्य तो उसके अपने काल में होता है, तथापि विकल्प आये बिना नहीं रहता।

जो यह कहता है कि आत्मा की बातें करनेवाले को यह क्या ? यह प्रश्न करनेवाला जीव, राग को तथा पुण्यतत्त्व को नहीं समझता। ऐसा राग क्यों आता है ? भाई ! अपूर्णदशा में इस प्रकार का धर्मानुराग आये बिना नहीं रहता। वस्तुतः तो धर्मी जीव अपनी आत्मा का गुणगान करता है और बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान और प्रभावना करता है। जो जीव शुभराग के अस्तित्व को नहीं समझता, उसे संसार और धर्म के बीच विवेक करना नहीं आता।

बाहर के जड़ पदार्थों की अवस्था शुभराग के कारण नहीं होती और बाह्य पदार्थ हैं, इसलिए शुभराग होता है, ऐसा भी नहीं है; दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। समवसरण अजीवतत्त्व है, वह शुभराग से नहीं बनता और राग के समय, राग आये बिना नहीं रहता। राग के कारण मानस्तम्भ बन जाए, ऐसा नहीं होता; तथापि शुभराग, धर्म के प्रति अनुराग को बताता है।

अज्ञानी जीव इसे प्रवृत्ति कहते हैं और अपने को प्रवृत्ति में नहीं पड़ना — ऐसा कहते हैं। भाई ! जड़ की प्रवृत्ति कौन कर सकता है ? पुद्गल पदार्थों की अवस्था जिस काल में होनी हो, उस काल में होती है; राग के कारण बाह्य प्रवृत्ति की जा सकती है — ऐसा है ही नहीं, फिर भी राग आये बिना नहीं रहता। स्वभाव के भानपूर्वक लीनता और राग का अभाव, यह वास्तविक प्रवृत्ति है। अज्ञानी जीव, अज्ञान के कारण असमंजस में हैं परन्तु यह सब वस्तुस्थिति है।

ज्ञानी जीव, संसारभावना का विचार करता है कि अहो ! ज्ञानस्वभाव द्वारा स्व को जानते हुए परप्रकाशक ज्ञान खिलता है और पर को जानने की जैसी ज्ञानपर्याय खिलती है, वैसे संयोग सामने होते हैं। ज्ञान खिला, इसलिए संयोगों को आना पड़ा — ऐसा भी नहीं है। संयोग आये, इसलिए परप्रकाशक ज्ञान खिला — ऐसा भी नहीं है। यहाँ के जीवों की ज्ञान की योग्यता है, उन्हें ऐसे निमित्त देखने को मिलते हैं और जिसे इस प्रकार के ज्ञान की योग्यता नहीं है, उसे निमित्त भी नहीं होते।

प्रति समय की रागपर्याय, प्रति समय की ज्ञानपर्याय और निमित्तों की प्रति समय की पर्याय —- ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं, स्वतन्त्र हैं। शुभराग के कारण निमित्त नहीं हैं और निमित्त तथा शुभराग के कारण ज्ञानपर्याय नहीं है। समवसरण और मानस्तम्भ के विचार आ जाते हैं,

उस जाति का भाव आता है, इन प्रकारों में गम्भीर रहस्य रहे हुए हैं। आगे-पीछे के न्याय समझे तो सब वस्तुस्थिति समझ में आ सकती है।

धर्मी जीव, संसारभावना का विचार करता है कि अहो! निर्धन प्राणी, ईश्वर अर्थात् सधन हो जाता है। किसी पर देव आकर प्रसन्न हो जाता है, इसका कारण क्या ? कारण कुछ नहीं है; यदि निमित्त कारण लेना हो तो पूर्व का पुण्य और उसका कारण उसके पूर्व के पुण्य परिणाम हैं। लक्ष्मी का ढेर आया, उस समय ज्ञान की पर्याय उस लक्ष्मी को जानने की योग्यतावाली है। ज्ञानी को अपना स्व-परप्रकाशक स्वभाव विकसित हुआ है, ज्ञान में से ज्ञान प्रगट हुआ है। पर के कारण ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है, उसे अपने ज्ञान में रहकर राग और लक्ष्मी का ज्ञान वर्तता है।

अज्ञानी जीव अपनी होशियारी से पैसा आना मानता है और इसलिए मुझे राग हुआ, ऐसा मानता है और इसी कारण मुझे जानना हुआ, ऐसा मानता है। इस प्रकार एकत्वबुद्धि करता है। ज्ञानी विचारता है कि बुद्धिहीन पुरुष भी पूर्व पुण्य के कारण धनाढ्य हो जाता है। पूर्व का शुभभाव, कर्म, लक्ष्मी इत्यादि को ज्ञानी ज्यों का त्यों जानता है। लक्ष्मी, लक्ष्मी के कारण आती है, उसमें पुण्य निमित्त है — ऐसा जानता है। चैतन्य का धनी/ज्ञानी जीव, ज्ञान की भावना भाता है।

ये सब भावनाएँ आनन्द की उत्पत्ति करनेवाली हैं। इन भावनाओं को भानेवाले जीव को राग घटता जाता है और प्रति समय शान्ति का समय बढ़ता जाता है। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे स्वभाव के भानपूर्वक स्वभाव की एकाग्रता होती जाती है, इसी का नाम भावना है।

सधनपना ठीक है, यह बात तो है ही नहीं परन्तु ये पर्याय आयी क्यों ? धन के परमाणु क्यों आये ? पूर्व पुण्य के कारण आये — ऐसा कहना भी व्यवहार है। तेरा ज्ञानस्वभाव उन्हें जानने का था, ऐसा कहना भी व्यवहार है। धन के परमाणुओं का आना स्वतन्त्र होता है — ऐसा ज्ञानी विचार करता है।

विपरीत मान्यता और राग जितना ही मैं हूँ, एक समय की पर्याय वह मैं हूँ — ऐसा माननेवाला पर्यायबुद्धि जीव, निर्धन है। वह आत्मा की श्रद्धा करे तो सधन होता है।

प्रश्न – पैसेवाले तो बड़े कहलाते हैं न?

उत्तर – व्यवहार से ऐसा बोला जाता है परन्तु उसकी पर्याय में ममता पड़ी है, इसलिए ममतावाला कहलाता है। लक्ष्मी कहीं पर्याय में नहीं आती, परन्तु पर्याय में ममता के परिणाम हैं, इसलिए ममतावाले कहलाते हैं। अधर्मी जीव को अकेली ममता है, उसे चैतन्य का भान नहीं है। विचार करनेवाला जागृत नहीं हुआ, उसे ममता और चैतन्य की एकता भासित होती है; इसलिए उसे धर्म नहीं होता। वह धर्म को तो जानता ही नहीं, किन्तु ममता के यथार्थस्वरूप को भी नहीं जानता।

ज्ञानी जानता है कि ममता में चैतन्य नहीं है और चैतन्य में ममता नहीं है – ऐसा निश्चित करने से चैतन्य का ज्ञान होने पर, ममता का ज्ञान भी हो जाता है। ज्ञानी समझता है कि पूर्व पुण्य के योग से जो संयोग प्राप्त होने हैं, वे होंगे। अज्ञानी मानता है कि शीघ्र गये होते तो अधिक रुपये मिलते; इस प्रकार वह पर के साथ एकत्वबुद्धि करता है।

अब, कहते हैं कि राजा हो, वह किङ्कर / दास हो जाता है। उसका कारण? वास्तव में किङ्कर होने का समय था, इसलिए हुआ है। बाह्य में पूर्व का कर्म कारण है। कोई नौकर हो, वह राजा हो जाता है। ज्ञानी जीव चिद्घन का विचार करते हुए संयोग का ज्ञान करता है। धर्मी को अनुकूल संयोगों के कारण अभिमान नहीं होता है।

देखो, यह ५६वीं गाथा है। पाँच और छह का योग करने से ग्यारह अर्थात् दो इक्के होते हैं; एक बादशाह है, वह बड़ा है। इसी प्रकार यह ५६वीं गाथा आज आयी है, यह मानस्तम्भ की महाभेरी बजी है। सत्य समझना हो तो वीतरागमार्ग में है — ऐसा मानस्तम्भ प्रसिद्ध करता है।

चैतन्य और राग के बीच भेदज्ञान धीरजवाले ही कर सकते हैं। यह बात नहीं समझ में आवे तो जीव भटकता है अर्थात् ख्याल में न आवे, ऐसी है, इसलिए धीरज से सुनना चाहिए। अनन्त काल के अनन्त भवों में राग क्या? चैतन्य क्या? धर्म क्या? — यह यथार्थ रुचिपूर्वक सुना भी नहीं है। ज्ञानी के कहने का भाव अपने को बैठे तो बात सुनी कही जाए। ज्ञानी, संसारभावना भाते हुए विचारते हैं कि रङ्क से राजा हो, राजा से रङ्क हो — यह सब संयोगीस्वभाव है; इसमें ज्ञानी को अद्भुतता नहीं लगती।

कितने ही जीव मानते हैं कि अपने पास तो न्याय नीति से कमाया हुआ धन है, इसलिए वह नहीं जाएगा। परन्तु भाई! कषाय मन्दता तो जीव की पर्याय है, क्या उसके कारण जड़ पदार्थ रहता होगा? और अनीति के भाव के कारण लक्ष्मी नहीं रहती — ऐसा भी नहीं है। अनीतिवाला था, इसलिए किङ्कर हो गया — ऐसा भी नहीं है और नीतिवाला है, इसलिए पैसा आया — ऐसा भी नहीं है।

धर्मी जीव जानता है कि पूर्व पुण्य के कारण पैसा आता है; उसमें उसे विस्मय नहीं होता। ज्ञानी जीव गरीब हो जाए तो उसे शङ्का नहीं होती कि मुझमें अनीति होगी, इसलिए मुझे निर्धनता मिली होगी और कोई अनीतिवाला धन कमा ले तो उसके परिवार में कोई नीतिवाला होगा, इसलिए उसके पुण्य के कारण दूसरे को धन प्राप्त हो जाए — ऐसा भी नहीं होता। धर्मी समझता है कि जड़ परमाणु उनके काल में आते हैं, व्यवहार से उस काल में जीव का कर्म निमित्त है। ●●

भगवान को भी मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

देखो! इन्द्र भी जिनका जन्मोत्सव मनाते हैं, ऐसे भगवान को भी अन्तर में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी रागरहित दशा आत्मा की हो तो बाहर में जैसा माता ने जन्म दिया है, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो जाती है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हो गया हो और बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादि का सम्बन्ध रहे – ऐसा तीन काल और तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज उन्होंने वह दशा अङ्गीकार की है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २४

गाथा ५७

सत्तू वि होदि मित्तो, मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू।
कम्म-विवाय-वसादो, एसो संसार-सब्भावो॥

शत्रु होते मित्र अथवा, मित्र भी शत्रु बनें।
पूर्व कर्म विपाक वश, यह ही जगत की रीति है॥

अन्वयार्थ : [कम्म-विवाय-वसादो] कर्म विपाक के वश से **[सत्तू वि मित्तो होदि]** शत्रु भी मित्र हो जाता है **[तहा मित्तो वि य सत्तू जायदे]** और मित्र भी शत्रु हो जाता है, **[एसो संसार-सब्भावो]** ऐसा संसार का स्वभाव है।

भावार्थ : पुण्यकर्म के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाता है और पापकर्म के उदय से मित्र भी शत्रु हो जाता है।

गाथा ५७ पर प्रवचन

देखो, संसार में कोई शत्रु हो तो वह भी मित्र बनकर हालचाल पूछता है। वहाँ धर्मी जानता है कि यह सब पूर्व पुण्योदय के कारण होता है परन्तु वह पुण्य ठीक है — ऐसी इच्छा करने योग्य नहीं है। शत्रु मेरा मित्र हो जाए — ऐसी इच्छा करनेवाला तो कर्म की भावना भाता है। वस्तुतः मित्र तो अपना आत्मा है। कोई शत्रु था, तब ज्ञान की योग्यता उसे जानने की थी; उसका निषेध करने से तो ज्ञानपर्याय का ही निषेध हो जाता है। मुझे यह ज्ञेय नहीं चाहिए, इस प्रकार ज्ञेय का निषेध करनेवाला, ज्ञानपर्याय का निषेध करता है।

तेरा स्वभाव शत्रु को दूर करने का नहीं है, अपितु उसे जानने का तेरा स्वभाव है। कोई मित्र हो, वह शत्रु हो जाए तो उसे भी जानने का तेरा स्वभाव है परन्तु मित्र से प्रेम करना —

यह बात वस्तु में/तेरे स्वभाव में नहीं है। किसी धर्मी जीव के पापोदय से शत्रु बढ़ जाएँ और किसी पापी के मित्र बढ़ जाएँ तो इससे ज्ञानी को विस्मयता नहीं होती; ज्ञानी को तो स्व-परप्रकाशक ज्ञान में दृढ़ता होती है। 'ऐसा क्यों?' — ऐसी शङ्का ज्ञानी को नहीं होती। यह भी नहीं है कि धर्म के कारण मित्र हुए हैं और पाप के कारण शत्रु हुए हैं; वस्तुतः सभी स्वतन्त्र हैं।

इस प्रकार संयोगों का स्वभाव, राग का स्वभाव जानकर, ज्ञान को पहिचानकर, ज्ञान में स्थिर होना ही कर्तव्य है।

धर्मी जीव, संसारभावना का विचार करता है। विकार का नाम संसार है और वह दुःखरूप है तथा अन्दर में मेरा स्वभाव त्रिकाल आनन्ददायक है — ऐसा जिसे भान हुआ और पर्यायबुद्धि छूट गयी है, वह जीव, संसारभावना का यथार्थ विचार कर सकता है। जिसे सुखदायक आत्मा की दृष्टि हो, वही दुःखदायक संसार का विचार कर सकता है। जिसे अन्तरङ्ग में शुद्धस्वभाव का विश्वास आया है और अभी पर्याय में किञ्चित् राग भी है, वह जीव विचार करता है कि अहो! आत्मा की पर्याय में होनेवाला विकार, उससे बँधनेवाला कर्म और उसके निमित्त से प्राप्त संयोंगो में मेरा सुख नहीं है।

इस प्रकार धर्मी जीव, विकार अथवा संयोंगो की सन्मुखता को दुःखरूप जानकर, स्वभाव को सुखरूप जानकर, स्वभाव में एकाग्रता की अभिवृद्धि करता है - यही वास्तविक संसारभावना है।

धर्मी विचार करता है कि इस संसार में शत्रु भी पुण्यकर्म के उदय से मित्र हो जाता है। आत्मा के विकल्प के कारण दूसरा जीव, शत्रु अथवा मित्र नहीं होता; अपितु यह सब प्रसङ्ग तो संसार की विचित्रता के कारण बनते हैं। यहाँ किञ्चित् द्वेषपरिणाम होने पर भी दूसरा जीव अनुकूलता से अर्थात् मित्ररूप से वर्तता है और स्वयं दूसरे जीव के प्रति अनुकूलता का भाव करने पर भी वह जीव द्वेषभावरूप प्रवर्तता है। इस प्रकार पुण्य-पाप के अनुसार वैसा संयोग बनता है। पूर्व के पुण्यपरिणाम से जो कर्म बँधा, उसके फल में जो अनुकूल संयोग प्राप्त हुए, उस समय भी धर्मी जीव को अन्दर में स्वभाव की अनुकूलता वर्तती है अर्थात् उसे स्वभाव

की रुचि और भावना प्रगट हुई है, इस कारण बाह्य संयोग में सुखबुद्धि नहीं होती, उसी जीव को संसारभावना होती है।

धर्मात्मा को बाह्य में पापोदय होने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। कोई छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते महा-धर्मात्मा मुनि हों, उन्हें तो किसी के प्रति द्वेष नहीं होता; फिर भी कोई देव आकर, बैरबुद्धि से उन्हें उठाकर समुद्र में फेंक दे अथवा पर्वत पर पछाड़े, वहाँ बाह्य में आनेवाली प्रतिकूलता बाह्य संयोग है, वे मुनिराज तो जानते हैं कि मैं तो ज्ञान हूँ। धर्मी को ऐसा विचार आता है कि अरे! यह संसार की विचित्रता ही ऐसी है कि मेरे द्वारा अनुकूलता अर्थात् मित्रपना रखने पर भी अन्य जीव शत्रु हो जाता है; वस्तुतः वह मेरे परिणाम का कार्य नहीं है। संयोगाधीन हुए जीव दुःखी हैं और स्वभावाधीन हुए जीव सुखी ही हैं।

जो जीव, स्वभाव को चूककर संयोगों के आधीन होते हैं, वे जीव दुःखी ही हैं। जिन्हें सुखदातार चैतन्य का अवलम्बन वर्तता है, वे ही जीव संसार को दुःखदायकरूप विचार कर सकते हैं। जिसकी बुद्धि किसी भी संयोग के आधीन है, वह जीव वस्तुतः संसार को दुःखदायक नहीं मानता। जिसे स्वभावाधीन सुख प्रगट हुआ है, वही जीव संसार को दुःखदायक जानकर, संसारभावना भाते हुए अपने स्वभाव में एकाग्रता की वृद्धि करता जाता है।

●●

मुनिवरों को बाह्य विषयों की आसक्ति नहीं

जिस प्रकार घोर निद्रा में सोते हुए को आसपास की दुनिया का भान नहीं रहता, **उसी प्रकार चैतन्य की अत्यन्त शान्ति में स्थिर हुए मुनिवरों को जगत के बाह्य विषयों में किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती**; भीतर स्वरूप की लीनता में से बाहर निकलना जरा भी अच्छा नहीं लगता; आसपास जङ्गल के बाघ और सिंह दहाड़ रहे हों, तथापि उनसे जरा भी नहीं डरते या स्वरूप की स्थिरता से किञ्चित् भी चलायमान नहीं होते।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, २११, पृष्ठ १२८

गाथा ५८

अब, देवगति का स्वरूप कहते हैं —

अह कहवि हवदि देवो, तस्स य जायेदि माणसं दुक्खं।
दट्ठूण महड्ढीणं, देवाणं रिद्धिसंपत्ती॥

पुण्य फल से देव हो, बहु ऋद्धि धारक देव की।
ऋद्धियों को देखकर, यह मानसिक अति दुःख लहे॥

अन्वयार्थ : [अह कहवि देवो हवदि] अथवा बड़े कष्ट से देव भी होता है तो **[तस्स]** उसके **[महड्ढीणं देवाणं]** बड़े ऋद्धिधारक देवों की **[रिद्धिसंपत्ती दट्ठूण]** ऋद्धि/सम्पत्ति को देखकर **[माणसं दुक्खं जायेदि]** मानसिक दुःख उत्पन्न होता है।

गाथा ५८ पर प्रवचन

अब, देवगति के दुःखों का वर्णन करते हैं।

देखो, यह मिथ्यादृष्टि जीवों के दुःखों का वर्णन है, इस कारण उनके पुण्य को भी महान कष्ट कहा गया है। सम्यग्दृष्टि को एक-दो भव हों और अल्प राग हो, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो, जिसे ज्ञायक चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है, उसे पुण्य में भी महाकष्ट है। वह जो कुछ भी दया, दान, व्रत, तप करता है, वह सब क्लेशरूप है। उसे अन्दर में सहज स्वभाव का भान नहीं है, इसलिए बाहर में उपवासादि करना भी उसे भाररूप है; अकेले राग का भार है। वह जीव महाकष्ट से देवपद प्राप्त करे तो भी उसे अन्य बड़े देवों की विशेष ऋद्धि देखकर मन में दुःख होता है।

धर्मी को तो अन्तरङ्ग में चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रत्यक्ष है। मिथ्यादृष्टि तो अकेले संयोग को ही देखता है; उसके ज्ञान में चैतन्य की ऋद्धि प्रत्यक्ष नहीं हुई है। राग और मन के अवलम्बन बिना ज्ञान द्वारा जानना प्रत्यक्ष है। धर्मी ने अपने आत्मा को ज्ञान में प्रत्यक्ष किया है, इसलिए उसे बाहर में किसी के संयोग की ऋद्धि अधिक देखकर दु:ख नहीं होता, क्योंकि उसे तो सदा अपने अन्तरङ्ग में चैतन्य ऋद्धि की ही वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। समयसार नाटक में कहा है न!

सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छि सौं अजाची लच्छपती है।
दास भगवन्त के उदास रहै जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥

धर्मी तो अपनी चैतन्य सम्पदा को प्रत्यक्ष जानता हुआ, पर को जानता है; इसलिए अन्य को संयोग में अपने से भी अधिक वृद्धि देखकर उसे दु:ख नहीं होता। अज्ञानी को तो बाहर में पर ही देखना है; स्व-विषय तो उसकी दृष्टि में आया नहीं है। धर्मी को स्व-विषय की दृष्टि और महिमा प्रगट हुई है; इसलिए बाहर में कम या अधिक संयोग हो, यह देखने में उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता; इसलिए उसे चैतन्य की भावना छूटकर दु:ख नहीं होता।

अहो! संयोगाधीन दृष्टिवाला जीव, देवपर्याय में भी दु:खी है! — ऐसी भावना भानेवाले धर्मी को स्वयं तो संयोगदृष्टि होती ही नहीं। जिसे स्वभाव का सुख भासित हुआ है, वह जीव, देवलोक के सुख को भी दु:खरूप जानता है। जो जीव, देव के दु:ख का विचार करता है, उसे जिस भाव से देवगति का संयोग प्राप्त होता है, उस पुण्य की रुचि नहीं होती; वह अपने आत्मा को प्रत्यक्षरूप से जानता है और पर को तो अनुमान से दु:खी निश्चित करता है। जिसे स्वभाव का आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, वह ऐसा जानता है कि यह राग दु:खदायक है और राग का अभाव करके होनेवाली ज्ञान की पूर्णता में पूर्ण सुख है।

देवगति भी दु:खदायक है — ऐसी भावना भानेवाले ने अपना मूलस्वभाव देखा है; उसे ज्ञान का प्रत्यक्ष अंश प्रगट हुआ है और राग को दु:खदायक जाना है। उसे अन्य देवों की

विशेष ऋद्धि देखकर दु:ख नहीं होता। अज्ञानी तो संयोग को ही देखनेवाला है, इस कारण बाहर में अन्य के अधिक संयोग देखने से उसे अन्तरङ्ग में आकुलता होती है परन्तु जिसे पुण्य और पुण्य के फल से रहित चैतन्यस्वभाव की ऋद्धि का भान प्रगट हुआ है — ऐसा जीव, पुण्य अथवा पुण्य के फल — इन दोनों को हेय जानता है; इसलिए कम या अधिक संयोग के कारण धर्मी को चिन्ता नहीं होती। धर्मी जीव तो संसारभावना का चिन्तवन करके अपनी वीतरागता में अभिवृद्धि करता है।

वास्तव में नरक में शरीर का छेदन-भेदन इत्यादि प्रतिकूलता होना, दु:ख नहीं है परन्तु यह जीव संयोगवृत्ति से मानसिक चिन्ता करता है, उसका दु:ख है। इसी प्रकार स्वर्ग में बाह्य अनुकूलता होना, सुख नहीं है; वहाँ संयोगी वृत्तिवाला जीव, मानसिक चिन्ता से दु:खी ही है।

जिसे स्वभाव की दृष्टि नहीं है, रागरहित ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है और बाह्य में पुण्य तथा पुण्यफल की महिमा है, वह जीव बाहर में अन्य के पास अपने से अधिक ऋद्धि का संयोग देखकर मन में आकुलता से दु:खी होता है। उसे सम्पूर्ण जगत् की ऋद्धि के संयोग को ग्रहण करने की भावना है। उसे अन्दर में विद्यमान चैतन्यऋद्धि का भान नहीं है; इसलिए बाहर में अधिक संयोग ग्रहण करना चाहता है।

मुनिराज तो भावना भाते हैं कि अहो! बारहवें देवलोक का भव हो अथवा पहले देवलोक का भव हो — ये दोनों भव जिससे प्राप्त होते हैं, वह भाव ही दु:खदायक है। संयोग में तो सुख है ही नहीं, संयोगाधीनवृत्ति में भी सुख नहीं है। सुखरूप तो मेरा आनन्दकन्द स्वभाव है — ऐसी दृष्टि में धर्मी को संयोग देखकर दु:ख नहीं होता। जो जीव, स्वभाव के आधीन नहीं है, वह जीव संयोगाधीन भाव से दु:खी ही है। संसार अर्थात् संयोगों के तरफ का झुकाव, उसमें कहीं सुख नहीं है।

यह जीव अन्तरङ्ग में निज चैतन्य को नहीं देखता अर्थात् बाह्य संयोग को ही देखता है; इसलिए अन्य के पास अधिक संयोग देखकर इसे लगता है कि अरे रे! मैंने अल्प पुण्य किया, इसलिए मुझे अल्प ऋद्धि प्राप्त हुई! परन्तु ऐसा नहीं है। विचार तो, 'मैंने धर्म नहीं किया', यदि धर्म का विचार करे तो अन्तर्सन्मुखता हो और संयोगबुद्धि की आकुलता मिट जाए। अहो, सारा संसार दु:खदायक है! अन्तर्मुख स्वभाव से छूटकर, बहिर्मुखवृत्ति होना ही

दु:ख है। सुख तो स्वभाव की अन्तर्मुख दशा में ही है — ऐसी भावना करके धर्मी जीव वैराग्य की अभिवृद्धि करता है।

कोई धर्मी जीव, सर्वार्थसिद्धि में जाए और दूसरा समकिती पहले स्वर्ग में जाए तो वहाँ उस सम्यग्दृष्टि को दूसरे की ऋद्धि देखकर दु:ख नहीं होता, क्योंकि धर्मी जीव की दृष्टि अखण्ड ज्ञायकस्वभाव पर है; पर्याय के भेद पर उसकी दृष्टि नहीं है। उसे बाह्य संयोग की दृष्टि तो होगी ही कैसे? हीनाधिक पर्याय प्रगट हो, उस पर भी धर्मी की दृष्टि का वज़न नहीं है तो फिर हीनाधिक पुण्य के संयोग पर उसका वज़न कैसे हो सकता है? इसलिए उसे दु:ख अथवा चिन्ता में अटकना नहीं होता; अज्ञानी जीव को ही कम-ज्यादा संयोग देखकर दु:ख होता है।

धर्मी जीव की दृष्टि अखण्डस्वभाव पर है। वहाँ तीन काल के जीवों की हीनाधिक पर्याय, कम-ज्यादा पुण्य अथवा संयोग — इन किसी पर धर्मी की दृष्टि की मुख्यता नहीं है; इसलिए उसे संयोग देखकर ईर्ष्या नहीं होती। उसे धर्मात्मा का बहुमान तो आता है परन्तु कोई पुण्य में बड़ा हो तो उस पुण्य का अथवा संयोग का बहुमान नहीं आता।

जिसे निज त्रिकाली चैतन्यऋद्धि की दृष्टि और बहुमान हुआ है, उसे वर्तमान पर्याय की हीनता-अधिकता देखकर, पर्यायबुद्धि से खेद नहीं होता तथा भूत और भविष्य की पर्याय की हीनता-अधिकता में भी खेद नहीं होता; इसी प्रकार पुण्य में अथवा संयोग की हीनता-अधिकता में भी पर्यायबुद्धि से खेद नहीं होता।

अहो! वस्तु का और उसकी पर्याय का कोई कारण नहीं है — ऐसा जिसने जाना है, वह तो यह जानता है कि ये संयोग भी वास्तव में पुण्य के कारण प्राप्त नहीं हुए हैं (ये तो अपनी योग्यता से आये हैं)। अज्ञानी जीव, वर्तमान पर्याय को देखकर त्रिकाली को भूलता है और धर्मी तो त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि रखकर, त्रिकाली के साथ वर्तमान की सन्धि करता है। अज्ञानी जीव, मूलस्वभाव की दृष्टि के बिना जो कुछ करता है, वह सब तो आकाश में वृक्ष उगाने जैसा है।

देखो, यह भावना! ये तो स्वभावदृष्टिपूर्वक की भावनाएँ हैं। भगवान आत्मा, पूर्ण ऋद्धि सम्पन्न चैतन्य हैं। उसकी जिसे दृष्टि हुई है, उस सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को पर्याय की

हीनता-अधिकता अथवा शुभ-अशुभ देखकर, उसका बड़प्पन अथवा आश्चर्य नहीं होता। मुनिराज छठवें गुणस्थान में वर्तते हैं और अशुभभाव वर्तता हो, सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में हो और तीर्थङ्कर नामकर्म बँधने योग्य शुभभाव हो; वहाँ वैसी विचित्रता देखकर धर्मी को आश्चर्य नहीं होता क्योंकि उसे पर्यायबुद्धि नहीं है। उसकी दृष्टि अखण्डस्वभाव पर पड़ी है, इसलिए दूसरे के पुण्य की अधिकता अथवा संयोग की अधिकता देखकर उसे चिन्ता अथवा दु:ख नहीं होता। अपनी कमजोरी के अल्प राग का दु:ख होता है, उसकी बात यहाँ नहीं है।

धर्मी जीव जानता है कि पुण्य से अथवा पुण्य के फल से मेरा बड़प्पन नहीं है। मेरी चैतन्यऋद्धि का फल बाहर में नहीं आता। अधिक संयोग प्राप्त होना पुण्य का फल है परन्तु पुण्य ही मैं नहीं हूँ; मैं तो अखण्ड चैतन्यऋद्धिवाला हूँ — ऐसी दृष्टि में धर्मी को बाह्य संयोग की हीनाधिकता देखकर, उसकी महिमा अथवा खेद नहीं होता।

एक सम्यग्दृष्टि मेढ़क हो और दूसरा सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती हो, वहाँ उन दोनों को संयोग में सुखबुद्धि नहीं है; दोनों की दृष्टि संयोग से उड़ गयी है। चक्रवर्ती का अधिक संयोग देखकर उसमें धर्मी को महिमा नहीं आती और मेढ़क को चिन्ता या खेद नहीं होता।

संयोग प्राप्त होना तो पूर्व पुण्य का फल है, इस प्रकार जिसे पुण्यतत्त्व की प्रतीति नहीं है, उसे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की भी प्रतीति नहीं रहती है। अल्प पुण्य में अधिक संयोग चाहनेवाले को पुण्यतत्त्व की प्रतीति नहीं है।

इस कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो द्रव्य को लक्ष्य में रखकर वैराग्य भावनाओं का अद्भुत वर्णन किया गया है। इसमें शास्त्रकार की मुनिदशा साक्षात् दिखती है। जिसे देवपने की ऋद्धि देखकर उसकी महिमा आती है, वह जीव सम्यग्दृष्टि नहीं है; अपितु मूढ़ है। अरे भाई! तुझे किसकी भावना करनी है ? संयोग में एकाग्र होना है या स्वभाव में ? जिसे स्वभावऋद्धि की महिमा आती है, उसे संयोग की महिमा नहीं रहती।

लोग जानते हैं कि बाहर में फेरफार करके बाह्य संयोग इकट्ठा करके उसमें से सुख प्राप्त कर लें, परन्तु अरे भाई! तेरा सुख संयोग में नहीं है। देखो तो सही, यह सर्वज्ञ की भावना! अरे सन्तों की रचना तो देखो! सर्वज्ञ के मार्ग के अलावा अन्य का एक अक्षर भी सत्य नहीं

है; अन्य सब तो विपरीत है। सत्य बात समझने के पूर्व भी ऊपर-ऊपर उसका बहुमान करके जो जीव हाँ करता है, उस जीव को अन्य विपरीतता का आदर करनेवाले जीवों की अपेक्षा तो बहुत अन्तर पड़ गया है। भले ही अभी स्वभाव की दृष्टि प्रगट न हुई हो परन्तु असत्य का आदर छोड़कर सत्य का आदर किया, इसके फल में उतना अन्तर तो पड़ा है या नहीं? भव का अभाव तो स्वभाव की दृष्टि करने पर ही होगा परन्तु इससे पूर्व असत्य का पोषण छोड़कर सत्य के आदर का भाव ही जिसे न आवे तो स्वभाव में जाने की पात्रता भी कहाँ से आयेगी? अखण्डस्वभाव की दृष्टि प्रगट होने के पूर्व उसके बहुमानपूर्वक, उसके श्रवण-मनन का भाव आये बिना नहीं रहता। सत्य का हकार / स्वीकार लाकर, उसका आदरभाव भी जो जीव प्रगट नहीं करता, उसे तो अन्तरस्वभाव की दृष्टि प्रगट करने का अवसर ही नहीं आता।

●●

भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर! जो भीतर आनन्द के झूले में झूलते हों और पञ्च महाव्रत का राग उठे, उसे विष मानते हों, अहा! जिनके दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होते हों, जो आनन्द की खेती कर रहे हों ... **वह धन्य दशा अलौकिक है। गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचता हो, उस दशा की क्या बात!**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, १११३, पृष्ठ २४०

गाथा ५९

इट्ठविओगं दुक्खं, होदि महद्धीण विसय-तण्हादो।
विसयवसादो सुक्खं, जेसिं तेसिं कुतो तित्ती॥

विषय तृष्णा महर्द्धिक देव इष्ट वियोग का।
दुःख सहें, विषयाधीन सुख में, तृप्ति कैसे हो कहो॥

अन्वयार्थ : [विसयतण्हादो] विषयों की तृष्णा से **[महद्धीण]** महर्द्धिक देवों को भी **[इट्ठविओगं दुक्खं होदि]** इष्ट (ऋद्धि, देवाङ्गना आदि) वियोग का दुःख होता है **[जेसिं विसयवसादो सुक्खं]** जिनके विषयों के आधीन सुख है, **[तेसिं कुतो तित्ती]** उनके कैसे तृप्ति होवे ? तृष्णा बढ़ती रहती है।

गाथा ५९ पर प्रवचन

देखो, यहाँ तो स्वभावदृष्टि की बात है। त्रिकाली स्वभाव स्वतन्त्र है; वर्तमान पर्याय स्वतन्त्र है; संयोग स्वतन्त्र है। धर्मी जीव की दृष्टि स्वभाव पर है, इसलिए उसे पर्याय की अथवा संयोग की हीनता-अधिकता देखकर खेद/चिन्ता अथवा दुःख नहीं होता।

बड़े-बड़े देवों को भी बाह्य इष्ट ऋद्धि का वियोग होने पर दुःख होता है। धर्मी ने तो अन्दर में चैतन्यस्वभाव की ऋद्धि को ही इष्ट ऋद्धि माना है, उसने बाह्य ऋद्धि को अपना नहीं माना है; इसलिए उसे बाह्य सामग्री का वियोग होने पर अज्ञानी के जैसा दुःख नहीं होता; अल्प राग हो तो उसका किञ्चित् दुःख होता है किन्तु यहाँ उसकी गिनती नहीं है। जैसे अग्नि में लकड़िया/ईंधन डालने से वह बुझती नहीं, अपितु अत्यधिक सुलगती है; उसी प्रकार विषयों

के ओर की वृत्ति दु:खदायक है, विषयों की ओर उन्मुख होने से उस दु:ख का अभाव नहीं होता, अपितु अन्तरस्वभाव की सन्मुखता से ही उस दु:ख का अभाव होता है।

अज्ञानी जीव तो स्वभावऋद्धि को चूककर बाह्य विषयों की तृष्णा से सदा दु:खी ही है और ज्ञानी तो स्वभाव की भावना भाते हुए, सम्पूर्ण संसार को दु:खरूप जानता है — ऐसे धर्मी को ही संसारभावना का यथार्थ चिन्तवन होता है।

संसारभावना अर्थात् क्या? संसार की भावना करना — ऐसा इसका आशय नहीं है। संसार की चारों गतियों में दु:ख है, संसार का भाव दु:खदायक है और सुख तो आत्मा में है – ऐसा भान करके, संसार को दु:खरूप विचारना, संसारभावना है।

जिसे भवरहित संसार की भावना प्रगट हुई हो, उसे ही संसारभावना यथार्थ होती है।

अहो! नरकादि में तो दु:ख है ही परन्तु विषयों की तृष्णा के कारण स्वर्ग के देव भी दु:खी ही हैं। जिसे आनन्दस्वरूप आत्मा का विषय प्रगट नहीं हुआ है, वह बाह्य विषयों की तृष्णा से दु:खी ही है। बड़े–बड़े देव भी बाह्य संयोगों से सुखी नहीं हैं, वे भी बाह्य विषयों की तृष्णा से आकुल–व्याकुल हैं। जिन्हें स्वभाव का भान और भावना हो, वे ही जीव वास्तव में सुखी हैं। जिन्हें स्वभाव का भान और भावना नहीं होती, वे जीव बाह्य विषयों की भावना करते हैं। भाई! जीव कहीं तो भावना करेगा ही न!

अज्ञानी जीव, निज स्वभाव की भावना छोड़कर संयोग की भावना करता है परन्तु संयोग तो छूट जाता है। पर्याय को अन्तर्मुख करके, उस पर्याय के द्वारा चिदानन्दस्वभाव की भावना करे तो उसका कभी वियोग नहीं होता। जिसने बाह्य विषयों के आधीन सुख माना है, उसे तृप्ति कैसे हो सकती है? स्वभाव की दृष्टि करने से ही तृष्णा की हद/मर्यादा आती है अर्थात् तृष्णा अत्यन्त अल्प हो जाती है। जिसे स्वभाव का भान नहीं है, उसे तो अकेले संयोग की ही भावना है अर्थात् उसे तो अमर्यादित तृष्णा है।

अरे! अरबों वर्षों तक स्वर्ग में रहने पर भी देवगण अतृप्तरूप से मरण प्राप्त करते हैं। भाई! चैतन्यस्वभाव के भान बिना कहीं भी तृप्ति नहीं है। भोगभूमि के जुगलिया मनुष्यों की देह तीन कोस की होती है और अरबों वर्षों की आयु होती है, वे भी भोगों से तृप्त नहीं होते,

विषय–तृष्णा से दु:खी ही रहते हैं। अरे! जहाँ स्वर्ग की महा ऋद्धिवाले देव भी विषय–तृष्णा से दु:खी ही हैं, वहाँ अन्य की तो बात ही क्या है?

देवों को शारीरिक दु:ख नहीं है; मानसिक दु:ख है परन्तु शारीरिक दु:ख की तुलना में मानसिक दु:ख की पीड़ा विशेष है — ऐसा अब कहते हैं। ●●

मुनिदशा अर्थात् प्रगट परमेश्वर पद

प्रश्न - यह तो मुनि की बात है, इससे हमें क्या?

उत्तर - भाई! मुनिदशा कैसी होती है, उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न? पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी — यह तीन गुरु हैं। गुरु का यथार्थ स्वरूप कैसा है, वह जाने बिना अन्तर साधना का स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? इसलिए साधकदशा - मुनिपना और श्रावकपना क्या वस्तु है, वह समझना पड़ेगा। भावलिङ्गी सच्चे सन्त को अन्तर में बहुत निर्मलता बढ़ गई है, उन्हें तो उपदेश देते-देते भी उपयोग अन्तर स्वरूप में चला जाता है।

जिस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में शक्तिरूप परमेश्वरता है; उसी प्रकार व्यक्तिरूप परमेश्वरपद मुनिराज को प्रगट हुआ है, क्योंकि वे परमेष्ठी हैं न? उन्हें भूमिकानुसार महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उपयोग तत्काल अन्तर आनन्द के नाथ में शीघ्रता से चला जाता है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२२२*

गाथा ६०

अब, शारीरिक दु:ख से मानसिक दु:ख बड़ा है – ऐसा कहते हैं —

सारीरियदुक्खादो, माणसदुक्खं हवेइ अइपउरं।
माणसदुक्खजुदस्स हि, विसया वि दुहावहा हुंति॥

देह दु:ख से भी प्रचुर अति, मानसिक दु:ख है अहो।
मानसिक दु:ख युक्त देखें, दु:खद स्वरूप पदार्थ को॥

अन्वयार्थ : (कोई समझता होगा कि शरीरसम्बन्धी दु:ख बड़ा है; मानसिक दु:ख तुच्छ है, उसको समझाते हैं) **[सारीरियदुक्खादो]** शारीरिक दु:ख से **[माणसदुक्खं]** मानसिक दु:ख **[अइपउरं हवेइ]** अति प्रचुर है अर्थात् कई गुना अधिक है। **[माणसदुक्खजुदस्स हि]** (देखो!) मानसिक दु:खसहित पुरुष के **[विसया वि दुहावहा हुंति]** अन्य विषय बहुत भी होवें तो भी वे उसको दु:खदायी ही दिखते हैं।

भावार्थ : जब मानसिक चिन्ता होती है, तब सब ही सामग्री दु:खरूप दिखाई देती है।

गाथा ६० पर प्रवचन

अब, यह बताते है कि शारीरिक दु:खों से भी मानसिक दु:ख बड़ा है।

कोई यह समझे कि शरीर सम्बन्धी दु:ख बड़ा है और मानसिक दु:ख अल्प है तो यहाँ कहते हैं कि शारीरिक दु:ख की अपेक्षा मानसिक दु:ख तीव्र है। देखो, मानसिक दु:खसहित पुरुष को अन्य बहुत विषय होने पर भी वे दु:ख उपजानेवाले ही दृष्टिगोचर होते हैं। जो विषय प्राप्त हुए, उन्हें भोगने की तृष्णा से जीव दु:खी है और नहीं प्राप्त हुए हों तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से दु:खी है। धर्मी को तो स्वभाव का भान है; इसलिए संयोग की भावना नहीं है

परन्तु अज्ञानी को तो संयोग की भावना है। बाह्य में बहुत अनुकूल संयोग पड़ा हो परन्तु जहाँ अन्तर्मन में अन्य कल्पना हो गयी तो वह दु:खी ही है।

शक्तिरूप चैतन्यस्वभाव विद्यमान है किन्तु अज्ञानी जीव उसकी भावना नहीं करता और जो संयोग नहीं हैं, उन्हें प्राप्त करने की भावना करता है; वह मूढ़ जीव है, उसे आत्मा के स्वभाव का विश्वास नहीं है। चैतन्यस्वभाव सुख से भरपूर है, उसका विश्वास करके उसकी जितनी भावना करें, उतना सुख प्रगट होता है। संयोग की कितनी भी भावना करें तो भी उसमें से कभी सुख आनेवाला नहीं है परन्तु जीव उस तृष्णा से दु:खी ही है। जो स्वभाव अस्तिरूप है, उसका विश्वास नहीं करता और जो संयोग अपने में नास्तिरूप है, उनका विश्वास करके उनमें से सुख प्राप्त करना चाहता है; इसलिए वह जड़ की भावना भानेवाला मिथ्यादृष्टि जीव है।

कोई ऐसी भावना भाता है कि मुझे बहुत पैसा मिले तो मैं दान करूँ तो वह भी संयोग की ही भावना भानेवाला मिथ्यादृष्टि है। अरे भाई! संयोग आवे और दान करूँ — ऐसी भावना करने की अपेक्षा वर्तमान में ही स्वभाव की भावना करके, संयोग की तृष्णा घटा न! वर्तमान में दान का भाव हुआ, वह दूसरे क्षण हुआ करे ऐसी भावना भी ज्ञानी को नहीं है। अरे भाई! तू वर्तमान में तृष्णा घटा न! ज्ञानी को ऐसी भावना नहीं होती कि राग अथवा संयोग दूसरे क्षण भी बने रहें। बाह्य संयोग तो उसके क्रम में आना होगा तो आयेगा परन्तु तू अपनी रुचि को अन्तर में झुका कर स्वभाव की भावना कर!

हे जीव! वस्तु स्वरूप की समझ करना चाहिए कि कौन सी भावना भाने से मुझे सुख है और कौन सी भावना भाने से दु:ख है? स्वभाव की भावना भाना ही सुख है और बाह्य संयोग की भावना ही दु:ख है। बहिर्मुख झुकाव से जितनी वृत्तियाँ होती हैं, वे सब दु:खदायक हैं। जीव, बाह्य संयोग की चिन्ता से जल रहा है। धर्मी तो अन्तर के चैतन्यस्वभाव की ऋद्धि को जानकर, उसकी ही भावना करता है। अस्थिरता के कारण अल्पराग होता है तो उसे जानता है परन्तु वह गौण है।

मिथ्यादृष्टि जीव, निज स्वभाव को भूलकर संयोग की भावना में ही लवलीन रहा करता है। बाह्य में बहुत संयोग होने पर भी अन्तर में चिन्ता से जीव दु:खी है। तब बाह्य संयोग

उसमें कुछ नहीं करते — ऐसा जानकर, हे भाई ! तू आत्मा की भावना कर। बारम्बार स्वभाव की भावना करके, उसमें ज्ञान की एकाग्रता कर। संसार में संयोग की पूर्णता तो होती ही नहीं और स्वभाव की भावना करे तो पूर्णता हुए बिना रहती नहीं। जिन जीवों को स्वभाव की भावना नहीं है, उन जीवों को दुःख है।

बड़े देवों की सभा देखकर छोटा देव ईर्ष्या से जलता है और दुःखी होता है। सम्यग्दृष्टि देव हो तो वह ऐसा विचार करता है कि इस बाह्य ऋद्धि से आत्मा की महिमा नहीं है। मेरी चैतन्यऋद्धि तो मुझमें है — ऐसा जानकर वह स्वभाव की भावना करता है और मनुष्य होकर मुक्ति प्राप्त करता है। संयोग की हीनता से आत्मा की हीनता नहीं है और संयोग की अधिकता से आत्मा की महत्ता नहीं हो जाती; इसलिए संयोग की हीनाधिकता होने पर भी धर्मी जीव तो स्वभाव की भावना से समाधान करता है। देखो, स्वभाव को संयोग से भिन्न जानकर उसकी भावना करना ही धर्म है।

जिसके मन में चिन्ता हो, उसे सर्व सामग्री दुःखरूप भासित होती है। यदि संयोग में सुख हो तो उस समय कहाँ गया ? ज्ञानी को संयोग में सुख की बुद्धि है ही नहीं; इसलिए उसे संयोग की चिन्ता दीर्घकालीन नहीं होती, क्योंकि उसे स्वभाव की भावना है। सातवें नरक की प्रतिकूलता में पड़ा हुआ सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ भी स्वभाव की भावना भाता है, उतने अंश में वह सुखी है और अज्ञानी जीव स्वर्ग में भी विषयों की भावना से दुःखी ही है।

प्रश्न – कोई आत्मसाक्षात्कार के लिए रोवे तो... ?

उत्तर – वह भी चिन्ता और दुःख है। आत्मसाक्षात्कार के उपाय से आत्मसाक्षात्कार होता है या रोने से ? उसका जो उपाय है, उसे तो समझे नहीं और रोवे, इससे क्या ? यह तो एक प्रकार का आर्तध्यान है। उस आर्तध्यान से धर्म होना माने तो मिथ्यात्व का पोषण होता है।

किसी स्त्री का पति मर जाए तो वह सती होती है और ऐसा मानती है कि फिर से उसका संयोग होगा परन्तु यह मूढ़ता है; उसे संयोग में सुखबुद्धि है। अरे ! हम तो आत्मा हैं, ज्ञानस्वभावी हैं — ऐसा जिसे विश्वास नहीं है, उसे चिन्ता होती है कि अरे रे ! मरकर कहाँ जाऊँगा ? मिथ्यादृष्टि देव मरकर पशु होता है, तब चिन्ता से दुःखी होता है। जिसने स्वभाव

का विश्वास प्रगट किया है, उस धर्मात्मा को ऐसी चिन्ता नहीं होती कि मेरा क्या होगा ? धर्मी को उत्तम स्वर्ग और मनुष्य के अतिरिक्त दूसरा भव नहीं होता।

यह जीव, निज स्वभाव को भूलकर विषयों की भावना की ओर अपने पराक्रम का — पुरुषार्थ का प्रयोग करता है, उसके बदले यदि चैतन्यस्वभाव की रुचि करे तो चैतन्य में पुरुषार्थ लगे बिना नहीं रहता। जीव का पराक्रम तो सदा जागृत है। अज्ञानी के पराक्रम का झुकाव विपरीत दिशा में है और ज्ञानी को स्वभाव की भावना में पराक्रम की जागृति वर्तती है। इस प्रकार पराक्रम तो दोनों का जागृत है। यदि पराक्रम का अभाव हो जाए, तब तो आत्मा का ही अभाव हो जाएगा। आत्मा में पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ नामक स्वभाव है। आत्मा कभी पुरुषार्थरहित नहीं होता। जैसी रुचि करे उस दिशा में पुरुषार्थ का झुकाव होता है। ●●

मुनिराज की अलौकिक दशा

मुनिराज की दशा अलौकिक है, जात्यन्तर है। **मुनिराज, स्वरूप-उपवन में लीला करते-करते अर्थात् स्वरूप-उपवन में रमते-रमते कर्मों का नाश करते हैं। वे दुःखी नहीं होते** — ऐसी उनकी जात्यन्तर दशा है, लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूप में ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अन्तर की आनन्द-क्रीड़ा में रमने लगे, उनकी लीला जात्यन्तर है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ३२

गाथा ६१

देवाणं पि य सुक्खं, मणहरविसएहिं कीरदे जदि ही।
विषयवसं जं सुक्खं, दुक्खस्स वि कारणं तं पि॥

मनहर विषय से सुखी मानें, देव को पर सुख न हो।
विषय के आधीन सुख भी, दुःख का कारण अहो॥

अन्वयार्थ : [जदि ही देवाणं पि य मणहरविसएहिं सुक्खं कीरदे] यदि देवों के मनोहर विषयों से सुख समझा जावे तो सुख नहीं है। **[जं विषयवसं सुक्खं]** जो विषयों के आधीन सुख है, **[तं पि दुक्खस्स वि कारणं]** वह दुःख ही का कारण है।

भावार्थ : अन्य निमित्त से सुख मानते हैं, सो भ्रम है। जिस वस्तु को सुख का कारण मानते हैं, वही वस्तु कालान्तर में दुःख का कारण हो जाती है।

गाथा ६१ पर प्रवचन

जिसे स्वभावाधीन / स्वभावाश्रित सुख नहीं है और विषयों की तृष्णा से दुःखी है, उन जीवों को बाह्य विषय क्या करेंगे ? विषय तो अचेतन हैं, भिन्न हैं; वे कोई जीव को सुख या दुःख नहीं कराते। यदि जीव ने स्वयं दुःख की कल्पना की तो विषय क्या करें और स्वयं विषयों में सुख की कल्पना की तो वहाँ भी विषय क्या करें ? स्वयं ने अपनी कल्पना में सुख माना है। वह कल्पना स्वयं की है, किन्हीं विषयों ने वह कल्पना नहीं करायी है।

जिस जीव ने विषयों में सुख की कल्पना की है, वह भी विषय तृष्णा से दुःखी ही है। स्वभाव ही सहज आनन्द का सागर है, उसकी भावना करके जितनी एकाग्रता करे, उतना सुख है। बाह्य के संयोग में ज्ञानी अपना कारण-कार्यपना नहीं मानते। जिसने संयोग में सुख माना

है, वह मात्र कल्पना है। चैतन्यस्वभाव स्वयं ही सुखरूप है, उसका विश्वास न करके, स्वयं निमित्तों से सुख मानना भ्रम है। आम खाने में, रुपये-पैसे में, स्त्री इत्यादि में सुख की कल्पना करना मूढ़ता है। अपने में सुख है, जिसे इसकी रुचि नहीं है, वही पर में सुख मानता है। अपने में सुख है और पर में मानता है — यह मिथ्यामान्यता संसार का कारण है।

कृष्ण की देवकी माता को कृष्ण के पूर्व छह पुत्र हुए थे। वे सभी महा-सुन्दर सुकुमाल थे, छहों मुनि हुए थे। अच्छे पुत्र होने में अज्ञानी सुख मानता है। धर्मी जीव को राग आता है परन्तु उसमें तीव्रता नहीं होती, क्योंकि क्षणिक राग की भी उसे भावना नहीं है और संयोग में सुख माना नहीं है। रागरहित और संयोग से भिन्न निज चिदानन्दस्वभाव में ही सुख है, ऐसा जाना है और उसकी ही भावना है — ऐसे धर्मी जीव ही सुखी हैं। इसके अतिरिक्त संसार में कोई जीव सुखी नहीं हैं। जो जीव चैतन्यस्वभाव को भूलकर अन्य निमित्त से सुख मानते हैं, वे सब जीव भ्रम से दुःखी ही हैं।

अज्ञानी ने पहले जिस वस्तु में सुख की कल्पना की, वही वस्तु कल्पना बदलने पर दुःख का कारणरूप भासित होती है। धर्मी तो जानता है कि कोई संयोग मुझे सुख का कारण नहीं है और दुःख का कारण भी नहीं है। कोई परवस्तु मुझे सुख-दुःख का कारण नहीं है; मेरा स्वभाव ही सुख का कारण है। भाई! यह तो स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक वैराग्य की बात है।

जीव, जिन रुपयों को पहले सुख का कारण मानता था, उन्हीं रुपयों को दुःख का कारण मानता है। जिस स्त्री आदि में सुख माना था, वही अज्ञानी की कल्पना बदलने पर दुःखरूप भासित होते हैं परन्तु यह दोनों भ्रम हैं। सुख-दुःख तो मुझे अपने परिणाम से ही है; बाह्य के कारण से मुझे सुख-दुःख नहीं है — ऐसा समझे तो शुद्ध उपादान की रुचि प्रगट हुए बिना नहीं रहती और उसकी भावना से दुःख का अभाव होकर सुख प्रगट होता है।

जिस कल्पना से बाह्य में सुख की कल्पना की थी, वह कल्पना भी क्षणिक है; उसमें सुख नहीं है और जिसमें सुख माना था, उस संयोग में भी सुख नहीं है — ऐसा समझकर धर्मी जीव अपने स्वभाव की भावना भाता है और संयोग में सुख की कल्पना का त्याग करता है। संसार की चारों गतियों का भाव, दुःख का ही सागर है।

भाई ! सम्पूर्ण संसार दु:ख का सागर है। संसार में बलदेव, वासुदेव जैसे भी सुखी नहीं हैं और देव भी सुखी नहीं हैं। देखो न ! कृष्ण और बलभद्र जैसे द्वारिकानगरी जलने पर अपने माता-पिता को भी उससे बाहर नहीं निकाल सके; उन्हें जलती नगरी में छोड़कर स्वयं रोते हुए बाहर निकल गये।

भाई ! संयोग का क्षण में वियोग हो जाता है। इस संयोग अथवा वियोग में जीव को सुख नहीं है परन्तु स्वभाव में ही सुख है। संयोग की ओर का झुकाव दु:ख है और स्वभाव सन्मुखता का झुकाव सुख है; इसलिए धर्मी को संयोग की भावना नहीं करके, स्वभाव की भावना करनी चाहिए। ●●

त्रिकालवर्ती सन्तों का एक ही प्रकार

तीनों काल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि उन्हें पहले आत्मभानपूर्वक मुनि होने का विकल्प होता है, परन्तु वे उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते और उन्हें बाह्य परिग्रह का सङ्ग भी नहीं होता; फिर अन्दर चैतन्य में लीन होने पर उन्हें पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। **ऐसी मुनिदशा हुए बिना कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। गृहस्थदशा में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो सकता है, परन्तु ऐसी मुनिदशा हुए बिना गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मुक्ति नहीं होती।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ १५

गाथा ६२

अब कहते हैं कि इस तरह विचार करने पर कहीं भी सुख नहीं है —

एवं सुड्डु-असारे, संसारे दुक्खसायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं, वियारमाणं सुणिच्चयदो॥

घोर दुःख संसार सागर, सार बिन सब विधि अहो।
परमार्थ से सोचो जरा, इसमें कहाँ क्या सुख कहो॥

अन्वयार्थ : [एवं सुड्डु-असारे] इस तरह सब प्रकार से असार **[दुक्खसायरे घोरे संसारे]** दु:ख के सागर भयानक संसार में **[सुणिच्चयदो वियारमाणं]** निश्चय से विचार किया जाए तो **[किं कत्थ वि सुहं अत्थि]** क्या कहीं भी कुछ सुख है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ : चार गतिरूप संसार है और चारों ही गतियाँ दुखरूप हैं, तब सुख कहाँ ?

गाथा ६२ पर प्रवचन

यह धर्मी जीव की संसारभावना का वर्णन है।

आत्मा में सुख है; इसके अतिरिक्त संसार में कहीं सुख नहीं है। संसार में कोई देव का भव हो, राजा का भव हो, वह सुख नहीं है; सुख तो आत्मद्रव्य में है। सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अतिरिक्त किसी भी परपदार्थ में सुखबुद्धि नहीं होती। जिसे बाह्य में सुखबुद्धि होती है, उसे आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। धर्मी को अल्प राग-द्वेष होते हैं, उसमें भी वह सुख नहीं मानता तो फिर राग-द्वेष का लक्ष्य जिस परपदार्थ के प्रति होता है, उसमें तो वह सुख मानेगा ही कैसे ? यदि विषयों में अथवा राग में सुख माने तो उस जीव को

आत्मा में सुखबुद्धि नहीं है, वह मूढ़ है; वह कितने ही व्रतादिक करे तो भी उसके संसार भ्रमण का अन्त नहीं आयेगा।

भाई! चारों गतियाँ विभाव का फल है, वह विभाव दुःखदायक है; इसलिए चारों गतियाँ दुःखदायक हैं। सुख तो आत्मा के स्वभाव में है। इसका जिसे पता नहीं है, वह जीव चार गतियों के संयोग में सुख मानता है।

पर्यायबुद्धिवाला जीव, संयोग में ही सुख मानता है, वह अन्तरङ्ग स्वभाव की दृष्टि नहीं करता किन्तु वर्तमान रागादि परिणाम में और बाह्य विषयों में सुख मानता है। राजा हो तो राज्यपद में सुख मानता है और विष्ठा का कीड़ा हो तो विष्ठा में सुख मानता है, परन्तु मैं तो सिद्धसमान चिदानन्दस्वभावी हूँ — ऐसा भान अज्ञानी नहीं करता। ●●

ऐसे मुनिराज दुर्लभ हैं

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीवों को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते। जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा जो आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं – ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है। बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है। किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं – ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ ९१

गाथा ६३

अब कहते हैं कि यह जीव पर्यायबुद्धि है; जिस योनि में उत्पन्न होता है, वहीं सुख मान लेता है —

दुक्कियकम्मवसादो, राया वि य असुइकीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रइं, पेक्खह मोहस्स माहप्पं॥

दुष्कर्म वश नृप भी मरे, मल - कीट बन उत्पन्न हो।
किन्तु उसमें ही करे रति, मोह की महिमा अहो॥

अन्वयार्थ : [मोहस्स माहप्पं पेक्खह] (हे प्राणियों! तुम) मोह के माहात्म्य को देखो कि **[दुक्कियकम्मवसादो]** पापकर्म के वश से **[राया वि य असुइकीडओ होदि]** राजा भी (मरकर) विष्ठा का कीड़ा हो जाता है **[य तत्थेव रइं कुणइ]** और वहीं पर रति (प्रेम) मानता है, क्रीड़ा करता है।

गाथा ६३ पर प्रवचन

कोई राजा था, उसे किसी ने कहा कि तू सात दिन में मरकर कुतिया के गर्भ से पिल्ला होगा। यह सुनकर राजा कहता है अरे रे! मुझे कुत्ते का अवतार!! ऐसा विचार कर उसने अपने राजपुत्र से कहा कि मैं वहाँ जन्म लूँ तो तुरन्त मुझे मार देना। तत्पश्चात् वह राजा मरकर कुत्ता हुआ, तब जब कुँवर मारने के लिए आया तो वह पिल्ला कहता है कि मुझे मारना नहीं, मुझे यहाँ आनन्द है। देखो, मूढ़ जीव, चैतन्य को चूककर जो संयोग प्राप्त होते हैं, उनमें सुख मान लेता है।

जिसके कपड़े धुलने के लिए विदेश जाते हो — ऐसा जीव भी मरकर विष्ठा का कीड़ा हो जाता है तो वह विष्ठा में भी सुख मानता है। भाई! आत्मा के भान बिना साधु होकर बाह्य क्रियाकाण्ड में सुख मानते हैं, वे जीव भी मूढ़ हैं और कीड़ा, विष्ठा में सुख मानता है, वह भी मूढ़ जीव है।

जेल के कैदी को जेल में रुच जाता है। एक बार एक कैदी की जेल की सजा पूरी हुई और वह बाहर आया, तब दूसरे कैदी से कह गया कि मेरे पानी का घड़ा कोई बिगाड़ना नहीं। दूसरे ने पूछा कि क्यों? वह कहता है कि मैं दो-चार दिन में वापस यहाँ आनेवाला हूँ, इसलिए यह घड़ा रख लेना। इसी प्रकार अज्ञानी जीव को संसार में सुख भासित होता है, इसलिए वह एक भव छोड़ते ही दूसरे भव की ममता लेकर जाता है। एक भव के पश्चात् दूसरा भव तैयार रखता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि अहो! यह मोह का माहात्म्य है कि अज्ञानी जीव, आत्मा के सुख को चूककर बाह्य में जो-जो संयोग प्राप्त होते हैं, उनमें ही सुख मान लेते हैं।

●●

सन्तों को परम आनन्द की दशा

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शस्वभावी है; वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि होने से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई है, उसमें परम-आनन्द की लहरें बढ़ जाती हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २८*

गाथा ६४-६५

अब कहते हैं कि इस प्राणी के एक ही भव में अनेक सम्बन्ध हो जाते हैं —

पुत्तो वि भाओ जाओ, सो वि य भाओ वि देवरो होदि।
माया होइ सवत्ती, जणणो वि य होइ भत्तारो॥
एयम्मि भवे एदे, सम्बन्धा होंति एय जीवस्स।
अण्णभवे किं भण्णइ, जीवाणं धम्मरहिदाणं॥

पुत्र ही भ्राता हुआ, अरु भ्रात देवर भी हुआ।
मात हो गई सौत एवं, तात भी पति हो गया॥
एक भव में जीव के, सम्बन्ध इतने हो गए।
फिर अन्य भव में धर्म विरहित, जीव की क्या बात है॥

अन्वयार्थ : [एयजीवस्स] एक जीव के **[एयम्मि भवे]** एक भव में **[एदे सम्बन्धा होंति]** इतने सम्बन्धी होते हैं तो **[धम्मरहिदाणं जीवाणं]** धर्मरहित जीवों के **[अण्णभवे किं भण्णइ]** अन्य भव में क्या कहना ? (वे सम्बन्धी कौन-कौन ? सो कहते हैं) **[पुत्तो वि भाओ जाओ]** पुत्र तो भाई हुआ **[य सो वि भाओ देवरो होदि]** और जो भाई था, वह ही देवर हुआ। **[माया होइ सवत्ती]** माता थी, वह सौत हुई **[य जणणो वि भत्तारो होइ]** और पिता था, सो पति हुआ।

गाथा ६४-६५ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि एक जीव को एक ही भव में अनेक सम्बन्ध हुए।

एक जीव के एक भव में इतने अधिक सम्बन्ध होते हैं तो फिर धर्मरहित जीवों के अन्य भवों के सम्बन्ध में क्या कहना?

अरे! एक ही भव में जो माता हो, वह स्त्री हो जाती है; जो पुत्र हो, वही पति हो जाता है — ऐसा बनता है तो फिर अन्य भव की तो क्या बात करें? पूर्व भव में माता हो और इस भव में स्त्री हो जाती है, इसमें तो क्या कहना? यह किसकी बात है? जिसे चैतन्य का भान नहीं है — ऐसे धर्मरहित जीवों को संसार में परिभ्रमण करते हुए ऐसे-ऐसे अनेक सम्बन्ध एक ही भव में होते हैं।

बसन्ततिलका को एक ही भव में अठारह सम्बन्ध हुए, उनका दृष्टान्त यहाँ दिया है। पर्यायबुद्धिवाला जीव, चैतन्यस्वभाव को नहीं जानता और संयोग को उल्टा-सीधा करना मानता है। उसे समझाते हैं कि अरे भाई! तू आत्मा पर दृष्टि कर! भव और भव के कारण की रुचि छोड़ तो कल्याण होगा। यहाँ अठारह सम्बन्धों की कथा कहकर वैराग्य बतलाना है कि अरे जीव! संसार में परिभ्रमण करते हुए एक ही भव में कैसे सम्बन्ध होते हैं? — यह विचार! इसमें अर्थात् संयोग में कहीं सुख नहीं है; इसलिए संयोग की रुचि छोड़कर निजस्वभाव की रुचि कर!

संसार में कैसे-कैसे सम्बन्ध होते हैं? वह यहाँ कहते हैं। पुत्र तो भाई हुआ और भाई था, वह देवर हुआ; माता थी, वह सौत हुई और पिता था, वह पति हुआ। इतने सम्बन्ध बसन्ततिलका वैश्या, धनदेव, कमला और वरुणा के परस्पर हुए। उनकी कथा अन्य ग्रन्थों से यहाँ दी गयी है। जो इस प्रकार है -

एक भव में अठारह नाते की कथा

मालवदेश की उज्जयिनीनगरी में राजा विश्वसेन राज्य करता था। वहाँ सुदत्त नाम का सेठ रहता था। वह सोलह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। वह सेठ वसन्ततिलका नाम की वैश्या में आसक्त हो गया और उसने उसको अपने घर में रख ली। जब वह गर्भवती हुई, तब उसका शरीर रोगसहित हो गया; इसलिए सेठ ने उस वैश्या को अपने घर से निकाल दिया। वसन्ततिलका ने अपने घर में ही पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म दिया। उसने खेद-खिन्न होकर उन दोनों बालकों को अलग-अलग रत्नकम्बल में

लपेटकर पुत्री को तो दक्षिण दरवाजे पर छोड़ दी; वहाँ से उस कन्या को प्रयाग निवासी बिणजारे ने लेकर अपनी स्त्री को सौंप दी और उसका नाम कमला रखा।

पुत्र को उत्तर दिशा के दरवाजे पर छोड़ दिया। वहाँ से उसको साकेतपुर के एक सुभद्र नाम के बिणजारे ने उठाकर अपनी सुव्रता को सौंप दिया और उसका नाम धनदेव रखा। पूर्वोपार्जित कर्म के वश से धनदेव का कमला के साथ विवाह हुआ, वे दोनों पति-पत्नी हुए। बाद में धनदेव व्यापार के लिए उज्जयनीनगरी में गया। वह वहाँ वसन्ततिलका वैश्या पर मोहित हो गया। उसके संयोग से वसन्ततिलका के पुत्र हुआ, जिसका नाम 'वरुण' रखा गया। फिर एक दिन कमला ने सम्बन्ध पूछे। मुनिराज ने इनके सब सम्बन्ध बतलाए।

इनके पूर्वभव का वर्णन

इसी उज्जयनीनगरी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके काश्यपी नाम की स्त्री थी। उनके अग्निभूत और सोमभूत नाम के दो पुत्र हुए। वे दोनों कहीं से पढ़कर आते थे। उन्होंने मार्ग में जिनदत्त मुनि से उनकी माता को जो जिनमती नाम की आर्यिका थी, उनका शरीर समाधान (कुशलता) पूछते हुए देखी और जिनभद्र नामक मुनि को सुभद्रा नामक आर्यिका जो उनकी पुत्रवधू थी, से शरीर समाधान पूछती देखी। वहाँ उन दोनों भाइयों ने हँसी की कि तरुण के तो वृद्धा स्त्री और वृद्ध के तरुणी स्त्री है, परमेश्वर ने विपरीत योग मिलाया। इस प्रकार की हँसी के पाप से सोमशर्मा तो वसन्ततिलका हुई और अग्निभूत सोमभूत। दोनों भाई मरकर वसन्ततिलका के पुत्र-पुत्री युगल हुए। उनके कमला और धनदेव नाम रखे गए। काश्यपी ब्राह्मणी, वसन्ततिलका के धनदेव क संयोग से वरुण नाम का पुत्र हुआ। इस तरह सब सम्बन्धों को सुनने से कमला को जातिस्मरण हो गया। तब वह उज्जयिनीनगरी में बसन्ततिलका के घर गयी। वहाँ वरुण पालने (झूले)में झूल रहा था। उसे देखकर कमला कहने लगी कि हे बालक! तेरे साथ मेरे छह नाते हैं, सो सुन –

१- मेरा पति धनदेव, उसके संयोग से तू हुआ; इसलिए तू मेरा भी (सौतेला) पुत्र है।

२- धनदेव मेरा सगा भाई है, उसका तू पुत्र है; इसलिए मेरा भतीजा भी है।

३- तेरी माता वसन्ततिलका, वह ही मेरी माता है; इसलिए तू मेरा भाई भी है।

४- तू मेरे पति धनदेव का छोटा भाई है; इसलिए मेरा देवर भी है।

५- धनदेव, मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसलिए धनदेव मेरा पिता हुआ, उसका तू छोटा भाई है; इसलिए तू मेरा काका (चाचा) भी है।

६- मैं वसन्ततिलका की सौत हूँ; इसलिए धनदेव मेरा (सौतेला) पुत्र हुआ, उसका तू पुत्र है; इसलिए तू मेरा पोता भी है।

इस प्रकार वह वरुण के साथ छह नाते कह रही थी कि वहाँ वसन्ततिलका आ गयी और कमला से बोली कि तू कौन है जो मेरे पुत्र को इस तरह छह नाते सुनाती है? तब कमला बोली कि तेरे साथ भी मेरे छह नाते हैं, सो सुन –

१- पहले तो तू मेरी माता है क्योंकि धनदेव के साथ तेरे ही उदर से उत्पन्न हुई हूँ।

२- धनदेव मेरा भाई है, तू उसकी स्त्री है; इसलिए मेरी भावज (भौजाई) है।

३- तू मेरी माता है, तेरा पति धनदेव मेरा पिता हुआ। उसकी तू माता है; इसलिए मेरी दादी है।

४- मेरा पति धनदेव है, तू उसकी स्त्री है; इसलिए मेरी सौत है।

५- धनदेव तेरा पुत्र, सो मेरा भी (सौतेला) पुत्र हुआ। तू उसकी स्त्री है; इसलिए तू मेरी पुत्रवधू भी है।

६- मैं धनदेव की स्त्री हूँ, तू धनदेव की माता है; इसलिए तू मेरी सास भी है।

इस प्रकार वैश्या छह नाते सुनकर चिन्ता में विचार कर रही थी कि वहाँ धनदेव आ गया। उसको देखकर कमला बोली कि तुम्हारे साथ भी हमारे छह नाते हैं, सो सुनिए :-

१- पहले तो तू और मैं इसी वैश्या के उदर से साथ-साथ उत्पन्न हुए, सो तू मेरा भाई है।

२- बाद में तेरा मेरा विवाह हो गया, सो तू मेरा पति है।

३- वसन्ततिलका मेरी माता है, उसका तू पति है; इसलिए मेरा पिता भी है।

४- वरुण तेरा छोटा भाई, सो मेरा काका हुआ। उसका तू पिता है; इसलिए काका का पिता होने से मेरा तू दादा भी हुआ।

५- मैं वसन्ततिलका की सौत और तू मेरी सौत का पुत्र, इसलिए मेरा भी तू पुत्र है।

६- तू मेरा पति है; इसलिए तेरी माता वैश्या मेरी सास हुई। तुम सास के पति हो; इसलिए मेरे ससुर हुए।

इस तरह एक ही भव में एक ही प्राणी के अठारह नाते हुए, उसका उदाहरण कहा गया है। यह संसार की विचित्र विडम्बना है; इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

देखो! जीव को संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार ऐसे प्रसङ्ग बनते हैं, इसमें आश्चर्य नहीं है। अरे जीव! स्वभाव की भावना करके ऐसे संसार की भावना छोड़! मैं तो ज्ञान हूँ; मेरे स्वभाव में संसार नहीं है। इस प्रकार जो जीव, ज्ञानस्वभाव की भावना करता है, उसको ऐसा संसार नहीं रह सकता। पूर्व भव का महाशत्रु भी मरकर अपना पुत्र हो जाता है तो उसके प्रति ममता करता है। देखो, संसार की विचित्रता!

अहो! एक जीव को एक भव में अठारह सम्बन्ध हुए, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अरे! अनन्त भव हुए उसमें क्या नहीं होता? यह तो मनुष्यभव की बात थी तो पशु की तो क्या बात करनी? इसलिए धर्मी जीव, संसार के किसी भी भव अथवा भव के कारणरूप भाव की रुचि नहीं करता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव, भव और भव के कारण से भी रहित है — ऐसा जानकर धर्मी जीव उसी की रुचि और भावना करता है। ●●

जिनेन्द्र झलक मुनिराज चमकती

जैसे पुत्र में पिता का प्रतिभास आता है, वैसे ही मोक्षमार्गी मुनियों में वीतरागी जिनभगवान का प्रतिभास, वीतरागता का प्रतिभास झलकता है। मात्र शान्त.... शान्त.... वीतराग अकषायभाव ही तैरता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ८४, पृष्ठ २०

गाथा ६६

अब, पाँच प्रकार के संसार के नाम कहते हैं —

संसारो पंचविहो, दव्वे खत्ते तहेव काले य।
भवभमणो य चउत्थो, पंचमओ भावसंसारो॥

द्रव्य क्षेत्र रु काल एवं, भाव भवमय जानिये।
इस तरह पाँच प्रकार का, परिभ्रमण जिय का मानिये॥

अन्वयार्थ : [संसारो पंचविहो] संसार (परिभ्रमण) पाँच प्रकार का है — **[दव्वे]** १. द्रव्य (पुद्‌गलद्रव्य में ग्रहण-त्यजनरूप परिभ्रमण); **[खत्ते]** २. क्षेत्र (आकाश के प्रदेशों में स्पर्श करनेरूप परिभ्रमण); **[य तहेव काले]** ३. काल (काल के समयों में उत्पन्न होने-नष्ट होनेरूप परिभ्रमण); **[भवभमणो य चउत्थो]** ४. भव (नारकादिभव का ग्रहण-त्यजनरूप परिभ्रमण), और **[पंचमओ भावसंसारो]** ५. भाव (अपने कषाययोगों के स्थानकरूप जो भेद, उनका पलटनेरूप परिभ्रमण) — इस तरह पाँच प्रकार का संसार जानना चाहिए।

गाथा ६६ पर प्रवचन

जो जीव, आत्मस्वभाव की रुचि नहीं करते, वे जीव पञ्च प्रकार का संसारपरिभ्रमण करते हैं। उसका वर्णन अब करते हैं —

यहाँ पुद्‌गलद्रव्य के ग्रहण-त्याग की बात तो व्यवहार से की गयी है। जिस भाव से चैतन्यतत्त्व को परमाणुओं का सम्बन्ध हो, वह तो भावसंसार है और पुद्‌गलों का आना-जाना द्रव्यसंसार है। इसमें आत्मा को किञ्चित् लाभ नहीं है।

यह जीव, लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्मा है — यह क्षेत्रसंसार है। महाविदेह आदि अमुक क्षेत्र में जन्म लेने से आत्मा को कुछ लाभ नहीं है।

जीव, चौथे काल में जन्मे या पञ्चम काल में जन्मे, वह कालसंसार है। काल का ऐसा कोई समय शेष नहीं है कि जिस समय में जीव ने जन्म-मरण न किया हो।

इस जीव ने नरक इत्यादि के भव अनन्त बार किये हैं, यह भवसंसार है। मनुष्यभव के बिना चारित्र धर्म नहीं होता परन्तु इससे कहीं मनुष्यभव के कारण चारित्रधर्म नहीं हो जाता। जिस भाव से चार गति का कोई भी भव प्राप्त हो, वह दु:ख है; उसमें सुख नहीं है।

भावसंसार अर्थात् कोई भी विकारीभाव होता है, वह भावसंसार है। पञ्च महाव्रतादि व्यवहार की शुभवृत्ति उत्पन्न हो, वह भी भावसंसार है; उस शुभव्यवहार में लाभ माननेवाला जीव, संसार की रुचिवाला है। मिथ्यादृष्टि जीव, चैतन्यस्वभाव की रुचि बिना जो कुछ शुभाशुभभाव करता है, वह सब संसार है; उनमें धर्म नहीं हैं।

यह पाँच प्रकार का संसार है। अज्ञानी जीव भले ही त्यागी होकर महाव्रत पालन करे, तथापि उसे पाँच में से एक भी प्रकार के संसार का अभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव इन पाँचों प्रकार के संसार-परिभ्रमण से रहित है। उसकी भावना करने से ही संसार का अभाव होता है।

●●

मुनिराज को कोई जिम्मेदारी नहीं

मुनि को कर्म-प्रक्रम नहीं होता। मुनि अपने जिम्मे कोई कार्य नहीं लेते, पाठशाला का ध्यान रखना पड़ेगा, रकम उगाहने हेतु तुम्हें जाना पड़ेगा, तीर्थ हेतु रकम उगाहना पड़ेगा – ऐसे किसी भी कार्य को मुनि अपने जिम्मे लेते ही नहीं। मुनि किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी रखते ही नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, २७२, पृष्ठ १६

गाथा ६७

अब, इनका स्वरूप कहते हैं, पहिले द्रव्यपरावर्तन को बतलाते हैं —

बंधदि मुंचदि जीवो, पडिसमयं कम्मपुग्गाला विविहा।
णोकम्मपुग्गला वि य, मिच्छत्तकषायसंजुत्तो॥

मिथ्यात्व और कषाय से, यह जीव पुद्‌गल कर्म को।
नौकर्म पुद्‌गल को समय प्रति, बाँधता अरु छोड़ता॥

अन्वयार्थ : [जीवो] यह जीव **[विविहा कम्मपुग्गला णोकम्मपुग्गला वि य]** (इस लोक में भरे हुए) अनेक प्रकार के पुद्‌गल जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप तथा औदारिकादि शरीर नोकर्मरूप हैं, उनको **[पडिसमयं]** समय-समय प्रति **[मिच्छत्तकसायसंजुत्तो]** मिथ्यात्व-कषायसहित होता हुआ **[बंधदि मुंचदि]** बाँधता है और छोड़ता है।

भावार्थ : मिथ्यात्व कषाय के वश से, ज्ञानावरणादि कर्मों का समयप्रबद्ध अर्थात् अभव्यराशि से अनन्त गुणा, सिद्धराशि के अनन्तवें भाग, पुद्‌गल परमाणुओं का स्कन्धरूप कार्मणवर्गणा को समय-समय प्रति ग्रहण करता है। जो पहिले ग्रहण किये थे, वे सत्ता में हैं, उनमें से इतने ही समय-समय नष्ट होते हैं। वैसे ही औदारिकादि शरीरों का समयप्रबद्ध, शरीर ग्रहण के समय से लगाकर आयु की स्थितिपर्यन्त ग्रहण करता है व छोड़ता है। इस तरह अनादि काल से लेकर अनन्त बार ग्रहण करना और छोड़ना होता है। वहाँ एक परावर्तन के प्रारम्भ में प्रथम समय के समय प्रबद्ध में जितने-जितने पुद्‌गल परमाणु, जैसे स्निग्धरूक्षवर्ण गन्धरूप रस तीव्र मन्द मध्यम भाव से ग्रहण किये हों, उतने ही वैसे ही कोई समय में फिर से ग्रहण करने में आवें, तब एक कर्म परावर्तन तथा नोकर्म परावर्तन होता है। मध्य में अनन्त

बार और भाँति के परमाणु ग्रहण होते हैं, वे नहीं गिने जाते हैं। वैसे के वैसे फिर से ग्रहण करने को अनन्त काल बीत जाए, उसको एक द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। इस तरह के इस जीव ने इस लोक में अनन्त परावर्तन किए हैं।

गाथा ६७ पर प्रवचन

अब, प्रथम द्रव्यपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं।

यह जीव, इस लोक में रहे हुए जो अनेक प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म-पुद्गलों तथा औदारिक आदि शरीररूप नोकर्म पुद्गलों को, मिथ्यात्व कषायों द्वारा संयुक्त होता हुआ प्रतिसमय बाँधता है और छोड़ता है। नोकर्म पुद्गलों में यहाँ औदारिक, वैक्रियक और तैजस -शरीर लेना किन्तु आहारकशरीर नहीं लेना, क्योंकि आहारकशरीर तो छठवें गुणस्थानवाले मुनि को ही होता है।

मिथ्यात्व और कषायभावों से जीव प्रतिसमय ज्ञानावरणादि कर्म परमाणु और औदारिक आदि तीन शरीररूप नोकर्म परमाणुओं को बाँधता है। आत्मा, जड़कर्म का ग्रहण करता है, यह तो निमित्त का कथन है क्योंकि जीव के मिथ्यात्व आदि भाव उसमें निमित्त होते हैं; इसलिए जीव ने उन्हें ग्रहण किया और छोड़ा — ऐसा कहा जाता है।

अमुक कर्म का बन्ध हो तो महाविदेहक्षेत्र में जाया जाए और वहाँ भगवान से भेंट हो; इस प्रकार जिसे कर्म बाँधने की भावना है, उसे तो द्रव्यसंसार की भावना है। धर्मी जीव भी भगवान की पूजा-भक्ति में ऐसा बोलता है कि 'चलो विदेहक्षेत्र में' — वहाँ वस्तुतः धर्मी को संयोग की भावना नहीं है तथा जिस भाव से संयोग प्राप्त हो, उस भाव की भी भावना नहीं है। भावना तो अन्तर के स्वभाव की है किन्तु शुभभाव के समय भगवान को याद करके निमित्त अपेक्षा कहता है कि चलो क्षेत्र विदेह में! धर्मी को न तो वर्तमान राग की रुचि है और न भविष्य के राग की भावना, परन्तु भक्ति के काल में अनेक प्रकार के व्यवहारिक वचन निकलते हैं। हे सीमन्धर भगवान! आप इस भरतक्षेत्र में पधारो — ऐसा कहे तो भी अन्तरङ्ग में भान है कि भगवान कहीं महाविदेह से भरतक्षेत्र में नहीं पधारते, परन्तु अन्दर अपने भाव में भगवान की निकटता करता है। उसे अन्तरङ्ग में चैतन्यस्वभाव का भान है; इसलिए पूर्णता की भावना करता है।

अज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव को चूककर मिथ्यात्व और कषाय के वश अनादिकाल से प्रतिसमय कर्म–नोकर्म के परमाणुओं को ग्रहण करता है, छोड़ता है। ऐसा जो परमाणुओं का ग्रहण–त्याग है, वही द्रव्यसंसार है; उसमें एक द्रव्यपरावर्तन पूरा होता है।

जितने परमाणु जैसे–जैसे रसवाले थे, वैसे ही परमाणु फिर से ग्रहण करे, तब एक द्रव्य परावर्तन पूरा होता है। ऐसे एक परावर्तन में अनन्त काल व्यतीत होता है फिर भी ऐसे अनन्त परावर्तन जीव कर चुका है। ●●

धन्य वह अद्‌भुत मुनिदशा!

अहाहा! मुनि किसे कहते हैं? कि जो शीघ्र-शीघ्र निज शुद्धात्मा में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हों, वे मुनि हैं। उनकी दशा अद्‌भुत है, जगत से न्यारी है। मुनि को अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। जिस प्रकार पूर्णमासी के पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है, वैराग्य उमड़ता है, आनन्द उछलता है, सर्व गुण-पर्यायों में यथासम्भव वृद्धि होती है। अहा! मुनिराज का वैराग्य, राग के रसरहित उग्र विरक्तभाव कोई और ही है। धन्य वह मुनिदशा!

पञ्च परमेष्ठी में जिनका स्थान है, उन मुनिराज का अन्तर वैराग्य कोई अद्‌भुत है। वे स्वरूपानन्द में इतने लीन हुए हैं कि भूमिकानुसार जो महाव्रतादि का शुभराग आता है, वह भी दोष लगता है। यह सूक्ष्म बात है भाई!

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

गाथा ६८

अब, क्षेत्रपरावर्तन को कहते हैं —

सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो, जादो मरिदो य बहुवारं॥

सम्पूर्ण लोकाकाश में, कोई प्रदेश नहीं अहो।
बहु बार जिसमें जीव ने, जन्म रु मरण किये न हो॥

अन्वयार्थ : [णिरवसेसस्स लोयायासस्स] समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में **[साको वि देसो णत्थि]** ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, **[जत्थ सव्वो जीवो]** जिसमें ये सब ही संसारी जीव **[बहुवारं जादो य मरिदो ण]** कई बार उत्पन्न न हुए हों तथा मरे न हों।

भावार्थ : समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में यह जीव अनन्त बार तो उत्पन्न हुआ और अनन्त बार ही मरण को प्राप्त हुआ। ऐसा प्रदेश रहा ही नहीं, जिसमें उत्पन्न नहीं हुआ हो और मरा भी न हो।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। उसके मध्य के आठ प्रदेशों को बीच में देकर, सूक्ष्म निगोदलब्धि अपर्याप्तक जघन्य अवगाहना का धारी वहाँ उत्पन्न होता है। उसकी अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश है, इस तरह जितने प्रदेश उतनी बार तो वह ही अवगाहना वहाँ ही पाता है। मध्य में और जगह अन्य अवगाहना से उत्पन्न होता है, उसकी तो गिनती ही नहीं है। बाद में एक-एक प्रदेश क्रम से बढ़ती हुई अवगाहना पाता है, सो गिनती में है; इस तरह महामच्छ तक की उत्कृष्ट अवगाहना को पूरी करता है। वैसे ही क्रम से लोकाकाश के प्रदेशों का स्पर्श करता है, तब एक क्षेत्रपरावर्तन होता है।

गाथा ६८ पर प्रवचन

अब, क्षेत्रपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं।

जहाँ सिद्ध भगवन्त विराजमान हैं, उसी क्षेत्र में यह जीव अनन्त बार जन्मा-मरा है। एक व्यक्ति ने दूसरे से पूछा कि क्या तुमने राजा को देखा है ? तो वह कहता है कि हाँ! कब ? तो कहता है कि मैंने हत्या की थी, अदालत में उसका केस चलता था, तब वहाँ राजा आये थे और मैंने देखा था। इसी प्रकार अज्ञानी जीव, अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए जिस क्षेत्र में सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वहाँ भी अनन्त बार एकेन्द्रियरूप से जन्मा-मरा है। संसार परिभ्रमण में जीव, शरीर की छोटी से छोटी अवगाहना से लेकर, अनुक्रम से बड़ी से बड़ी अवगाहना धारण कर सम्पूर्ण लोक में जन्मा-मरा है।

जिसे संसार की चारों गतियों का भय लगा हो, उसे स्वर्ग के अवतार में भी सुख भासित नहीं होता। जब चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त किसी संयोग में सुख भासित न हो, तब चारों गतियों का भय लगा कहा जाता है। जो जीव, संसारभावना भाकर भव के कारणरूप परभावों को छोड़ता है, उसे ऐसा संसारपरिभ्रमण नहीं होता।

देखो, यह संसारभावना का वर्णन है। **परिभ्रमण के कारणों की अनेकता है परन्तु उनके अभाव का कारण एक है।** यह जीव पर्यायबुद्धि में अनेक प्रकार के विकल्प करके परिभ्रमण करता है परन्तु उसके अभाव का उपाय एक है। जीव ने अनन्त बार क्षेत्रपरावर्तन किया है। पुण्य-पाप, दया-दानादि शुभक्रियाओं का माहात्म्य करके परिभ्रमण किया है परन्तु यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है ? उसकी श्रद्धा नहीं की। आत्मा का परिपूर्ण शुद्धस्वरूप, वह देव है; आत्मा के शुद्ध स्वरूप को साधनेवाले, गुरु हैं और अनेकान्त के प्रतिपादक शास्त्र हैं। इस प्रकार देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ जानें तो परिभ्रमण का अन्त हुए बिना नहीं रहता। ●●

गाथा ६९

अब, कालपरावर्तन को कहते हैं —

उवसप्पिणिअवसप्पिणि, पढमसमयादिचरमसमयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि, मरदि य सव्वेसु कालेसु॥

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, के प्रथम से अन्तिम समय।
पर्यन्त अनुक्रम से सदा, उत्पन्न हो एवं मरे॥

अन्वयार्थ : [**उवसप्पिणिअवसप्पिणि**] उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल के [**पढमसमयादिचरमसमयंतं**] पहले समय से लगाकर, अन्त के समय तक [**जीवो कमेण**] यह जीव अनुक्रम से [**सव्वेसु कालेसु**] सब ही कालों में [**जम्मदि य मरदि**] उत्पन्न होता है तथा मरता है।

भावार्थ : कोई जीव, दश कोड़ाकोड़ी सागर के उत्सर्पिणीकाल के पहले समय में जन्म पावे, बाद में दूसरे उत्सर्पिणी के दूसरे समय में जन्म पावे, इसी तरह तीसरे के तीसरे समय में जन्म पावे, ऐसे ही अनुक्रम से अन्त के समय तक जन्म पाता रहे, बीच-बीच में अन्य समयों में बिना अनुक्रम के जन्म पावे, सो गिनती में नहीं हैं। इसी तरह अवसर्पिणी के दश कोड़ाकोड़ी सागर के समय पूरे करे तथा ऐसे ही मरे। इस तरह यह अनन्त काल होता है, उसको एक कालपरावर्तन कहते हैं।

गाथा ६९ पर प्रवचन

अब, कालपरिभ्रमण / परावर्तन की बात करते हैं।

एक पल्योपम में असंख्य अरबों वर्ष होते हैं, ऐसे दश कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागर होता है और दश कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक उत्सर्पिणीकाल है और इतना ही

अवसर्पिणीकाल है। उसके प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक सर्व काल में जीव ने जन्म-मरण किया है।

कोई जीव, दश कोड़ाकोड़ी सागर का जो उत्सर्पिणीकाल अर्थात् विकसितकाल के प्रथम समय में जन्म पाता है, पश्चात् दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में जन्म, इसी प्रकार तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में जन्म; इस प्रकार अनुक्रमपूर्वक अनन्त समय तक जन्म धारण करे। बीच में अन्य समयों में अनुक्रमरहित जन्म लेने की यहाँ गिनती नहीं है। एक उत्सर्पिणी के दश कोड़ाकोड़ी सागर हैं, उनके असंख्य समय हैं, वे समय ऊपर कहे अनुसार पूरे करने के लिए अनन्त भव होते हैं।

इसी प्रकार अवसर्पिणीकाल (ह्रास का काल) के पहले समय में जन्मे, फिर दूसरी अवसर्पिणी काल के दूसरे समय में जन्मे; इस प्रकार अनुक्रमपूर्वक अन्त के समय तक जन्मे; बीच में अन्य समयों में अनुक्रमरहित जन्मे, उसकी यहाँ गिनती नहीं है। इस प्रकार एक अवसर्पिणी के दश कोड़ाकोड़ी सागर के असंख्य समय अनुक्रम से पूर्ण करने में अनन्त भव होते हैं। इसी प्रकार अनुक्रमपूर्वक मरता है। इस तरह दोनों अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल में अनुक्रमपूर्वक जन्म-मरण धारण करने को एक कालपरावर्तन कहते हैं। उसमें में भी अनन्त काल जाता है। ●●

रत्नत्रय के साधक सन्त

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि का देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे, ऐसा आहार -औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें — ऐसे **मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ २०

गाथा ७०

अब, भवपरावर्तन को कहते हैं —

णेरइयादिगदीणं, अवर-ट्ठिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि, जीवो गेवेज्जपज्जंतं॥

नरक आदि चतुर्गति में, जघन से उत्कृष्ट तक।
जन्म ले क्रम से अहो, सब समय में ग्रैवेक तक॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] संसारी जीव, [**णेरइयादिगदीणं**] नरकादि चार गतियों की [**अवरट्ठिदो**] जघन्य स्थिति से लगाकर [**वरट्ठिदी जाव**] उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्त (तक) [**सव्वट्ठिदिसु**] सब अवस्थाओं में [**गेवेज्जपज्जंतं**] ग्रैवेयकपर्यन्त [**जम्मदि**] जन्म पाता है।

भावार्थ : नरकगति की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है। इसके जितने समय हैं, उतनी बार तो जघन्य स्थिति की आयु लेकर जन्म पावे, बाद में एक समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे, बाद में दो समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। ऐसे ही अनुक्रम से तैतीस सागर पर्यन्त आयु पूर्ण करे; बीच-बीच में घट बढ़कर आयु लेकर जन्म पावे, वह गिनती में नहीं है। इसी तरह तिर्यञ्चगति की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त, उसके जितने समय हैं, उतनी बार जघन्य आयु का धारक होवे, बाद में एक समय अधिक क्रम से तीन पल्य पूर्ण करे; बीच में घट बढ़कर आयु लेकर जन्म पावे वह गिनती में नहीं है। इसी तरह मनुष्य की जघन्य से लगाकर उत्कृष्ट तीन पल्य पूर्ण करे। इसी तरह देवगति की जघन्य दश हजार वर्ष से लगाकर ग्रैवेयक के उत्कृष्ट इकतीस सागर तक समय-अधिक-क्रम से पूर्ण करे। ग्रैवेयक के आगे उत्पन्न होनेवाला एक दो भव लेकर मोक्ष ही जावे; इसलिए उसको गिनती में नहीं लाए। इस तरह इस भवपरावर्तन का अनन्त काल है।

गाथा ७० पर प्रवचन

अब, भवपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं —

संसारिक जीव, नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सर्व स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्मता है।

माँस खानेवाले, शराब पीनेवाले इत्यादि तीव्र पाप करनेवाले जीव, नरक में जाते हैं। नरकगति की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है। उसके जितने समय हैं, उतनी बार तो जघन्य स्थिति की आयु धारण करे अर्थात् असंख्य बार ऐसे जन्म करके दश हजार वर्ष की स्थिति पूरी करे। इसी अनुसार एक समय अधिक आयु लेकर जन्मे; बीच में अधिक आयु अर्थात् एक लाख वर्ष की आयु लेकर जन्मे तो उसकी गिनती नहीं करना। फिर दो समय अधिक आयु लेकर जन्मे; इसी अनुसार अनुक्रमपूर्वक तैतीस सागरोपम तक की आयु पूर्ण करे परन्तु बीच में हीनाधिक आयु लेकर जन्मे, उसकी यहाँ गिनती नहीं है।

जो जीव, तत्त्वज्ञान का विरोध करता है तथा माया / कपट करता है, वह तिर्यञ्च बनता है। तिर्यञ्चगति की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। उसके जितने समय हैं, उतनी बार जघन्य आयु का धारक होता है। पश्चात् एक समय अधिक-अधिक की क्रमशः तिर्यञ्च आयु का उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु पूर्ण करता है। जो जुगलिया पशु की आयुष्य होती है, उसे पूर्ण करे परन्तु बीच में हीनाधिक आयु प्राप्त करे, उसकी यहाँ गिनती नहीं है।

इसी अनुसार सम्मूर्च्छन मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है। वहाँ से लेकर जुगलिया मनुष्य की उत्कृष्ट आयु जो कि तीन पल्य है, उसे पूरी करता है।

इसी अनुसार देवगति में गया। वहाँ भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है। उसके असंख्य समय हैं। उतनी बार जघन्य आयु लेकर जन्मे; बीच में दीर्घायुवाला हो, वह गिनती में नहीं लेना चाहिए। पश्चात् एक समय अधिक आयुवाला होता है, ऐसे गिनती करते-करते ग्रैवेयक की इकतीस सागर तक की उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से पूर्ण करे, उसे भवपरावर्तन कहते हैं। नौवें ग्रैवेयक से ऊपर उत्पन्न होनेवाला जीव, एक दो भव में ही मुक्त हो जाता है; इसलिए यहाँ उसे नहीं गिना है। इस भवपरावर्तन का काल भी अनन्त है। ●●

गाथा ७१

अब, भावपरावर्तन को कहते हैं —

परिणमदि सण्णिजीवो, विविहकसाएहि ट्ठिदिणिमित्तेहिं।
अणुभागणिमित्तेहिं य, वट्टंतो भावसंसारे॥

बहुभाँति स्थिति बन्ध अरु, अनुभाग में कारण अहो।
परिणमन करता जीव संज्ञी, वर्तता जग-भाव में॥

अन्वयार्थ : [भावसंसारे वट्टंतो] भावसंसार में वर्तता हुआ जीव **[ट्ठिदिणि-मित्तेहिं]** अनेक प्रकार कर्म की स्थितिबन्ध को कारण **[य अणुभागणिमित्तेहिं]** और अनुभागबन्ध को कारण **[विविहकसाएहिं]** अनेक प्रकार के कषायों से **[सण्णिजीवो]** सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव **[परिणमदि]** परिणमता है।

भावार्थ : कर्म की एक स्थितिबन्ध को कारण कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं, उसमें एक स्थितिबन्धस्थान में अनुभागबन्ध को कारण कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण है। जो योग्य स्थान हैं, वे जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग हैं। यह जीव उनका परिवर्तन करता है। सो किस तरह ? कोई सैनी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकजीव, स्वयोग्य सर्व जघन्य ज्ञानावरण प्रकृति की स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण बाँधता है। उसके कषायों के स्थान असंख्यात लोकमात्र हैं। उसमें सब जघन्य स्थान एकरूप परिणमते हैं, उसमें उस एक स्थान में अनुभागबन्ध के कारण स्थान, ऐसे असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें से एक सर्वजघन्यरूप परिणमता है, वहाँ उस योग्य सर्वजघन्य ही योगस्थानरूप परिणमते हैं, तब जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग योगस्थान अनुक्रम से पूर्ण करता है। वीच में अन्य योगस्थानरूप

परिणमता है, वह गिनती में नहीं है। इस तरह योगस्थान पूर्ण होने पर अनुभाग का स्थान दूसरा रूप परिणमता है, वहाँ भी वैसे ही योगस्थान सब पूर्ण करता है।

तीसरा अनुभागस्थान होता है, वहाँ भी उतने ही योगस्थान भोगे। इस तरह असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रम से पूर्ण करे, तब दूसरा कषायस्थान लेना चाहिए। वहाँ भी वैसे ही क्रम से असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान तथा जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग योगस्थान पूवोक्त क्रम से भोगे, तब तीसरा कषायस्थान लेना चाहिए। इस तरह से ही चतुर्थादि असंख्यात लोकप्रमाण कषायस्थान पूर्वाक्त क्रम से पूर्ण करे, तब एक समय अधिक जघन्यस्थिति स्थान लेना चाहिए; उसमें भी कषायस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान पूर्वोक्त क्रम से भोगे। इस तरह दो समय अधिक जघन्यस्थिति से लगाकर तीस कोड़ाकोड़ीसागर पर्यन्त ज्ञानावरणकर्म की स्थिति पूर्ण करे। इस तरह से ही सब मूलकर्मप्रकृति तथा उत्तरकर्मप्रकृतियों का क्रम जानना चाहिए। इस तरह परिणमन करते हुए अनन्त काल व्यतीत हो जाता है, उस सबको इकट्ठा करने पर एक भावपरिवर्तन होता है। इस तरह के अनन्त परावर्तन यह जीव भोगता आया है।

गाथा ७१ पर प्रवचन

अब, भावपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं —

यह जीव, निज चैतन्य के भान बिना अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है और अनेक कर्मों का स्थितिबन्ध करता है। जीव ने दया, दानादिक के परिणाम, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम अनन्त बार किये हैं, उन्हें भी भावसंसार अथवा भावपरावर्तन कहते हैं।

कर्मों की एक स्थितिबन्ध के कारणरूप कषायों के स्थानक संख्यात लोकप्रमाण हैं। उसमें एक स्थितिबन्ध स्थान में अनुभागबन्ध के कारणरूप कषायों के स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं। चौदह ब्रह्माण्ड का समान रीति से जमा हुआ टुकड़ा बनावें, इसमें अन्तिम पतले टुकड़े को जगत्श्रेणी कहते हैं तथा योगस्थान है, वे जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग हैं, उन्हें यह जीव, परिवर्तन करता है। वह किस प्रकार? कोई संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त जीव, अपने योग्य सर्व जघन्य ज्ञानावरण कर्मप्रकृति की स्थिति अन्तः कोड़ाकोडी सागरप्रमाण बाँधता है,

उसमें कषाय स्थान असंख्यात लोकमात्र हैं। उसमें सर्व जघन्यस्थान एकरूप परिणमे, उसमें इस एक स्थान में अनुभागबन्ध के कारणरूप स्थान ऐसे असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उसमें से एक स्थान सर्वजघन्यरूप परिणमे, वहाँ उसके योग्य सर्व जघन्य योगस्थानरूप परिणमे, तब ही जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग के योगस्थान अनुक्रम से पूर्ण करता है परन्तु बीच में अन्य योगस्थानरूप परिणमे, उन्हें यहाँ गिनती में नहीं लिया है।

यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं मिल सकती। सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व में जरा भी अन्तर पड़े तो सम्पूर्ण तत्त्व में अन्तर पड़ जाता है। लोग अन्यमत के साथ समन्वय करना चाहते हैं परन्तु वीतरागमार्ग का अन्यमत के साथ कहीं भी मेल नहीं हो सकता।

इस प्रकार योगस्थान पूर्ण होने पर अनुभागस्थान का दूसरा स्थान परिणमे, वहाँ भी उसी अनुसार सर्व योगस्थान पूर्ण करे; तत्पश्चात् तीसरा अनुभागस्थान हो, वहाँ भी उतने ही योगस्थान भोगे। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रमपूर्वक पूर्ण करे, तब दूसरा कषायस्थान लेना। वहाँ भी ऊपर कहे अनुसार क्रमपूर्वक असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान तथा जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग के योगस्थान पूर्वोक्त क्रमपूर्वक भोगे, तब तीसरा कषायस्थान लेना; इस प्रकार चौथा, पाँचवाँ, छठा आदि असंख्यात लोक प्रमाण कषायस्थान पूर्वोक्तक्रमपूर्वक पूर्ण करे, तब एक समय अधिक जघन्य स्थिति लेना। उसमें भी कषायस्थान, अनुभागस्थान और योगस्थान ऊपर कहे क्रमपूर्वक भोगे; इस प्रकार दो समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर तीस कोड़ाकोड़ी सागर तक ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति पूर्ण करे। इस प्रकार सर्व मूलकर्मप्रकृतियाँ तथा उत्तरकर्मप्रकृतियों का क्रम जानना। जितनी जिनकी स्थिति हो, उस अनुसार समझ लेना। जैसे ज्ञानावरणीय की तीस कोड़ाकोड़ी, दर्शनावरणीय की तीस कोड़ाकोड़ी, चारित्रमोहनीय की चालीस कोड़ाकोड़ी की उत्कृष्ट स्थिति है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृति की स्थिति में अन्तर है।

इस प्रकार परिणमते-परिणमते अनन्त काल व्यतीत होता है। उसे इकट्ठा करने पर एक भावपरावर्तन होता है, ऐसे अनन्त भावपरावर्तन यह जीव भोगता आया है। जीव, अनेक प्रकार के कर्म बाँधता आया है। उनकी स्थिति तथा अनुभाग में अन्तर है, इस प्रकार भावपरावर्तन का स्वरूप समझना चाहिए।

●●

गाथा ७२

अब, पञ्च परावर्तन के कथन का सङ्कोच करते हैं —

एवं अणाइकाले, पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणो, जीवो मिच्छत्त-दोसेण॥

इस तरह पाँच प्रकार के, संसार में मिथ्यात्व से।
बहु भाँति दुःख निधान सहता, जीव काल अनादि से॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस तरह **[णाणादुक्खणिहाणो]** अनेक प्रकार के दुःखों के निधान **[पंचपयारे]** पाँच प्रकार **[संसारे]** संसार में **[जीवो]** यह जीव **[अणाइकालं]** अनादिकाल से **[मिच्छत्तदोसेण]** मिथ्यात्व के दोष से **[भमेइ]** भ्रमण करता है।

गाथा ७२ पर प्रवचन

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच परावर्तनरूप संसार है। चेतन, अनादिकाल का है, संसार में अनन्तकाल परिभ्रमण करने पर भी चैतन्य द्रव्य ज्यों का त्यों है। अपने वास्तविक भान बिना अनादि से मिथ्यात्व के दोष के कारण परिभ्रमण करता है। द्रव्यलिङ्गी साधु होकर नौवें ग्रैवेयक की इकतीस सागर की आयु में जन्म लिया। मुनिपने में महाव्रत पालन किये, यम-नियम किये परन्तु आत्मा का भान नहीं किया। इसलिए मिथ्यात्व के दोष से परिभ्रमण करता है।

कैसा है संसार? अनेक प्रकार के दुःखों का खजाना है। आत्मा आनन्द का निधान है और संसार दुःख का निधान है, दुःख की खान है। जिस भाव से देवलोक प्राप्त हो, नौवें

ग्रैवेयक का भव प्राप्त हो, वह भाव भी दु:ख का निधान है। व्रत–तप इत्यादि के शुभभाव भी दु:ख का निधान है। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम भी दु:ख की खान हैं।

जो जीव, वर्तमान को / पर्याय को भाता है, वह संसार में परिभ्रमण करता है और त्रिकालीस्वभाव को भानेवाले को संसार नहीं है। यहाँ पाँच प्रकार के परावर्तनरूप भाव को दु:ख कहा, दु:ख का खजाना कहा; इसलिए सुख के निधानस्वरूप आत्मा को भजना चाहिए। ●●

धर्मी को मुनिदशा की कैसी उत्कृष्ट भावना

चक्रवर्ती के राजकुमार भी आत्मभानपूर्वक अन्तर में ही जाना चाहते हैं। जब कोई राजकुमार वन में जाने लगता है, तब अपनी माता के पास आज्ञा माँगता है –

'हे जननी! मुझे आज्ञा दो, मैं अपने आनन्द के नाथ के निकट जाना चाहता हूँ। हे माता! अब मुझे बाहर एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता। इन रत्न-महलों में तथा रानियों में कहीं मेरा आनन्द नहीं है। आत्मा आनन्द का नाथ है, वह मैंने देख लिया है। हे माता! एक बार तुझे रोना हो तो रो ले, लेकिन मैं शपथ लेता हूँ कि अब दूसरी माता नहीं करूँगा। मैं तो अन्तर में स्थिर होकर भव का अभाव करूँगा। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द रस का रसिक हूँ। हे माता! मैं वह रस लेने के लिए वन में अकेला जा रहा हूँ।'

अहाहा! वह पुरुषार्थ कितना होगा? पञ्चम काल में भी सम्यग्दृष्टि को तो ऐसी भावना होती है! 'धन्य वह दिवस कि जब बाहर आना ही न पड़े।' - ऐसे भाववाले महापुरुषार्थी महाज्ञानी आनन्द के अनुभव में एक वीतरागभाव में ही निमग्न-तल्लीन हो गये हैं। 'वह दशा हमें हो, वह अवसर हमें कब आयेगा' - ऐसी भावना धर्मी को होती है। अहाहा! आनन्द में समाये, सो समाये। 'श्रीमद् राजचन्द्र' में आता है कि 'जो समझे वे समा गये, अन्तर में ही स्थिर हो गये।' भाई! मार्ग तो यह है! *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२९-३०*

गाथा ७३

अब, संसार से छूटने का उपदेश करते हैं —

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह स-सरूवं, संसरणं जेण णासेइ॥

संसार ऐसा जानकर, पुरुषार्थ से तज मोह को।
ध्याओ भविक वह आत्मा, संसार जिससे नष्ट हो॥

अन्वयार्थ : [इय संसारं जाणिय] इस तरह (पहले कहे अनुसार) संसार को जानकर, **[सव्वायरेण]** सब तरह के प्रयत्नपूर्वक **[मोहं]** मोह को **[चइऊण]** छोड़कर (हे भव्यों!) **[तं ससरूवं झायह]** उस आत्मस्वरूप का ध्यान करो, **[जेण]** जिससे **[संसरणं]** संसारपरिभ्रमण **[णासेइ]** नष्ट हो जावे।

गाथा ७३ पर प्रवचन

अब, संसार से छूटने का उपदेश करते हैं —

हे भव्य आत्मा! ऊपर कहे अनुसार, इस संसार के स्वरूप को जानकर, सर्व प्रकार से उद्यम करके मोह का परित्याग कर। तू इस आत्मस्वभाव का चिन्तन कर, जिससे संसार –परिभ्रमण का सर्वथा नाश हो।

जिस भाव से सातावेदनीय कर्म बँधता है, जगत् में यश प्राप्त हो — ऐसा कर्म बँधता है, वह सब संसार है; इसलिए संसार के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार से उद्यम करके मोह को छोड़। देखो, कर्म का अभाव होने पर उद्यमी हो — ऐसा नहीं कहा है। तेरा पुरुषार्थ तेरे हाथ में है।

भाई! तेरे स्वभाव में पाँच प्रकार के परावर्तनरूप भाव नहीं हैं; इसलिए अपने स्वभाव का अवलम्बन ले! उसका चिन्तवन कर! देखो, इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं, यह एक ही संसारपरिभ्रमण के अभाव का उपाय है।

आत्मा जानने-देखनेवाला है, देहादि की क्रिया का कर्ता नहीं है। ऐसे स्वभाव की एकाग्रता करे तो संसार उत्पन्न नहीं होता, तब उसने संसार का अभाव किया — ऐसा कहा जाता है। यहाँ उद्यम करके कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा में वीर्य नाम का गुण है, जैसे संसार की वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए समर्पणतापूर्वक पुरुषार्थ करता है, वह वीर्य की विपरीत अवस्था है; अब उसकी दिशा बदलकर परपदार्थ और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर अपने शान्तस्वभाव में स्थिर हो जा, तो संसार का अभाव हो जाएगा। (यह वीर्य/पुरुषार्थ की सही दिशा है।)

जो जीव, संसार को आदरणीय मानता है, उसे स्वभाव मीठा/आदरणीय नहीं लगता। अज्ञानदशा में अनन्त बार विपरीतभाव किये हैं, अब चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान कर तो संसार का नाश होगा।

पंच परावर्तनमयी, दु:खरूप संसार।
मिथ्याकर्म उदै वशे, भरमै जीव अपार॥ ३॥

पञ्च परावर्तनमय संसार दु:खमय है। यह जीव, स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं करता और कर्म की सन्मुखता करता है अर्थात् उसमें जुड़ान करता है; इसलिए संसार में परिभ्रमण करता है। ●●

इस प्रकार संसार अनुप्रेक्षा का वर्णन पूर्ण हुआ।

४

एकत्व अनुप्रेक्षा

गाथा ७४

अब, एकत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप चिन्तवन करते हैं —

इक्को जीवो जायदि, इक्को गब्भम्मि गिह्लदे देहं।
इक्को बाल जुवाणो, इक्को वुड्ढो जरागहिओ॥

उत्पन्न होता है अकेला, गर्भ में तन को गहे।
बालक युवा भी हो अकेला, अरु अकेला वृद्ध हो॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] जीव, [**इक्को**] एक ही [**जायदि**] उत्पन्न होता है, [**इक्को**] वह ही एक [**गब्भम्मि**] गर्भ में [**देहं**] देह को [**गिह्लदे**] ग्रहण करता है, [**इक्को बाल जुवाणो**] वह ही एक बालक होता है, वह ही एक जवान होता है, [**इक्को जरागहिओ बुड्ढो**] वह ही एक जरा से – बुढ़ापे से गृहीत वृद्ध होता है।

भावार्थ : (निज एकत्व निश्चयस्वपद को भूलकर) एक ही जीव, इन नाना पर्यायों को धारण करता है।

गाथा ७४ पर प्रवचन

अब, एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं।

इस जगत् में जीव अकेला ही उत्पन्न होता है; उसके साथ दूसरा कोई उत्पन्न नहीं होता। दो भाई एक साथ जन्म लें अथवा पिल्ले साथ जन्म लें तो भी प्रत्येक जीव अकेला जन्म लेता है।

वह जीव, गर्भ में देह धारण करता है, तैजस कार्मणशरीर तो साथ ही होता है परन्तु औदारिकशरीर धारण करता है। यहाँ मनुष्य की बात ली गयी है; इसीलिए कहा है कि वही जीव, बालक होता है। आत्मा की अवस्था वैसी ही होती है, उस समय उसे ऐसा लगता है कि मैं बालक हूँ, मैं खेलने-कूदनेवाला हूँ, इत्यादि कल्पना करता है और शरीर युवा होने पर आत्मा के प्रदेश भी उस अनुसार हो जाते हैं। वही जीव, वृद्धावस्था में भी अकेला है, शरीर चले नहीं, आँखों से दिखे नहीं इत्यादि ऐसा अकेला अलग-अलग अवस्थाएँ धारण करता है परन्तु मैं अकेला चिदानन्द हूँ, रागरहित हूँ — ऐसी समझ करके स्वहित को नहीं साधता। ऊपरी वैराग्यपूर्वक मैं अकेला हूँ — ऐसा बोले तो वह भी व्यर्थ है। मैं शुद्ध आत्मा हूँ — ऐसे भानपूर्वक अकेलेपन की भावना भाना ही यथार्थ है। ●●

ऐसे सन्तों की क्या बात करें?

जिसे **'जिसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी'** कहा, सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। **मुनिधर्म की तो बात ही क्या कहें। तीन कषाय के अभाव सहित जिनके अन्तर में प्रचुर आनन्द का अनुभव है** और बाह्य में जिसके वस्त्र का एक धागा भी नहीं है – ऐसे सन्तों की क्या बात करें?

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अध्यात्म रत्नत्रय, पृष्ठ ३१

गाथा ७५

इक्को रोई सोई, इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ, णरयदुहं सहदि इक्को वि॥

जीव रोगी हो अकेला, शोकमय हो एक ही।
मानस दुःखों से तप्त हो, हो दीन नरकों में दुःखी॥

अन्वयार्थ : [इक्को रोई सोई] एक ही जीव, रोगी होता है, वह ही एक जीव शोकसहित होता है, **[इक्को]** वह ही एक जीव **[माणसे दुक्खे]** मानसिक दुःख से **[तप्पेइ]** तप्तायमान होता है, **[इक्को मरदि]** वह ही एक जीव मरता है, **[इक्को वि]** वह ही एक जीव **[वराओ णरयदुहं सहदि]** दीन होकर नरक के दुःख सहता है।

भावार्थ : जीव, अकेला ही अनेक-अनेक (खोटी) अवस्थाओं को धारण करता है।

गाथा ७५ पर प्रवचन

एक ही जीव, रोगी होता है, उसके रोग में भी कोई सहायता नहीं करता। किसी को टीबी हो तो वह स्वयं भोगता है। अकेला ही चिन्ता करता है — ऐसे प्रसङ्ग अनन्त बार प्राप्त हुए हैं। सारा जगत् तृष्णा की ज्वाला में जल रहा है। स्वयं शोक करता है परन्तु पर से पृथक शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा नहीं करता। मरणकाल में कोई सहायता नहीं दे सकता, उस समय असहाय होकर सहन करता है। नरक में उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर की है, तब तक वहाँ दुःख भोगता है, उस दुःख को स्वयं वेदन करता है अथवा केवली जानते हैं; दूसरा कोई नहीं जान सकता। नरक में असह्य और अकथ्य दुःख हैं, जीव इन दुःखों को अकेला ही सहन करता है।

तात्पर्य यह है कि जीव अकेला ही अनेक-अनेक अवस्थाओं को धारण करता है।

●●

गाथा ७६

इक्को संचदि पुण्णं, इक्को भुञ्जेदि विविहसुरसोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं, इक्को वि य पावए मोक्खं॥

पुण्य संचय करे एकहि, विविध सुर सुख भोगता।
कर्मक्षय करके अकेला, मोक्ष सुख भोगे अहा॥

अन्वयार्थ : [इक्को] एक ही जीव **[पुण्णं]** पुण्य को **[संचदि]** सञ्चित करता है, **[इक्को]** वह ही एक जीव **[विविहसुरसोक्खं]** नाना प्रकार के देवगति के सुख **[भुञ्जेदि]** भोगता है, **[इक्को]** वह ही एक जीव **[कम्मं]** कर्म को **[खवेदि]** नष्ट करता है, **[इक्को वि य]** वह ही एक जीव **[मोक्खं]** मोक्ष को **[पावए]** पाता है।

भावार्थ : वह ही जीव, पुण्य करके स्वर्ग जाता है; वह ही जीव, कर्मों का नाश करके मोक्ष जाता है।

गाथा ७६ पर प्रवचन

एक ही जीव, पुण्य का संचय करता है। एक का पुण्य दूसरे को काम नहीं आता। प्रवचनसार में कहा है कि आत्मा का स्वभाव ही अपना बन्धु है, आत्मा की निर्मलदशा ही आत्मा की स्त्री है, आत्मा के गुण ही आत्मा का समाज है; स्त्री, पुत्र, परिवार इत्यादि आत्मा के नहीं हैं। जीव, जैसे शुभभाव करता है, वैसा पुण्य बँधता है। कोई जीव दूसरे के पुण्य में, निर्जरा में अथवा धर्म में सहायक नहीं होता तथा कोई क्षेत्र अथवा जीव, निर्जरा नहीं कराता। स्वयं एक जीव, कर्म की निर्जरा करता है और स्वयं ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

वही जीव, पुण्यार्जन करके स्वर्ग में जाता है और स्वयं अपने कर्म का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है। मरते समय साध्य रहे या असाध्य हो तो भी अपनी दशा को अकेले भोगता है।

एक जीव ने रूढ़ि अनुसार सम्पूर्ण जिन्दगी सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण आदि किया परन्तु आत्मा का भान नहीं था। मरण के समय जब दूसरों ने कहा कि भाई! महावीर का नाम लो, तब उस बीमार मनुष्य ने कहा कि महावीर अभी नहीं, अभी तो बहुत वेदना है। देखो, सारी जिन्दगी सामायिक आदि करने पर भी मरण के समय महावीर के नाम के प्रति भी अरुचि हो गयी।

भाई! आत्मा के भान बिना रूढ़िगत सामायिक के फल में शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

देखो, प्रत्येक जीव, स्वयं ही कर्मोपार्जन करता है, स्वयं ही उसका फल भोगता है और स्वयं ही कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है। ●●

दीक्षा कल्याणक का अपूर्व अवसर

जिस समय भगवान का साक्षात् दीक्षा कल्याणक होता होगा, उस समय कैसा लगता होगा? अहो! जो चक्रवर्ती थे, कामदेव थे और तीर्थङ्कर थे; उन्होंने जिस समय दीक्षा ली होगी, उस समय की दशा की क्या बात करना! छह खण्ड में जिनका उत्तम रूप था, उत्तम भोग थे, जो तीर्थङ्कर थे – ऐसे भगवान, चारित्रदशा धारण करके प्रमत्त-अप्रमत्तभाव में झूल रहे हैं। एक क्षण में महाव्रतों की या भेद की शुभवृत्ति उठती है तो दूसरे ही क्षण उसे तोड़कर पुनः आत्मानुभव में लीन हो जाते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३५*

गाथा ७७

सुयणो पिच्छंतो वि हु, ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहिदुं।
एवं जाणंतो वि हु, तो वि ममत्तं ण छंडेइ॥

दुःखी देखें स्वजन पर, दुःख लेश भी नहिं ले सकें।
प्रत्यक्ष ऐसा जानकर भी, स्वजन से रति नहिं तजे॥

अन्वयार्थ : [सुयणो] स्वजन (कुटुम्बी) भी (जब यह जीव दुःख में फँस जाता है, तब उसको) **[पिच्छंतो वि हु]** देखता हुआ भी **[दुक्खलेसंपि]** दुःख का लेश भी **[गहिदुं]** ग्रहण करने को **[ण सक्कदे]** समर्थ नहीं होता है; **[एवं जाणंतो वि हु]** इस तरह प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी **[ममत्तं ण छंडेइ]** कुटुम्ब से ममत्व नहीं छोड़ता है।

भावार्थ : अपना दुःख आप ही भोगता है, कोई बँटा नहीं सकता है। यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि दुःख सहता हुआ भी पर के ममत्व को नहीं छोड़ता है।

गाथा ७७ पर प्रवचन

देखो! पुत्र को व्याधि हो तो पिता उसका दर्द स्वयं नहीं ले सकता। रोग आवे अथवा मरण हो तो अकेला सब सहन करता है, कोई सहायक नहीं है। 'देह भिन्न, केवल चैतन्य का भान जब' अर्थात् देहरहित अकेले चैतन्य का भान करे तो धर्म और शान्ति होती है, अन्य कोई शरणभूत नहीं है; मात्र अकेला दुःख को ही भोगता है। ऐसा प्रगट भिन्नपना होने पर भी मैं पर से भिन्न हूँ — यह भान जीव नहीं करता है। बापू! तीन लोक के नाथ भी तेरे सहायक नहीं हैं।

भाई! सम्पूर्ण जिन्दगी धर्म का अभ्यास नहीं किया हो और आत्मा क्या है? — यह विचार नहीं किया हो तो वह मरण के समय शान्ति नहीं रख सकता। उस जीव को ममत्व का त्याग नहीं रुचता है, निवृत्ति लेना नहीं रुचती है। बहुत काम लक्ष्य में लिये हों, उनकी ममता के कारण मैं मरणतुल्य हुआ हूँ — ऐसा भी उसे नहीं लगता है। अज्ञानी जीव, बहुत दुःख सहन करता है परन्तु ममत्वभाव को नहीं छोड़ता है। ●●

चिदानन्द आत्मा ही हमारा देश

अहा! धर्मात्मा मुनि निरन्तर आनन्द झरते हुए अपने प्रचुर स्वसम्वेदन में से अर्थात् आनन्दस्वरूप निज आत्मा में से बाहर आयें, व्रतादि या धर्मोपदेश का विकल्प आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि अरेरे! हम कहाँ इस परदेश में आ गये? ज्ञानियों की परिणति, धर्मात्मा की दशा, विभाव से विमुख होकर स्वरूपोन्मुख हो रही है। ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णतया स्थित होने को तरसते हैं! यह शरीर तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि तो हमारे हैं ही नहीं, परन्तु यह विभावभाव भी हमारा देश नहीं है। हमारा देश तो अन्तर में विद्यमान चिदानन्द आत्मा है।

– ऐसा है वीतरागमार्ग का स्वरूप। महाव्रतादि अथवा दूसरों को समझाने का विकल्प उठे, वह भी राग है; राग हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। अशक्ति के कारण भीतर स्वरूप में स्थिर नहीं रह सके, पुरुषार्थ अल्प है; इसलिए यहाँ आ पड़े। यहाँ शुभभाव में हमारा कुछ नहीं है। जहाँ अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि हमारा परिवार निवास करता है, वह निज शुद्ध चैतन्यभूमि ही हमारा स्वदेश है। धर्मी को निरन्तर ऐसी दृष्टि होती है। अब, हम अपने उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/३१*

गाथा ७८

अब, कहते हैं कि इस जीव के निश्चय से धर्म ही स्वजन है —

जीवस्स णिच्चयादो, धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए, सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ॥

उत्तम क्षमादिक धर्म दशलक्षण, करें हित जीव का।
स्वर्ग पहुँचाये यही चिर, दुःख क्षय करता अहा॥

अन्वयार्थ : [**जीवस्स**] इस जीव के [**सुयणो**] अपना हितकारक [**णिच्चयादो**] निश्चय से [**दहलक्खणो**] एक उत्तम क्षमादि दशलक्षण [**धम्मो**] धर्म ही [**हवे**] है [**सो**] क्योंकि वह धर्म ही [**देवलोए**] देवलोक (स्वर्ग) में [**णेइ**] ले जाता है, [**सो चिय**] वह धर्म ही [**दुक्खक्खयं कुणइ**] दुःखों का क्षय अर्थात् मोक्ष करता है।

भावार्थ : धर्म के सिवाय और कोई भी हितकारी नहीं है।

गाथा ७८ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि निश्चय से इस जीव को एकमात्र धर्म ही शरण है।

इस ग्रन्थ के रचयिता स्वामी कार्तिकेय मुनि थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में विराजमान थे। इसलिए मुनि की प्रधानता से बात की है।

इस जीव को वास्तविक हितकारी तो उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं। अपने स्वरूप को भूलकर विकल्प उत्पन्न करना अथवा महाव्रत के परिणाम होना भी अक्षमा है। अपने स्वभाव में स्थिरता करना उत्तम क्षमा है। मनुष्य परस्पर एक दूसरे को अपना हितैषी मानते हैं परन्तु वस्तुतः कोई किसी का हितैषी नहीं है; एकमात्र धर्म ही हितैषी है।

यहाँ कहा है कि धर्म, देवलोक को प्राप्त कराता है। वस्तुतः धर्म से देवलोक नहीं मिलता परन्तु पञ्चम काल के मुनि हैं, सम्पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान अभी प्राप्त नहीं हो सकते; इसलिए साधकदशा में जो शुभराग आता है, उसके द्वारा देवलोक/स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अपने में महाव्रतादिक का राग तथा दूसरों के प्रति धर्मानुराग वर्तता है, उस शुभराग के फल में देवगति प्राप्त होती है।

साक्षात् चारित्रधर्म तो सम्पूर्ण दुःखों का नाश कराकर मोक्ष को प्राप्त कराता है। यहाँ लोग जिसे चारित्र मानते हैं, उसकी बात नहीं है। आत्मा शरीर के रजकणों और राग का ज्ञाता है — ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके अन्तर स्थिरता करने से वीतरागता और चारित्र होता है, वह धर्म है।

लोग मानते हैं कि व्यापार में पचास वर्ष के साझेदार हों और साथ में व्यापार किया हो, वे हितैषी हैं या नहीं ? नहीं; वह सब पृथक्-पृथक् हैं, एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। जीव ने अनादि से आज तक अज्ञान का व्यापार किया है; जड़ पदार्थों का व्यापार नहीं किया। ज्ञान अथवा अज्ञान, उस चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले परिणाम हैं। उपयोग के बारह भेद हैं, वे सब भेद चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले परिणाम हैं; वे परिणाम इन्द्रियाँ अथवा चश्मा को अनुसरण करके नहीं होते। इन्द्रियाँ और मन की सहायता से मतिज्ञान होता है — ऐसी जो व्याख्या आती है, उसमें तो उपयोग के समय कौन निमित्त था, यह बताया है परन्तु इन्द्रियों और मन के कारण ज्ञान नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि बारह प्रकार के भेद तो स्वतन्त्र हैं, वे भेद भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं; अकेला अभेद आत्मा ही वास्तविक स्वरूप है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना योग्य है और वही हितकारी है।

'दर्शन-मोह व्यतीत हो, उपजा बोध जो। देह भिन्न, केवल चैतन्य का ज्ञान जब' अर्थात् अकेले शुद्ध चैतन्यस्वरूप के ज्ञान की बात की है। इसलिए हे भव्यात्मा ! तू शरीर और इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है — ऐसा जान। आत्मा को जानने से परद्रव्य जानने में आ जाएँगे।

तात्पर्य यह है कि धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई हितैषी नहीं है। अकेले जीव को शरीर से भिन्न जान ! शरीर-मन-वाणी, इन्द्रियों का और पुण्य-पाप के परिणामों का लक्ष्य छोड़ने योग्य है।

●●

गाथा ७९

अब, कहते हैं कि इस तरह से अकेले जीव को शरीर से भिन्न जानना चाहिए —

सव्वायरेण जाणह, इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवो, होदि असेसं खणे हेयं॥

सब यत्न से तन से पृथक, यह एक चेतन जानिये।
जिससे सभी परद्रव्य क्षण में, हेय हैं पहचानिए॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीवों! [**इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं**] अकेले जीव को शरीर से भिन्न (अलग) [**सव्वायरेण जाणह**] सब प्रकार के प्रयत्न करके जानो। [**जम्हि दु जीवो मुणिदे**] जिस जीव के जान लेने पर, [**असेसं खणे हेयं होदि**] अवशेष सब परद्रव्य क्षणमात्र में त्यागने योग्य होते हैं।

भावार्थ : जब जीव, अपने स्वरूप को जानता है, तब परद्रव्य हेय ही भासते हैं; इसलिए अपने स्वरूप ही के जानने का महान् उपदेश है।

गाथा ७९ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि हे जीव! अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की रुचि कर। अकेला अखण्ड आत्मा ही उपादेय है; अन्य सब छोड़ने योग्य है।

देखो, यहाँ आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानने को कहा है। अज्ञानी कहते हैं कि कुछ व्रत करने को क्यों नहीं कहते? परन्तु भाई! मैं शरीर से भिन्न हूँ, क्या ऐसा विचार करने में कषाय की मन्दता नहीं है? परन्तु अज्ञानी को बाह्य की पकड़ है, इसलिए उसे बाह्य क्रियाओं की और शुभभावरूप व्रतादि की ही महिमा आती है।

भाई ! आत्मा शरीर से भिन्न है — ऐसा जानने से, अन्य सब हेय है — यह क्षणमात्र में ज्ञात हो जाता है। हे भव्यात्मा ! तू सर्व प्रकार से उद्यम करके आत्मा को शरीर से भिन्न जान ! शरीर पुद्‌गल है, उसका हिलना-चलना मुझसे नहीं होता। शरीर, मृतक कलेवर है; आत्मा उससे भिन्न है तो फिर स्त्री-पुत्र आदि से तो भिन्न है ही — यह बात भी इसमें आ जाती है। तू अपने ज्ञानानन्द के साथ अभेद है, निर्णय कर कि तू अकेला है। जिसे स्वभाव की दृष्टि हुई, वह एकत्वभावना भाता है, वह विचार करता है कि यह शोभा किसलिए ? यह कोतूहलता किसकी ? यह शरीर तो अजीव है, आत्मा इससे भिन्न है - ऐसा भान होने से वैराग्यपूर्वक एकत्वभावना भाता है।

कितने ही जीव व्रत-तप में जिस कषाय-मन्दता से पुण्य होता है, उसमें होश/उत्साह मानते हैं। भाई ! जहाँ कषाय-मन्दता का भी ठिकाना न हो, उपवास हो और दुकान जाता हो, गप्प मारता हो, उसमें तो कषाय-मन्दता भी नहीं है और यदि देह की क्रिया में धर्म मान बैठे तो मिथ्यात्वभाव का सेवन करता है।

यहाँ तो आत्मा, शरीर से भिन्न है — ऐसा भान करे तो धर्म है और विकल्प वर्तना कषाय मन्दता के पुण्यपरिणाम हैं। जैसे पतङ्ग की डोर हाथ में हो तो पतङ्ग कितनी भी ऊँची उड़ गयी हो परन्तु हाथ में ही है; इसी प्रकार शरीर और आत्मा भिन्न है, ऐसा भान हो तो सम्यक्‌ज्ञानरूपी डोर हाथ में है; इसलिए उसे अल्प राग-द्वेष होते हैं। शरीरादिक की कैसी भी अवस्था हो, वह ज्ञेय में जाती है। अपना स्वरूप तो चैतन्यमय है, शरीर-मन-वाणी मुझमें अभावरूप है। ज्ञान -दर्शन के साथ मेरा त्रिकाल सम्बन्ध है। राग-द्वेष के परिणाम पर्याय का अपराध है, वह अपराध त्रिकालीस्वभाव में नहीं है, यहाँ उस स्वरूप के जानने का उद्देश्य है। अपने स्वरूप को जानने पर सर्व परद्रव्य हेयरूप ही भासित होते हैं; इसलिए यहाँ अपने ज्ञानस्वरूप को जानने का ही उपदेश है।

एक जीव परजाय बहु, धारै स्वपर निदान।
पर तजि आपा जानिकै, करौ भव्य कल्यान॥ ४॥

भगवान आत्मा एक है, वह अनेक शरीर धारण करता है। अपने अपराध और कर्म का निमित्त पाकर अनेक शरीर धारण करता है। अनन्त शरीरों से आत्मा अकेला पृथक् है और उस

अकेले आत्मा से वे अनन्त पृथक् हैं। जैसे अनेक वृक्षों की छाया के नीचे विश्राम करनेवाले यात्री, उस वृक्ष को अपना नहीं मानते; इसी प्रकार अनेक प्रकार के शरीर मेरे नहीं हैं, अपितु पर हैं, ऐसा मानकर अपना स्वरूप अकेला है, ऐसा विचार। हे भव्य! इससे तेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार एकत्वानुप्रेक्षा का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

मुनिदशा अर्थात् धर्म का मौसम

जिस प्रकार व्यापारी दीपावली आदि अच्छे सीजन में व्यापार की भाग-दौड़ करके थोड़े समय में बहुत कमायी कर लेता है; उसी प्रकार चारित्रदशा तो धर्मी जीव के धर्म साधने का वास्तविक सीजन है, उसमें शीघ्र ही धर्म की साधना करके वह थोड़े ही काल में महान मोक्ष-वैभव को साध लेता है – ऐसी दशा को साधु पद कहते हैं। अहा! सम्यग्दर्शन तो हुआ है, अब आत्मा में लीन होकर, बारम्बार निर्विकल्प अनुभूति करके, स्वरूप में स्थिरता करके मुनिदशा प्रगट करूँगा। ऐसी भावना धर्मी जीव भाता है। वाह! ऐसी चारित्रदशा किसे नहीं रुचेगी। ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के तो हम दास हैं, उनके चरणों के सेवक हैं, उन्हें हम बहुमान से नमस्कार करते हैं। णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन, ५/४४९

५

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

गाथा ८०

अण्णं देहं गिह्वदि, जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं, अण्णो वि य जायदे पुत्तो॥

यह देह भी है अन्य, जननी और भार्या अन्य है।
पुत्र भी है अन्य ये, संयोग जिन कर्मज कहें॥

अन्वयार्थ : यह जीव, संसार में **[देहं गिह्वदि]** देह को ग्रहण करता है **[अण्णं]** सो अपने से अन्य (भिन्न) है **[य]** और **[जणणी अण्णा]** माता भी अन्य है, **[कलत्तं अण्णं होदि]** स्त्री भी अन्य होती है, **[पुत्तो वि य अण्णो जायदे]** पुत्र भी अन्य उत्पन्न होता है **[कम्मादो होदि]** ये सब कर्म-संयोग से होते हैं।

गाथा ८० पर प्रवचन

इस जीव को संसार में जो देह का संयोग प्राप्त होता है, वह इससे अन्य है। शरीर की वर्तमान दशा आत्मा से नहीं होती। माता भी अन्य है; स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी कहते हैं, वह भी अन्य

है; पुत्र भी अन्य ही आकर उत्पन्न होता है, वह तेरा नहीं है। ये सब कर्म के निमित्त से आकर प्राप्त होते हैं और कर्मों की अवस्था पूर्ण होने पर चले जाते हैं।

प्रश्न – तब फिर इस संसार की रचना में कर्म ही कारण होंगे?

उत्तर – नहीं, यह जीव स्वयं अपना हित करना नहीं चाहता, इसमें अपना विपरीत पुरुषार्थ ही कारण है।

यहाँ शरीर को अलग कहने से कार्मणशरीर से आत्मा भिन्न है, यह बात भी आ जाती है। कोई उल्टे-सीधे परिणाम नहीं कराता, जो स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता है और कर्ता का इष्ट, सो कर्म है। अज्ञानी को शुभाशुभभाव अच्छे लगते हैं, वे उसका इष्ट हैं। जीव स्वयं विकार करता है, दूसरा कोई विकार का साधन/कारण नहीं। देह और कर्म की अवस्था जड़ की जड़ में होती है, अन्यथा दोनों की पृथकता नहीं रहती।

कोई कहता है कि माता-पिता अभी भिन्न हैं या मर जाने के पश्चात् भिन्न होंगे? यदि अभी अपने न हों तो ये मेरे माता-पिता हैं — ऐसा क्यों कहा जाता है? उससे कहते हैं कि जीव अपनेपन का अभिमान करता है और संसार में परिभ्रमण करता है। ●●

ऐसा धन्य अवसर कब प्राप्त होगा?

चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं है, धर्मात्मा श्रावक वैराग्यभावसहित सदा मुनिदशा की भावना भाता है।

तीर्थङ्करादि महापुरुष जिस चारित्र पन्थ में विचरण करके मोक्ष गये.... महापुरुषों के उस मार्ग में हम भी कब विचरेंगे, ऐसा धन्य अवसर हमारा कब आएगा। सम्पूर्ण प्रकार का बाह्याभ्यन्तर बन्धन या परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रन्थरूप मुनि होकर और केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करें। अहा! ऐसा अपूर्व अवसर हमारा कब आएगा।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन, ५/४४८

गाथा ८१

एवं वाहिरदव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो, तत्थेव य रच्चदे मूढो॥

इन बाह्य द्रव्यों को पृथक, जाने स्वयं से भिन्न यह।
तो भी अहो उनमें सदा ही, राग करता मूढ़ यह॥

अन्वयार्थ : [**एवं**] इस तरह पहिले कहे अनुसार [**वाहिरदव्वं**] सब बाह्य वस्तुओं को [**अप्पणो**] अपने [**रूवादु**] आत्मस्वरूप से [**भिण्णं**] भिन्न [**जाणदि**] जानता है [**जाणंतो वि हु**] तो भी प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी [**मूढो**] यह मूढ़ (मोही) [**जीवो**] जीव [**तत्थेव य रच्चदे**] उन परद्रव्यों में ही राग करता है, सो यह बड़ी मूर्खता है।

गाथा ८१ पर प्रवचन

पूर्व गाथा के कथनानुसार सर्व बाह्य वस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं — ऐसा धारणा में लिया है। ख्याल में आता है कि यह सब वस्तुएँ भिन्न हैं, फिर भी जीव उन्हीं परद्रव्यों में राग करता है और चैतन्यस्वभाव को भूल जाता है — यह मूर्खता है।

भाई! आत्मा की अन्तरक्रिया आत्मा में है; जड़ का भाव पर है, स्त्री-पुत्र, देव-गुरु भी पर हैं। पर को पररूप धारणा में लेने पर भी मिथ्यादृष्टि जीव, अन्तर वस्तु का/निज आत्मस्वरूप का आदर नहीं करता। वह मानता है कि शरीर अच्छा हो तो धर्म होता है; इस प्रकार पर की तो दरकार करता है परन्तु निज जीव की दरकार नहीं करता — यह महा मूर्खता है।

●●

गाथा ८२

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं॥

परमार्थ से इस देह को, निज से पृथक जो जानता।
यह भावना उसकी सफल, जो आत्मा को ध्यावता॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो जीव, [**जीवसरूवादु**] अपने स्वरूप से [**देहं**] देह को [**तच्चदो भिण्णं**] परमार्थ से भिन्न [**जाणिऊण**] जानकर [**अप्पाणं पि य सेवदि**] आत्मस्वरूप को सेता है अर्थात् ध्यान करता है, [**तस्स अण्णत्तं कज्जकरं**] उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

भावार्थ : जो देहादिक परद्रव्यों को भिन्न जानकर, अपने नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप का सेवन करता है, उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

गाथा ८२ पर प्रवचन

जिससे लाभ-हानि होना माने, उससे आत्मा भिन्न है — ऐसा नहीं माना जा सकता। अपनी पर्यायबुद्धि से हानि है और स्वभावबुद्धि से लाभ है, इसके अतिरिक्त पर में लाभ-हानि नहीं है। जो जीव, देह को परमार्थरूप से भिन्न जानता है, वह आत्मस्वरूप को ध्याता है। जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय, अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय से भिन्न हैं; इस प्रकार जो अन्तर में ध्याता है और ज्ञान का ही सेवन करता है, वह पर का अभिमान नहीं करता।

अभी बहुत से लोग आत्मा की बातें करते हैं परन्तु आत्मा हो तो शरीर चलता है, आत्मा हो तो भाषा बोली जाती है, व्यवहार से आत्मा शरीर को चलाता है — ये सब मान्यताएँ अज्ञान

हैं। शरीरादिक पर हैं; देव-गुरु-शास्त्र का राग भी आत्मा का स्वरूप नहीं है — ऐसा भान करके अपने में एकाग्रता करे तो भावना कार्यकारी है।

यहाँ से (सोनगढ़ से) बहुत साहित्य प्रकाशित हुआ है, इसलिए लोग उसे धारण करके, रटन करके बातें करने लगे हैं और कहते हैं कि हम भी आत्मा की बात जानते हैं और व्यवहार भी साधते हैं परन्तु वास्तव में वे जीव, निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को नहीं जानते हैं। अभव्य जीव, ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व धारण कर गया हो और पूर्व के कारण क्षयोपशम दिखता हो तो भी पर्यायबुद्धि के कारण, वह संसार में भ्रमण करता है।

१. कोई जीव, मान के लिए अथवा कषाय सेवन करने के लिए शास्त्र वाचन अथवा उपदेश करता है। उसका ज्ञान का क्षयोपशम तो वर्तमान के कारण नहीं है परन्तु पूर्व का लब्ध लेकर आया है, वह उपयोगरूप व्यक्त होता है। वर्तमानभाव तो अशुभ है, उसके निमित्त से ज्ञान का विकास नहीं होता।

२. दूसरा जीव, शुभपरिणाम करता है, मानादि का सेवन नहीं करता, उसे ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम होता है परन्तु वह परलक्ष्य से होने से पर को जानता है; आत्मा को नहीं।

३. कोई जीव, पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वसन्मुख होता है और क्षयोपशमभाव भी पर्याय है — ऐसा समझकर द्रव्यसन्मुख ढलता है तो वह ज्ञान का विकास आत्मा को जानने में निमित्त है।

दोहा

निज आतम तैं भिन्न पर, जानै जे नर दक्ष।
निज में रमैं वमैं अपर, ते शिव लखै प्रत्यक्ष॥ ५॥

शरीर-मन-वाणी, राग-द्वेष इत्यादि सब अपने आत्मा से पर हैं — ऐसा जो चतुर जीव जानता है, वह अपने स्वभाव में रमता है; उसका परभाव छूट जाता है और मोक्षमार्ग प्राप्त होता है; उसे प्रत्यक्ष मोक्ष होता है।

इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

६

अशुचि अनुप्रेक्षा

गाथा ८३

अब, अशुचि अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं —

सयलकुहियाण पिंडं, किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं।
मलमुत्ताणं य गेहं, देहं जाणेहि असुइमयं॥

सब निन्दनीय पदार्थ की है, पिण्ड कृमिकुल से भरी।
दुर्गन्धमय मलमूत्र गृह, यह देह है अशुचिमयी॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! तू [**देहं**] इस देह को [**असुइमयं**] अपवित्रमयी [**जाणेहि**] जान। कैसा है देह ? [**सयलकुहियाण पिंडं**] १. सकल (सब) कुत्सित निन्दनीय पदार्थों का पिण्ड (समूह) है, [**किमिकुलकलियं**] २. कृमि (पेट में रहनेवाले लट आदि) तथा अनेक प्रकार के निगोदादिक जीवों से भरा है, [**अउव्वदुग्गंधं**] ३. अत्यन्त दुर्गन्धमय है, [**मलमुत्ताणं य गेहं**] ४. जो मल-मूत्र का घर है।

भावार्थ : इस शरीर को सब अपवित्र वस्तुओं का समूह जानना चाहिए।

गाथा ८३ पर प्रवचन

अब, अशुचि अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं।

देखो, शरीर को मात्र अशुचि मानना तो द्वेष है, पहले शरीर के प्रति राग था और फिर द्वेष करता है, वह अशुचिभावना नहीं है। आत्मा पवित्र चिदानन्दमूर्ति है — ऐसी पवित्रता की दशावाला अपवित्र शरीर में रहा हुआ है, इसका यहाँ विचार करते हैं।

कैसी है देह ? नाक का मैल, पसीना, पेशाब, चमड़ी, चर्बी इत्यादि से भरी हुई है। अच्छी मिठाई बनायी हो, वह मुँह में डालकर तुरन्त बाहर निकालकर देखो तो खराब मालूम पड़ती है; इसलिए बाहर के पदार्थों की और शरीर की रुचि छोड़कर आत्मा की रुचि कर! शरीर में कीड़े और निगोद के जीव भरे हुए हैं तथा शरीर अत्यन्त दुर्गन्धवाला और मल-मूत्र से भरा है — ऐसा विचारकर अपवित्र शरीर से मैं आत्मा भिन्न हूँ, ऐसे पवित्र चैतन्य की भावना भाने से एकाग्रता बढ़ती है, उससे संवर होता है।

देखो, यह भावना का अधिकार है। आत्मा का स्वभाव, ज्ञान और आनन्द है। मैं शरीर की क्रिया नहीं कर सकता, पर में सुख नहीं है; मेरा सुख मुझमें है — ऐसा भान होने पर भी सर्वज्ञता और आनन्द का अनन्तपना प्रगट नहीं हुआ, वह जीव ये भावनाएँ भाता है।

यहाँ अशुचिभावना का वर्णन चल रहा है। इसमें कहते हैं कि इस शरीर को सर्व अपवित्र वस्तुओं के पिण्डरूप जान! आत्मा, ज्ञान का पिण्ड है, जिसे ऐसा भान हुआ है, वह विचारता है कि यह शरीर मल-मूत्र, थूक, खून, चर्बी इत्यादि का ढेर है। अज्ञानी भी ऐसा बोलता है, फिर भी उसे अज्ञानमय वैराग्य में द्वेष है; उसे सच्ची भावनाएँ नहीं होती।

ज्ञानी विचारता है कि मेरा आत्मा पूर्ण ज्ञान-आनन्दमय है। उसकी भावना में शरीर का विचार करता है। आत्मा में अपवित्रता नहीं है और शरीर में पवित्रता नहीं है, ज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान वर्तता है। ●●

गाथा ८४

अब कहते हैं कि यह देह, अन्य सुगन्धित वस्तुओं को भी अपने संयोग से दुर्गन्धित करता है —

सुट्ठु पवित्तं दव्वं, सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि।
देह-णिहित्तं जायदि, घिणावणं सुट्ठु-दुग्गंधं॥

अत्यन्त शुचि एवं सुगन्धित, सरस मनहर द्रव्य भी।
इस देह के संयोग से हों, घृणित दुर्गन्धित सभी॥

अन्वयार्थ : [**देहणिहित्तं**] इस शरीर में लगाये गये [**सुट्ठु पवित्तं**] अत्यन्त पवित्र [**सरससुगंधं**] सरस और सुगन्धित [**मणोहरं जं पि**] मन को हरनेवाले [**दव्वं**] द्रव्य भी [**घिणावणं**] घिनावने [**सुट्ठुदुग्गंधं**] तथा अत्यन्त दुर्गन्धित [**जायदि**] हो जाते हैं।

भावार्थ : इस शरीर के चन्दन, कपूर आदि (सुगन्धित पदार्थ) लगाने से दुर्गन्धित हो जाते हैं। रससहित उत्तम मिष्ठान्नादि खिलाने से मलादिकरूप परिणम जाते हैं। अन्य भी वस्तुएँ इस शरीर के स्पर्श से अस्पृश्य हो जाती हैं।

गाथा ८४ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि सुन्दर-पवित्र-सुरस-सुगन्धित द्रव्य भी देह में डालने के साथ ही घृणास्पद और दुर्गन्धमय बन जाते हैं। मौसम्बी, रसगुल्ला, गुलाबजामुन, मैसूरपाक इत्यादि सुरस और मन का हरण करनेवाले सुगन्धित द्रव्य भी मुँह में डालकर थोड़ी देर पश्चात् बाहर निकालकर देखे जाएँ तो दुर्गन्धयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर अपवित्र है और चैतन्यस्वरूप आत्मा पवित्र है — ऐसा वैराग्य लाकर आत्मा में एकाग्रता करना, अशुचिभावना है।

शरीर का सङ्ग करनेवाली वस्तु बिगड़ जाती है परन्तु जो अपनी आत्मा का सङ्ग करता है, उसे शान्ति और सुख प्राप्त होता है। देखो, जङ्गल में बसनेवाले मुनिराज ऐसी भावना भाते हैं।

इस देह को चन्दन से लिप्त किया हो तो भी थोड़ी ही देर में वह (चन्दन) दुर्गन्धपूर्ण हो जाता है। अज्ञानी को सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ हो तो वह उसी में सर्वस्व मान लेता है। शरीर ठीक हो तो मुझे ठीक है — ऐसा मानता है। वास्तव में शरीर तो शरीर के कारण से है, अन्दर आत्मा में शान्ति है — ऐसा ख्याल करने पर ही शान्ति प्राप्त होती है।

सरस वस्तुएँ खाने के पश्चात् वे भी मलरूप परिणमित हो जाती हैं। जैसे, दूध और पानी भिन्न हैं; वैसे ही आत्मा और शरीर भिन्न हैं। उनका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध छूट जाने पर अकेला आत्मा रह जाता है।

अन्य वस्तुएँ भी इस देह के स्पर्शमात्र से अस्पर्श बन जाती है। इस प्रकार यह देह अशुचिमय है। वास्तव में शरीर में सुख नहीं है; अपनी आत्मा में ही सुख है — ऐसा मानना चाहिए। ●●

अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

चक्रवर्ती के पुत्र राजकुमार, पूर्ण सुख-सुविधाओं में जिनका पालन -पोषण हुआ हो, वे भी जब सम्यग्दर्शनसहित आत्मा का विशेष अनुभव करने के लिए वन में जाते हैं; तब कहते हैं – 'माता! मुझे कहीं अच्छा नहीं लगता, मुझे जहाँ अच्छा लगता है, ऐसे अपने स्वरूप में ही मैं जाना चाहता हूँ। मेरा नाथ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें आवरण, अशुद्धि या अपूर्णता नहीं है। मेरा ज्ञायक प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, उसके आनन्द को लूटने के लिए, अनुभवने के लिए मैं तो जाता हूँ। अहाहा! मुनिपना तो ऐसा है भाई!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ६५२

गाथा ८५

इस शरीर की अशुचितता को और विस्तार से दिखाते हैं —

मणुयाणं असुइमयं, विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमण-कज्जे, ते पुण तत्थेव अणुरत्ता॥

वैराग्य होने के लिए यह, देह अशुचिमयी रची।
विधि ने परन्तु मनुज यह, उसमें रहे अनुरक्त ही॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! [**मणुयाणं**] यह मनुष्यों का [**देहं**] देह [**विहिणा**] कर्म के द्वारा [**असुइमयं**] अशुचि [**विणिम्मियं जाण**] रचा गया जान। यहाँ ऐसी उत्प्रेक्षा (सम्भावना) करते हैं कि [**तेसि विरमणकज्जे**] यह देह, इन मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न होने के लिए ही ऐसा बनाया है [**ते पुण तत्थेव अणुरत्ता**] परन्तु ये मनुष्य उसमें भी अनुरागी होते हैं, सो यह अज्ञान है।

गाथा ८५ पर प्रवचन

इस मनुष्य की देह को कर्मों ने अपवित्र बनाया है, यह कथन निमित्त सापेक्ष है। वास्तव में एक रजकण दूसरे रजकण को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह शरीर कर्मों के निमित्त से अशुचिमय है, वह मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये ही ऐसा रचा गया है, तथापि मनुष्य उसमें अनुरागी होकर सुख मानते हैं — यह अज्ञान है। जैसे नेमिनाथ भगवान को वैराग्य लाने के लिए पशुओं को बन्धन बाँधा गया था; वैसे ही जीव में वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए शरीर को अशुचिमय बनाया गया है; इसीलिए देह की रुचि तोड़ और अन्दर आनन्दशक्ति स्वभाव पड़ा है, उसकी रुचि कर! ●●

गाथा ८६

इसी अर्थ को और दृढ़ करते हैं —

एवं विहं पि देहं, पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य, अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता॥

प्रत्यक्ष देखे इस तरह, अशुचिमयी इस देह को।
पहले न पाई मानकर, आदर सहित सेवा करे॥

अन्वयार्थ : [एवं विहं पि देहं] इस तरह पहले कहे अनुसार अशुचि शरीर को **[पिच्छंता वि य]** प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह मनुष्य उसमें **[अणुरायं]** अनुराग **[कुणंति]** करता है, **[अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता]** जैसे ऐसा शरीर कभी पहिले न पाया हो — ऐसा मानता हुआ **[आयरेण य सेवंति]** आदरपूर्वक इसकी सेवा करता है, सो यह बड़ा अज्ञान है।

गाथा ८६ पर प्रवचन

यह देह प्रत्यक्ष अपवित्र होने पर भी, मनुष्य उसमें अनुराग करते हैं। छोटा बालक भी लकड़ी की चूसनी मुँह में रखता है, उसे पेड़ा देने पर भी चूसनी को नहीं छोड़ता; इसी प्रकार अज्ञानी जीव को पवित्र चैतन्यस्वभाव बतलाने पर भी, वह देह के प्रति राग को नहीं छोड़ता। वह जीव ऐसा मानता है कि मैं शरीर को चला सकता हूँ, मैं बोल सकता हूँ; इस प्रकार शरीर और आत्मा को एक ही मानता है। ऐसा जीव, ये भावनाएँ नहीं भा सकता।

अनादि से जीव को शरीर के साथ एकत्वबुद्धि है। जैसे, बगीचे की भूल–भूलैया में रास्ता नहीं मिलता; इसी प्रकार अनादि से जीव भूल में रम रहा है। उसे कहते हैं कि शरीरादिक

की क्रिया तेरी नहीं है; तू ज्ञाता–दृष्टा है, राग–द्वेष का भी जाननहार है किन्तु कर्ता नहीं है।

हे भाई! अनन्त बार शरीर प्राप्त होने पर भी जीव ने अपने शाश्वत स्वभाव का भान नहीं किया है, वह अज्ञानभाव है। यहाँ स्वामी कार्तिकेय कहते हैं कि शरीर अशुचिमय है, आत्मा पवित्र है; इसलिए उस पवित्र आत्मा की भावना कर। ●●

मुनिपना अर्थात् परमेश्वरपद

मुनि को वह विकल्प दुःखदायक लगता है। बाहर आना उन्हें अच्छा नहीं लगता। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण विकल्प के भाव आयें - उपयोग ज्यों ही बाहर जाए कि तुरन्त सहजरूप से स्वभाव की ओर ढल जाते हैं। तुरन्त ही इस शुभ को छोड़ूँ और अन्तर में स्थिर होऊँ - ऐसे विकल्प से नहीं, किन्तु सहजस्वभाव के बल से स्वोन्मुख हो जाते हैं। अहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दामृत का सागर जहाँ दृष्टि तथा अनुभव में आया, वहाँ उसके निर्विकल्प स्वाद की दशा में से उपयोग बाहर आने पर विकल्प आया, लेकिन तुरन्त ही स्वरूपानन्द में ढल जाते हैं। अहा! ऐसी है छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनिराज की दशा!

'बाहर आना पड़े, वह बोझ या उपाधि लगता है।'

अरे! उपदेश देने का विकल्प आये, आहार लेने का विकल्प आये- वह सब बोझ या उपाधि लगता है। राग के भार से रहित ज्ञायकवस्तु में विकल्प बोझ के समान लगता है। अनाकुल आनन्द के रसिक भगवान आत्मा को राग तो आकुलता, दुःख एवं भाररूप लगता है। मुनि आनन्द में स्थित हैं, उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। अहाहा! मुनिपना, वह तो परमेश्वरपद है। मुनि पञ्च परमेष्ठियों में आते हैं न?

दो छोटे पाण्डव भ्राताओं को विकल्प आया कि तीनों ज्येष्ठ भ्राता उपसर्ग में कैसे होंगे? इतने मात्र से बन्ध हो गया और दो भव बढ़ गये। बाहर आना पड़े; विकल्प उठे, वह मुनि को बोझरूप लगता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/५१

गाथा ८७

अब, कहते हैं कि इस शरीर से विरक्त होनेवाले के अशुचिभावना सफल है —

जो परदेहविरत्तो, णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।

अप्पसरूव सुरत्तो, असुइत्ते भावणा तस्स॥

पर देह में आसक्त नहिं, अनुरक्त नहिं निज देह में।

सफल उसकी भावना जो, रक्त आत्मस्वरूप में॥

अन्वयार्थ : [जो] जो भव्य, **[परदेहविरत्तो]** परदेह (स्त्री आदिक की देह) से विरक्त होकर **[णियदेहे]** अपने शरीर में **[अणुरायं]** अनुराग **[ण य करेदि]** नहीं करता है; **[अप्पसरूव सुरत्तो]** अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहता है, **[तस्स]** उसके **[असुइत्ते भावणा]** अशुचिभावना सफल है।

भावार्थ : (देहादि के) केवल विचार ही से जिसको वैराग्य प्रगट होता हो तो उसके यह भावना सत्यार्थ कहलाती हैं।

गाथा ८७ पर प्रवचन

जो भव्य जीव, माता-पिता, स्त्री इत्यादि की देह में विरत होकर अपने शरीर में अनुराग नहीं करता परन्तु अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहता है, उसे अशुचिभावना सफल है।

मैं हूँ तो शरीर चल रहा है, आहार-पानी इत्यादि की व्यवस्था मैं कर सकता हूँ — ऐसा भाव, अज्ञानभाव है। आहार-पानी जड़ है; आत्मा, देह-मन-वाणी से भिन्न है; जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं है और राग-द्वेष से भी भिन्न है। जो जीव ऐसा भेदज्ञान करता है, उसकी अशुचिभावना सफल है।

जैसे, विवाह के लिए किसी के गहने लाये हों और फिर यह भूल जाए कि ये गहने किसके हैं ? तो गहनों का मालिक उससे कहता है कि भाई ! जिस-जिस के गहने हों, वे उठा लें; उसी प्रकार भगवान कहते हैं कि शरीर, लक्ष्मी-मकान, आत्मा इत्यादि सब हैं, उसमें तेरा माल हो उसे उठा ले ! शरीर मन-वाणी तेरा माल नहीं है, अपितु शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही तेरा माल है, उसे उठा। इस प्रकार जो भेदज्ञान करता है, वह पर में प्रीति नहीं करता।

मैं तो ज्ञानानन्द अमृतभोजन का अनुभव करनेवाला हूँ। इस प्रकार जिसे आत्मा का अनुराग है और शरीरादि पर का अनुराग नहीं है, उस जीव की अशुचिभावना सार्थक है।

स्वपर देह कूँ अशुचि लखि, तजै तास अनुराग।
ताके साँची भावना, सो कहिये बड़भाग॥ ६॥

स्व-पर के शरीर अपवित्र हैं। 'अपनी देह' — ऐसा कहना व्यवहार है। शरीर बहुत सी अपवित्र वस्तुओं से बना है। उसे अपवित्र जानकर, आत्मा को पवित्र जानकर, जो शरीर के प्रति राग छोड़ता है, उसे सच्ची भावना होती है और वह महाभाग्यवान है।

देखो, सच्ची भावना भानेवाले को महाभाग्यवान कहा है। किसी जीव के पुण्य कम हो, वह गरीब हो, अप्रतिष्ठित हो, भले ही उसे कोई न गिनता हो तो भी वह सब बाह्य की बात है; उससे आत्मा का अनादर नहीं होता। मेढ़क समवसरण में जाता है और भेदज्ञान प्रगट कर लेता है तो वह भाग्यवान है। ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात तिर्यञ्च पञ्चम गुणस्थानवर्ती हैं, वे ऐसी भावनाएँ भाते हैं, वे महाभाग्यवान हैं। इसलिए तू भाग्यवान है, तू तेरी ज्ञाननिधि में समाकर अन्दर में गुम हो जा — ऐसा कहने का आशय है।

इस प्रकार अशुचिभावना का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

७

आस्रव अनुप्रेक्षा

गाथा ८८

मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफंदणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता, विजुदा वि य आसवा होंति॥

मन वचन तन का योग आस्रव, प्रदेश कम्पन योग है।
मिथ्यात्व और कषाय युत, अथवा रहित भी जानिए॥

अन्वयार्थ : [मणवयणकायजोया] मन-वचन-काय योग हैं, **[आसवा होंति]** वे ही आस्रव हैं। कैसे हैं? **[जीवपयेसाणफंदणविसेसा]** १. जीव के प्रदेशों का स्पन्दन अर्थात् चलायमान होना/काँपना विशेष है, वह ही योग है, **[मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य]** २. मोह के उदय (मिथ्यात्व कषाय) सहित है और ३. मोह के उदयरहित भी है।

भावार्थ : मन-वचन-काय का निमित्त पाकर जीव के प्रदेशों का चलाचल होना, सो योग है, उसी को आस्रव कहते हैं। वे गुणस्थान की परिपाटी में सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थान

तक तो मोह के उदयरूप यथासम्भव मिथ्यात्व कषायसहित होते हैं, उसको साम्परायिक –आस्रव कहते हैं और ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोह उदय से रहित होते हैं, उसको ईर्यापथ –आस्रव कहते हैं। जो पुद्गलवर्गणा कर्मरूप परिणमती हैं, उनको द्रव्यास्रव कहते हैं और जीव के प्रदेश चञ्चल होते हैं, उनको भावास्रव कहते हैं।

गाथा ८८ पर प्रवचन

अब, आस्रव अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं।

देखो, मन–वचन–काय तो जड़ हैं, उनकी बात नहीं है किन्तु आत्मा के प्रदेशों का कम्पन योग है, वह आस्रव का कारण है और प्रदेशों के कम्पन के समय मन का अवलम्बन हो तो मनोयोग, वचन का अवलम्बन हो तो वचनयोग और काया का अवलम्बन हो तो काययोग कहलाता है। योग, नवीन कर्मों के आने का छिद्र है। दया–दानादि के परिणाम ही वास्तव में मलिनपरिणाम हैं, इनसे कर्म के परमाणु आते हैं। आस्रव का अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्व–राग–द्वेष है और बहिरङ्ग कारण योग है।

निचली भूमिका पहले गुणस्थान में मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्वसहित आस्रव के परिणाम होते हैं। मैं दया, दान जितना हूँ — ऐसी भ्रान्ति मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व, अविरत, कषाय — ये कषाय के ही भेद हैं। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् मिथ्यात्व का आस्रव नहीं रहता; अपनी भूमिकानुसार आस्रव होता है। मुनिराज को महाव्रतादि के परिणाम हैं, उतना आस्रव है और ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में मोहरहित परिणाम हैं, इस कारण उन्हें ईर्यापथ आस्रव है परन्तु मोह नहीं है।

मन–वचन–काया का निमित्त पाकर प्रदेशों का चलाचल होना योग है और उसे ही आस्रव कहते हैं। वह गुणस्थानों की परिपाटी अनुसार होता है। मिथ्यादृष्टि को भ्राँति और अकषाय से योग होता है। पाँचवें तक अस्थिरतारूप कषायसहित योग होता है; इस प्रकार भिन्न–भिन्न गुणस्थानों की परिपाटी अनुसार सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक जो मिथ्यात्व, कषायसहित योग होता है, उसे साम्पराय आस्रव कहते हैं तथा उससे ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोह के उदयरहित योग है, उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जो पुद्गलवर्गणाएँ

कर्मरूप परिणमित होती हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं तथा जीव के प्रदेश चञ्चल होते हैं, उसे भावास्रव कहते हैं।

इस प्रकार ज्ञानी, आस्रव के स्वरूप का विचार करता है। आस्रव, मलिन परिणाम है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूँ — ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके आत्मस्वभाव की विशेष भावना भाता है। ●●

अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र या मुनिपना

अहो! जिन्होंने आत्मा को हथेली की रेखा के समान अन्दर में देखा है, वे मुनि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर पहले से ही 'आत्मा ऐसा है' — यह देखा और जाना था; इसलिए उन धर्मात्माओं को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह तो उनका स्वरूप ही है। अहो! उनका अवतार धन्य है न!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् + चित् + आनन्द अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर है। उसमें शरीर, वाणी और मन तो नहीं; परन्तु दया, दान, व्रत का राग / विकल्प भी नहीं है। उस आत्मा में बसना, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर होना सत्पुरुषों के लिए आश्चर्यकारी बात नहीं है, क्योंकि वह धर्मात्मा की स्थिति ही है, वैसी ही उनकी दशा है, वैसा ही उनका स्वरूप है। अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र और मुनिपना है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

गाथा ८९

अब, मोह के उदयसहित आस्रव हैं, ऐसा विशेषरूप से कहते हैं —

मोहविवागवसादो, जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा॥

इस जीव के परिणाम जो, होते उदयवश मोह के।
हे भव्य! जानो आस्रव, मिथ्यात्व आदि अनेक विध॥

अन्वयार्थ : [मोहविवागवसादो] मोह के उदय से **[जे परिणामा]** जो परिणाम **[जीवस्स]** इस जीव के **[हवंति]** होते हैं, **[ते आसवा]** वे ही आस्रव हैं, **[मुणिज्जसु]** हे भव्य! तू प्रत्यक्षरूप से ऐसा जान। **[मिच्छत्ताई अणेयविहा]** वे परिणाम मिथ्यात्व को आदि लेकर अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थ : कर्मबन्ध के कारण आस्रव हैं। वे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग के भेद से पाँच प्रकार के हैं। उनमें स्थिति-अनुभागरूप बन्ध के कारण मिथ्यात्वादिक चार ही हैं, सो ये मोह के उदय से होते हैं और जो योग हैं, वे समयमात्र बन्ध को करते हैं; कुछ भी स्थिति-अनुभाग को नहीं करते हैं, इसलिए बन्ध के कारण में प्रधान नहीं हैं।

गाथा ८९ पर प्रवचन

यहाँ आस्रवभावना का वर्णन चल रहा है। उसमें मोहसहित आस्रव ही वास्तविक आस्रव है — यह बताया जा रहा है।

मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग - ये ही पाँचों आस्रव हैं। उनमें योग का कम्पन मुख्य आस्रव नहीं है परन्तु मोहादि भाव ही मुख्य आस्रव है। मोहकर्म के विपाक के

वश होकर जीव को मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, वे मलिन परिणाम भावास्रव हैं। वस्तुतः मोहकर्म से विकार नहीं होता, अपितु मोहकर्म के वश होने से विकार होता है। जिसे चिदानन्दस्वभाव को चूककर पुण्य-पाप इत्यादि की महिमा लगी हो, उसे मिथ्यात्व का आस्रव है। इस प्रकार धर्मी जीव, आस्रव अनुप्रेक्षा का चिन्तन करता है। मैं तो ज्ञानानन्द हूँ, जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे आस्रव हैं; मलिनता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।

हे भव्य! तू प्रगटरूप से यह जान कि आत्मा को जो मिथ्यात्व और रागादिक मलिन परिणाम होते हैं, वे ही आस्रव हैं। इन्द्रिय विषयों में सुख की मान्यता, दया, व्रत इत्यादि शुभ परिणाम, ये सब आस्रवभाव हैं। आस्रवभाव कर्मबन्ध का कारण हैं, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच प्रकार के आस्रव हैं। जैसे, नाव में छिद्र हो जाने पर पानी आता है; इसी प्रकार जिसे चैतन्यस्वभाव को चूककर मिथ्यात्वादिरूप छिद्र हुआ है, उसे कर्म का आस्रव होता है।

जीव ने अनादि से सात तत्त्वों को यथार्थ नहीं जाना है। अनादि से सात तत्त्व के सम्बन्ध में भूल हो रही है। जीव को अजीव का कर्ता मानता है; अजीव से अपने को लाभ-हानि मानता है; पुण्य-पाप दोनों विकार होने पर भी पुण्य अच्छा और पाप बुरा — ऐसा भेद करता है; आस्रव दुःखदायक होने पर भी उन्हें सुखदायक मानता है; पुण्य-पाप दोनों बन्ध का कारण होने पर भी पुण्य को धर्म का कारण मानता है; संवर-निर्जरा को कष्टदायक मानता है तथा मोक्ष को विपरीतरूप मानता है; इस प्रकार इस जीव को सात तत्त्वों के सम्बन्ध में भूल है।

अज्ञानी जीव को सच्चे ज्ञान का अभ्यास करने में अरुचि और निरुत्साह होता है। जिसे आत्मा का धर्म नहीं रुचता, उसे सम्यग्ज्ञान और वैराग्य में उत्साह नहीं आता है और भोजन में, श्रीखण्ड-पूड़ी खाने में मजा आता है, उस जीव को संवर-निर्जरा तत्त्व की विपरीतबुद्धि है। चैतन्यस्वभाव की भ्रान्ति और विषयों में लीनतारूप मिथ्याबुद्धि ही महा-आस्रव है तथा हिंसादि अविरतभाव, प्रमाद, कषाय और योग भी नवीन आस्रव के कारण हैं। उनमें योग तो प्रकृति और प्रदेशबन्ध का ही कारण है तथा मिथ्यात्वादि भाव, स्थिति और अनुभागबन्ध के कारण हैं। मोहकर्म का उदय होने पर उसके वश होने से मिथ्यात्वादि भाव होते हैं।

भाई ! वस्तुतः कर्म तो परपदार्थ है, वह जीव को कुछ भी हानि नहीं करता। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव को चूककर मोह के आधीन होता है, तब विकार होता है। जैसे, पके हुए चावल खानेवाले को राग नहीं कराते कि तू मुझे खा! परन्तु जीव स्वयं राग करता है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव मोहकर्म के आधीन होकर स्वयं ही मिथ्यात्वादि भाव करता है।

देखो, ये मिथ्यात्वादि भाव ही आस्रव और बन्ध का मुख्य कारण हैं। योग का कम्पन एक समय के बन्ध को करता है परन्तु उससे स्थिति अथवा अनुभागबन्ध नहीं करता। इसलिए योग का कम्पन, बन्ध के कारणों में मुख्य नहीं है; मिथ्यात्वादि भाव ही बन्ध के मुख्य कारण हैं। ●●

धर्म के स्तम्भ : आचार्यदेव

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिकाए रखा है, गजब का काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परिषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार आती है। महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद -पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है! यह तो सत् की प्रसिद्धि है, इसकी समझ में तो मुक्तिरमा के वरण करने का श्रीफल है अर्थात् समझनेवाले को मोक्ष ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १२१

गाथा ९०

अब, पुण्य–पाप के भेद से आस्रव को दो प्रकार का कहते हैं —

कम्मं पुण्णं पावं, हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु॥

कर्म हैं पुण्य-पाप उनके, हेतु हैं सत् अरु असत्।
सत् कहें मन्द कषाय को, अरु तीव्र को जानो असत्॥

अन्वयार्थ : [कम्मं पुण्णं पावं] कर्म, पुण्य–पाप के भेद से दो प्रकार का है **[च तेसि हेउं सच्छिदरा होंति]** और उनके कारण भी सत् (प्रशस्त), इत्तर (अप्रशस्त) दो ही होते हैं, **[मंदकसाया सच्छा]** उनमें मन्दकषायपरिणाम तो प्रशस्त (शुभ) हैं **[तिव्वकसाया असच्छा हु]** और तीव्र कषाय परिणाम अप्रशस्त (अशुभ) हैं।

भावार्थ : सातावेदनीय, शुभआयु, उच्चगोत्र, और शुभनाम — ये चार प्रकृतियाँ तो पुण्यरूप हैं, बाकी चार घातियाकर्म तथा असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र और अशुभनाम — ये चार अघातिया कर्मप्रकृतियाँ पापरूप हैं। उनके कारण आस्रव भी दो प्रकार के हैं। मन्दकषायरूप परिणाम तो पुण्यास्रव हैं और तीव्र कषायरूप परिणाम पापास्रव हैं।

गाथा ९० पर प्रवचन

शुभ और अशुभ परिणामों का वर्णन आगे किया जाएगा। सातावेदनीय, शुभआयु, उच्चगोत्र और शुभनाम — ये प्रकृतियाँ तो पुण्य/शुभरूप हैं और शेष चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, नरक आयु, नीचगोत्र और अशुभनाम — ये सब प्रकृतियाँ पापरूप हैं। इनके

कारणरूप आस्रव भी दो प्रकार के हैं। वहाँ मन्दकषायरूपपरिणाम है, वह तो पुण्यास्रव है तथा तीव्रकषायरूपपरिणाम है, वह पापास्रव है।

शुभआयु इत्यादि पुण्यप्रकृतियाँ, शुभभाव से बँधती है; वे आस्रव हैं, विकार हैं। मन्द कषाय द्वारा पुण्यास्रव होता है, वह कोई धर्म नहीं है; धर्म तो अकषायभावरूप है, उससे आस्रव नहीं होता। तीव्रकषायरूप पापपरिणाम से अशुभकर्मों का आस्रव होता है। शुभ अथवा अशुभ दोनों आस्रव, विकार हैं। ●●

गणधर भी जिन्हें वन्दन करते हैं

अज्ञानी कहता है कि चारित्र में कितना सहन करना पड़ता है? बहुत परीषह सहन करने पड़ते हैं, जैसे – गर्म पानी पीना, नङ्गे पैर चलना, रात्रि में आहार नहीं करना, देखकर चलना इत्यादि; इस प्रकार भगवान का मार्ग तो तलवार की धार जैसा अर्थात् दुःखरूप है, दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा है।

बापू! तुझे पता नहीं है, तुझे सत्पुरुषों के चारित्र के स्वरूप की खबर नहीं है, क्योंकि तूने तो चारित्र को दुःखरूप माना है। जबकि चारित्र तो सुखरूप दशा है। जहाँ अन्दर में स्वरूप की सम्यक् दृष्टि हुई, आनन्दमूर्ति आनन्द का धाम मेरी वस्तु है – ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ उसमें आनन्दमय रमणता होती है अर्थात् आनन्दसहित सुखाकार-स्थिरता होती है, वह चारित्र है और वह तो सन्तों की दशा ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

गाथा ९१-९२

अब, मन्द-तीव्र कषाय को प्रगट दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता॥
अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं, तिव्वकसायाण लिंगाणि॥

सर्वत्र हित-मित-प्रिव्य वचन हो, क्षमा सुनकर दुर्वचन।
सब के गुणों का ग्रहण, मन्द कषाय के दृष्टान्त हैं॥
अपनी प्रशंसा करे, देखें दोष सज्जन पुरुष के।
चिरकाल तक हो बैर, तीव्र कषाय के ये चिह्न हैं॥

अन्वयार्थ : [सव्वत्थ वि पियवयणं] १. सब जगह शत्रु तथा मित्र आदि में तो प्रिय हितरूप वचन, **[दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं]** २. दुर्वचन सुनकर दुर्जन में भी क्षमा करना, **[सव्वेसिं गुणगहणं]** ३. सब जीवों के गुण ही ग्रहण करना **[मंदकसायाण दिट्ठंता]** — ये मन्दकषाय के दृष्टान्त हैं।

[अप्पपसंसण करणं] १. अपनी प्रशंसा करना, **[पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं]** २. पूज्य पुरुषों में भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव, **[च सुइरं वेरधरणं]** और ३. बहुत समय तक बैर धारण करना **[तिव्वकसायाण लिंगाणि]** — ये तीव्र कषाय के चिह्न हैं।

गाथा ९१-९२ पर प्रवचन

अब, मन्द और तीव्र कषाय के दृष्टान्त कहते हैं।

सभी जीवों के प्रति प्रिय और हितरूप वचन बोलने का शुभभाव भी विकार है, वह पुण्यास्रव का कारण है। दुर्वचन कहनेवाले दुर्जनों के प्रति भी क्षमा का शुभभाव रखना, पुण्य है, आस्रव का कारण है; वह भाव, धर्म नहीं है। चैतन्यस्वभाव के भानसहित क्रोधादि विकारभाव न हो और वीतरागभाव रहे, उसका नाम परमार्थ क्षमा है, वह धर्म है।

सर्व जीवों के गुण ग्रहण करना अर्थात् जिसमें गुण हों, वह ग्रहण करना भी शुभास्रव का कारण है।

अपनी प्रशंसा किया करना, पूज्य पुरुषों की भी निन्दा किया करना, किसी के प्रति बैर धारण करना, तीव्र ईर्ष्याभाव — ये सब तीव्र कषाय के दृष्टान्त हैं और पापास्रव के कारण हैं।

पुरुषार्थसिद्धियुपाय की १२१वीं गाथा में तीव्र कषाय के लिए बिल्ली का और मन्द कषाय के लिए हिरण का दृष्टान्त किया है। वह इस प्रकार है — हरी घास के अङ्कुर चरनेवाले हिरण के बच्चे में, उस घास को चरते समय भी तत्सम्बन्धी मूर्च्छा मन्द होती है; जबकि वही हिंसा, चूहों के समूह का मर्दन करनेवाली बिल्ली में तीव्र होती है। हिरण तो स्वभाव से ही हरित घास की अधिक शोध में नहीं रहता, तथापि जब उसे हरित घास मिल जाती है तो वह थोड़ा बहुत खाकर उसे छोड़ देता है परन्तु बिल्ली तो अपने खाद्य पदार्थ की खोज में स्वभाव से ही अधिक चेष्टावान रहती है और वह खाद्य पदार्थ प्राप्त होने पर उसमें इतनी अधिक अनुरक्त होती है कि सिर पर डण्डा मारने पर भी उसे नहीं छोड़ती। इसलिए हिरण और बिल्ली — ये दो मन्द और तीव्र कषाय के सरल और प्रगट दृष्टान्त हैं।

बिल्ली को तो अपने खाद्य पदार्थ चूहे इत्यादि में तीव्र गृद्धिभाव है और हिरण का बच्चा तो हरी घास खाते-खाते किञ्चित् आवाज होने पर भी उसे छोड़ भगता है। यदि उसे तीव्र गृद्धिभाव होता तो वह खाना छोड़कर क्यों भगता? यह तो दृष्टान्त है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव के तीव्र और मन्द परिणाम समझना चाहिए। जिसे तीव्र मूर्च्छाभाव है, उसे तीव्र कषाय है। बिल्ली को चूहे मारने में तीव्र कषाय और तीव्र मूर्च्छाभाव है। वह चूहे के पीछे दौड़कर झपट्टा

मारकर उसे मार डालती है। तत्पश्चात् उसे पकड़कर खाने में भी उसे ऐसा तीव्र गृद्धिभाव है कि यदि कोई लकड़ी से मारे तो भी चूहे को नहीं छोड़ती। हिरण तो किञ्चित् भय होने पर घास छोड़कर भग जाता है।

इसी प्रकार कोई जीव तो व्यापार अथवा विषय इत्यादि में ऐसा गृद्धिवन्त हो जाता है कि रोग अथवा मरण तक की दरकार नहीं करता। जिसे तीव्र गृद्धिभाव हो, उसे भय के कारण आने पर भी वह उसे नहीं छोड़ता नहीं है। ऐसे तीव्र गृद्धिभाववाले जीव को अशुभकर्म का आस्रव होता है और किन्हीं जीवों को विषय कषाय में मन्दपरिणाम होता है। वह कोई प्रसङ्ग बनने पर उन्हें छोड़ देता है, क्योंकि उसके परिणाम मन्द हैं।

पूजा, दया इत्यादि में शुभपरिणाम हों, वह पुण्यास्रव का कारण है। कोई जीव तो संसार में चैतन्यमूर्ति भगवान को भूलकर विषयों में बिल्ली की तरह ऐसे गृद्धिवन्त हो जाते हैं कि उन्हें नहीं छोड़ते और किन्हीं जीवों को अल्प गृद्धि होती है। जो कर्म में शूर तो धर्म में शूर — ऐसा नहीं है परन्तु जिस जीव ने अपना तीव्र विपरीत पुरुषार्थ किया हो, वह यदि सुलटा होवे तो धर्म में शूरवीर होता है परन्तु कोई विपरीत पुरुषार्थ तीव्र हुआ था, इसलिए वह सम्यक् हुआ ऐसा नहीं है।

१. कई जीव, संसार में तो चतुर होते हैं परन्तु धर्म का कुछ नहीं करते।

२. कई जीव, संसार में सियार जैसे होते हैं और धर्म में सिंह जैसे होते हैं अर्थात् संसारिक ज्ञान से हीन होते हैं, परन्तु केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

३. कई जीव, संसार में भी शूरवीर और फिर धर्म में भी शूरवीर होते हैं।

४. कई जीव, संसार और धर्म, एक में भी शूरवीर नहीं होते।

इस प्रकार जीवों के ये चार प्रकार पड़ते हैं; इसीलिए सांसारिक कार्यों की शूरवीरता कहीं धर्म का कारण नहीं है। ●●

गाथा ९३

अब, कहते हैं कि ऐसे जीव के आस्रव का चिन्तवन निष्फल है —

एवं जाणंतो वि हु, परिचयणीये वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुवेक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि॥

यह जानकर भी जो न त्यागे, हेय भावों को अहो।
नहिं सफल आस्रव भावना, उसकी निरर्थक ही कहो॥

अन्वयार्थ : [एवं जाणंतो वि हु] इस प्रकार के प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी **[परिचयणीये वि जो ण परिहरइ]** जो त्यागने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है, उसके **[सव्वा वि]** सब ही **[तस्सासवाणुवेक्खा]** आस्रव का चिन्तवन **[णिरत्थया होदि]** निरर्थक है अर्थात् कार्यकारी नहीं होता।

भावार्थ : आस्रवानुप्रेक्षा का चिन्तवन करके पहिले तो (१) तीव्रकषाय छोड़ना चाहिए, फिर (२) शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए, (३) सब कषाय छोड़ने चाहिए, तब तो यह चिन्तवन सफल है; केवल वार्ता करनामात्र ही सफल नहीं है।

गाथा ९३ पर प्रवचन

अब, कहते हैं कि जो आस्रवों का परित्याग नहीं करता, उसका आस्रव का चिन्तन निरर्थक है।

देखो, ये आस्रवभाव छोड़ने योग्य हैं। चैतन्यस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्र होने पर आस्रव छूट जाते हैं। पुण्य और पाप दोनों आस्रव हैं — ऐसा जानने पर भी जो जीव, विपरीत अभिप्राय का परित्याग नहीं करते, उन जीवों को आस्रव का चिन्तवन निष्फल है

अर्थात् उन्हें वास्तविक आस्रव अनुप्रेक्षा नहीं होती। आस्रव मेरा स्वरूप नहीं है — ऐसा जानकर यदि आस्रवरहित आत्मस्वरूप को पहिचाने और मिथ्यात्वादि आस्रवों का परित्याग करे तो आस्रवभावना सफल है।

पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं — ऐसा बोले परन्तु स्वयं विपरीत मान्यता का परित्याग न करे तो उसे तो आस्रव का चिन्तवन तोता रटन्त ही है। एक तोते को किसी ने सिखलाया कि 'देख तोता! शिकारी आयेगा, दाना डालेगा, फिर जाल डालकर तूझे पकड़ लेगा।' इतने में शिकारी आया और उसने जाल डाल दिया। तोता ऊपर कहे अनुसार रटते-रटते उस जाल में फँस गया; इसी प्रकार अज्ञानी जीव ऐसा रटता है कि 'पुण्य-पाप आस्रव हैं, छोड़ने योग्य हैं,' परन्तु स्वयं चैतन्य का भान करके आस्रवों को नहीं छोड़ता। कुदेव-कुगुरु का सेवन नहीं छोड़ता — ऐसे जीव का आस्रव का चिन्तवन निष्फल है।

प्रथम तो आस्रव अनुप्रेक्षा का चिन्तन करके तीव्र कषाय छोड़ना चाहिए, कुदेव-कुगुरु का पोषण छोड़ना चाहिए और आत्मा का भान करके, तत्पश्चात् उसी शुद्धात्मा का ध्यान करना अर्थात् सर्व कषायों का परित्याग करना चाहिए। यही इस चिन्तन का फल है; मात्र वार्ता करने में कोई सफलता नहीं है। ●●

मुनिदशा में अचिन्त्य सुख

मुनिराजों को संयोगरहित निजानन्द के अनुभव में जो सुख है, उस सुख का अंश भी चक्रवर्ती अथवा इन्द्र के वैभव में नहीं है। इन्द्रिय-विषयों में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द की परछांई भी नहीं है। अज्ञानी को बाह्य संयोग की अनुकूलता में सुख लगता है, वह उसकी कल्पनामात्र ही है। संयोग में कहीं सुख नहीं है, अज्ञानी अपनी कल्पना से ही सुख मानता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, कानजीस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २७६

गाथा ९४

एदे मोहय-भावा, जो परिवज्जेह उवसमे लीणो।
हेयं ति मण्णमाणो, आसव अणुपेहणं तस्स॥

इन मोहभावों को अहो, जो हेय माने अरु तजे।
जो लीन उपशमभाव में, वह जीव अनुप्रेक्षा भजे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष **[उवसमे लीणो]** उपशमपरिणामों में (वीतरागभावों में) लीन होकर **[एदे]** ये पहिले कहे अनुसार **[मोहयभावा]** मोह से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वादिक परिणामों को **[हेयं ति मण्णमाणो]** हेय अर्थात् त्यागने योग्य मानता हुआ **[परिवज्जेइ]** छोड़ता है, **[तस्स]** उसके **[आसव अणुपेहणं]** आस्रवानुप्रेक्षा होती है।

गाथा ९४ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि किसको आस्रव अनुप्रेक्षा का चिन्तवन सफल है ?

मेरा चैतन्यस्वभाव पुण्य-पापरहित है — ऐसे चिदानन्दस्वभाव का भान करके, उसके उपशमभाव में लीन होने पर मोहभाव छूट जाता है। उस जीव को वास्तविक आस्रव अनुप्रेक्षा होती है। मैं तो ज्ञायक चैतन्य हूँ — ऐसा भान करके, तत्पश्चात् उसी में अन्तर्मुख एकाग्रता के द्वारा उपशमभाव में लीन होता है, उसके आस्रव छूट जाते हैं। उसके ही वास्तविक में आस्रव का चिन्तन है।

आस्रव पंच प्रकार कूं, चिंतवैं तजैं विकार।
ते पावैं निजरूप कूं, यहै भावना सार॥ ७॥

मिथ्यात्वादि पाँच प्रकार के आस्रव हैं और मेरा चिदानन्दस्वभाव शुद्ध है — ऐसा पहचान कर, जो निजानन्द की अनुभूति में लीन होता है, वह जीव अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त करता है और उसी को यह भावना सारभूत है।

जो जीव, विपरीत अभिप्राय का त्याग नहीं करता, असत्सङ्ग नहीं छोड़ता, विपरीत मान्यतावालों की प्रशंसा नहीं छोड़ता — ऐसे जीवों को आस्रवभावना नहीं होती। जैसे - वास्तविक पुत्र अपने पिता के शत्रु की प्रशंसा नहीं करता; इसी प्रकार जिसे चैतन्यस्वभाव रुचिकर हुआ है और विपरीत अभिप्राय छूटा है, वह जीव, विपरीत अभिप्रायवाले जीवों की प्रशंसा नहीं करता। जैसे, पतिव्रता स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य के प्रति प्रेम नहीं करती; उसी प्रकार धर्मी जीव, कुदेवादि को नहीं मानता। पहले कुदेवादि के प्रति प्रीति थी, वैसे ही यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहचानकर उनके प्रति विशेष भक्तिभाव न आवे, तो वह कुलटा स्त्री जैसा है; उसे चैतन्य की रुचि नहीं है और उसे एक भी आस्रव का अभाव नहीं होता है।

जो जीव चैतन्यस्वभाव की रुचि करता है, उसे कुदेव-कुगुरु इत्यादि का सङ्ग छूट जाता है और उसे ही वास्तविक आस्रवानुप्रेक्षा होती है।

इस प्रकार आस्रवभावना का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

केवलज्ञान का हृदय खोल दिया

दिगम्बर सन्तों ने जो बात कही है, वह अन्य कोई कह ही नहीं सकता। वह बात अन्य मत में तो होती ही नहीं। अहो! केवलज्ञान के साधकों ने केवली का हृदय खोल दिया है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल २६४*

८

संवर अनुप्रेक्षा

गाथा ९५

अब, संवर अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं —

सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणां।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहा चेव॥

सम्यक्त्व अणुव्रत महाव्रत, एवं कषायों पर विजय।
होवे अयोगी दशा ये, सब नाम संवर जानिए॥

अन्वयार्थ : [**सम्मत्तं**] सम्यक्त्व, [**देशवयं**] देशव्रत, [**महव्वयं**] महाव्रत [**तह**] तथा [**कसायाणं**] कषायों का [**जओ**] जीतना [**जोगाभावो तहा चेव**] तथा योगों का अभाव, [**एदे संवरणामा**] ये संवर के नाम हैं।

भावार्थ : पहले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप पाँच प्रकार का आस्रव कहा था, उनका अनुक्रम से रोकना ही संवर है। सो कैसे ? मिथ्यात्व का अभाव तो चतुर्थ गुणस्थान में हुआ, वहाँ मिथ्यात्व का संवर हुआ। अविरत का अभाव एकदेश तो

देशविरत में हुआ और सर्वदेश प्रमत्तगुणस्थान में हुआ, वहाँ अविरत का संवर हुआ। अप्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का अभाव हुआ, वहाँ उसका संवर हुआ। अयोगिजिन में योगों का अभाव हुआ, वहाँ उनका संवर हुआ। इस तरह संवर का क्रम है।

गाथा ९५ पर प्रवचन

यह बारह भावनाओं का वर्णन है। भावना अर्थात् अनुप्रेक्षा। आस्रवभावना का यह अर्थ नहीं है कि आस्रव की भावना करना, अपितु उसके स्वरूप का विचार करने का नाम भावना है। भावना किसे होती है? मेरा सुख मुझमें है, मेरा सुख किसी संयोग में अथवा पुण्य-पाप में नहीं है — जिसे आत्मा में ऐसी सुखबुद्धि होती है, उसे ही इन भावनाओं का वास्तविक चिन्तवन होता है।

यहाँ संवरभावना का वर्णन है। संवर, धर्म है; संवर ही मोक्षमार्ग है। चिदानन्दस्वरूप आत्मा का भान होकर, उसमें एकाग्रता होकर, रागादि की उत्पत्ति न होने का नाम संवर है और वह मोक्ष का कारण है।

संवर क्या है? वह यहाँ कहते हैं —

आत्मा की अकषाय शान्ति प्रगट हो और विकार की उत्पत्ति न हो, इसका नाम संवर है। सम्यग्दर्शन, पहला संवर है; सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्व का संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन ही धर्म की पहली सीढ़ी है। अभी जिसे कुदेव-कुगुरु का सङ्ग और प्रेम नहीं छूटा है, उसे तो गृहीतमिथ्यात्व का अभाव भी नहीं है, उसे संवर और धर्म नहीं हो सकता।

देव कैसे होते हैं? सर्वज्ञ, वीतराग होते हैं, उन्हें आहारादि नहीं होते। गुरु कैसे होते हैं? आत्मा के आनन्द में झूलते नग्न दिगम्बर वीतरागी सन्त ही गुरु हैं, ऐसी दशा के बिना मुनिदशा नहीं होती। वीतरागी अनेकान्तस्वरूप शास्त्र हैं, ऐसे देव-गुरु-शास्त्र को पहचानकर कुदेवादिक को नहीं छोड़े तो गृहीतमिथ्यात्व भी नहीं छूटता और गृहीतमिथ्यात्व छूटे बिना, अगृहीतमिथ्यात्व भी नहीं छूट सकता तथा ऐसे जीव को संवर भी नहीं हो सकता।

शास्त्र में देशव्रत और महाव्रत को संवर कहा है, वहाँ उनका राग, संवर नहीं है परन्तु पाँचवें-छठवें गुणस्थान की जितनी वीतरागीदशा है, वह संवर है — ऐसा समझना चाहिए।

पूर्व में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप पाँच प्रकार के आस्रव कहे गये थे, उन्हें उपक्रमपूर्वक रोकना ही संवर है। मिथ्यात्व को रोकना — यह उपचार का कथन है। वस्तुतः यहाँ सम्यग्दर्शनादि होने पर मिथ्यात्वादि का उत्पाद ही न होना, संवर है। आत्मा के सहजानन्दस्वभाव की अप्रीति और विषय-कषाय की प्रीति का नाम मिथ्यात्व है। चौथे गुणस्थान में आत्मा का भान होने पर सम्यग्दर्शन हुआ और मिथ्यात्व का संवर हुआ। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व का संवर होता है परन्तु अभी अव्रत का संवर नहीं होता। सम्यक्श्रद्धा होने पर कुदेवादि की मान्यता नहीं रहती है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का शुभराग भी पुण्यास्रव है, वह वास्तविक संवर नहीं है। जो जीव, लौकिक प्रयोजनवश भी कुदेव-कुगुरु -कुशास्त्र को मानता है, वह महामूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

अरे! जो जैन का द्रव्यलिङ्गी साधु होकर भी यह मानता है कि बाह्य क्रियाकाण्ड से, निमित्त से अथवा राग से धर्म होगा तो वह भी मिथ्यादृष्टि है और ऐसे जीव को गुरुरूप में माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व के त्याग के बिना अव्रतादि का त्याग होता ही नहीं और चैतन्यवस्तु के भान बिना मिथ्यात्व का संवर नहीं होता।

अहो! ज्ञानस्वभाव, पर से पृथक है; उसे पर का प्रतिबन्ध क्या? ज्ञान में पर का प्रतिबन्ध है ही नहीं, फिर भी मुझे इतना किये बिना नहीं चल सकता — इस प्रकार अज्ञानी जीव, ज्ञान में प्रतिबन्ध मानता है। ज्ञानस्वभाव अर्थात् तीन लोक को जाननेवाला पृथक् स्वभाव; तीन लोक के प्रतिबन्ध बिना पृथक् तत्त्व है, उस ज्ञानस्वरूपी तत्त्व के भान के बिना अज्ञानी जीव बाहर से लाभ मानकर ज्ञान में प्रतिबन्ध करते हैं — वही संसार है।

भाई! ज्ञान को पर का प्रतिबन्ध मानना, वह तो देव को साँकल से बाँधने जैसा है। चैतन्यदेव, तीन लोक में मुक्ततत्त्व है, उसे पर का प्रतिबन्ध नहीं है। जैसे, देव बोतल में बन्द नहीं किया जा सकता; वैसे ही दिव्य शक्तिवाला चैतन्यदेव, जड़ की क्रिया के कर्तापन से बँधता नहीं है — ऐसा उसका स्वभाव है। जो जीव अपने ऐसे ज्ञानस्वभाव का स्वीकार नहीं करता और बाह्य में इतना करूँ तो मुझे लाभ होगा — ऐसा मानता है, उसे मिथ्याभ्रान्ति है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में ऐसी भ्रान्ति नहीं होती, इसलिए उसे मिथ्यात्व का संवर है। ज्ञायकस्वभाव दिव्य चिदानन्द शक्तिवाला देव है, उसकी प्रतीति होने पर धर्मी को मिथ्यात्व का आस्रव नहीं होता; इसलिए उसे संवर होता है।

इस प्रकार चैतन्यस्वभाव का भान होने पर उसमें आंशिक अप्रतिबद्धपना प्रगट हुआ, वहाँ देशव्रत नामक पञ्चम गुणस्थान प्रगट होता है और अविरति का एकदेश संवर होता है। छठवें गुणस्थान में मुनिदशा में अविरति का पूर्ण संवर होता है। चैतन्यस्वभाव का भान होने के पश्चात् उसमें लीनता होने पर आंशिक आसक्ति छूट गयी, उतना संवर है; बारह अनुव्रत का शुभराग, वह वस्तुतः संवर नहीं है।

जैनदर्शन के सन्त, पञ्च महाव्रतधारी दिगम्बर मुनि को देह पर वस्त्रादि नहीं होते, इतना संवर हो गया है। छठवें गुणस्थान में मुनिदशा में अविरति का भाव छूट गया है, वहाँ वस्त्र इत्यादि सहज छूट जाते हैं। अन्दर में चैतन्यस्वभाव में लीनता हुई, वह संवर है; पञ्च महाव्रत का विकल्प संवर नहीं है, वह तो आस्रव है। निज स्वभाव के अवलम्बन से जो अकषायभाव प्रगट हुआ, उसी का नाम अविरति का संवर है। जिसे वस्त्रादिक का परिग्रह हो, उसे तो मुनिदशा के योग्य संवर होता ही नहीं है। अनादि सनातन वीतरागमार्ग तो यही है कि मुनिदशा निर्ग्रन्थ दिगम्बर ही होती है। जो देहादिक की क्रिया से लाभ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उस वस्त्रादि के परिग्रहवाली दशा में भी जो मुनिपना मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

मुनि तो आत्मा के निराकुल आनन्द की लहर में झूलते हैं और बाह्य में समस्त परिग्रह छूट गया है — ऐसे मुनि को अविरति का संवर होता है। अभी जिसे मिथ्यात्व का संवर भी नहीं है, उसे तो मुनिदशा होती ही नहीं।

सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तभाव प्रगट होने पर प्रमाद का संवर हुआ। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में वीतरागता है, वहाँ कषाय का सम्पूर्ण संवर हुआ और चौदहवें गुणस्थान में अयोगदशा प्रगट हुई, वहाँ योग का संवर हुआ। अभी तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान को भी योग का संवर नहीं है, योग का संवर चौदहवें गुणस्थान में अयोगीजिन को होता है।

इस प्रकार चौथे गुणस्थान से संवर का आरम्भ होकर चौदहवें गुणस्थान में संवर पूर्ण होता है। आत्मा का भान करके जैसे-जैसे उसका अवलम्बन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे संवर होता जाता है — ऐसा जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया से अथवा राग से संवर नहीं होता है। ●●

गाथा ९६

अब, इसी को विशेषरूप से कहते हैं —

गुत्ती समिदी धम्मो, अणुवेक्खा तह परीसहजओ वि।
उक्किट्ठं चारित्तं, संवरहेदू विसेसेण॥

है गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा, परीषह जीतना।
उत्कृष्ट चारित्र इन सभी को, हेतु-संवर जानिये॥

अन्वयार्थ : [गुत्ती] मन-वचन-काय की गुप्ति; **[समिदी]** ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना — इस तरह पाँच समिति; **[धम्मो]** उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म; **[अणुवेक्खा]** अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा **[तह परसहजओ वि]** तथा क्षुधा आदि बाईस परीषहों का जीतना, **[उक्किट्ठं चारित्तं]** सामायिक आदि उत्कृष्ट पाँच प्रकार का चारित्र — ये **[विसेसेण]** विशेषरूप से **[संवरहेदू]** संवर के कारण हैं।

गाथा ९६ पर प्रवचन

अब, संवर के विशेष कारण कहते हैं।

देखो, जो यह मानता है कि मैं शरीर की क्रिया को रोक सकता हूँ, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे कायगुप्ति नहीं होती परन्तु मेरा स्वरूप काया से भिन्न है — ऐसा जानकर स्वभाव में एकाग्रता से काया की ओर का लक्ष्य छूट जाना, कायगुप्ति है। इसी प्रकार मनगुप्ति और वचनगुप्ति में भी बाह्य क्रिया की बात नहीं है परन्तु स्वभाव में एकाग्रता होने पर मन-वचन -काय की ओर का झुकाव ही न होना मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है।

मैं शुद्ध चिदानन्दस्वभाव हूँ — ऐसे भानपूर्वक अकषायभाव बढ़ जाने से तीव्र रागभाव

नहीं होता है। वहाँ ईर्या, भाषा आदि समितियाँ होती हैं। शास्त्र में, 'मुनिराज को चार हाथ जमीन देखकर चलना चाहिए' — ऐसा कहा; वहाँ आत्मा कहीं शरीर को चलाने की क्रिया नहीं कर सकता, परन्तु इस कथन का अर्थ यह है कि चैतन्य के भानपूर्वक वैसा तीव्रराग ही न होने देना — इसका नाम समिति है।

मैं भाषा बोलूँ — ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे तो जड़ भाषा का अभिमान है; उसे भाषा समिति नहीं होती। भाषा तो जड़ का परिणमन है। ओंठ के कारण भी भाषा नहीं होती। भाषा तो भाषावर्गणा के परमाणुओं से होती है और ओंठ तो आहारवर्गणा में से बनते हैं; जीभ और ओंठ से भी भाषा नहीं बोली जाती, तो आत्मा भाषा बोले, यह बात ही कहाँ रही।

जैसे, मैसूरपाक बनाने के लिए विशेष प्रकार के आटे के बदले दूसरा आटा नहीं चलता, बादाम के आटे से मैसूरपाक नहीं बनता; इसी प्रकार जगत् में आहारवर्गणा और भाषावर्गणा भिन्न-भिन्न है, उनमें आहारवर्गणा में से शरीर बनता है और भाषावर्गणा में से भाषा होती है। आहारवर्गणा में से भाषा नहीं होती और आत्मा भी भाषा का कर्ता नहीं है।

देखो, आत्मा के भानपूर्वक अप्रमादभाव रहे और भाषा के समय प्रमादभाव न हो, इसका नाम भाषासमिति है।

एषणासमिति का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा निर्दोष आहार पानी ग्रहण कर सकता है। आहार के समय आहार का गृद्धिभाव न हो जाए और स्वभाव की दृष्टिपूर्वक वीतरागी स्थिरता टिकी रहे — इसका नाम एषणासमिति है। उस समय शुभराग है, वह पुण्यास्त्रव है; वह कहीं संवर नहीं हैं।

आदाननिक्षेपणसमिति अर्थात् क्या? पुस्तक-पिच्छी इत्यादि वस्तुओं को लेने-रखने की क्रिया तो जड़ की है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है परन्तु अन्दर में चैतन्य की स्थिरता में ऐसा अरागभाव बढ़ गया; इसलिए प्रमादभाव नहीं होता — इस दशा का नाम आदाननिक्षेपण-समिति है।

प्रतिष्ठापनसमिति ने भी बाह्य क्रिया की बात नहीं है परन्तु उस जाति का अप्रतिबद्ध वीतरागभाव टिका रहना, वह प्रतिष्ठापनसमिति है, जो कि संवर है।

उत्तमक्षमा इत्यादि धर्म तथा वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन भी संवर के कारण हैं।

बाईस परीषहजय भी संवर का कारण है। परीषहजय अर्थात् क्या ? बाह्य में प्रतिकूलता के प्रसङ्ग के समय भी अन्दर चिदानन्दस्वभाव को स्वज्ञेयरूप रखकर शान्ति के अनुभव में एकाग्र रहना और राग-द्वेष न होने देना, वह परीषहजय है तथा सामायिक इत्यादि पाँच प्रकार के उत्कृष्ट चारित्र भी संवर का कारण हैं। ●●

गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधु पद

शान्त... शान्त... मुनिराज को अन्दर में भी अकषाय परिणमन है और बाहर में वाणी तथा शरीर में भी शान्तपना दिखता है। अहो! वे तो उपशमरस / अकषायरस में जम गये हैं। उन्हें मुनि कहते हैं, जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचता है। देखो! गणधर भी शास्त्र रचना के समय नमस्कार मन्त्र में कहते हैं कि हे सन्तों! तुम्हारे चरणों में मेरा नमस्कार हो। यद्यपि अन्य साधु, गणधर से छोटे हैं; इसलिए गणधर उन्हें बाहर में व्यवहार से नमस्कार नहीं करते, परन्तु वे नमस्कार मन्त्र की रचना करते हैं, उसमें साधु को नमस्कार आ जाता है। जिन्हें चार ज्ञान प्रगट हुए हैं, जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त में द्वादशाङ्ग की रचना की है, जो तीर्थङ्कर के वजीर/दीवान हैं, ऐसे गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधुपद कैसा होता है?

अहा! तीर्थङ्कर धर्मराजा हैं और गणधर उनके दीवान हैं। फिर भी जब वे शास्त्र की रचना करते हैं, तब **'णमो लोए सव्व आइरियाणं'** कहते हैं। वे आचार्य कैसे होंगे, जिनको गणधर का नमस्कार प्राप्त होता है? गणधर नमस्कार करें, वे ऐसे होते हैं कि जिनका अनाहारी परिणमन है, जिनकी वीतरागी दशा है और जिन्हें आहार लेने का राग उत्पन्न हो तो निर्दोष आहार लेने की वृत्ति है — ऐसे अन्तरङ्ग में रमणतावाले साधु अथवा आचार्य बाहर और अन्दर से शान्त होते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३२)

गाथा ९७-९९

अब, इनको स्पष्टरूप से कहते हैं —

गुत्ती जोगणिरोहो, समिदी य पमाद-वज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो, सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा॥
सोवि परीसहविजओ, छुहादि-पीडाण अइरउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं, उवसमभावेण जं सहणं॥
अप्पसरूवं वत्थुं, चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं।
सज्झाणम्मि णिलीणं, तं जाणसु उत्तमं चरणं॥

है गुप्ति योग निरोध, समिति निष्प्रमादी प्रवृत्ति है।
दयामय है धर्म, चिन्तवन तत्त्व का अनुप्रेक्षा॥
क्षुधादिक दारुण दुःखों को, सहे उपशमभाव से।
ये ही परीषहजय कहा, ज्ञानी महामुनिराज का॥
रागादि दोषों से रहित, हो लीन जब सत् ध्यान में।
हे भव्यजन निज आतमा, चारित्र उत्तम जानिए॥

अन्वयार्थ : [जोगणिरोहो] योगों का निरोध **[गुत्ती]** गुप्ति है; **[समिदी य पमादवज्जणं चेव]** प्रमाद का वर्जन, यत्नपूर्वक प्रवृत्ति समिति है; **[दयापहाणो]** दयाप्रधान **[धम्मो]** धर्म है; **[सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा]** जीवादिक तत्त्व तथा निजस्वरूप का चिन्तवन, अनुप्रेक्षा है।

[जं] जो **[अइरउद्दाणं]** अति रौद्र (भयानक) **[छुहादि पीडाण]** क्षुधा आदि पीड़ाओं को **[उवसमभावेण सहणं]** उपशमभावों (वीतरागभावों) से सहना, **[सो]** सो **[सवणाणं च मुणीणं]** ज्ञानी महामुनियों के **[परीसहविजओ]** परिषहों का जीतना कहलाता है।

हे भव्य! जो **[अप्पसरूवं वत्थुं]** आत्मस्वरूप वस्तु है, उसका **[चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं]** रागादि दोषों से रहित **[सज्झाणम्मि णिलीणं]** धर्म-शुक्लध्यान में लीन होना है, **[तं]** उसको **[उत्तमं चरणं]** तू उत्तम चारित्र **[जाणसु]** जान।

गाथा ९७-९९ पर प्रवचन

अब, गुप्ति इत्यादि का अर्थ कहते हैं।

जिसमें दयाप्रधान हो, वह धर्म है। इसमें अपने आत्मा की दया भी साथ ही आ जाती है। अपने आत्मा की दया किस प्रकार पलती है ? अज्ञान और राग-द्वेष से आत्मा को दुःख होता है, उसे चैतन्यस्वभाव का भान करके और वीतरागता प्रगट करके बचाना, इसका नाम आत्मा की दया है। आत्मा में रागादिभाव की उत्पत्ति होना, हिंसा है और रागादिभाव उत्पन्न न होना, अहिंसा है। अहो! आत्मा शान्तमूर्ति है, इसका भान करके स्थिरता करने का नाम आत्मा की दया है। सिंह को देखकर भागने में तो द्वेष और भय है; वह कहीं अपनी दया नहीं कहलाती है।

सम्यक्तत्त्वों का चिन्तन करना, अनुप्रेक्षा है। जीवादि तत्त्वों का चिन्तवन अथवा अपने स्वरूप का चिन्तवन, अनुप्रेक्षा है। वीतरागी द्वारा कथित तत्त्व ही सुतत्त्व हैं; अज्ञानी द्वारा कल्पित तत्त्व तो कुतत्त्व हैं। वीतरागी कथित तत्त्वों को जानकर, उनका विचार करे अथवा स्वरूप का चिन्तवन करे, उसमें जितनी रागरहितदशा हो, उसका नाम संवर है।

अब, परीषहजय का अर्थ कहते हैं —

जहाँ स्वभाव की शान्ति की स्फूरना हुई, वहाँ बाह्य के प्रतिकूल प्रसङ्गों में अरुचि नहीं होती — ऐसा जो वीतरागभाव, वह परीषहजय है। वास्तव में सम्यग्दर्शन के पश्चात् पाँचवें -छठवें गुणस्थान में परीषहजय होता है। बाहर में भयानक क्षुधादि परीषह आने पर भी सन्त

तो स्वभाव को स्पर्श करते हुए अन्दर में गहरे-गहरे उतरते जाते हैं और उन्हें राग-द्वेष के भाव भी नहीं होते, उन्हें परीषहजय होता है और संवर होता है।

अब, चारित्र का स्वरूप कहते हैं —

जिसे आत्मस्वरूप का भान नहीं है, उसे चारित्र कैसे हो सकता है ? जिसे आत्मवस्तु का भान है और उसमें लीनता प्रगट हुई है, उसे ही उत्तम चारित्र होता है। बाहर का क्रियाकाण्ड और व्रतादि के शुभपरिणाम, वे वास्तविक चारित्र नहीं हैं। शुद्ध चैतन्यवस्तु का भान करके उसमें लीनता होना ही चारित्र है और वह संवर है।

यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, इसके रचयिता कार्तिकेयस्वामी, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव से भी पहले हो गये हैं।

आत्मस्वरूप में लीन होना, चारित्र है। वस्तु अर्थात् क्या ? जिसमें अपने गुण-पर्याय बसें, उसे वस्तु कहते हैं। आत्मा में अपने अनन्त गुण-पर्याय बसते हैं, इसलिए आत्मा वस्तु है। आत्मवस्तु को पहचानकर, उसमें रागरहित लीनता होना, उत्तम चारित्र है। आत्मा के अनाकुल शान्तस्वरूप में गुम/लीन हो जाने पर आकुलता न रहे, इसका नाम चारित्र है। आत्मा का स्वरूप क्या है ? उसे पहचानकर उसके आनन्द में लीन हो जाए और राग की उत्पत्ति न हो, उसका नाम चारित्र है।

ज्ञान-दर्शनमय आत्मस्वभाव की दृष्टि करके, उसमें एकाग्रता हो, वह धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। उस धर्मध्यान और शुक्लध्यान में राग नहीं है। अन्दर निरावरण निर्दोष चिदानन्द वस्तु में लीनता हो और बाह्य में निर्ग्रन्थदशा हो, उसे चारित्रदशा कहते हैं। इसके अतिरिक्त वस्त्रादि परिग्रहयुक्त को मुनिपना माननेवाले ने तो अनादि सनातन सत्य को विपरीत कर दिया है। किसी को अकेली नग्नदशा हो और अन्दर चैतन्य में लीनता न हो तो उसे भी चारित्र नहीं है। आत्मा के आनन्द में लीनता ही चारित्र है और वह संवर है। ●●

गाथा १००

अब, कहते हैं कि जो ऐसे संवर का आचरण नहीं करता, वह संसार में भटकता है —

एदे संवरहेदुं, वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं, संसारे दुक्खसंतत्तो॥

करता विचार तथापि जो नर, आचरण करता नहीं।
वह दुःख से संतप्त होता, हुआ चहुँगति में भ्रमे॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**एदे**] इन (पहले कहे अनुसार) [**संवरहेदुं**] संवर के कारणों को [**वियारमाणो वि**] विचारता हुआ भी [**ण आयरइ**] आचरण नहीं करता है, [**सो**] वह [**दुक्खसंतत्तो**] दुःखों से तप्तायमान होकर [**चिरं कालं**] बहुत समय तक [**संसारे**] संसार में [**भमइ**] भ्रमण करता है।

गाथा १०० पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि जो ऐसे संवर का आचरण नहीं करता, वह संसार में परिभ्रमण करता है।

आत्मज्ञान के उपरान्त अन्दर में वीतरागी चारित्र हो, उसे ही मुनिपना होता है; आत्मज्ञान के बिना मुनिपना नहीं होता।

'आत्मज्ञान, वहाँ मुनिपना' — ऐसा श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है परन्तु उसमें ऐसा आशय समझना चाहिए कि आत्मज्ञान के बिना मुनिपना नहीं होता। गृहस्थ को आत्मज्ञान होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती; घर में बैठा हो और छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलता हो — ऐसा

नहीं होता। आत्मा की वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता को जो आचरता नहीं है, वह जीव चार गति में दु:ख भोगता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।

चैतन्य के भानसहित चारित्रदशा के बिना मोक्ष नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बाद ही अन्दर निज आतमस्वरूप में लीन होकर जो विरक्तदशा प्रगट होती है, उसे एक-दो भव में मुक्ति हो जाती है।

भाई! यदि तेरी शक्ति न हो तो मुनिदशा की भावना रखना परन्तु मुनिपने का स्वरूप विपरीत नहीं मानना। ●●

मुनिमार्ग की शाश्वत आचरण संहिता

अहा! कोई भी साधु अथवा क्षुल्लक अपने लिए बनाया हुआ आहार ले तो वह जैनदर्शन के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है। बापू! मार्ग यह है। यह कोई व्यक्तिगत बात नहीं है। यह तो वीतरागमार्ग है, इस मार्ग से विपरीत माननेवाले अधिक हों, इसलिए मार्ग दूसरा है — ऐसा नहीं है। अथवा पालन नहीं किया जा सके, इसलिए मार्ग दूसरा हो जाए — ऐसा भी नहीं है। जिसका व्यवहार सच्चा है, उसका निश्चय झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी हो सकता है, परन्तु भाई! जिसका व्यवहार ही झूठा है, उसका निश्चय तो झूठा ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१

गाथा १०१

अब, कहते हैं कि संवर कैसे पुरुष के होता है —

जो पुण विसयविरत्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ।
मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि॥

मनहर विषय से आत्मा को, सदा संवरमय करे।
इन्द्रिय विषय से विरत हैं जो, उन्हें संवर प्रगट है॥

अन्वयार्थ : [जो] जो मुनि **[विसयविरत्तो]** इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ, **[मणहरविसएहिंतो]** मन को प्रिय लगनेवाले विषयों से **[अप्पाणं]** आत्मा को **[सव्वदा]** सदाकाल (हमेशा) **[संवरइ]** संवररूप करता है, **[तस्स फुडं संवरो होदि]** उसके प्रगटरूप से संवर होता है।

भावार्थ : इन्द्रिय तथा मन को विषयों से रोककर, अपने शुद्धस्वरूप में रमण करावे, उसके संवर होता है।

गाथा १०१ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीव, इन्द्रिय-विषयों का त्यागी नहीं होता, उसे अभी राग होता है। यद्यपि उसे विषयों में सुखबुद्धि तो नहीं होती परन्तु अभी अविरति का राग होता है। मुनिराज को तो चिदानन्द आत्मा में लीनता हो गयी है, वे विषयों से विरक्त हो गये हैं। स्वभाव की लीनता में उन्हें ऐसी विरक्तदशा प्रगट हुई है कि स्वर्ग से इन्द्राणी आने पर भी उन्हें पतित करने में समर्थ नहीं हैं। मन को प्रिय पाँच इन्द्रियों के विषयों के प्रति रुचि तो सम्यग्दृष्टि को भी छूट गयी है और मुनि को तो उनकी आसक्ति भी छूट गयी है। जो अन्दर में चैतन्यस्वभाव को ही स्वविषय

बनाकर, उसमें लीन हैं — ऐसे सन्त जङ्गल में बसते हैं और वीतरागभाव में झूलते हैं, उन्हें संवर होता है।

जिसे आत्मज्ञान होने पर भी अभी विषयों से अत्यन्त विरक्तदशा प्रगट न हुई हो, उसे मुनिदशा नहीं होती। आत्मा के भान बिना बाह्य में घरबार छोड़कर जङ्गल में जाकर रहनेमात्र से चारित्र नहीं हो जाता। जिसे अन्दर में आत्मा का भान हो और चैतन्यस्वरूप में रमणता प्रगट हुई हो, उसे ही व्रतप्रतिमा और मुनिदशा होती है। ग्यारहवीं प्रतिमा तक श्रावकदशा है, वहाँ लंगोटी इत्यादि होती है परन्तु तत्पश्चात् वीतरागता बढ़ने पर मुनिदशा प्रगट होती है, वहाँ वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता — ऐसा सन्तों का मार्ग है। जो वस्त्र का एक धागा रखकर भी मुनिदशा मनवाता है, वह जीव सनातनमार्ग का विरोध करके निगोद में जाएगा — ऐसा कुन्दकुन्द भगवान अष्टपाहुड़ में कहते हैं।

गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीसहकार।
चारित धारै संग तजि, सो मुनि संवरधार॥ ८॥

जो मुनि, चिदानन्द आत्मस्वभाव की दृष्टि प्रगट करके चिदानन्दस्वरूप में गुप्त हुए हैं, शान्ति में रमणतारूप समिति का पालन करते हैं, उत्तम क्षमादि धर्म के वीतरागभाव में झूलते हैं, वीतरागभाव से परीषहजय करते हैं, चैतन्य में लीनतारूप तप करते हैं और स्वरूप में रमणतारूप चारित्र का पालन करते हैं — ऐसे मुनिराज को संवर होता है। सम्यग्दृष्टि को अपनी भूमिका प्रमाण, संवर होता है परन्तु मुख्य संवर मुनिराज के गिना गया है।

तीर्थङ्कर भगवान भी मुनिदीक्षा के पूर्व ये वैराग्यजननी बारह भावनाएँ भाते हैं, उनमें आठवीं संवरभावना का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार संवरभावना का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

९

निर्जरा अनुप्रेक्षा

गाथा १०२

अब, निर्जरा अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं —

वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो, णिरहंकारस्स णाणिस्स॥

जो ज्ञानिजन हैं अहंकार, निदान से विरहित हुए।
निर्जरा हो उन्हें बारह तप, अरु वैराग्य से॥

अन्वयार्थ : [**णियाणरहियस्स**] निदान अर्थात् इन्द्रियविषयों की इच्छा से रहित, [**णिरहंकारस्स**] अहङ्कार अर्थात् अभिमान से रहित [**णाणिस्स**] ज्ञानी के [**वारसविहेण तवसा**] बारह प्रकार के तप से तथा [**वेरग्गभावणादो**] वैराग्यभावना अर्थात् संसार देह –भोग से विरक्त परिणाम से [**णिज्जरा होदि**] निर्जरा होती है।

भावार्थ : जो ज्ञानसहित तप करता है, उसके तप से निर्जरा होती है। अज्ञानी विपर्यय तप करता है, उसमें हिंसादिक दोष होते हैं — ऐसे तप से तो उलटे कर्म का बन्ध ही होता है।

जो तप करके मद करता है, दूसरे को न्यून/हीन गिनता है, कोई पूजादिक अर्थात् सत्कार विशेष नहीं करता है तो उससे क्रोध करता है — ऐसे तप से बन्ध ही होता है। गर्वरहित तप से निर्जरा होती है। जो तप करके इसलोक या परलोक में ख्याति, लाभ, पूजा और इन्द्रियों के विषयभोग चाहता है, उसके बन्ध ही होता है। निदानरहित तप से निर्जरा होती है। जो संसार-देह-भोग में आसक्त होकर तप करता है, उसका आशय शुद्ध नहीं होता, उसके निर्जरा नहीं होती है। वैराग्यभावना से ही निर्जरा होती है — ऐसा जानना चाहिए।

गाथा १०२ पर प्रवचन

अब, निर्जरा अनुप्रेक्षा का कथन करते हैं।

सम्यग्दृष्टि को ही बारह प्रकार के सच्चे तप होते हैं। मिथ्यादृष्टि के व्रत-तप को तो बालतप और बालव्रत कहा है; इसलिए कहा है कि ज्ञानी पुरुषों को बारह प्रकार के तप से कर्मों की निर्जरा होती है। कैसे हैं ज्ञानी ? जिन्हें निदान छूट गया है अर्थात् पर-विषयों की वाञ्छा छूट गयी है और स्व-विषय में एकाग्रता करते हैं। जिसे निदानशल्य, मायाशल्य और मिथ्यात्वशल्य हो, उसे तो श्रावकपना अथवा मुनिपना होता ही नहीं। जिसे विषयों की वाञ्छा न हो, पर की क्रिया का अहङ्कार न हो, चैतन्य का भान करके उसकी भावना में एकाग्रता हो, उसे ही निर्जरा होती है।

प्रश्न – निर्जरा कैसे परिणामों से होती है ?

उत्तर – चैतन्य के ध्यान द्वारा संसार-देह-भोग से विरक्त परिणाम होते हैं, उन परिणामों से निर्जरा होती है।

देखो, भव-तन-भोग इन तीनों से विरक्ति का वर्णन तो बहुत जगह आता है परन्तु लोग विरक्तता का सही स्वरूप नहीं समझते हैं। वस्तुत: आत्मा का उदयभाव ही संसार है। ज्ञानीजन उससे विरक्त होकर चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता करते हैं। मुनि को देह का संयोग होने पर भी वे देह से भिन्न चैतन्य का भान और एकाग्रता द्वारा देह से विरक्त हो गये हैं, उन्हें निर्जरा होती है। जैसे, श्रीफल में गोला अलग होता है; उसी प्रकार देह में भिन्न चैतन्य गोले का भान करके जो उसके आनन्द में स्थिर हुए हैं — ऐसे मुनिराज को तप और निर्जरा होती है।

तप से निर्जरा होती है परन्तु जो तप ज्ञानसहित हो, उसी तप से निर्जरा होती है। ज्ञानस्वभाव का भान करके, उसमें उग्ररूप से स्थिर होने पर आहारादि की इच्छा छूट गयी, उसका नाम तप है और उससे निर्जरा होती है। बाह्य में हठपूर्वक आहारादि छोड़े और अन्दर में शान्ति का भान न हो, वह तो अज्ञानतप है। अज्ञानी के बालतप में तो मिथ्यात्वादि का पोषण होता है और हिंसा होती है — ऐसे तप से तो कर्म बँधते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ कुमारदशा में थे। एक बार वे जङ्गल में घूमने निकले, तब कमठ नामक तापस हवन कर रहा था। उसकी लकड़ियों में सर्प जल रहे थे। पार्श्वनाथ भगवान ने यह सब जाना और कहा कि भाई! इसमें हिंसा होती है, इसे तप नहीं का जाता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा के भान बिना, द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर तप तपे तो वह भी अज्ञानतप है। जो जीव तप करके उसका अभिमान करता है, दूसरों को अपने से हीन समझता है, क्रोधादि करता है — ऐसे जीव को निर्जरा तो नहीं परन्तु बन्ध होता है। जो ज्ञानसहित वीतरागभावरूप तप होता है, उससे ही निर्जरा होती है।

जिसे चैतन्य का भान न हो और बाह्य क्रिया के अभिमान से उसी में धर्म मान ले, उस जीव के तो संसार की ही वृद्धि होती है। गर्वरहित अर्थात् चिदानन्दस्वभाव के भानसहित तप द्वारा निर्जरा होती है तथा तप से इसलोक - परलोक में अपनी ख्याति-लाभ-पूजा और इन्द्रियों के विषय भोग चाहनेवाले को तो बन्ध ही होता है। निदानरहित तप से ही निर्जरा होती है परन्तु जो संसार-देह-भोग में आसक्त होकर तप करता है, उसका तो आशय ही शुद्ध नहीं होता, इसलिए उसे निर्जरा भी नहीं होती है; निर्जरा तो वैराग्यभावना से ही होती है — ऐसा जानना चाहिए।

जिसे चैतन्यस्वभाव की एकाग्रता के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है, उस जीव को ही सम्यक्तप होता है। जिसे चैतन्य में एकाग्रता नहीं है और अन्दर में अन्य कुछ भी शल्य पड़ा है — ऐसे जीव को सच्चा तप अथवा निर्जरा नहीं होती है। ●●

गाथा १०३

अब, निर्जरा का स्वरूप कहते हैं —

सव्वेसिं कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ।

तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा जाण॥

फलदान शक्ति कर्म की, अनुभाग है जिनवर कहें।

झड़ना उदय के बाद उनका, निर्जरा है जानिए॥

अन्वयार्थ : [सव्वेसिं कम्माणं] समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों की **[सत्तिविवाओ]** शक्ति अर्थात् फल देने की सामर्थ्य का विपाक अर्थात् पकना-उदय होना **[अणुभाओ]** अनुभाग **[हवेइ]** कहलाता है; **[तदणंतरं तु सडणं]** उदय आने के अनन्तर ही झड़ जाने को **[कम्माणं णिज्जरा जाण]** कर्मों की निर्जरा जानना चाहिए।

भावार्थ : कर्मों के उदय में आकर झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं।

गाथा १०३ पर प्रवचन

यहाँ निर्जरा अनुप्रेक्षा का स्वरूप चल रहा है।

निर्जरा अर्थात् कर्म का खिर जाना। कर्मों का खिरना, आत्मा के भानसहित जीव को भी होता है और आत्मा के भानरहित जीवों को भी होता है परन्तु उसमें आत्मा के भानसहित जीवों के कर्मों का खिरना और शुद्धता का बढ़ना ही निर्जरारूप धर्म है।

पूर्व में जो कर्म बँधा था, उसका विपाक हुआ अर्थात् उसका काल पूरा हुआ, वह उदय में आकर तुरन्त खिर जाता है; उसे हे भव्य! तू निर्जरा जान! इस प्रकार यह निर्जरा की सामान्य व्याख्या है।

●●

गाथा १०४

अब, कहते हैं कि यह निर्जरा दो प्रकार की है —

सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया॥

निर्जरा दो तरह की, निज काल में अरु तप से हो।
है प्रथम चहुँगति जीव को, दूजी तपों से व्रती को॥

अन्वयार्थ : [सा पुण दुविहा णेया] वह पहले कही हुई निर्जरा दो प्रकार की है। **[सकालपत्ता]** एक तो स्वकाल प्राप्त, **[तवेण कयमाणा]** दूसरी तप द्वारा की गयी; **[चादुगदीणं पढमा]** उनमें पहली स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारों ही गति के जीवों के होती है और **[वयजुत्ताणं हवे बिदिया]** व्रतसहित जीवों के दूसरी तप द्वारा की गयी होती है।

भावार्थ : निर्जरा के दो प्रकार हैं। कर्म अपनी स्थिति को पूर्ण कर, उदय होकर, रस देकर खिर जाते हैं, सो सविपाक निर्जरा कहलाती है; यह निर्जरा तो सब ही जीवों के होती है और तप के कारण कर्म स्थिति पूर्ण हुए बिना ही खिर जाते हैं, वह अविपाक निर्जरा कहलाती है; यह व्रतधारियों के होती है।

गाथा १०४ पर प्रवचन

अब, निर्जरा के दो प्रकार बतलाते हैं।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्रता होने पर कर्म खिर जाते हैं — यह अविपाक निर्जरा कहलाती है; उसके अतिरिक्त कर्मों की स्थिति का काल पूर्ण हो जाने पर कर्म खिर जाते हैं, ऐसी निर्जरा तो सभी जीवों के प्रतिक्षण हुआ ही करती है। अभव्य को

और कसाई बकरे का वध करता हो, तब भी उसे पूर्व के कर्म खिर तो जाते हैं परन्तु नये तीव्र कर्म बँधते हैं — इस सविपाक निर्जरा को धर्म नहीं कहते।

आत्मा के चैतन्यस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्र होने पर कर्म अपूर्ण स्थिति में फल दिये बिना खिर जाते हैं। वस्तुतः तो वहाँ भी कर्म उनकी स्थिति प्रमाण ही खिरे हैं परन्तु यहाँ चैतन्य का पुरुषार्थ है, यह बताने के लिये कहा कि कर्म अपूर्ण स्थिति में खिर गये हैं, इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। यहाँ चैतन्य की शुद्धता बढ़ती जाती है और सामने अर्थात् निमित्त में कर्म फल दिये बिना खिर जाते हैं परन्तु वहाँ कहीं कर्म के परमाणुओं की पर्याय का क्रम बदल नहीं गया है। वस्तुतः जहाँ चैतन्य का स्वसन्मुख पुरुषार्थ हो, वहाँ पुद्गलकर्म की अवस्था की वैसी ही योग्यता होती है। मिथ्यादृष्टि जीव, पाप करता हो, उस समय भी उसे जिन पूर्व कर्मों की स्थिति पूर्ण हो गयी हो, वे कर्म तो खिर जाते हैं परन्तु उस निर्जरा से आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होता।

आशय यह है कि निर्जरा दो प्रकार की है — उसमें जो कर्म, स्थिति पूर्ण होने पर उदय पाकर रस देकर खिर जाएँ, उसे तो सविपाक निर्जरा कहते हैं; यह निर्जरा तो समस्त जीवों को होती है तथा तप द्वारा जो कर्म अपूर्ण स्थिति में भी परिपक्व होकर खिर जाते हैं, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं और वह व्रतधारी को होती है। ●●

मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी

अहो! मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्दानुभव के झूले में झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर या पचास कोस दूर भीषण वज्रपात की घोर ध्वनि होने पर भी जिसे खबर नहीं पड़ती और आनन्द की गहराई में उतरकर क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर ले, **उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य है वह दशा!**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ११४१, पृष्ठ २४३

गाथा १०५

अब, निर्जरा किससे बढ़ती है, सो कहते हैं —

उवसमभावतवाणं, जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
तह तह णिज्जरवड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो॥

तप तथा उपशम भाव ज्यों ज्यों, वृद्धिगत मुनि के हुए।
त्यों निर्जरा बढ़ती उन्हें, होती अधिक द्वय ध्यान से॥

अन्वयार्थ : [साहूणं] मुनियों के **[जह जह]** जैसे-जैसे **[उवसमभावतवाणं]** उपशमभाव तथा तप की **[वड्ढी हवेइ]** बढ़वारी/अभिवृद्धि होती है, **[तह तह णिज्जर वड्ढी]** वैसे-वैसे ही निर्जरा ही बढ़वारी होती है। **[धम्मसुक्कादो]** धर्मध्यान और शुक्लध्यान से **[विसेसदो]** विशेषता से बढ़वारी होती है।

गाथा १०५ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि निर्जरा की वृद्धि किससे होती है।

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को प्रतिक्षण आंशिक शुद्धता बढ़ती जाती है और कर्म खिरते जाते हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के समय खास विशेष निर्जरा होती है। यह निर्जरा की वृद्धि के स्थान कहे हैं। ●●

गाथा १०६-१०८

अब, इन वृद्धि के स्थानों को बतलाते हैं —

मिच्छादो सद्दिट्ठी, असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवयधारी, तत्तो य महव्वई णाणी॥
पढमकसायचउण्हं, विजोजओ तह य खवयसीलो य।
दंसणमोहतियस्स य, तत्तो उवसमग-चत्तारि॥
खवगो य खीणमोहो, सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं, असंखगुणकम्मणिज्जरया॥

असंख्यगुण हो निर्जरा, मिथ्यात्वि से सम्यकत्वी को।
उससे अंसख्यगुणी अणुव्रती, तथाविध महाव्रती को॥
विसंयोजक प्रथम चार कषाय का, दृग मोहत्रय।
के क्षपक को उससे गुणी, उपशमक त्रय गुणधान में॥
उपशमक से क्षपक को, केवलि सयोगि अयोगि जिन।
ये उपरिवर्ती गुण असंख्य, करें करम की निर्जरा॥

अन्वयार्थ : [**मिच्छादो**] प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणामयुक्त मिथ्यादृष्टि से [**सद्दिट्ठी**] असंयत सम्यग्दृष्टि के [**असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि**] असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है; [**तत्तो अणुवयधारी**] उससे देशव्रती श्रावक के असंख्यातगुणी होती है; [**तत्तो य महव्वई णाणी**] उससे महाव्रती मुनियों के

असंख्यातगुणी होती है; **[पढमकसायचउण्हं विजोजओ]** उससे अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना) करनेवाले के असंख्यातगुणी होती है; **[य दंसणमोहतियस्स य खवयसीलो]** उससे दर्शनमोह के क्षय करनेवाले के असंख्यातगुणी होती है; **[तत्तो उवसमगचत्तारि]** उससे उपशमश्रेणीवाले तीन गुणस्थानों में असंख्यातगुणी होती है; **[खवगो य]** उससे उपशान्तमोह ग्यारहवें गुणस्थानवाले के असंख्यात गुणी होती है; उससे क्षपकश्रेणीवाले तीन गुणस्थानों में असंख्यातगुणी होती है; **[खीणमोहो]** उससे क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान में असंख्यात गुणी होती है; **[सजोइणाहो]** उससे सयोगकेवली के असंख्यातगुणी होती है; **[तहा अजोईया]** उससे अयोगकेवली के असंख्यातगुणी होती है **[एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया]** — ये ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणाकार हैं; इसलिए इनको गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

गाथा १०६-१०८ पर प्रवचन

देखो! सबमें ज्ञानी की बात ली है।

१. कोई जीव अभी सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं हुआ हो परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारी के समय शुद्ध आत्मा के विचार की श्रेणी में चढ़ा हो, उस जीव को विशुद्धपरिणाम से निर्जरा होती है। उसकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। जिसकी दृष्टि सच्ची नहीं है, जो राग से धर्म और बाह्यक्रिया से आत्मा को लाभ मानता है, उस जीव को तो ऐसी निर्जरा होती ही नहीं।

अनादि का अज्ञानी जीव, धर्म करे, उसमें सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व तत्त्व की रुचि और विचार की श्रेणी में लगते ही, उसे निर्जरा शुरु हो जाती है। सत्समागम से श्रवण-मनन करके — ऐसा निर्णय किया कि मैं ज्ञायक चिदानन्द हूँ, ऐसे आत्मा के विचार सन्मुख होने पर तीन करण के विशुद्धपरिणाम होते हैं, उनका काल अन्तर्मुहूर्त ही है और वहाँ निर्जरा गिनी जाती है। इससे पहले तत्त्व की रुचि-बहुमान करते-करते मिथ्यात्व का रस शिथिल/मन्द पड़ता जाता है परन्तु उसे अभी निर्जरा में गिना नहीं जाता। चैतन्य के अन्तरस्वभाव में झुकाव करके उसका साक्षात्कार करने के लिए जो जीव तैयार हुआ, वहाँ अध:करण इत्यादि के विशुद्धपरिणाम होते हैं, तब जिस कर्म की

निर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को होती है। वस्तुतः यहीं से मिथ्यात्व का संवर हुआ और गुणश्रेणी निर्जरा प्रारम्भ हुई।

जो जीव पहले गुणस्थान में होने पर भी चैतन्यस्वभाव के सन्मुख हुआ और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारी हुई, वहाँ अन्तर्मुहूर्त पहले किञ्चित् विशुद्धपरिणाम होते हैं, उसे निर्जरा होती है परन्तु उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टि को होती है। युद्ध के समय अथवा अशुभपरिणाम के समय भी अविरत सम्यग्दृष्टि को असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

२. उस चौथे गुणस्थानवाले अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा पञ्चम गुणस्थानवाले श्रावक को असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। चौथे गुणस्थानवाला ध्यान में हो और पञ्चम गुणस्थानवाला खाने-पीने के भाव में हो, उस समय भी उसे अन्दर की इतनी अकषायपरिणति वर्तती है कि उसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उसे ज्ञायकभाव का विशेष अवलम्बन हो गया है, उसी से निर्जरा है; किसी बाह्य की क्रिया से निर्जरा नहीं है।

३. उस देशव्रती श्रावक की अपेक्षा छठवें गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनियों को असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उन्हें ज्ञायकभाव का इतना अवलम्बन हो गया है कि तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हो गया है; इस कारण उन्हें विशेष शुद्धता होती है और निर्जरा भी विशेष होती है।

४. चौथे-पाँचवें-छठवें-सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन होता है। उस समय छठवें गुणस्थानवाले मुनि की अपेक्षा भी विशेष निर्जरा है। इस विसंयोजना का काल अल्प है। अल्पज्ञ जीव से वे परिणाम पकड़े नहीं जा सकते परन्तु अन्दर में शुद्धता होने पर अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन हो जाता है। उस विसंयोजन के काल में छठवें गुणस्थान की अपेक्षा भी विशेष निर्जरा है।

५. इसकी अपेक्षा भी दर्शनमोह का क्षय करनेवाले जीव को असंख्यातगुणी निर्जरा है। केवली, श्रुतकेवली की समीपता में दर्शनमोह के क्षय का प्रारम्भ करता है, उस समय ऊपर कही गयी निर्जरा से भी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

६. क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा उपशमश्रेणीवाले जीव को आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा है।

७. उससे ग्यारहवें गुणस्थान में उपशान्त मोहवाले जीव को असंख्यातगुणी निर्जरा है।

८. उस ग्यारहवें गुणस्थानवाले की अपेक्षा भी क्षपकश्रेणीवाले जीव को असंख्यातगुणी निर्जरा है। दसवें गुणस्थान में उपशमश्रेणीवाले जीव की अपेक्षा, क्षपकश्रेणीवाले जीव को आठवें गुणस्थान में ही असंख्यातगुणी निर्जरा है।

९. क्षपकश्रेणीवाले जीव की अपेक्षा, क्षीणमोह जीव को बारहवें गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा है।

१०. क्षीणमोह जीव की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान में सयोगकेवलीजिन को असंख्यातगुणी निर्जरा है।

बारहवें गुणस्थान की अपेक्षा केवली के कषायभाव में कोई अन्तर नहीं है परन्तु वहाँ परिपूर्ण ज्ञान–दर्शन–वीर्य प्रगट हुए हैं; इसलिए अत्यधिक शुद्धता बढ़ गयी है और वहाँ निर्जरा भी बढ़ गयी है।

११. सयोगकेवली की अपेक्षा अयोगकेवली को चौदहवें गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

इस प्रकार निर्जरा की वृद्धि का क्रम है।

प्रश्न – यहाँ निचली भूमिकावाले जीवों की अपेक्षा केवली को अधिक निर्जरा कही है, तो क्या उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक अशुद्धता होती है?

उत्तर – नहीं, उन्हें तो बहुत कर्म परमाणु खिरते हैं और शुद्धता बहुत ही है। बहुत परमाणु खिरते हैं अर्थात् थोड़े शेष रहते हैं और अशुद्धता भी थोड़ी है। निचले जीवों को थोड़े–थोड़े कर्म खिरते हैं अर्थात् बहुत कर्म रहते हैं और वहाँ अशुद्धता भी विशेष रहती है। ऊपर–ऊपर के गुणस्थान में शुद्धता बढ़ने से कर्मों की निर्जरा भी बढ़ती गयी है।

देखो, त्रिकाली द्रव्य को पकड़कर, उसके अवलम्बन से पर्याय में प्रति समय जो शुद्धता बढ़ती है, यह उसका वर्णन है। द्रव्य के अवलम्बन से प्रति समय शुद्धता बढ़ती जाती है और कर्म खिरते जाते हैं। जब आत्मा में शुद्धि होने लगती है, तब एक साथ समस्त शुद्धता

नहीं हो जाती, अपितु क्रम-क्रम से शुद्धता बढ़ती है और क्रम-क्रम से कर्म खिरते हैं, उसका नाम निर्जरा है।

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक क्रम-क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा है। चौथे गुणस्थानवाले को भी गुणश्रेणी निर्जरा शुरु हो जाती है। चैतन्यस्वभाव को पकड़कर एकाग्र हुआ वहाँ शुद्धता होने लगी और अशुद्धता घटने लगी, वहाँ निर्जरा शुरु हो गयी। सम्यक्त्वसन्मुख हुए जीव को भी निर्जरा गिनी गयी है।

सिद्ध को तो निर्जरा नहीं कहलाती। वहाँ कर्म अथवा अशुद्धता नहीं रही है तो निर्जरा किसकी होगी? चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सम्पूर्ण कर्मों की पूरी निर्जरा हो गयी है और आत्मा की शुद्धता पूर्ण हो गयी है; इस प्रकार गुणश्रेणी निर्जरा की बात की है।

●●

ऊँचा नाम रखकर नीचा कार्य करना योग्य नहीं

यदि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लेते हैं तो उनकी नवकोटि शुद्ध नहीं है, उनका आहार ही शुद्ध नहीं है - ऐसी बात है। बापू! मार्ग तो ऐसा है। अरे! ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत में महापाप है। इसके बदले तो 'हमारी ऊँची दशा नहीं है, बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं' - ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगे, लेकिन यदि बड़ा नाम धराकर प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धराकर एक कण भी खावे तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे उपवास नहीं है, लेकिन मैं सिर्फ एक बार खाता हूँ, इस प्रकार एकासन करे तो अकेला शुभराग है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१

गाथा १०९

अब, गुणाकाररहित अधिकरूप निर्जरा जिससे होती है, सो कहते हैं —

जो विसहदि दुव्वयणं, साहम्मिय-हीलणं च उवसग्गं।
जिणऊण कसायरिउं, तस्स हवे णिज्जरा विउला॥

दुर्वचन, उपसर्ग सहते अनादर साधर्मि कृत।
जीतें कषाय रिपु उन्हें हो, निर्जरा अतिशय बहुत॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि, [**दुव्वयणं**] दुर्वचन [**विसहदि**] सहता है, [**साहम्मियहीलणं**] साधर्मी जो अन्य मुनि आदिक उनसे किये गये अनादर को सहता है [**च उवसग्गं**] तथा देवादि कों से किये गये उपसर्ग को सहता है, [**कसायरिउं**] कषायरूप बैरी को [**जिणऊण**] जीत कर जो ऐसे करता है, [**तस्स**] उसके [**विउला**] विपुल (बड़ी) [**णिज्जरा**] निर्जरा [**हवे**] होती है।

भावार्थ : कोई कुवचन कहे तो उससे कषाय न करे तथा अपने को अतीचारादिक (दोष) लगे, तब आचार्यादि कठोर वचन कहकर प्रायश्चित देवें, निरादर करें तो उसको कषायरहित होकर सहे तथा कोई उपसर्ग करे तो उससे कषाय न करे, उसके बड़ी निर्जरा होती है।

गाथा १०९ का प्रवचन

अब, किसी जीव को गुणश्रेणी निर्जरा के अतिरिक्त विशेष निर्जरा होती है, उसका वर्णन करते हैं।

जिसे स्वभाव का इतना अवलम्बन है कि दुर्वचन/अनादर इत्यादि प्रसङ्गों में कषायभाव नहीं होता, अपितु ज्ञाताभाव रहता है, उस समय शुद्धता की वृद्धि होती है और कर्म विशेषरूप से खिर जाते हैं।

प्रश्न – साधर्मी मुनि, दूसरे साधर्मी मुनिराज का अनादर क्यों करेंगे ?

उत्तर – वहाँ वास्तव में अनादर का भाव नहीं होता, परन्तु सामनेवाले जीव को शुद्धता का कारण हो, ऐसे हेतु से कई बार कठोर शिक्षा देते हैं। वहाँ उस जीव के हित का भाव है। जैसे, आचार्य कठोर प्रायश्चित देते हैं और मुनि उसे कषायरहित भाव से सहन करते हैं — ऐसे प्रसङ्ग में मुनि को विशेष निर्जरा होती है।

मुनिराज अन्दर में उपशमभाव में ऐसे स्थिर हुए हैं कि उपसर्ग के प्रसङ्ग में भी अकषायपरिणति सहज बढ़ती जाती है। यह उस अकषायपरिणति का वर्णन है, मात्र बाधा की बात नहीं है। ऐसे-ऐसे संयोगों के समय भी सहजस्वभाव के आश्रय से धर्मात्मा को निर्जरा होती जाती है। जो आत्मा के भान बिना परीषह आदि सहन करते हैं — ऐसे जीवों की यह बात नहीं हैं।

आशय यह है कि कोई कुवचन कहे, उससे कषाय न करे। अपने को अतीचारादि दोष लगने पर आचार्य आदि कठोर वचन कहकर प्रायश्चित दें, निरादर करें तो भी निःकषायपने सहन करें तथा कोई उपसर्ग करे तो उसके प्रति भी कषाय न करे — उस जीव को बहुत निर्जरा होती है।

अहो! मुनिराज जङ्गल में वृक्ष के नीचे आत्मा के ध्यान में बैठे हों, अन्दर की शान्ति में डुबकी लगाकर सहज ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभव करते हों और तभी शिकारी आकर वृक्ष के ऊपर के पक्षियों को मारे और वह मरा हुआ पक्षी मुनिराज की गोद में आकर गिर जाए — ऐसे उपसर्गों के समय भी मुनिराज अन्दर में कषायभाव हुए बिना वीतरागभाव से ज्ञाता रहते हैं, उन मुनिराज को विशेष निर्जरा होती है। ●●

गाथा ११०

रिणमोयणं व मण्णइ, जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।
पावफलं मे एदं, मया वि जं संचिदं पुव्वं॥

मुनि मानते हैं कर्जवत्, उपसर्ग परिषह को अहो।
मैंने किये जो पूर्व सञ्चित, पाप उनका फल अहो॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि [**उवसग्गं**] उपसर्ग को तथा [**तिव्वं**] तीव्र [**परीसहं**] परीषह को [**रिणमोयणं व मण्णइ**] ऋण (कर्ज) की तरह मानता है कि [**एदे**] ये उपसर्ग और परीषह [**मया वि जं पुव्वं संचिदं**] मेरे द्वारा पूर्वजन्म में सञ्चित किये गये [**पावफलं**] पापकर्मों का फल है, सो भोगना चाहिए; इस समय व्याकुल नहीं होना चाहिए।

भावार्थ : जैसे किसी को ऋण के रुपये देने होवे तो जब वह माँगे, तब देना पड़े। उसमें व्याकुलता कैसी ? ऐसा विचार कर जो उपसर्ग और परीषह को शान्तपरिणामों से सह लेता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

गाथा ११० पर प्रवचन

यहाँ तो जिसे अन्तरस्वभाव के आश्रय से ज्ञानचेतना प्रगट हुई है, उस जीव की बात है। अकेले कर्म के आश्रय से उपसर्ग-परीषह सहन करनेवाले जीव को तो कर्मफलचेतना है। यहाँ तो ज्ञातास्वभाव के आश्रय से जिन्हें विशेष चारित्र प्रगट हुआ है — ऐसे मुनि की बात है। शरीर में कर्म के उदय से प्रतिकूलता हो, उस प्रसङ्ग में मुनियों को व्याकुलता नहीं होती, अपितु वह यह चिन्तन करते हैं कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, यह सब पूर्व कर्म का फल है; इस प्रकार अन्तर में चैतन्य का अवलम्बन मिटता नहीं है और न ज्ञातास्वभाव की शान्ति का

अभाव होता है — ऐसे मुनि को बहुत निर्जरा होती है। संयोग की ओर लक्ष्य जाए और संयोग ज्ञान में आवे, वह कोई दोष नहीं है; उस समय उस संयोग को जानने का ज्ञान प्रगट हुआ है परन्तु यदि उस समय कषायभाव हो तो बन्धन होता है। चैतन्य के अवलम्बन की स्थिरतापूर्वक जो ज्ञान विकसित हुआ है, उसे पर को जानते समय भी राग-द्वेष नहीं होता, उतनी निर्जरा है।

ज्ञानी को किसी भी क्षण चिदानन्द द्रव्य का अवलम्बन नहीं छूटता है, इसलिए प्रतिक्षण निर्जरा ही होती है। यदि द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन छूट जाए तो निर्जरा अथवा धर्म नहीं रहता।

यहाँ चिदानन्द द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन का काल है, वहाँ उसके सन्मुख कर्मों की निर्जरा सहज हो रही है और यहाँ शुद्धता भी बढ़ती जा रही है। ●●

मुनिराज की आहारवृत्ति भी शुभभाव

मुनि की आहार-ग्रहण की वृत्ति भी अशुभभाव नहीं है, तथापि वह है तो कर्मधारा या रागधारा। जब तीर्थङ्कर मुनिपने में छद्मस्थ होते हैं, तब उन्हें भी आहार-ग्रहण की वृत्ति उत्पन्न होती है, परन्तु वह वृत्ति अशुभभाव नहीं है, शुभभाव है। मोक्षमार्गप्रकाशक में यह बात आती है कि मुनि के अशुभभाव का त्याग ही है अर्थात् उन्हें अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् धर्म के लोभी, धर्म समझने के अभिलाषी कोई जीव आवें और मुनिराज को शुभराग हो तो उपदेश देते हैं। बस, यह उपदेश देने का विकल्प या समझाने का भाव शुभराग है, पुण्यास्रव है; लेकिन वह शुभराग भी स्वयं के कारण ही आता है। धर्म के लोभी जीव को समझाते हैं, इसलिए शुभराग आता है – ऐसा नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१८२

गाथा १११

जो चिंतेइ सरीरं, ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं।
दंसणणाणचरित्तं, सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं॥

चिन्तन करें जो देह यह नश्वर, अशुचि ममता करे।
अरु नित्य निर्मल सुखद, दर्शन ज्ञान चारित्र चिन्तवें॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि [**सरीरं**] शरीर को [**ममत्तजणयं**] ममत्व (मोह) को उत्पन्न करानेवाला [**विणस्सरं**] विनाशीक [**असुइं**] तथा अपवित्र [**चिंतेइ**] मानता है और [**सुहजणयं**] सुख को उत्पन्न करनेवाले [**णिम्मलं**] निर्मल [**णिच्चं**] तथा नित्य [**दंसणणाणचरित्तं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी आत्मा का [**चिंतेइ**] चिन्तवन (ध्यान) करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थ : शरीर को मोह का कारण, अस्थिर तथा अशुचि माने, तब इसकी चिन्ता नहीं रहती। अपने स्वरूप में लगे, तब निर्जरा होवे ही होवे।

गाथा १११ पर प्रवचन

जो इस शरीर को ममत्व/मोह का उत्पन्न करनेवाला, विनाशीक और अपवित्र मानता है तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सुखजनक, निर्मल तथा नित्य मानता है, उसे बहुत निर्जरा होती है।

वस्तुतः शरीर, मोह का उत्पन्न करानेवाला नहीं है परन्तु उसकी सन्मुखता का भाव होता है तो ममत्व होता है; इसलिए निमित्तरूप से देह को ममत्व को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है। चिदानन्दस्वभाव भगवान आत्मा तो निर्मल है, उसके अवलम्बन से निर्मलदशा

उत्पन्न होती है। आत्मा ज्ञायकशरीर अर्थात् ज्ञानशरीरी अविनाशी है और देह तो विनाशीक है, अपवित्र है। यहाँ पवित्र स्वभाव का अवलम्बन बताने के लिए देह को अपवित्र कहा है; वस्तुतः तो देह भी ज्ञेय है। अत: जो देह का लक्ष्य छोड़कर चैतन्य के अवलम्बन में विशेष स्थिर होता है, उसे विशेष निर्जरा होती है।

- देह अपवित्र है और आत्मा पवित्र है।
- देह विनाशी है आत्मा अविनाशी है।
- देह ममत्व की जनक है और आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जनक है।

इस प्रकार जानकर जो जीव स्वयं अपने स्वरूप में स्थिरता बढ़ाता है, उसे बहुत निर्जरा होती है। आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही निर्जरा, पवित्र और नित्य है; उनसे निर्जरा होती है। ●●

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं

वीतरागी सन्तों को, मुनियों को अन्तरस्वरूप में रहना, स्थिर होना; यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनकी तो स्वभाव-परिणति की स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज तो दिन में हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। इस प्रकार एक दिन में हजारों बार अप्रमत्त दशा आती है। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आने पर आनन्द में लीन हो जाते हैं और क्षण में फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवाँ गुणस्थान आ जाता है, पुनः सातवाँ गुणस्थान आता है और फिर पुनः छठवाँ गुणस्थान आता है। देखो! यह मुनिदशा! जैनदर्शन / वास्तविक दर्शन के सन्त ऐसे होते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६*

गाथा ११२

अप्पाणं जो णिंदइ, गुणवंताणं करेदि बहुमाणं।
मणइंदियाण विजई, स सरूवपरायणो होउ॥

निन्दा करें निज दोष की, बहुमान पर-गुण का करे।
मन इन्द्रियों को जीतते, निज रूप में तत्पर रहे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो साधु **[अप्पाणं णिंदइ]** अपने किये हुए दुष्कृत की निन्दा करता है, **[गुणवंताणं बहुमाणं करेदि]** गुणवान् पुरुषों का प्रत्यक्ष-परोक्ष बड़ा आदर करता है, **[मणइंदियाण विजई]** अपने मन व इन्द्रियों को जीतनेवाला होता है, **[स सरूवपरायणो होउ]** वह अपने स्वरूप में तत्पर होता है; उसी के बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थ : मिथ्यात्वादि दोषों का निरादर करे, तब वे क्यों रहें ? नष्ट ही हो जावें।

गाथा ११२ पर प्रवचन

जहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूप में विशेष लीनता हुई हो — ऐसी साधुदशा की यह बात है। जो अपने दोष की निन्दा करता है और गुणवान पुरुषों का आदर करता है, उसे भी निर्जरा होती है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष गुणवान पुरुष के गुणों का बहुमान आवे, वह भाव भी निर्जरा का कारण है, क्योंकि उसमें स्वयं को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विवेक और बहुमान है।

जो, मन-इन्द्रियों को जीतता है अर्थात् अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वरूप में स्थिर होता है, उस जीव को बहुत निर्जरा होती है। समयसार में कहा है कि निन्दा-गर्हणा का शुभभाव अशुद्धि और विषकुम्भ है और यहाँ कहते हैं कि अपने दोषों की निन्दा और गुणी जीवों का बहुमान इत्यादि भाव, शुद्धि और निर्जरा का कारण है — तो क्या इन दोनों कथनों में विरोध है ?

भाई! विरोध नहीं किन्तु अपेक्षा भेद है। यहाँ गुणीजनों का बहुमान इत्यादि के समय अपने को अन्दर में ज्ञान की स्थिरता का जो भाव वर्तता है, उसे मुख्य गिनकर निर्जरा कही गयी है और समयसार में शुभभाव की मुख्यता गिनकर, उसे विषकुम्भ कहा गया है। यहाँ भी जो राग है, उसे निर्जरा का कारण नहीं कहा है परन्तु उस राग के समय अन्तरस्वभाव का अवलम्बन वर्तता है और शुद्धता बढ़ती है, उसकी प्रधानता गिनकर उस शुद्धभाव से निर्जरा कही गयी है।

चिदानन्दस्वभाव का अवलम्बन करने से मिथ्यात्वादि दोषों का निरादर हो जाता है, तब फिर वहाँ मिथ्यात्वादि कर्म कैसे टिकेंगे? उनका तो अभाव ही हो जाएगा। इस प्रकार स्वभाव के अवलम्बन से निर्जरा होती है — ऐसा जानना चाहिए। ●●

मुनिराज की अरागी / अकषायी अनुकम्पा

मुनिराज को सभी के प्रति अरागी/अकषायी अनुकम्पा परिणमित हुई है, प्रगट हुई है। किसी भी जीव के प्रति 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं है' - ऐसा भाव नहीं है, उन्हें तो सभी जीव ज्ञेयरूप ज्ञात होते हैं। एकेन्द्रिय हरितकाय का एक कण हो या बड़ा नारियल एकेन्द्रिय जीव हो, इन सबके प्रति उनको अकषायी अनुकम्पा है। इन किसी के प्रति उन्हें मारने अथवा बचाने का विकल्प नहीं है। अहा! यह अनुकम्पा तो स्वयं की आत्मा के लिए है। अन्य जीव सुखी हों या न हों, यह उनके स्वयं के आधीन है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३३

गाथा ११३

तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढदि, तस्स वि सोक्खं परं होदि॥

है सफल उनका जन्म, उनके पाप को ही निर्जरा।
बढ़ता उन्हीं का पुण्य, उनको मोक्ष सुख होवे खरा॥

अन्वयार्थ : जो साधु, ऐसे (पहिले कहे अनुसार) निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करता है, **[तस्स य सहलो जम्मो]** उसी का जन्म सफल है, **[तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि]** उस ही के पापकर्म की निर्जरा होती है, **[तस्स वि पुण्णं वड्ढदि]** उस ही के पुण्यकर्म का अनुभाग बढ़ता है **[तस्स वि सोक्खं परं होदि]** और उसी को उत्कृष्ट सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

भावार्थ : जो निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करता है, उसके मिथ्यात्वादि पापों का नाश होता है, पुण्य की वृद्धि होती है और वही स्वर्गादिक के सुखों की भोगकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

गाथा ११३ पर प्रवचन

आत्मा में शुद्धता की वृद्धि होने पर, कर्मों का खिर जाना निर्जरा है। बाह्य क्रिया से अथवा शुभ विकल्प से निर्जरा नहीं होती। मैं ज्ञानानन्द वीतराग-स्वभावी हूँ — ऐसे भानपूर्वक जितने अंश में उसके अवलम्बन से शुद्धता की अभिवृद्धि होती है, वह निर्जरा का कारण है। जो जीव, ऐसी निर्जरा को जानकर उसके कारणों में प्रवर्तता है, उसका जन्म सफल है। देखो, पुण्य करनेवाले का जन्म सफल है — ऐसा नहीं कहा। आत्मा के भान बिना अकेले व्रत-तप करनेवाले का जन्म अफल अर्थात् निरर्थक है।

जो चिदानन्दस्वभावी भगवान आत्मा की दृष्टि करके उसकी शान्ति में लीन हैं, उन मुनियों का अवतार सफल है; उन्हें फिर से अवतार नहीं होता — ऐसा सफलपना है। निर्जरा में आत्मा की शुद्धता बढ़ने पर अशुभकर्म तो खिरते हैं और साथ ही पुण्य का रस बढ़ता है। पुण्य की स्थिति नहीं बढ़ती किन्तु अनुभाग बढ़ जाता है। अज्ञानी की तुलना में ज्ञानी को उत्कृष्ट जाति का पुण्य होता है। अज्ञानी मानता है कि हम व्रतादि से पुण्य करते हैं, वस्तुतः उसे पुण्य की स्थिति लम्बी बँधती है किन्तु रस/अनुभाग अल्प होता है। ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को पुण्य की स्थिति लम्बी बँधती है।

अज्ञानी को सातावेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति बँधती है परन्तु जगत् में इतनी पुण्यस्थिति को भोगने का कोई स्थान नहीं है और ज्ञानी के अपने स्वभाव के आनन्द का अनुभव करते हुए साथ ही पुण्य का अनुभाग भी बढ़ जाता है; स्थिति नहीं बढ़ती। ज्यों-ज्यों शुद्धस्वभाव की शुद्धता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों साधक को नामकर्म, यशकीर्ति इत्यादि पुण्यप्रकृतियों का रस बढ़ता जाता है। वस्तुतः ज्ञानी को ही उत्कृष्ट पुण्य होता है — ऐसा यहाँ बताया है परन्तु वह कोई पुण्य का माहात्म्य नहीं है किन्तु उत्कृष्ट पुण्य कहाँ होता है ? कि जहाँ आत्मा का भान हो, वहीं उत्कृष्ट पुण्य होता है। शुद्धता के साथ में वैसा पुण्य का अनुभाग बढ़ जाता है। शुद्धोपयोग होने पर पापकर्म तो खिर जाते हैं, पुण्य की स्थिति घटती है, रस अर्थात् अनुभाग बढ़ जाता है।

ज्ञानी को ही तीर्थङ्कर नामकर्म इत्यादि प्रकृतियाँ बँधती है — ऐसा कहकर यहाँ पुण्य पर वजन नहीं देना है, अपितु आत्मा की शुद्धता पर वजन देना है। ज्ञानी को शुद्धता की भूमिका में ऐसा पुण्य बँध जाता है कि जिसे देखकर साधारण जीव आश्चर्यचकित हो जाता है परन्तु ज्ञानी की दृष्टि पुण्य पर अथवा पुण्य के फल पर नहीं है; उसे तो मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ — ऐसी दृष्टि है।

जो निर्जरा के कार्यों में प्रवर्तित होता है, उसे पाप का नाश होकर, पुण्य की वृद्धि होती है तथा वह स्वर्गादिक का सुख भोगकर अनुक्रम से मोक्षदशा को प्राप्त करता है।

ज्ञानी को जैसा पुण्य प्राप्त होता है, वैसा पुण्य अज्ञानी को नहीं होता — ऐसा यहाँ बताया है परन्तु वे ज्ञानी, पुण्य के किसी फल में सुख नहीं मानते हैं। ●●

गाथा ११४

अब, उत्कृष्ट निर्जरा कहकर उसके कथन को पूर्ण करते हैं —

जो समसोक्खणिलीणो, वारंवारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई, तस्स हवे णिज्जरा परमा॥

जो साम्य सुख में लीन हो, बहुबार निज चिन्तन करें।
जीतें कषाय रु इन्द्रियों को, उन्हें उत्तम निर्जरा॥

अन्वयार्थ : [जो] जो मुनि, **[समसोक्खणिलीणो]** वीतरागभावरूप साम्यरूप सुख में लीन/तन्मय होकर **[वारं वारं अप्पाणं सरेइ]** बार-बार आत्मा का स्मरण अर्थात् ध्यान करता है **[इंदियकसायविजई]** तथा इन्द्रिय और कषायों को जीतता है, **[तस्स परमा णिज्जरा हवे]** उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

भावार्थ : जो इन्द्रियों का और कषायों का निग्रह करके, परम वीतरागभावरूप आत्मध्यान में लीन होता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

गाथा ११४ पर प्रवचन

जो, आत्मा का भान करके उसके अनुभव में लीन होते हैं, वे वीतरागी मुनि परम सुखी हैं। देखो, सुकौशल मुनि को सिंह फाड़ खाता है, फिर भी उन्हें उस समय दुःख नहीं है; उनके अन्दर चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से वीतरागी अनाकुल शान्तरस का प्रवाह बह रहा है, उन्हें उसके अनुभव में परम सुख है।

अहो! मैं परमस्वभाव कारणपरमात्मा हूँ — ऐसी दृष्टि करके बारम्बार उसका स्मरण करके उसमें लीन होते हैं, वे इन्द्रियों को जीतते हैं — ऐसे मुनिवरों को उत्कृष्ट निर्जरा होती

है। इसके अतिरिक्त जिसकी दृष्टि पर के ऊपर है, मैं आहारादि को छोड़ता हूँ — ऐसा जो मानता है, उस अज्ञानी को तो मिथ्यात्वादि का तीव्र बन्ध होता है, उसे निर्जरा नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है परन्तु मुनियों को उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रिय विषय और कषायों का निग्रह करके, परम वीतरागभावरूप आत्मस्वभाव में लीन होता है, उसे उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

पूरब बाँधे कर्म जे, क्षरैं तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव जाय॥ ९॥

पूर्व में मिथ्यात्वादि भाव से जो कर्म बँधे थे, वे चिदानन्दस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रतारूप तप द्वारा खिर जाते हैं — इसे निर्जरा कहते हैं। जो जीव ऐसी निर्जरा को धारण करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार निर्जरा अनुप्रेक्षा पूर्ण हुई। ●●

आकाश जैसे निरालम्बी मुनि जैनधर्म के स्तम्भ

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे.... उन्होंने तो तीर्थङ्कर जैसा काम किया है.... और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। सन्तों ने महान आश्चर्यजनक कार्य किये हैं। अहो! आकाश जैसे निरालम्बी मुनि तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके उनकी वाणी निकली है। ऐसे वीतरागी सन्तों का, चैतन्यपद को प्राप्त करानेवाला परम हित-उपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊपर ले जाना अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५१८*

१०

लोक अनुप्रेक्षा

गाथा ११५

अब, लोकाकाश का स्वरूप कहते हैं —

सव्वायासमणंतं, तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ।
सो केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं॥

इस अनन्त प्रदेशी नभ के, मध्य में स्थित लोक है।
नहिं कोई कर्ता और इसको, हरि हरादि धरें नहीं॥

अन्वयार्थ : [सव्वायासमणंतं] आकाशद्रव्य का क्षेत्र (प्रदेश) अनन्त है, **[तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ]** उसके बहुमध्यदेश (ठीक बीच के क्षेत्र) में स्थित लोक है, **[सो केण वि णेय कओ]** वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है **[ण य धरिओ हरिहरादीहिं]** तथा किसी हरिहरादि के द्वारा धारण (रक्षा) किया हुआ नहीं है।

भावार्थ : कितने ही अन्यमत में कहते हैं कि लोक की रचना ब्रह्मा करता है, नारायण (विष्णु) रक्षा करता है और शिव, संहार (नाश) करता है तथा कछुआ और शेषनाग इसको

धारण किये हुए हैं। जब प्रलय होती है, तब सब शून्य हो जाता है; ब्रह्मा की सत्तामात्र रह जाती है, फिर ब्रह्मा की सत्ता में से सृष्टि की रचना होती है – इत्यादि अनेक कल्पित कथन कहते हैं। उस सबका निषेध इस गाथा से जान लेना चाहिए। लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, धारण किया हुआ नहीं हैं, किसी के द्वारा इसका नाश भी नहीं होता है। लोक तो जैसा है, वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है; वह ही वस्तु स्वरूप है।

गाथा ११५ पर प्रवचन

भगवान सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में इस लोक को जैसा है, वैसा देखा है। मैं ज्ञाता हूँ और लोक मेरा ज्ञेय है; इसके अतिरिक्त लोक के परपदार्थों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है — ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव, लोक के स्वरूप का विचार करता है। उसका यह वर्णन है।

आकाशद्रव्य का क्षेत्र/प्रदेश अनन्त है। उसमें अति मध्यदेश में अर्थात् बीचोंबीच के क्षेत्र में स्थित, वह लोक है; उस लोक को न तो किसी ने किया है और न कोई हरिहर आदि ने धारण किया अथवा रखा है।

चारों ओर तथा ऊपर-नीचे अनन्त-अनन्त अलोकाकाश है। उसके ठीक बीच में यह लोक निरावलम्बरूप से रहा हुआ है। अहो! चिदानन्द आत्मा के ज्ञान महिमा का पार नहीं है और क्षेत्र में आकाश का पार नहीं है – ऐसे अनन्त-अनन्त अपार अलोक को भी भगवान आत्मा, केवलज्ञान स्वभाव से जान लेता है। अहो! आकाश का क्षेत्रस्वभाव और आत्मा का ज्ञानस्वभाव!! लोक के बाहर ऐसे ही आगे-आगे विचारो कि वहाँ क्या होगा? बाहर में खाली... खाली... खाली... जगह, वहाँ कहीं अन्त नहीं आता। लोक के बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश हैं, उसे किसी ने बनाया नहीं है। स्वयं सिद्ध लोक-अलोक अनादि-अनन्त है। अनन्त अलोक के ठीक बीच में लोक स्थित है।

अनन्त अलोक में कहीं अन्त नहीं होता। महाक्षेत्र में एक राई का दाना पड़ा हो, इसी प्रकार अनन्त अलोक के मध्य में लोक तो राई के दाने जैसा है। राई का दाना तो लोक के असंख्यातवें भाग है। यह लोक तो अलोक के अनन्तवें भाग है। यह लोक अनादि स्वयंसिद्ध है, किसी ने इसे बनाया नहीं, किसी ने इसे टिकाया नहीं और कोई इसका नाश भी नहीं करता।

कोई कहता है कि ब्रह्मा, लोक की रचना करते हैं; नारायण, रक्षा करते हैं; शिव, संहार करते हैं; कछुए ने अथवा शेषनाग ने उसे धारण किया है; प्रलय होता है, तब सब शून्य हो जाता है और ब्रह्मा की सत्तामात्र रह जाती है तथा इस ब्रह्मसत्ता में से पुन: सृष्टि की रचना होती है — इत्यादि अनेक बातों का निषेध इस सूत्र से जानना चाहिए। यह लोक किसी के द्वारा किया हुआ नहीं है, किसी ने इसे अपने पर धारण नहीं किया है तथा किसी से इसका नाश नहीं होता। लोक तो जैसा है, वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है और यही वस्तुस्वरूप है।

देखो, इस वस्तुस्वरूप के चिन्तन से ज्ञानी को वीतरागता बढ़कर संवर-निर्जरा होती है। लोक के नीचे कोई सहारा नहीं है, किसी शेषनाग ने अथवा कछुए ने उसे धारण नहीं कर रखा है; अपितु अलोक के मध्य में यह स्वयंसिद्ध सम्पूर्ण लोक रहा हुआ है। ईश्वर तो शुद्ध आत्मा है, वह ईश्वर जगत के किसी पदार्थ की रचना नहीं करता। यह लोक किसी का किया हुआ नहीं है, इसे किसी ने धारण नहीं किया है और किसी से इसका संहार नहीं हो सकता। लोक तो अनादि-अनन्त है। सर्वज्ञदेव ने उसे ज्यों का त्यों देखा है और ऐसा ही वस्तु स्वरूप है। ●●

निद्रा-विजयी मुनिराज

मुनिराज को बहुत निद्रा नहीं होती, छठवें गुणस्थान में अत्यन्त अल्प निद्रा होती है। छहढाला में आता है न! **'भू माहिं पिछली रयनि में कछु शयन एकासन करन'** बस, मुनि एक करवट सोते हैं, वह भी पौन सैकेण्ड की निद्रा होती है, छठा गुणस्थान भी पौन सैकेण्ड की अवधिवाला है, इसलिए इतनी निद्रा आ जाती है, परन्तु इससे अधिक निद्रा उन्हें नहीं होती।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३४

गाथा ११६

अण्णोण्णपवेसेण य, दव्वाणं अच्छणं भवे लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो, लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं॥

परस्पर अवगाह द्रव्यों का, कहा यह लोक है।
नित्य हैं सब द्रव्य इससे, लोक भी यह नित्य है॥

अन्वयार्थ : [दव्वाणं अच्छणं] जीवादिक द्रव्यों का **[अण्णोण्णपवेसेण य]** परस्पर एकक्षेत्रावगाह प्रवेश अर्थात् मिलापरूप अवस्थान **[लोओ]** लोक **[भवे]** है; **[दव्वाणं णिच्चत्तो]** द्रव्य हैं, वे नित्य हैं, **[लोयस्स वि णिच्चत्तं मुणह]** इसलिए लोक भी नित्य है — ऐसा जानना।

भावार्थ : छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य नित्य है; इसलिए लोक भी नित्य ही है।

गाथा ११६ पर प्रवचन

अब यह कहते है कि लोक में क्या-क्या है?

जीव, पुद्गल इत्यादि छह द्रव्य, आकाश के जितने भाग में रहते हैं, वही लोक है और वह छहों द्रव्य वस्तुरूप से टिकते हैं अर्थात् नित्य हैं; इसलिए लोक भी नित्य है, क्योंकि छह द्रव्यों से भिन्न कोई लोक नहीं है; इसलिए कोई भी सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं है।

अहो! आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्द वस्तु है, उसे जानकर उसमें स्थिर होने से यह समस्त लोकालोक एक समयमात्र में ज्ञात हो जाता है - ऐसी ज्ञानस्वभाव की अचिन्त्य महिमा है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना सम्पूर्ण लोक को यथार्थ नहीं जाना जा सकता। लोक स्वतन्त्र है और लोक के छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। उसका कोई कर्ता-हर्ता नहीं। लोक के छहों द्रव्य नित्य हैं, इसलिए लोक भी नित्य है। ●●

गाथा ११७

अब, यदि कोई तर्क करे कि यदि प्रत्येक द्रव्य और द्रव्यों का समुदायरूप लोक नित्य है तो फिर उत्पत्ति व नाश किसका होता है? उसका समाधान करने के लिए गाथा कहते हैं —

परिणामसहावादो, पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो, लोयस्स वि मुणह परिणामं॥

द्रव्य है परिणमनशील, प्रति समय परिणमित हो।
इसलिए यह लोक भी, परिणामी है यह जानिए॥

अन्वयार्थ : [दव्वाणि] द्रव्य **[परिणामसहावादो]** परिणामस्वभावी हैं, इसलिए **[पडिसमयं]** प्रतिसमय **[परिणमंति]** परिणमते हैं, **[तेसि परिणामादो]** उनके परिणमन के कारण **[लोयस्स वि णिच्चतं मुणह]** लोक को भी परिणामी जानो।

भावार्थ : द्रव्य हैं, वे परिणामी हैं। लोक है, वह द्रव्यों का समुदाय है; इसलिए द्रव्यों के परिणामी होने के कारण लोक भी परिणामी हुआ। कोई पूछे परिणाम क्या? उसका उत्तर — परिणाम नाम पर्याय का है। एक अवस्थारूप द्रव्य का पलटकर, दूसरी अवस्थारूप होना, उसको पर्याय कहते हैं। जैसे, मिट्टी, पिण्ड अवस्थारूप थी, सो पलटकर घड़ा बनी; इस तरह परिणाम का स्वरूप जानना चाहिए। लोक का आकार तो नित्य है और द्रव्यों की पर्यायें पलटती है, इस अपेक्षा इसको परिणामी कहते हैं।

गाथा ११७ पर प्रवचन

कोई तर्क करता है कि यदि लोक नित्य है तो यह उत्पन्न और विनष्ट होनेवाला कौन है? इस प्रश्न का उत्तर इस गाथा में दिया गया है।

इस लोक में छहों द्रव्य हैं, वे परिणामस्वभावी हैं; इसलिए वे प्रतिसमय परिणमित होते हैं। उनके परिणमने से लोक के भी परिणाम जानना चाहिए।

देखो! पहले नित्य द्रव्य की बात करके, तत्पश्चात् उसके परिणाम की बात की गयी है। इस प्रकार क्रमशः बात की गयी है। छहों द्रव्य में वे परिणामस्वभाववाले हैं, द्रव्यों को कोई दूसरा परिणमित करानेवाला नहीं है; अपितु समस्त द्रव्य, स्वभाव से ही परिणामी हैं। छह द्रव्यों को नहीं माननेवाला सर्वज्ञ को नहीं मानता। काल भी मूल द्रव्य है। छहों द्रव्य वस्तुरूप से नित्य टिककर प्रतिसमय परिणमित होते हैं — ऐसा उनका स्वभाव है। सिद्ध भगवन्तों को कालद्रव्य के कारण परिणमित होना पड़ता है — ऐसा नहीं है। अनन्त अलोक, उसके मध्य में लोक, वह लोक छह द्रव्यस्वरूप है। वे छहों द्रव्य नित्य होने से लोक भी नित्य है और वे छहों द्रव्य परिणामस्वभावी हैं, उनके परिणमने से लोक के भी परिणाम जानना चाहिए। इस प्रकार नित्य और परिणामी–ऐसी दो बातें कहकर वस्तु का स्वरूप बतलाया गया है।

जगत के जीव, परिणामस्वभावी हैं; इसलिए कोई किसी को मार अथवा बचा नहीं सकता। शरीर के परिणाम उससे होते हैं, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। छहों द्रव्यों में द्रव्यत्व गुण है, इस कारण वे प्रतिसमय नयी–नयी दशारूप परिणमित होते हैं। कोई ऐसा माने कि मैं उन्हें परिणमित कराता हूँ तो वह मिथ्यादृष्टि है। जीव क्या करता है? जानने–देखने के परिणाम करता है। अज्ञानी जीव यह अभिमान करता है कि मैंने पर को बचा दिया, मुझसे इसका मरण हुआ। धर्मी सम्यग्दृष्टि तो जानता है कि मैं ज्ञानस्वभावी हूँ और सम्पूर्ण लोक मेरा ज्ञेय है। इसमें छहों द्रव्य प्रतिसमय परिणमित होते हैं।

देखो, कर्म के कारण आत्मा के परिणाम होते हैं — यह बात नहीं है। शत्रु के कारण भय के परिणाम होते हैं — ऐसा नहीं है। लोक को किसी का सहारा नहीं है अथवा कोई उसका कर्ता नहीं है तथा लोक के किसी द्रव्य के परिणाम का भी कोई अन्य कर्ता नहीं है। लोक में छहों द्रव्य भले ही एक क्षेत्र में रहे हों तो भी कोई किसी का कर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही परिणामस्वभावी है — ऐसे स्वभाव को जानने से ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि जाकर पर का अभिमान मिट जाता है।

द्रव्य है, वह परिणामस्वभावी है और द्रव्यों का समुदाय, लोक कहलाता है; इसलिए द्रव्यों के परिणाम वे लोक के भी परिणाम हैं; जैसे त्रिकाली द्रव्यों को कोई करता नहीं है; इसी प्रकार उनकी पर्यायों को भी कोई नहीं करता है।

प्रश्न : परिणाम अर्थात् क्या ?

उत्तर : परिणाम अर्थात् पर्याय, अवस्था। द्रव्य पहले एक अवस्थारूप था, वह अवस्था पलटकर दूसरी नयी अवस्थारूप हुआ — इसका नाम परिणाम अर्थात् पर्याय है। लकड़ी नीची थी और ऊपर हुई, वह उसके परिणाम हैं। वस्तु की वर्तमान अवस्था को परिणाम कहते हैं। द्रव्य स्वयं एक परिणाम बदलकर, दूसरे परिणामरूप होता है; कोई दूसरा उसके परिणाम को नहीं करता। द्रव्य सदा एकरूप रहता है और उसकी पर्यायें प्रतिक्षण पलटा करती हैं। मैंने पर की पर्याय को बदला अथवा मेरी पर्याय को दूसरा बदल देगा — ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। परजीव की दया का भाव होता है, वह पुण्य है परन्तु उस समय कोई ऐसा माने कि मेरे भाव के कारण मैंने परजीव को बचा दिया तो उसे मिथ्यात्व का महापाप भी साथ ही बँधता है। ज्ञानी को शुभभाव तो आता है परन्तु उसे वस्तुस्वरूप का भान है कि मेरे कारण पर जीव बचता अथवा मरता नहीं है। शुभभाव आया, इसलिए वहाँ मिथ्यात्व ही हो जाता है — ऐसा नहीं है।

द्रव्य स्वयं एक अवस्था से पलटकर दूसरी अवस्थारूप होता है; जैसे कि मिट्टी की पिण्डरूप अवस्था थी, वह पलटकर घटरूप अवस्था हुई। आटा था, वह पलटकर रोटी हुई — ये दोनों परमाणुओं के परिणाम हैं। कोई कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है और बाई/महिला रोटी की कर्ता नहीं है। परिणाम को वस्तु स्वयं ही करती है; इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का परिणाम समझना चाहिए।

लोक का आकार ऐसा का ऐसा रहा होने पर भी उसके परिणाम प्रतिसमय पलट रहे हैं। लकड़ी स्थूलरूप से ऐसी की ऐसी रहती है परन्तु एक सैकेण्ड में उसकी असंख्य अवस्थाएँ पलट जाती हैं। छह द्रव्यों की पर्यायें पलटने पर भी लोक का आकार नित्य एकरूप है।

●●

गाथा ११८

अब, लोक का विस्तार कहते हैं —

सत्तेक्क पंच इक्का, मूले मज्झे तहेव बंभंते।
लोयन्ते रज्जूओ, पुव्वावरदो ये वित्थारो॥

पूर्व-पश्चिम, मूल-मध्य में सात अरू एक राजू है।
है पाँच राजू ब्रह्म तक, लोकान्त में इक राजू है॥

अन्वयार्थ : [पुव्वावरदो य] लोक का पूर्व-पश्चिम दिशा में **[मूले मज्झे]** मूल (नीचे) और मध्य (बीच) में क्रम से **[सत्तेक्क]** सात राजू और एक राजू का विस्तार है, **[तहेव बंभंते पंच इक्का लोयन्ते रज्जूओ वित्थारो]** ऊपर ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में पाँच राजू का विस्तार है और लोक के अन्त में एक राजू का विस्तार है।

भावार्थ : लोक, पूर्व-पश्चिम दिशा में नीचे के भाग में सात राजू चौड़ा है। वहाँ से अनुक्रम से घटता-घटता मध्यलोक में एक राजू रह जाता है, फिर ऊपर अनुक्रम से बढ़ता-बढ़ता ब्रह्मस्वर्ग तक पाँच राजू चौड़ा हो जाता है। बाद में घटते-घटते अन्त में एक राजू रह जाता है। इस तरह होते हुए खड़े किये गये डेढ़ मृदङ्ग की तरह लोक का आकार हुआ।

गाथा ११८ पर प्रवचन

अब, इस लोक का आकार तथा उसका माप कहते हैं।

यह लोक निचले भाग में पूर्व-पश्चिम दिशा में सात राजू चौड़ा है, वहाँ से अनुक्रम से घटते-घटते मध्यलोक में एक राजू रहता है; तत्पश्चात् ऊपर अनुक्रम से बढ़ते-बढ़ते ब्रह्मस्वर्ग

के अन्त में पाँच राजू चौड़ा होता है, फिर घटते–घटते अन्त में एक राजू रहता है। इस प्रकार होने पर खड़े किये गये डेढ़ मृदङ्ग के समान लोक का आकार है।

देखो, ऐसा लोक किसी के द्वारा किया गया नहीं है; कोई इसका नाशक नहीं है। इसे जैसा है, वैसा जानने का आत्मा का स्वभाव है — ऐसा विचारकर धर्मी जीव को ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से शुद्धता वर्तती है और संवर–निर्जरारूप धर्म होता है; इसलिए इन भावनाओं का वर्णन है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, ज्ञान में समस्त लोक–अलोक को जानने की सामर्थ्य है। जैसा लोक का स्वरूप हो, वैसा ही जाने, तब ज्ञान यथार्थ कहलाता है। यहाँ तो सर्वज्ञ ने जैसा लोक देखा, उसका वर्णन है। उससे विपरीत माननेवाले जीव को ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभाव के भानपूर्वक लोक के स्वरूप का विचार करता है। ●●

मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे...

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त-भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ!! किस प्रकार उनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!! - इस प्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है। जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिए पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया! इस प्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं, किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि की तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा की अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अन्तर में देने या लेनेवाला नहीं है तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५४४

गाथा ११९-१२०

अब, दक्षिण उत्तर के विस्तार व ऊँचाई तथा उसके भेद कहते हैं —

दक्खिणउत्तरदो पुण, सत्त वि रज्जू हवेदि सव्वत्थ।
उड्ढं चउदहरज्जू सत्त वि रज्जूघणो लोओ॥
मेरुस्स हिट्ठभाये, सत्त वि रज्जू हवेइ अहलोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ, मेरुसमो मज्झिमो लोओ॥

सात राजू कहा दक्षिण, और उत्तर में अहो।
उत्तंग चौदह राजू है कुल, सात घन राजू कहो॥
मेरु के नीचे अधो है, सात राजू जिन कहें।
इतना ही ऊपर ऊर्ध्व है, है मेरु सम[1] मध्य लोक है॥

अन्वयार्थ : [दक्खिणउत्तरदो पुण सव्वत्थ सत्त वि रज्जू हवेदि] लोक का दक्षिण-उत्तर दिशा में सब ऊँचाई पर्यन्त सात राजू का विस्तार है। **[उड्ढं चउदहरज्जू]** ऊँचा चौदह राजू है **[सत्त वि रज्जूघणो लोओ]** और सात राजू का घनप्रमाण है।

[मेरुस्स हिट्ठभाये] मेरु के नीचे के भाग में **[सत्त वि रज्जू]** सात राजू **[अहलोओ]** अधोलोक **[हवेइ]** है, **[उड्ढम्हि उड्ढलोओ]** ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। **[मेरुसमो मज्झिमो लोओ]** मेरु समान मध्यलोक है।

भावार्थ : दक्षिण-उत्तर में सब जगह सात राजू चौड़ा है। ऊँचा चौदह राजू है। इस

---

१. एक लाख योजन

तरह लोक का घनफल करने पर तीन सौ तियालीस (३४३) राजू होता है। समान क्षेत्र खण्ड कर एक राजू चौड़ा, लम्बा, ऊँचा खण्ड करने को घनफल कहते है।

मेरु के नीचे सात राजू अधोलोक है, ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है, बीच में मेरु समान लाख योजन का मध्यलोक है। इस तरह तीन लोक का विभाग जानना चाहिए।

गाथा ११९-१२० पर प्रवचन

अनादि अकृत्रिम लोक ऐसा है। ज्ञान की ऐसी महिमा कि लोक को जैसा है, वैसा जान लेता है। अन्यमत में जो लोक का माप कहते हैं, उसके अनुसार तीन सौ तियालीस राजू का मेल नहीं होता।

एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं। नीचे अधोलोक सात राजू है, ऊपर सात राजू है और उनके मध्य में एक लाख योजन का मध्यलोक है। अठारह सौ योजन का ही मध्यलोक नहीं, किन्तु एक लाख योजन का मध्यलोक है। ●●

अहा! अद्भुत मुनिदशा

मुनिराज बारम्बार वीतरागतारूप से, जिसमें अनन्तगुणों का वास है ऐसे निज चैतन्यनगर में / अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में प्रविष्ट होकर अद्भुत ऋद्धि को अनुभवते हैं। अहा! अद्भुत मुनिदशा!

मुनिराज ने शुभोपयोग से भिन्न होकर अन्तर में आनन्द के नाथ का अनुभव किया है; जो आनन्द की दशा प्रगट हुई, उसे रखते हैं और जो प्रगट नहीं हुई, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे मुनिराज निर्विकल्पदशा से परिणमित होकर, बाह्य से शून्य होकर अन्तर में प्रवेश करते हैं; वहाँ शून्यता नहीं है। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द की अद्भुतदशा को अनुभवते हैं।

अहा! उन भावलिङ्गी/आनन्द की मस्ती में झूलनेवाले मुनिराज की क्या-क्या बात कहें! वर्तमान में तो उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७४

गाथा १२१

अब, लोक शब्द का अर्थ कहते हैं —

दंसंति जत्थ अत्था, जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अंतविहीणा विरायंते॥

जीवादि द्रव्य जहाँ दिखें, वह लोक है यह जिन कहें।
उसके शिखर पर हैं अनन्त, विराजते प्रभु सिद्ध हैं॥

अन्वयार्थ : [**जत्थ**] जहाँ [**जीवादीया**] जीवादिक [**अत्था**] पदार्थ [**दंसंति**] देखे जाते हैं, [**स लोओ भण्णदे**] वह लोक कहलाता है। [**तस्स सिहरम्हि**] उसके शिखर पर [**अंतविहीणा**] अन्तरहित (अनन्त) [**सिद्धा**] सिद्ध [**विरायंते**] विराजमान हैं।

भावार्थ : 'लोक-दर्शने' व्याकरण में धातु है, उसके आश्रयार्थ में अकार प्रत्यय से लोक शब्द बनता है; इसलिए जिसमें जीवादिक द्रव्य देखे जाते हैं, उसको लोक कहते हैं। उसके ऊपर अन्त में कर्मरहित शुद्धजीव अपने अनन्त गुणसहित अविनाशी अनन्त सुखमय सदा विराजमान हैं।

गाथा १२१ पर प्रवचन

अब, लोक शब्द का अर्थ कहते हैं।

लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्थाः यत्र स लोकः - जहाँ जीवादि छह पदार्थ देखने में आते हैं, उसे लोक कहते हैं। इस लोक के शिखर पर लोक के मुकुट समान अनन्त सिद्ध भगवन्त परमानन्ददशा में विराजमान हैं। लोक का वर्णन करते हुए सर्वोत्कृष्ट सिद्ध भगवन्तों

को स्मरण किया है। सिद्धदशा में आत्मा के स्वभाव में से ही परमानन्दमय सुख प्रगट होता है, वहाँ लाड़ी-वाड़ी-घोड़ा इत्यादि कुछ नहीं हैं परन्तु स्वभाव से ही सुख है।

व्याकरण के अनुसार लोक का यह अर्थ है कि जहाँ जीवादि पदार्थ देखने में आते हैं, वह लोक है; उस लोक के ऊपर के अन्त में/ लोकाग्र में अनन्त सिद्ध भगवन्त कर्मरहित और अनन्त गुणसहित विराजमान हैं। वे सिद्ध भगवन्त मुक्तिशिला से भी तो बहुत ऊँचे हैं।

अहो! मेरा स्वभाव तो केवलज्ञानमय है, मेरे ज्ञान में यह लोक-अलोक सब प्रमेय हैं; इस प्रकार ज्ञान की प्रतीतिपूर्वक धर्मी जीव, छह द्रव्यस्वरूप लोक को जानता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव सबको जानता है किन्तु किसी की तोड़-फोड़ नहीं करता, फेरफार नहीं करता। ●●

मुनिराज को स्वरूपानन्द का ज्वार

अरे! यह बँगला, लक्ष्मी, मोटर, स्त्री, कुटुम्बादि बाह्य वैभव तो धूल है, जड़ है; उससे भिन्न ज्ञायक भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है; इस प्रकार अन्तर में भेदज्ञान होने पर राग से विरक्त होकर स्वरूपानन्द का ज्वार आता है। वह ज्वार बाहर से नहीं, किन्तु अन्तर में से आता है। ज्ञायकस्वरूप पूर्ण चन्द्र का अन्तर में स्थिरतापूर्वक अवलोकन करने से आनन्दसागर उल्लसित होता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९९

गाथा १२२

अब, लोक के जीवादिक छह द्रव्यों का वर्णन करेंगे। पहले, जीवद्रव्य को कहते हैं —

एइंदियेहिं भरिदो, पंचपयारेहिं सव्वदो लोओ।
तसनाडीए वि तसा, ण बाहिरा होंति सव्वत्थ॥

यह लोक पञ्च प्रकार, थावर जीव से भरपूर है।
त्रसजीव त्रसनाड़ी बसें, सर्वत्र बाहर नहिं रहें॥

अन्वयार्थ : [लोओ] यह लोक **[पंचपयारेहिं]** पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पति — पञ्च प्रकार काय के धारक **[एइंदियेहिं]** एकेन्द्रिय जीवों से **[सव्वदो]** सब जगह **[भरिदो]** भरा हुआ है; **[तसनाडीए वि तसा]** त्रसजीव त्रसनाड़ी में ही हैं; **[सव्वत्थ बाहिरा ण होंति]** बाहर नहीं हैं।

भावार्थ : जीवद्रव्य, उपयोग लक्षणवाला समानपरिणाम की अपेक्षा सामान्यरूप से एक है। तथापि वस्तु भिन्न प्रदेश से अपने-अपने स्वरूप को लिये भिन्न-भिन्न अनन्त हैं। उनमें जो एकेन्द्रिय हैं, वे तो सब लोक में हैं और दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय त्रस हैं, वे त्रसनाड़ी में ही हैं।

गाथा १२२ पर प्रवचन

अब, इस लोक में जीवादि छह द्रव्य हैं, उनका वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम ही जीव द्रव्य का वर्णन करते हैं।

समस्त जीवों में उपयोग लक्षण एक समान हैं। चैतन्यअनुविधायीपरिणाम, वह उपयोग है अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला परिणाम, वह उपयोग है। उस उपयोग की

अपेक्षा से सभी जीव समान हैं। यह सामान्य उपयोग अपेक्षा से बात है। नियमसार में त्रिकाल शुद्ध — ऐसे स्वरूप प्रत्यक्ष उपयोग अपेक्षा से सभी जीवों को समान कहा है और यहाँ उपयोग के परिणाम की अपेक्षा से सभी जीवों को समान कहा है। उपयोग में होनेवाली हीनाधिकता को मुख्य न करते हुए, उपयोग अपेक्षा से सभी जीव समान हैं तो भी उनमें प्रत्येक जीव के अपने-अपने प्रदेश भिन्न हैं — ऐसे जीव अनन्त हैं। उनमें जो एकेन्द्रिय हैं, वे तो सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र हैं तथा दो इन्द्रिय इत्यादि त्रसजीव, त्रसनाड़ी में हैं। ●●

आनन्दादि ऋद्धियों का प्रगट वेदन

जैसे आत्मा अपने ज्ञान और आनन्दादि त्रैकालिक स्वभाव से शून्य नहीं है और जैसे केवली भगवान केवलज्ञानादि स्वभावचतुष्टय से शून्य नहीं हैं, वैसे ही साधकसन्त स्वसम्वेदन के समय पर्याय में बुद्धिपूर्वक के रागशून्य होने पर भी वहाँ सर्वथा शून्यता नहीं है, किन्तु जागृतरूप से आनन्दादि अलौकिक ऋद्धियों का अत्यन्त स्पष्टरूप वेदन है। जैसे राग का अर्थात् पुण्य और पाप का वेदन प्रत्यक्ष है, वैसे ही राग से भिन्न हुए मुनिराज को तथा सम्यग्दृष्टि को अनुभवकाल में स्वभाव का सम्वेदन प्रत्यक्ष है; वह आनन्द और शान्ति से रिक्त नहीं है – शून्य नहीं है।

अहा! जहाँ पर्याय में अलौकिक चैतन्यऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट सम्वेदन है, प्रभु! वहाँ तू जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। जैसे बाह्य में लक्ष्य करने से राग के तथा विकार के दर्शन होते हैं, वैसे ही अन्तर में जाने पर तुझे आनन्दकन्द ज्ञायकदेव के दर्शन होंगे। अहा! ऐसी बात है। सच्चे मुनि हों या सम्यग्दृष्टि हों-सबके लिये यह एक ही बात है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७९*

गाथा १२३-१२४

अब, जीवों बादर-सूक्ष्मादि भेद तथा बादर-सूक्ष्म कौन-कौन हैं ? यह कहते हैं —

पुण्णा वि अपुण्णा वि य, थूला जीवा हवंति साहारा।
छविहा सुहमा जीवा, लोयायासे वि सव्वत्थ॥
पुढवीजलग्गिवाऊ, चत्तारि वि होंति बायरा सुहमा।
साहारणपत्तेया, वणप्फदी पंचमा दुविहा॥

साधार स्थूल जीव हैं, पर्याप्त अनपर्याप्त हैं।
आधार बिन हैं लोक में, छह भेद सूक्ष्म जीव हैं॥
जल अग्नि वायु और पृथ्वी, सूक्ष्म बादर भी कहे।
प्रत्येक साधारण वनस्पति, भेद द्वय जिनवर कहे॥

अन्वयार्थ : [साहारा] आधारसहित **[जीवा]** जीव **[थूला]** स्थूल (बादर) **[हवंति]** होते हैं, **[पुण्णा वि अपुण्णा वि य]** वे पर्याप्त हैं और अपर्याप्त भी हैं; **[लोयायासे वि सव्वत्थ सुहमा जीवा छविहा]** लोकाकाश में सब जगह अन्य आधाररहित हैं, वे सूक्ष्म जीव हैं और छह प्रकार के हैं।

[पुढवीजलग्गिवाऊ चत्तारि वि बायरा सुहमा होंति] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु — ये चार तो बादर भी होते हैं तथा सूक्ष्म भी होते हैं, **[पंचमा वणप्फदी साहारणपत्तेया दुविहा]** पाँचवीं वनस्पति साधारण और प्रत्येक के भेद से दो प्रकार की है।

गाथा १२३-१२४ पर प्रवचन

जगत् में अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्तजीव अधिक हैं। कोई जीव, पर्याप्त पलटकर अपर्याप्त होता है और अपर्याप्त पलटकर पर्याप्त होता है परन्तु जगत् में पर्याप्त और अपर्याप्त जीव तो सदा हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता।

वनस्पति में एक शरीर में या तो एक जीव रहता है या अनन्त जीव रहते हैं; बीच का भेद नहीं होता। इन जीवों को कोई मार अथवा बचा सके — यह बात नहीं है परन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप जगत में है, उसे जानने का ज्ञान का स्वभाव है। जगत् में ऐसे जीव हैं — ऐसा ज्ञान करने की बात है। यदि ऐसा ज्ञान न करे तो या तो अज्ञानी होगा या अल्पज्ञ होगा।

●●

अहो! जगत का महाभाग्य

अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की क्या बात करें! कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो भगवान कहलाते हैं! उनका वचन अर्थात् केवली का वचन। अन्तर में अध्यात्म का स्रोत उमड़ रहा था, एकदम केवलज्ञान की तैयारी थी; वीतरागभाव से अन्तर में स्थिर होते-होते फिर छद्मस्थदशा में रह गये और विकल्प उठने से महान शास्त्रों की रचना हो गयी। इतना जगत का महाभाग्य था कि उनके द्वारा इन समयसार, प्रवचनसार जैसे महान परमागमों की रचना हो गई। इस समय तो वैसी शक्ति यहाँ नहीं है। सौराष्ट्र का भी महाभाग्य है कि गुजराती भाषा में वे शास्त्र प्रकाशित हो गये हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १७२-१७३

गाथा १२५

अब, साधारण–प्रत्येक के सूक्ष्मता कहते हैं —

साहारणा वि दुविहा, अणाइकाला य साइकाला य।
ते वि य बादरसुहमा, सेसा पुण बायरा सव्वे॥

जीव साधारण कहे, दो काल सादि अनादि हैं।
सूक्ष्म बादर भेद द्वय हैं, शेष सब बादर कहे॥

अन्वयार्थ : [साहारणा वि दुविहा] साधारण जीव दो प्रकार के हैं **[अणाइकाला य साइकाला य]** १. अनादिकाला (नित्यनिगोद) २. साहिकाला (इतरनिगोद); **[ते वि य बादरसुहमा]** वे दोनों ही बादर भी हैं और सूक्ष्म भी हैं **[पुण सेसा सव्वे बायरा]** और शेष सब (प्रत्येक वनस्पति और त्रस) बादर ही हैं।

भावार्थ : पहले कहे जो सूक्ष्म जीव, छह प्रकार के हैं उनमें से पृथ्वी, जल, तेज, वायु तो पहली गाथा में कह चुके हैं। इन ही चारों में नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन दोनों को मिलाने से छह प्रकार के सूक्ष्म जीव होते हैं और बाकी सब बादर होते हैं।

गाथा १२५ पर प्रवचन

अनादिकाल से निगोद में पड़े हुए जीव हैं, जिन्होंने कभी त्रस का भव किया ही नहीं है और जीवों को मनुष्यपना प्राप्त करके भी आत्मा को समझने का समय भी नहीं मिलता।

पूर्वकथित जो छह प्रकार के सूक्ष्म जीव हैं, उनमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तो पहली गाथा में कहे गये हैं तथा नित्यनिगोद और इतरनिगोद — ये दोनों, इस प्रकार छह प्रकार के जीव तो सूक्ष्म जानना तथा ये छह प्रकार कहे, इनके अतिरिक्त अवशेष सर्वजीव बादर जानना चाहिए।

●●

गाथा १२६

अब, साधारण का स्वरूप कहते हैं —

साहारणाणि जेसिं, आहारुस्सासकायआऊणि।
ते साहारणजीवा, णंताणंतप्पमाणाणं॥

आहार अरु उच्छ्वास आयु, काय साधारण कहे।
जिनवर कहें वे जीव, साधारण अनन्तानन्त हैं॥

अन्वयार्थ : [जेसिं] जिन **[णंताणंतप्पमाणाणं]** अनन्तानन्त प्रमाण जीवों के **[आहारुस्सासकायआऊणि]** आहार, उच्छ्वास, काय, आयु **[साहारणाणि]** साधारण (समान) हैं, **[ते साहारणजीवा]** वे साधारण जीव हैं।

यही गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १९३ में कहा है —

''जत्थेक्कु मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थ एक्को, चंकमणं तत्थ णंताणं॥''

उत्पन्न होता एक जीव, अनन्त उसके साथ में।
उत्पन्न हों अथवा मरें वे, जीव सब इक साथ में॥

अर्थात् *जहाँ एक साधारण निगोदिया जीव उत्पन्न होता है, वहाँ उसके साथ ही अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं और जहाँ एक निगोदिया जीव मरता है, वहाँ उसके साथ ही अनन्तानन्त समान आयुवाले मरते हैं।*

भावार्थ : *एक जीव आहार करे, वह ही अनन्तानन्त जीवों का आहार; एक जीव स्वाच्छोश्वास ले, वह ही अनन्तानन्त जीवों का स्वाच्छोश्वास; एक जीव का शरीर, वह ही अनन्तानन्त जीवों का*

शरीर; एक जीव की आयु, वह ही अनन्तानन्त जीवों की आयु; इस तरह से समानता है, इसीलिए साधारण नाम जानना चाहिए।

गाथा १२६ पर प्रवचन

जो जीव, आत्मा के स्वभाव की विराधना करके निगोद में गये, वहाँ अनन्त जीवों का एक ही शरीर है; एक जीव का जो आहार है, वही अनन्त जीवों का आहार है। देखो, जीव को आहार है — यह तो निमित्त का कथन है, उपादान में एक ही प्रकार है कि जीवों के परिणामों की वैसी-वैसी योग्यता है। साधारण निगोद में आयु और स्वाच्छोश्वास भी अनन्त जीवों के समान हैं।

जगत में तीन प्रकार से समानता है —

१. सिद्धों में साम्यता / समानता है। वहाँ समस्त जीवों की / सिद्धों की ज्ञान-आनन्द की पूर्णता समान है; उसमें हीनाधिकता नहीं है।

२. साधारण निगोद के जीवों में ऐसी साम्यता है कि अनन्त जीवों के एक ही शरीर, एक ही आहार, एक ही श्वांस, एक ही आयुष्य है।

देखो! तत्त्व के आराधक जीव, सिद्ध होकर समानता प्राप्त करते हैं और तत्त्व के विराधक जीव, निगोद में जाकर वहाँ समानता प्राप्त करते हैं।

३. इसके अतिरिक्त जुगलिया में पुण्य सम्बन्धी किञ्चित् साम्यता है किन्तु उनकी संख्या तो अल्प है। सिद्ध और निगोद में अनन्त जीव हैं। ●●

गाथा १२७

अब, सूक्ष्म और बादर का स्वरूप कहते हैं —

ण य जेसिं पडिखलणं, पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं।
ते जाण सुहुमकाया, इयरा पुण थूलकाया य॥

जल अग्नि पृथ्वी पवन से, रुकते नहीं वे सूक्ष्म हैं।
जो रुकें पृथ्वी आदि से, बादर उन्हें जिनवर कहें॥

अन्वयार्थ : [**जेसिं**] जिन जीवों का [**पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं**] पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनसे [**पडिखलणं ण य**] रुकना नहीं होता है, [**ते सुहुमकाया जाण**] उनको सूक्ष्म जीव जानो [**इयरा पुण थूलकाया य**] और जो इनसे रुक जाते हैं, उनको बादर जानो।

गाथा १२७ पर प्रवचन

यहाँ इस प्रकार व्याख्या करके समझाया है परन्तु वस्तुतः तो जिसे सूक्ष्म नामकर्म का उदय है, वह सूक्ष्म जीव है और जिसे बादर नामकर्म का उदय है, वह बादर जीव है।

●●

गाथा १२८

अब, प्रत्येक वनस्पति और त्रसजीव का स्वरूप कहते हैं —

पत्तेया वि य दुविहा, णिगोदसहिदा तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसा वि य, वि-तिचउरक्खा तहेव पंचक्खा॥

दो भेद हैं प्रत्येक के, सनिगोद या अनिगोद हैं।
विकलत्रय या पञ्च इन्द्रिय, भेद युत त्रसजीव हैं॥

अन्वयार्थ : [पत्तेया वि य दुविहा] प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की है — **[णिगोदसहिदा तहेवा रहिया य]** १. निगोदसहित, और २. निगोदरहित। **[तसा वि य दुविहा होंति]** त्रस भी दो प्रकार के हैं — **[वि-तिचउरक्खा तहेव पंचक्खा]** १. विकलत्रय (दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), तथा २. पञ्चेन्द्रिय।

भावार्थ : जिस वनस्पति के आश्रित निगोद पायी जाती है, वह साधारण है, इसको सप्रतिष्ठित भी कहते हैं और जिसके आश्रित निगोद नहीं पायी जाती, वह प्रत्येक है, इसको अप्रतिष्ठित भी कहते हैं। दोइन्द्रिय आदि को त्रस कहते हैं।

साधारण और प्रत्येक वनस्पति का स्वरूप श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५ से १८८ में इस प्रकार बतलाया है —

जो वनस्पतियाँ, मूल, अग्र, पर्व, कन्द, स्कन्ध तथा बीज से पैदा होती हैं तथा जो सम्मूर्च्छन हैं, वे वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित हैं तथा अप्रतिष्ठित भी हैं।

बहुत सी वनस्पतियाँ, मूल से पैदा होती हैं – जैसे अदरक, हल्दी आदि। कोई वनस्पति, अग्र भाग से उत्पन्न होती हैं –जैसे गुलाब। किसी वनस्पति की उत्पत्ति पर्व (पङ्गोली) से होती है – जैसे ईख,

बेंत आदि। कोई वनस्पति, कन्द से पैदा होती है - जैसे सूरण आदि। कोई वनस्पति, स्कन्ध से पैदा होती है - जैसे ढाक। बहुत सी वनस्पतियाँ, बीजों से पैदा होती हैं - जैसे चना, गेहूँ आदि। कई वनस्पतियाँ, पृथ्वी, जल आदि के सम्बन्ध से पैदा हो जाती हैं, वे सम्मूर्च्छन हैं - जैसे घास आदि। ये सभी वनस्पतियाँ, सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की हैं।

जिन वनस्पतियों के शिरा (तोरई आदि में) सन्धि (खाँपों के चिह्न खरबूजे आदि में) पर्व (पङ्गोली गन्ने आदि में) प्रगट न हों और जिनमें तन्तु पैदा न हुआ हो (भिण्डी आदि में) तथा जो काटने पर फिर बढ़ जाएँ, वे सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ हैं; इनसे उल्टी अप्रतिष्ठित समझनी चाहिए।

जिन वनस्पतियों के मूल (हल्दी, अदरक आदि) कन्द (सूरण आदि) छाल, नई कोपल, टहनी, फूल, फल तथा बीज तोड़ने पर बराबर टूट जाएँ, वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं तथा जो बराबर न टूटें, वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं।

जिन वनस्पतियों के कन्द, मूल, टहनी, स्कन्ध की छाल मोटी होती है, वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक (अनन्त जीवों का स्थान) जानना और जिनकी छाल पतली होती है, वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक मानना चाहिए।

गाथा १२८ पर प्रवचन

अब, प्रत्येक एवं त्रसजीव का स्वरूप कहते हैं।

नीम का एक टुकड़ा है, वह निगोद है और पत्र है, वह प्रत्येक है। टुकड़े में अनन्त जीव हैं और पत्र में असंख्य जीव हैं। देखो! ये जीव, अपनी चैतन्यऋद्धि को हारकर अर्थात् उसकी विराधना करके ऐसी हीनदशा को प्राप्त हुए हैं — ऐसा सर्वज्ञ ने देखा है। इन सबको जानकर, राग-द्वेष टालकर, वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट करना ही आत्मा का स्वभाव है। ●●

गाथा १२९-१३०

अब, पञ्चेन्द्रियों के भेद कहते हैं —

पंचक्खा विय तिविहा, जलथलआयासगामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा, मणेण जुत्ता अजुत्ता य॥
ते वि पुणो वि य दुविहा, गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा।
भोगभुवा गब्भभुवा, थलयर-णहगामिणो सण्णी॥

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय कहे, जल थल तथा नभचर अहो।
मनसहित या मनरहित, ये इन सभी के भेद हैं॥
गर्भज तथा सम्मूर्छन, ये भेद इन तिर्यञ्च के।
भोगभूमिज मनसहित, थलचर तथा नभचर कहे॥

अन्वयार्थ : [पंचक्खा तिरिया विय] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी **[जलथल-आयासुगामिणो]** जलचर, थलचर, नभचर के भेद से **[तिविहा]** तीन प्रकार के हैं, **[ते पत्तेयं दुविहा]** वे प्रत्येक (तीनों ही) दो-दो प्रकार के हैं — **[मणेण जुत्ता अजुत्ता य]** १. मनसहित (सैनी), और २. मनरहित (असैनी)।

[ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा] वे छह प्रकार के तिर्यञ्च, गर्भज और सम्मूर्च्छन के भेद से दो-दो प्रकार के हैं, **[भोगभुवा गब्भभुवा थलयरगहगामिणो सण्णी]** इनमें जो भोगभूमि के तिर्यञ्च हैं, व थलचर, नभचर ही हैं, जलचर नहीं हैं और सैनी ही हैं, असैनी नहीं हैं। ●●

नोट - उक्त गाथाओं पर गुरुदेवश्री के प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं। - सम्पादक

गाथा १३१

अब, अठ्याणवे जीवसमासों को तथा तिर्यञ्चों के पिच्यासी भेदों को कहते हैं —

अट्ठ वि गब्भज दुविहा, तिविहा सम्मुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया, सव्वेसिं होंति तिरियाणं॥

दो भेद अठविध गर्भजों के, तेईस सम्मूर्छन त्रिविध।
इस तरह सब तिर्यञ्च, पच-अस्सी प्रकार सुनानिये॥

अन्वयार्थ : [अट्ठ वि गब्भज दुविहा] गर्भज के आठ भेद, ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से सोलह हुए; **[तेवीसा सम्मुच्छिणो वि तिविहा]** सम्मूर्छन के तेईस भेद, ये पर्याप्त, अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त के भेद से उनहत्तर हुए; **[इदि सव्वेसिं तिरियाणं पणसीदी भेया होंति]**, इस प्रकार से सब तिर्यञ्चों के पिच्यासी भेद होते हैं।

भावार्थ : पहिले कर्मभूमि के गर्भज जीवों के जलचर, थलचर, नभचर — ये तीन भेद कहे हैं, वे सैनी-असैनी के भेद से छह हुए। इनमें भोगभूमि के सैनी थलचर और नभचर, इन दोनों को मिलाने से आठ हुए। ये आठों ही पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से सोलह हो गये। सम्मूर्च्छन के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद सूक्ष्म और नित्यनिगोद बादर के भेद से बारह हुए। इनमें वनस्पति के दो भेद - सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित मिलाने से एकेन्द्रिय के चौदह भेद हुए। इनमें विकलत्रय के तीन भेद मिलाने से सत्रह हुए। पञ्चेन्द्रिय कर्मभूमि के जलचर, थलचर और नभचर ये सैनी-असैनी के भेद से छह हुए। सत्रह और छह मिलाने से तेईस हुए। ये पर्याप्त-अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त के भेद से उनहत्तर हुए। इस तरह सोलह और उनहत्तर मिलाने से कुल पिच्यासी भेद होते हैं।

गाथा १३१ पर प्रवचन

लोक में विद्यमान जीवों के कैसे-कैसे प्रकार हैं ? उसका यह वर्णन है।

देखो, जीव स्वयं ऐसे अनेक प्रकार के अवतारों में उत्पन्न हुआ है, फिर भी उसे इन सब का भान नहीं है।

अहो ! हम तो केवलज्ञान के कन्द हैं, सिद्ध की जाति के आत्मा हैं — ऐसा भान नहीं किया; समस्त पहलुओं से तत्त्व की आराधना नहीं की और आत्मस्वभाव की विराधना की, वे जीव ऐसे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

● पर्याप्त अर्थात् जिसे पर्याप्ति पूर्ण हो गयी है।

● निवृत्ति अपर्याप्त अर्थात् जिसे पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है किन्तु पूर्ण होनेवाली है।

● लब्धि अपर्याप्त अर्थात् पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व ही जिसका मरण हो जाता है।

●●

तब तू सच्चा दिगम्बर कहलाएगा

अहा! दिगम्बर सन्तों ने अद्‌भुत कार्य किया है, परन्तु लोगों को उसे जानने का भी अवकाश नहीं है। हम दिगम्बर हैं, इसलिए नग्न दिगम्बर मुनि तथा नग्न दिगम्बर जिनप्रतिमा को मानना चाहिए, इतना समझते हैं; परन्तु उससे क्या होगा? अन्तर में आत्मा विकल्प के आवरणरहित नग्न है, उसे माने तब तू दिगम्बर कहलाएगा। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/११३*

गाथा १३२-१३६

अब, मनुष्यों के भेद कहते हैं —

अज्जव मिलेच्छखंडे, भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु।
मणुआ हवंति दुविहा, णिव्वित्ति अपुण्णगा पुण्णा॥

मनुज होते आर्य और, म्लेच्छ खण्डों में सभी।
भोग और कुभोग भू, पर्याप्त निवृत्यपर्याप्त भी॥

अन्वयार्थ : [मणुआ] मनुष्य **[अज्जव मिलेच्छखंडे]** आर्यखण्ड में, म्लेच्छखण्ड में **[भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु]** भोगभूमि में तथा कुभोगभूमि में **[हवंति]** हैं, ये चारों ही **[पुण्णा]** पर्याप्त **[णिव्वित्ति अपुण्णगा]** और निवृत्ति अपर्याप्त के भेद से **[दुविहा]** दो-दो प्रकार के होकर, सब आठ भेद होते हैं।

सम्मुच्छणा मणुस्सा, अज्जवखंडेसु होंति णियमेण।
ते पुण लद्धि अपुण्णा, णारय देवा वि ते दुविहा॥

मनुज सम्मूर्छन नियम से, आर्य भू में ऊपजें।
वे लब्ध्यपर्याप्तक तथा, सुर नारकी द्वय विधि कहे॥

अन्वयार्थ : [सम्मुच्छणा मणुस्सा] सम्मूर्च्छन मनुष्य, **[अज्जवखंडेसु]** आर्यखण्ड में ही **[णियमेण]** नियम से **[होंति]** होते हैं, **[ते पुण लद्धि अपुण्णा]** वे लब्ध्यपर्याप्तक ही हैं। **[णारय देवा वि ते दुविहा]** नारकी तथा देव, पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त के भेद से चार प्रकार के हैं।

भावार्थ – इस तरह तिर्यञ्चों के पिच्यासी भेद, मनुष्यों के नौ और नारकी तथा देवों के चार, सब मिलाकर अठ्याणवें भेद हुए। बहुतों को समानता से एकत्रित करके कहने अर्थात् संग्रह करके संक्षेप से कहने को समास कहते हैं। यहाँ पर बहुत से जीवों को संक्षेप से कहने को जीवसमास जानना चाहिये।

इस प्रकार जीवसमास का वर्णन किया।

अब, पर्याप्ति का वर्णन करते हैं —

आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभास-मणसाणं।
परिणइ वावारेसु य, जाओ छच्चेव सत्तीओ॥

आहार तन इन्द्रिय तथा, स्वासोच्छवास रु वचन मन।
इन परिणमन की शक्ति ये, छह भेद हैं पर्याप्ति के॥

अन्वयार्थ : [आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभासमणसाणं] आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, **[परिणइ वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ]** इनकी परिणमन की प्रवृत्ति में सामर्थ्य, सो छह प्रकार की पर्याप्ति है।

भावार्थ : आत्मा के यथायोग्य कर्म का उदय होने पर आहारादिक ग्रहण की शक्ति का होना, सो शक्तिरूप पर्याप्ति है, वह छह प्रकार की है।

अब, शक्ति का कार्य कहते हैं —

तस्सेव कारणाणं, पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति।
सा पज्जत्ती भण्णदि, छब्भेया जिणवरिंदेहिं॥

उस शक्ति के कारण हुई, निष्पत्ति पुद्गल स्कन्ध की।
छह भेद युत पर्याप्ति यह, श्री जिनवरेन्द्रों ने कही॥

अन्वयार्थ : [तस्सेव कारणाणं] उस शक्ति प्रवृत्ति की पूर्णता को कारण जो **[पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति]** पुद्गल स्कन्धों की निष्पत्ति (पूर्णता होना), **[सा]** वह

[जिणवरिंदेहिं] जिनेन्द्र भगवान के द्वारा **[छब्भेया]** छह भेदवाली **[पज्जत्ती]** पर्याप्ति **[भणणदि]** कही गयी है।

अब, पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त के काल को कहते हैं —

पज्जत्तिं गिह्णंत्तो, मणुपज्जत्तिं ण जाव समणोदि।
ता णिव्वत्ति अपुण्णो, मणपुण्णो भण्णदे पुण्णो॥

पर्याप्ति को ग्रहता हुआ, जब तक न मन पर्याप्ति।
निर्वृत्यपर्याप्तक तभी, मनपूर्ण हो पर्याप्त है॥

अन्वयार्थ : [पज्जतिं गिह्णंत्तो] यह जीव पर्याप्ति को ग्रहण करता हुआ **[जाव]** जब तक **[मणुपज्जत्तिं]** मनपर्याप्ति को **[समणोदि ण]** पूर्ण नहीं करता है, **[ता णिव्वत्ति अपुण्णो]** तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है; **[मणपुण्णो पुण्णो भण्णदे]** जब मनपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, तब पर्याप्तक कहलाता है।

भावार्थ : यहाँ सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव की अपेक्षा मन में रखकर ऐसा कथन किया है। अन्य ग्रन्थों में जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक है, ऐसा कथन सब जीवों का कहा है। ●●

नोट – उक्त गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं। – सम्पादक

गाथा १३७

अब, लब्धपर्याप्तक का स्वरूप कहते हैं —

उस्सासट्ठारसमे, भागे जो मरदि ण य समाणेदि।

एका वि य पज्जत्ती, लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु॥

अठारहवें भाग में जो, श्वास के जन्मे मरे।

पर्याप्ति पूर्ण करे नहीं, वह लब्ध्यपर्याप्तक रहे॥

अन्वयार्थ : [जो उस्सासट्ठारसमे भागे मरदि] जो जीव, श्वास के अठारहवें भाग में मरता है, **[एका वि य पज्जत्ती ण य समाणेदि]** एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता है, **[सो दु लद्धिअपुण्णो हवे]** वह जीव लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है।

गाथा १३७ पर प्रवचन

लब्धि अपर्याप्त जीव एक श्वास में अट्ठारह बार जन्म-मरण करते हैं अर्थात् एक श्वास के अट्ठारहवें भाग में मरते हैं। यह जीव ऐसे भव, अनन्त बार कर चुका है। ज्ञानी, इस विचार से अपने ज्ञान की विशालता करता है और वीतरागता बढ़ाता है। ●●

गाथा १३८

अब, एकेन्द्रियादि जीवों के पर्याप्तियों की संख्या कहते हैं —

लद्धियपुण्णे पुण्णं, पज्जत्ती एयक्खवियलसण्णीणं।
चदु पण छक्कं कमसो, पज्जत्तीए वियाणेह॥

एकेन्द्रि विकलत्रय तथा, संज्ञी लहें चौ पाँच छह।
पर्याप्तियाँ, लब्धि, अपर्याप्तक न पर्याप्ति लहे॥

अन्वयार्थ : [एयक्खवियलसण्णीणं] एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा संज्ञीजीव के **[कमसो]** क्रम से **[चदु पण छक्कं]** चार, पाँच, छह **[पज्जत्तीए वियाणेह]** पर्याप्तियाँ जानो; **[लद्धियपुण्णे पुण्णं]** लब्ध्यपर्याप्तक अपर्याप्तक है, इसके पर्याप्तियाँ नहीं होती।

भावार्थ : एकेन्द्रियादि के क्रम से पर्याप्तियाँ कही हैं। यहाँ असैनी का नाम लिया नहीं, सो सैनी के छह, तो असैनी के पाँच जानना चाहिए। निर्वृत्यपर्याप्तक ग्रहण किये ही हैं, पूर्ण होंगे ही; इसलिए जो संख्या कही है, सो ही है। लब्ध्यपर्याप्तक यद्यपि ग्रहण किया है, तथापि पूर्ण हो सका नहीं; इसलिए उसको अपूर्ण ही कहा — ऐसा सूचित होता है। इस तरह पर्याप्ति का वर्णन किया। ●●

नोट – इस गाथा पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं। – सम्पादक

गाथा १३९

अब, प्राणों का वर्णन करते है। पहले प्राणों का स्वरूप और संख्या कहते हैं —

मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउ उदयाणं।

जेसिं जोए जम्मदि, मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा॥

जो मन वचन तन इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास रु आयु के।

संयोग में हो जन्म बिछुड़े, तो मरे दश प्राण ये॥

अन्वयार्थ : [मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउ उदयाणं] जो मन, वचन, काय, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु **[जेंसि जोए जम्मदि]** इनके संयोग से उत्पन्न हो जीवे और **[विओगम्मि मरदि]** वियोग से मरे, **[ते पाणा दह]** वे प्राण हैं और वे दश होते हैं।

भावार्थ : जीव का अर्थ प्राण धारण करना है। व्यवहारनय से दश प्राण होते हैं। उनमें यथायोग्य प्राणसहित जीवे, उसकी जीवसंज्ञा है।

गाथा १३९ पर प्रवचन

जो प्राण धारण करता है, वह जीव है। निश्चय से समस्त जीव, चैतन्यस्वरूप प्राण से जीते हैं। नियमसार में भी इसका बहुत वर्णन आया है। जीव, त्रिकाल शुद्ध चिदानन्दस्वभाव से जीता है; इसलिए सभी जीव कारणशुद्ध जीव हैं, वे ही कारणपरमात्मा हैं। जिन्हें केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रगट हो गया है, वे जीव कार्यशुद्ध जीव हैं, वे कार्यपरमात्मा हैं।

जीव, दश प्राणों से जीता है — यह कहना व्यवहार है। जीव, उसकी पर्याप्ति के भेद, उसके प्राणों के भेद — इन सबको सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता। निश्चय से समस्त जीव उपयोगस्वरूप हैं — ऐसा ज्ञान करके स्वयं अपने स्वभावसन्मुख होने की यह बात है। सभी जीवों को जाननेवाला अपना ज्ञानस्वभाव है। उस स्वभाव को जाने बिना अकेले भेदों को याद कर ले तो उससे कल्याण नहीं हो जाता। ●●

गाथा १४०-१४१

अब, एकेन्द्रियादि जीवों के प्राणों की संख्या कहते हैं —

एयक्खे चदुपाणा, बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं।
छह सत्त अट्ठ णवयं, दह पुण्णाणं कमे पाणा॥

एकेन्द्रि के चौ प्राण, दो त्रय चार अरु मनरहित जो।
मनसहित पर्याप्तक लहें, छह सात आठ नौ प्राण दस॥

अन्वयार्थ : [**एयक्खे चदुपाणा**] एकेन्द्रिय के चार प्राण हैं, [**बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं कमे छह सत्त अट्ठ णवयं दह पाणा**] दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पञ्चेन्द्रिय, सैनी पञ्चेन्द्रिय के, पर्याप्तों के अनुक्रम से छह, सात, आठ, नौ, दश प्राण हैं। ये प्राण पर्याप्त अवस्था में कहे गये हैं।

अब, इन ही जीवों के अपर्याप्त अवस्था में प्राण कहते हैं —

दुविहाणमपुण्णाणं, इगिवितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं।
तिय चउ पण छह सत्त य, कमेण पाणा मुणेयव्वा॥

द्वयविध अपर्याप्तक इकेन्द्रिय, विकलत्रय अरु असंज्ञी।
संज्ञी पचेन्द्रिय जीव के हैं, प्राण त्रय से सात तक॥

अन्वयार्थ : [**दुविहाणमपुण्णाणं इगिवितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं**] दो प्रकार के अपर्याप्त जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असैनी तथा सैनी पञ्चेन्द्रियों

के **[तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा]** तीन, चार, पाँच, छह, सात — ऐसे अनुक्रम से प्राण जानना चाहिए।

भावार्थ : निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रिय के तीन, द्वीन्द्रिय के चार, तेइन्द्रिय के पाँच, चतुरिन्द्रिय के छह, असैनी-सैनी पञ्चेन्द्रिय के सात प्राण जानना चाहिए। ●●

जगत में बलिहारी है

अहो! सन्तों के श्रीमुख से आत्मा के आनन्द की अथवा सम्यग्दर्शन की बात सुनने पर भी आत्मार्थी जीव को कैसा उल्लास आता है! सन्तों के हृदय में से प्रवाहित वह आनन्द का झरना कैसी भी प्रतिकूलता को भूला देता है और परिणति को सुख-सागर स्वभाव की ओर ले जाता है। यही मुमुक्षु का जीवन ध्येय है।

अहा! सम्यग्दर्शन कैसी परम शरणभूत वस्तु है कि किसी भी प्रसङ्ग में उसे स्मरण करने से जगत का सम्पूर्ण दुःख विस्मृत होकर आत्मा में आनन्द की स्फुरणा जागृत होती है। तब उस सम्यग्दर्शन के साक्षात् वेदन की क्या बात! वस्तुतः उन आनन्दमग्न समकिती सन्तों की जगत में बलिहारी है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ २

नोट - इस गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन अनुपलब्ध हैं। - सम्पादक

गाथा १४२

अब, विकलत्रय जीवों का स्थान कहते हैं —

वितिचउरक्खा जीवा, हवंति णियमेण कम्मभूमीसु।
चरमे दीवे अद्धे, चरमसमुद्दे वि सव्वेसु॥

विकलत्रय उत्पन्न होते, नियम से भू-कर्म में।
हों अन्त के द्वीपार्ध में, अन्तिम उदधि में भी रहें॥

अन्वयार्थ : [वितिचउरक्खा जीवा] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (विकलत्रय) जीव **[णियमेण कम्मभूमीसु हवंति]** नियम से कर्मभूमि में ही होते हैं **[चरमे दीवे अद्धे]** तथा अन्त के आधे द्वीप में **[चरमसमुद्दे वि सव्वेसु]** और अन्त के सम्पूर्ण समुद्र में होते हैं।

भावार्थ : पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह, ये कर्मभूमि के क्षेत्र हैं तथा अन्त के स्वयंप्रभ द्वीप के मध्य स्वयंप्रभ पर्वत है, उससे आगे आधा द्वीप तथा अन्त का स्वयंभूरमण पूरा समुद्र, इन स्थानों में विकलत्रय हैं और स्थानों में नहीं हैं।

गाथा १४२ पर प्रवचन

भगवान ने जहाँ जो जीव देखे और कहे हैं, वह ज्ञान का विषय है। धर्मी जीव, ज्ञान-स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक ऐसा स्वरूप विचार करते हैं।

जो भगवान आत्मा का भान करके केवलज्ञानदशा को प्राप्त हुए हैं, उनके ज्ञान में लोक-अलोक के समस्त पदार्थ ज्ञात हुए हैं और दिव्यध्वनि में उनका प्रतिपादन हुआ है। यहाँ उस लोक के स्वरूप का वर्णन है। इस लोक के स्वरूप का विचार वस्तुत: तो वही कर सकता

है, जिसे आत्मा के ज्ञान का सर्वज्ञपना प्रतीति में आया हो। आत्मा में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह विकार है; वह ज्ञानस्वभाव नहीं है। देहादि तो जड़ हैं, वे भी ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं और अपूर्ण ज्ञान है, उतना भी वास्तव में स्वभाव नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो सबको परिपूर्ण जाननेवाला है। इस प्रकार अपने परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करके अल्पज्ञता, विकार तथा जड़ को हेय जाननेवाला ही वस्तुत: सर्वज्ञ को जानता है और उसे ही सर्वज्ञ द्वारा कथित लोक के स्वरूप की यथार्थ अनुप्रेक्षा होती है।

कोई 'णमो अरहन्ताणं' बोलता है परन्तु अरहन्त का स्वरूप नहीं जानता तो उसे कुछ लाभ नहीं होता। जैसे, टेपरिकार्डर बोलता है, वैसे ही वह जीव समझे बिना बोलता है; उसमें कोई अन्तर नहीं है। जो सर्वज्ञ को पहचानता है, उसे अपने आत्मा की सर्वज्ञता की प्रतीति होती है और पुण्य-पाप तथा अल्पज्ञता की रुचि नहीं रहती। जिसने आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होने की सामर्थ्य मानी है, वह पुण्य-पाप से लाभ नहीं मानता। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में लाखों सर्वज्ञ भगवान विराजमान हैं। इस लोक में अनन्त सिद्धभगवन्त सर्वज्ञरूप से विराजमान हैं, उन्हें सर्वज्ञदशा कहाँ से प्रगट हुई? बाहर से नहीं किन्तु अन्तर शक्ति के अवलम्बन से ही वह केवलज्ञान और सर्वज्ञदशा प्रगट हुई है। उनकी वर्तमान पर्याय ने अन्तर्मुख स्वभाव का अवलम्बन लिया था; किसी निमित्त, पुण्य-पाप अथवा अल्पज्ञता के अवलम्बन से केवलज्ञान नहीं होता है।

अपने आत्मा में भी सर्वज्ञता की शक्ति विद्यमान है। यह आत्मा स्वयं शक्तिरूप से केवलज्ञान की मूर्ति है। इसकी प्रतीति के बिना नौ लाख अथवा इससे भी अधिक णमोकार मन्त्र का जाप जापने से भी धर्म नहीं होता। जिसने आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति की है, उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराजमान हुए हैं और वह समकिती जीव ही इन सर्वज्ञदेव द्वारा कथित लोक की भावना भाता है।

अहो! सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में लोकालोक को प्रत्यक्ष देखा है और मुझमें ऐसी सामर्थ्य है, उसके अवलम्बन से मैं केवलज्ञान प्रगट करूँगा और अपने ज्ञान में भी लोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्ष देखूँगा। सर्वज्ञ के अतिरिक्त लोक का ऐसा स्वरूप कोई प्रत्यक्ष नहीं जान सकता; इसलिए सर्वज्ञ की प्रतीति के बिना ऐसी लोकभावना नहीं हो सकती और अपने

ज्ञानस्वभाव में अन्तर्मुख दृष्टि हुए बिना सर्वज्ञ की यथार्थ प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की अन्तर्मुखदृष्टिपूर्वक की यह बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं। इनमें केवलज्ञान की महिमा आती है, उसकी प्रतीति करने से स्वभाव की रुचि होती है और पुण्य-पापरूप विकारीभावों की रुचि छूट जाती है। इस प्रकार लोक के वर्णन में भी ज्ञानस्वभाव की ही महिमा का घोलन होता है।

जिसने पैसे इत्यादि जड़ में लाभ माना है, उसने पैसा प्राप्त करने के पापभाव को लाभदायक माना है किन्तु पापरहित पवित्रस्वभाव को लाभदायक नहीं माना है। धर्मी तो जानता है कि मैं तो ज्ञायकमूर्ति हूँ, मुझे बाहर से तो लाभ नहीं है और बहिर्लक्ष्यी पुण्य-पाप से भी लाभ नहीं है। मेरे चिदानन्दस्वभाव में अन्तर्मुख झुकाव हो, उतना मुझे लाभ है और जितना बहिर्मुख झुकाव हो जाता है, उतनी हानि है। जिसकी ऐसी दृष्टि होती है, वह धर्मी जीव, पुण्य-पाप से लाभ नहीं मानता। जिसने पुण्य को धर्म माना है, उसने पुण्यरहित ज्ञानस्वभाव को लाभदायक नहीं माना है, उसके ज्ञान की भूल है; वह मिथ्याज्ञान से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

जगत् के जीवों को अनादि से जीव-अजीव इत्यादि सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल चली आ रही है। उन सात तत्त्वों की भूल तो जीव करता है; अजीव की भूल कोई अजीव में नहीं रहती परन्तु जीव स्वयं वह भूल करता है। मैं शरीर की क्रिया करता हूँ, मुझे शरीर की क्रिया से लाभ होता है, मुझे पुण्य-पाप के भाव से आनन्द आता है, सच्ची समझ में उलझन लगती है इत्यादि समस्त मान्यता सात तत्त्वों की भूल है और उस भूल से जीव, संसार में परिभ्रमण कर रहा है। चिदानन्दस्वभाव में ही आनन्द है, इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के विकारीभाव जीव को दुःखदायक हैं, स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता ही जीव को सुखदायक है — ऐसा जिसे भान है, उस जीव को पैसे की अथवा पुण्य-पाप के भाव की रुचि नहीं रहती। ऐसे ही जीव को यह लोक भावना यथार्थ होती है।

लोक छह द्रव्य स्वरूप है, यहाँ लोक में विद्यमान छह द्रव्यों में से जीव के भेदों का वर्णन चल रहा है। ●●

गाथा १४३-१४४

अब, अढाई द्वीप के बाहर तिर्यञ्च हैं, उनकी व्यवस्था हेमवतक्षेत्र के समान है — ऐसा कहते हैं; साथ ही जलचर जीवों के स्थान कहते हैं —

माणुसखित्तस्स बहिं, चरमे दीवस्स अद्धयं जाव।
सव्वत्थे वि तिरिच्छा, हिमवदतिरिएहिं सारिच्छा॥
लवणोए कालोए, अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति।
सेससमुद्देसु पुणो, ण जलयरा संति णियमेण॥

मानुषोत्तर से परे हों, द्वीप अन्तिम अर्ध तक।
तिर्यञ्च हों सर्वत्र हेमवत्, क्षेत्र के तिर्यञ्चवत्॥
जलचर रहें लवणोदधि, कालोदधि अरु अन्त में।
शेष सागर में नियम से, जीव जलचर हों नहीं॥

अन्वयार्थ : [माणुसखित्तस्स बहिं] मनुष्यक्षेत्र से बाहर मानुषोत्तरपर्वत से आगे **[चरमे दीवस्स अद्धयं जाव]** अन्त के स्वयंप्रभद्वीप के आधे भाग तक **[सव्वत्थे वि तिरिच्छा]** बीच के सब द्वीप समुद्रों के तिर्यञ्च **[हिमवदतिरिएहिं सारिच्छा]** हेमवत्-क्षेत्र के तिर्यञ्चों के समान हैं।

[लवणोए कालोए] लवणोदधि समुद्र में, कालोदधि समुद्र में, **[अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति]** अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव हैं **[सेससमुद्देसु पुणो]** और अवशेष बीच के समुद्रों में **[णियमेण जलयरा ण संति]** नियम से जलचर जीव नहीं हैं।

भावार्थ : हेमवत्क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि है। मानुषोत्तरपर्वत से आगे असंख्यात द्वीप समुद्र अर्थात् आधे स्वयंप्रभ नामक अन्तिम द्वीप तक सब स्थानों में जघन्य भोगभूमि की रचना है, वहाँ के तिर्यञ्चों की आयु, काय हेमवत्क्षेत्र के तिर्यञ्चों के समान है।

गाथा १४३-१४४ पर प्रवचन

यह लोक, छह द्रव्य स्वरूप है, लोक में पाये जानेवाले छह द्रव्यों में से यहाँ जीव के भेदों का वर्णन चल रहा है। उसमें यह कहते हैं कि तिर्यञ्च जीव कहाँ-कहाँ रहते हैं।

सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान की प्रतीतिसहित, सर्वज्ञ द्वारा देखे गये लोक के स्वरूप का धर्मी जीव विचार करते हैं। अहो! आत्मा के भान बिना अनादिकाल में जीव ऐसे-ऐसे अनेक स्थानों पर अवतार धारण कर चुका है। अब, ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति होने से धर्मी को भान हुआ कि अवतार और अवतार का भाव, मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ, मेरे स्वरूप में ऐसा संसार और संसार का भाव नहीं है। — ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव यह सब विचार करता है। ●●

सर्वगुणसम्पन्न मुनिदशा

अहा! सर्वार्थसिद्धि के देव सम्यक्त्वी और एकावतारी हैं। उन्हें जो शान्ति है, उसकी अपेक्षा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव को, उसकी अपेक्षा षष्टम् गुणस्थानवर्ती को और उसकी अपेक्षा सप्तम गुणस्थानवर्ती को उत्तरोत्तर अधिक शान्ति होती है। अहा! वे मुनिराज तो शान्ति के झूले में झूलते हैं। धन्य अवतार! धन्य वह मुनिदशा! उन्हें तो सर्वगुणसम्पन्न कहा जा सकता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७१

गाथा १४५

अब, देवों के स्थानों में पहिले भवनवासी व्यन्तरों के स्थान कहते हैं —

खरभायपंकभाए, भावणदेवाण होंति भवणाणि।

विंतरदेवाण तहा, दुह्लं पि य तिरिय-लोयम्मि॥

खर भाग में पंकभाग में हैं, भवनवासी के भवन।

कुछ भवनवासी और व्यन्तर, रहें तिर्यक् लोक में॥

अन्वयार्थ : [खरभायपंकभाए] खरभाग, पङ्कभाग में **[भावणदेवाण]** भवन-वासियों के **[भवणाणि]** भवन **[तहा]** तथा **[विंतरदेवाण]** व्यन्तरदेवों के निवास **[होंति]** हैं **[दुह्लं पि य तिरियलोयम्मि]** और इन दोनों के तिर्यग्लोक में भी निवास हैं।

भावार्थ : पहिली पृथ्वी रत्नप्रभा एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है, उसके तीन भाग हैं। उनमें खरभाग, सोलह हजार योजन का है, उसमें असुरकुमार बिना नौ कुमार भवनवासियों के भवन हैं तथा राक्षसकुल बिना सात कुल व्यन्तरों के निवास हैं। दूसरा पङ्कभाग, चौरासी हजार योजन का है, उसमें असुरकुमार, भवनवासी तथा राक्षसकुल व्यन्तर रहते हैं। तिर्यग्लोक (मध्यलोक) के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में भवनवासियों के भी भवन हैं और व्यन्तरों के भी निवास हैं।

गाथा १४५ पर प्रवचन

इस जीव ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना अनन्त भवों में परिभ्रमण किया है। सम्यग्दर्शन बिना इस परिभ्रमण का अन्त नहीं आ सकता। जो जीव, आत्मा के ज्ञानस्वभाव का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, वह जीव सिद्धों की बस्ती में मिल जाता है और आत्मा का भान नहीं करनेवाला जीव, संसार में परिभ्रमण करते हुए नरकादि गतियों में उत्पन्न होता है; इसलिए यह सब जानकर आत्मा के ज्ञानस्वभाव की भावना करने योग्य है। ●●

गाथा १४६

अब, ज्योतिषी, कल्पवासी तथा नारकियों के स्थान कहते हैं —

जोइसियाण विमाणा, रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि।
कप्पसुरा उड्ढह्मि य, अहलोए होंति णेरइया॥

एक राजू तक उपरि, ज्योतिषी तिर्यक् लोक में।
कल्पसुर हैं ऊर्ध्व में, अधो में नारकि रहें॥

अन्वयार्थ : [जोइसियाण विमाणा] ज्योतिषी देवों के विमान **[रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि]** एक राजू प्रमाण तिर्यग्लोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों के ऊपर हैं, **[कप्पसुरा उड्ढह्मि य]** कल्पवासी ऊर्ध्वलोक में हैं और **[णेरइया अहलोए होंति]** नारकी अधोलोक में हैं।

गाथा १४६ पर प्रवचन

इस विश्व में सात नरकों में से प्रत्येक नरक में जीव अनन्त बार उत्पन्न हुआ है, वहाँ पीड़ा का पार नहीं है। जो जीव चैतन्यस्वभाव का भान नहीं करता और विषयों में लीन रहता है, वह जीव नरकादि में अवतार धारण करता है।

अहो! मैं तो चैतन्यस्वभाव हूँ, राग में अथवा विषयों में मेरा सुख नहीं है; इस प्रकार धर्मी जीव को आत्मा के प्रति प्रेम होता है, आत्मा का प्रेम छूटकर उसे विषयों का प्रेम नहीं होता है। अहो मनुष्यपना दुर्लभ है, वह बारम्बार नहीं प्राप्त होता; इसलिए यह मनुष्यभव पाकर चैतन्यस्वभाव को पहचान! आत्मा तो ज्ञानस्वभाव है, वह लोक में सब कुछ जानता है, स्वर्ग को जानता है, नरक को जानता है परन्तु उन्हें अपना नहीं मानता। ऐसे ज्ञान की प्रतीतिपूर्वक धर्मी जीव, लोक के स्वरूप का विचार करता है। ●●

गाथा १४७-१४९

अब, जीवों की संख्या कहेंगे। पहिले तेजवातकाय के जीवों की संख्या कहते हैं —

वादरपज्जत्तिजुदा, घणआवलिया असंख-भागा दु।
किंचूणलोयमित्ता, तेऊ वाऊ जहाकमसो॥

पर्याप्ति युत बादर कहे, असंख्य भाग घनावलि।
कुछ लोक से कम तेज वायु, यथाक्रम से जानिये॥

अन्वयार्थ : [**तेऊ वाऊ**] अग्निकाय, वातकाय के [**वादरपज्जत्तिजुदा**] बादर पर्याप्तसहित जीव, [**घणआवलिया असंखभागा दु**] घनआवली के असंख्यातवें भाग [**किंचूणलोयमित्ता**] तथा कुछ कम लोक के प्रदेश प्रमाण [**जहाकमसो**] यथा अनुक्रम जानना चाहिए।

भावार्थ : अग्निकाय के जीव, घनआवली के असंख्यातवें भाग, वातकाय के कुछ कम लोकप्रदेशप्रमाण हैं।

अब, पृथ्वी आदि की संख्या कहते हैं —

पुढवीतोयसरीरा, पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा।
होंति असंखा सेढी, पुण्णापुण्णा य तह य तसा॥

भू जल तथा प्रत्येक जो हैं, प्रतिष्ठित अथवा इतर।
पर्याप्त अनपर्याप्त अरु त्रस, असंख्या श्रेणी जगत॥

अन्वयार्थ : [**पुढवीतोयसरीरा**] पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, [**पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा**] प्रत्येक वनस्पतिकायिक, सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित [**य तह य तसा**] तथा त्रस

— ये सब **[पुण्णापुण्णा]** पर्याप्त अपर्याप्त जीव हैं, **[असंखा सेढी होंति]** वे अलग -अलग असंख्यात जगत्श्रेणी प्रमाण हैं।

वादरलद्धि अपुण्णा, असंखलोया हवंति पत्तेया।
तह य अपुण्णा सुहुमा, पुण्णा वि य संखगुणगणिया॥

प्रत्येक बादर लब्ध्यपर्याप्तक, तथा सूक्षम कहे।
लोक प्रमाण असंख्य सूक्षम, पर्याप्त संख्याते गुणे॥

अन्वयार्थ : [पत्तेया] प्रत्येक वनस्पति तथा **[वादरलद्धि अपुण्णा]** बादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव, **[असंखलोया हवंति]** असंख्यात लोकप्रमाण हैं, **[तह य अपुण्णा सुहुमा]** इसी तरह सूक्ष्म अपर्याप्त असंख्यात लोक प्रमाण हैं **[पुण्णा वि य संखगुणगणिया]** और सूक्ष्मपर्याप्तक जीव, संख्यातगुणे हैं।

गाथा १४७-१४९ पर प्रवचन

देखो! ये सब जीव, आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है परन्तु ज्ञान किसी को मारे अथवा बचावे — यह बात नहीं है। ये समस्त जीव, जगत के स्वतन्त्र तत्त्व हैं; उनकी पर्याय उनसे पलटती है — यह जीव उसे जानता है परन्तु किसी की पर्याय में परिवर्तन नहीं कर सकता। परजीव को मारना अथवा बचाना अपने आधीन माननेवाला जीव, मिथ्यादृष्टि है। उसने इन सबको 'ज्ञेय' नहीं बनाया अर्थात् उसे अपने 'ज्ञानस्वभाव' की भी प्रतीति नहीं है; इसलिए उसे सच्ची लोकानुप्रेक्षा नहीं हो सकती। धर्मी को तो अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति है; इसलिए वह इन सबको अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता है।

जगत में पूर्णता को प्राप्त सिद्धभगवान अनन्त हैं और जगत के समस्त जीवों में अपर्याप्त की तुलना में पर्याप्त जीव, असंख्यातगुने हैं। देखो, अपूर्ण अपर्याप्तिवाले जीवों से पूर्ण पर्याप्तिवाले जीव बहुत हैं।

बादर जीव थोड़े हैं, सूक्ष्म जीव उनसे अनन्त हैं। बादर जीवों में पर्याप्त थोड़े और अपर्याप्त ज्यादा हैं। सूक्ष्म जीवों में अपर्याप्त थोड़े और पर्याप्त ज्यादा हैं अर्थात् एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव थोड़े हैं और पर्याप्त जीव जगत में अधिक हैं। देखो! यह जगत की स्थिति भी ज्ञान का ज्ञेय है।

●●

गाथा १५०-१५१

सिद्धा संति अणंता, सिद्धाहिंतो अणंतगुणगणिया।
होंति णिगोदा जीवा, भाग अणंता अभव्वा य॥
सम्मुच्छिमा हु मणुया, सेढियसंखिज्ज भागमित्ता हु।
गब्भजमणुया सव्वे, संखिज्जा होंति णियमेण॥

सिद्ध जीव अनन्त और निगोद नन्तगुणे कहे।
हैं सिद्ध के भाग अनन्त, अभव्य राशि जिन कहे॥

जगत श्रेणी के असंख्ये, भाग सम्मूर्छन मनुज।
गर्भज मनुज हैं सभी संख्याते, नियम से जानिए॥

अन्वयार्थ : [सिद्धा अणंता संति] सिद्धजीव अनन्त हैं, **[सिद्धाहिंतो अणंतगुणगणिया णिगोदा जीवा होंति]** सिद्धों से अनन्तगुणे निगोदिया जीव हैं **[भाग अणंता अभव्वा य]** और सिद्धों के अनन्तवें भाग अभव्य जीव हैं।

[सम्मुच्छिमा हु मणुया] सम्मूर्छन मनुष्य **[सेढियसंखिज्ज भागमित्ता हु]** जगतश्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं **[गब्भजमणुया सव्वे]** और सब गर्भज मनुष्य **[संखिज्जा होंति णियमेण]** नियम से संख्यात ही हैं।

गाथा १५०-१५१ पर प्रवचन

सिद्ध भगवान, लोक के अग्र भाग में विराजमान हैं। वहाँ कोई पत्थर के मकान इत्यादि नहीं हैं, वहाँ तो वे आत्मा के पूर्ण ज्ञान और आनन्द में लीन हैं। वही सुख है; इसके अतिरिक्त

बाहर के मोटर–बँगले इत्यादि में कुछ भी सुख नहीं है। जिसने आत्मा के सुख के लिए पर की आवश्यकता मानी है, उसने भगवान के अतीन्द्रियसुख की प्रतीति नहीं की है। ऐसे जीवों को मोक्षतत्त्व का भी पता नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द भगवान तो कहते हैं कि जो जीव, आत्मा के अतीन्द्रियसुख को नहीं मानते, वे जीव अभव्यवत् मिथ्यादृष्टि हैं और घोर संसार में परिभ्रमण करते हैं। जगत् में सिद्ध जीवों से अभव्य जीव अनन्तवें भाग हैं। सिद्ध से निगोद के जीव अनन्तगुने हैं परन्तु अभव्य जीव, सिद्धों के अनन्तवें भाग हैं।

देखो! सिद्ध, निगोद और अभव्य — ये सब आत्मा के ज्ञान के ज्ञेय हैं। जगत् में सिद्ध अनादि से हैं, अभव्य जीव अनादि से हैं। ये जीव अभव्य क्यों हैं? उसका कोई कारण नहीं है। कोई कहता है कि अरे रे! बेचारे अभव्य को कभी मोक्ष नहीं होगा! ऐसा क्यों? तो वह वस्तुस्वरूप को नहीं जानता। अभव्य के प्रति दया आवे, ऐसा जीव का स्वरूप ही नहीं है परन्तु अभव्य जीव हैं, वे भी ज्ञान का ज्ञेय हैं। जैसे जगत् में जड़ हैं, वह उनका स्वभाव है; उसी प्रकार अभव्य जीव हैं, वह भी उनका स्वभाव है; तेरे ज्ञान में उन्हें जानने का स्वभाव है। जैसे जड़ और चेतन अनादि से है; उसी प्रकार भव्य–अभव्य भी अनादि से जगत् में हैं, वे तेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं — ऐसा जानकर तू निजात्मा की प्रतीति करके अपनी मुक्ति कर ले।

मनुष्य, ढाई द्वीप में ही होते हैं। उनमें गर्भज मनुष्य संख्यात ही हैं अर्थात् दूसरे जीवों की तुलना में वे अत्यन्त अल्प हैं। ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना पाकर भी यह जीव, आत्मा की दरकार नहीं करते — यह महा–आश्चर्य है! ●●

मुनिराज का दर्शन : हमारा धन्य भाग्य

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर, जो अन्दर में आनन्दकन्द का झूला झूलते हैं और पञ्च महाव्रत के राग को जहर जानते हैं। अहो! जिनके दर्शन अहो भाग्य से होते हैं। जो आनन्द की क्रीड़ा करते हैं, वह धन्य दशा अलौकिक है। अरे! गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचे, उस दशा की क्या बात!

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १५७

गाथा १५२

अब, सान्तर निरन्तर को कहते हैं —

देवा वि णारया वि य, लद्धियपुण्णा हु संतरा होंति।
सम्मुच्छिया वि मणुया, सेसा सव्वे णिरंतरया॥

देव, नारक, लब्ध्यपर्याप्तक, मनुज सम्मूर्छन।
ये कहे सान्तर शेष सब, जानो निरन्तर भव्य तुम॥

अन्वयार्थ : [देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु] देव, नारकी, लब्ध्यपर्याप्तक **[सम्मुच्छिया वि मणुया]** और सम्मूर्च्छन मनुष्य, **[संतरा होंति]** ये तो सान्तर (अन्तर सहित) हैं, **[सेसा सव्वे णिरंतरया]** अवशेष सब जीव निरन्तर है।

भावार्थ : पर्याय से अन्य पर्याय पावे, फिर उसी पर्याय को पावे, जब तक बीच में अन्तर रहे, उसको सान्तर कहते हैं। यहाँ नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर कहा है। जो देव, नारकी, मनुष्य तथा लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति किसी काल में न होय, सो अन्तर कहलाता है और अन्तर न पड़े, सो निरन्तर कहलाता है। वह वैक्रियकमिश्रकाययोगी जो देव-नारकी, उनका तो बारह मुहूर्त का कहा है। कोई ही उत्पन्न न हो तो बारह मुहूर्त तक उत्पन्न नहीं होता है और सम्मूर्च्छन मनुष्य कोई ही न होय तो पल्य के असंख्यातवें भाग काल तक नहीं होता — ऐसा अन्य ग्रन्थों में कहा है। अवशेष सब जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

गाथा १५२ पर प्रवचन

देखो! यह केवलज्ञान की महिमा। जगत में प्रतिसमय जो हो रहा है, वह सब भगवान के ज्ञान में प्रत्यक्ष है। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा करके, उसमें अन्तर्मुख होना धर्म है। सबको जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके, उसमें एकाग्र होना, धर्मी जीव का कार्य है। अज्ञानी जीव पर का अभिमान करके राग-द्वेष में अटकता है; इसके अतिरिक्त पर में तो कोई जीव कुछ कर ही नहीं सकता है। ●●

गाथा १५३

अब, जीवों की संख्या कर अल्प-बहुत्व कहते हैं —

मणुयादो णेरइया, णेरइयादो असंखगुणगणिया।
सव्वे हवंति देवा, पत्तेयवणप्फदी तत्तो॥

मनुज से नारक तथा, सुर नारकी से गुण असंख्य।
वनस्पति प्रत्येक, देवों से असंख्य गुणे कहे॥

अन्वयार्थ : [मणुयादो णेरइया] मनुष्यों से नारकी **[असंखगुणगणिया हवंति]** असंख्यात गुणे हैं, **[णेरयादो सव्वे देवा]** नारकियों से सब देव असंख्यात गुणे हैं, **[तत्तो पत्तेयवणप्फदी]** देवों के प्रत्येकवनस्पति जीव असंख्यात गुणे हैं।

गाथा १५३ पर प्रवचन

देखो! नरक से स्वर्ग के जीव अधिक हैं। जीव ने नरक की तुलना में स्वर्ग के भव असंख्यातगुने अधिक किये हैं। आत्मा के भान बिना पाप और पुण्य करके नरक तथा स्वर्ग में जीव अनन्त बार हो आया है परन्तु पाप और पुण्य इन दोनों से पार अपने ज्ञातास्वभाव का भान पूर्व में कभी नहीं किया।

भाई! यह जीव पुण्य करके स्वर्ग में गया परन्तु उसमें आत्मा का हित नहीं हुआ। पुण्य-पापरहित ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने से ही आत्मा का हित होता है।

अहो! केवली भगवान ने यह सब प्रत्यक्ष देखा है और मैं भी अपने ज्ञानस्वभाव की भावना करके केवलज्ञान प्रगट करूँगा, तब मेरे ज्ञान में भी यह सब प्रत्यक्ष ज्ञात होगा। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक धर्मी जीव इस लोक के स्वरूप का विचार करता है।

●●

गाथा १५४-१७५

पंचक्खा चउरक्खा, लद्धियपुण्णा तहेव तेयक्खा।

वेयक्खा वि य कमसो, विसेससहिदा हु सव्व संखाए॥

पाँच इन्द्रिय चार त्रय दो, लब्ध्यपर्याप्तक कहे।

परस्पर कुछ अधिक बढ़ते, हुए क्रम से जानिए॥

अन्वयार्थ : [**पंचक्खा चउरक्खा**] पञ्चेन्द्रिय, चौइन्द्रिय [**तहेव तेयक्खा**] त्रीन्द्रिय [**वेयक्खा वि य**] द्वीन्द्रिय [**सव्व लद्धियपुण्णा**] ये सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव, [**संखाए विसेससहिदा**] संख्या में विशेषाधिक हैं। कुछ अधिक को विशेषाधिक कहते हैं, सो ये अनुक्रम से बढ़ते-बढ़ते हैं।

चउरक्खा पंचक्खा, वेयक्खा, तह य जाण तेयक्खा।

एदे पज्जत्तिजुदा, अहिया अहिया कमेणेव॥

पाँच इन्द्रिय चार इन्द्रिय, दो तथा त्रय इन्द्रिजिय।

पर्याप्ति युत जो हैं इन्हें, तुम जान लो क्रम से अधिक॥

अन्वयार्थ : [**चउरक्खा पंचक्खा**] चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय [**वेयक्खा तह य जाण तेयक्खा**] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय [**एदे पज्जत्तिजुदा**] ये पर्याप्तिसहित जीव, [**कमेणेव**] अनुक्रम से [**अहिया अहिया**] अधिक-अधिक जानो।

परिवज्जिय सुहुमाणं, सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं।

इक्को भागो होदि हु, संखतीदा अपुण्णाणं॥

सूक्ष्म के अतिरिक्त जो, तिर्यञ्च पर्याप्तक कहे।
इक भाग तो पर्याप्त है, गुण असंख्ये पर्याप्ति बिन॥

अन्वयार्थ : [सुहुमाणं परिवज्जिय] सूक्ष्म जीवों को छोड़कर **[सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं]** अवशेष पर्याप्तितिर्यञ्च हैं, **[इक्को भागो होदि हु]** उनका एक भाग तो पर्याप्त है **[संखतीदा अपुण्णाणं]** और बहुभाग असंख्याते अपर्याप्त हैं।

भावार्थ : बादर जीवों में पर्याप्त थोड़े हैं; अपर्याप्त बहुत हैं।

सुहुमापज्जत्ताणं, इक्को भागो हवेइ णियमेण।
संखिज्जा खलु भागा, तेसिं पज्जत्तिदेहाणं॥

सूक्ष्म पर्याप्तक कहे, संख्यात भाग जिनेन्द्र ने।
उनमें अपर्याप्तक कहे, इक भाग जानो नियम से॥

अन्वयार्थ : [सुहुमापज्जत्ताणं] सूक्ष्म पर्याप्तक जीव **[संखिज्जा खलु भागा]** संख्यात भाग हैं **[तेसिं पज्जत्तिदेहाणं]** उनमें अपर्याप्तक जीव **[णियमेण]** नियम से **[इक्को भागो हवेइ]** एक भाग हैं।

भावार्थ : सूक्ष्म जीवों में पर्याप्त बहुत हैं; अपर्याप्त थोड़े हैं।

संखिज्जगुणा देवा, अंतिमपटलादु आणदं जाव।
तत्तो एसंखगुणिदा, सोहम्मं जाव पडि-पडलं॥

हैं देव अन्तिम पटल से, आनत पटल संख्या गुणे।
वहाँ से सौधर्म तक सुर, असंख्यात गुणे कहे॥

अन्वयार्थ : [देवा अंतिमपटलादु आणदं जाव] देव, अन्तिम पटल (अनुत्तर विमान) से लेकर नीचे आनत स्वर्ग के पटल पर्यन्त **[संखिज्जगुणा]** संख्यातगुणे हैं, **[तत्तो]** उसके बाद नीचे **[सोहम्मं जाव]** सौधर्म पर्यन्त **[असंखगुणिदा]** असंख्यातगुणे **[पडिपडलं]** पटलपटल प्रति हैं।

सत्तमणारयहिंतो, असंखगुणिदा हवंति णेरइया।
जावय पढमं णरयं, बहुदुक्खा होंति हेट्ठिट्ठा॥

सप्तम नरक से प्रथम तक, असंख्यात गुण नारकि कहे।
पहिले नरक से सातवें तक, जीव अति अति दुःख लहे॥

अन्वयार्थ : [सत्तमणारयहिंतो] सातवें नरक से लेकर ऊपर **[जावय पढमं णरयं]** पहले नरक तक जीव, **[असंखगुणिदा हवंति]** असंख्यात-असंख्यात गुणे हैं, **[णेरइया]** पहले नरक से लेकर **[हेट्ठिट्ठा]** नीचे-नीचे **[बहुदुक्खा होंति]** बहुत दुःख हैं।

कप्पसुरा भावणया, विंतरदेवा तहेव जोइसिया।
बे होंति असंखगुणा, संखगुणा होंति जोइसिया॥

कल्पवासी से भवन-व्यन्तर, असंख्य गुणे कहे।
व्यन्तरों से ज्योतिषी सुर, गुणे संख्याते कहे॥

अन्वयार्थ : [कप्पसुरा भावणया विंतरदेवा] कल्पवासी देवों से भवनवासी देव, व्यन्तर देव **[बे असंखगुणा होंति]** ये दो राशि तो असंख्यातगुणे हैं **[जोइसिया संखगुणा होंति]** और ज्योतिषी देव व्यन्तरों से संख्यातगुणे हैं।

अब, ऐकन्द्रियादिक जीवों की आयु कहते हैं —

पत्तेयाणं आऊ, वाससहस्साणि दह हवे परमं।
अन्तोमुहुत्तमाऊ, साहारणसव्वसुहुमाणं॥

प्रत्येक की उत्कृष्ट आयु, दस हजार वरस कही।
अन्तर्मुहूरत कही साधारण, तथा सब सूक्ष्म की॥

अन्वयार्थ : [पत्तेयाणं] प्रत्येक वनस्पति की **[परमं]** उत्कृष्ट **[आऊ]** आयु **[दह]** दश **[वाससहस्साणि]** हजार वर्ष की **[हवे]** है। **[साहारणसव्वसुहुमाणं]**

साधारण नित्य, इतरनिगोद, सूक्ष्म-वादर तथा सब ही सूक्ष्म पृथ्वी, अप्, तेज, वातकायिक जीवों की उत्कृष्ट **[आऊ]** आयु **[अंतोमुहूत्तं]** अन्तर्मुहूर्त की है।

अब, बादर जीवों की आयु कहते हैं —

बावीस सत्तसहसा, पुढवीतोयाण आउसं होदि।
अग्गीणं तिण्णि दिणा, तिण्णि सहस्साणि वाऊणं॥

भू काय की बाइस सहस, जल काय सात सहस कही।
अग्नि की है तीन दिन अरु, वायु की त्रय सहस वर्ष॥

अन्वयार्थ : [पुढवीतोयाण आउसं] पृथ्वीकायिक और अप्कायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु क्रम से **[बावीस सत्तसहसा]** बाईस हजार वर्ष और सात हजार वर्ष की **[होदि]** है, **[अग्गीणं तिण्णि दिणा]** अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन की है और **[तिण्णि सहस्साणि वाऊणं]** वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष की है।

अब, द्वीन्द्रिय आदि की उत्कृष्ट आयु कहते हैं —

वारसवास वियक्खे एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे।
चउरक्खे छम्मासा, पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि॥

दो इन्द्रि की बारह वरस, त्रय इन्द्रि की उनचास दिन।
चतुरिन्द्रि की छह मास है पञ्चेन्द्रि की त्रय पल्य है॥

अन्वयार्थ : [वारसवास वियक्खे] द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष की है, **[एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे]** त्रीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु उनचास (४९) दिन की है, **[चउरक्खे छम्मासा]** चतुरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु छह मास की है, **[पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि]** पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु भोगभूमि की अपेक्षा तीन पल्य की है।

अब, सब ही तिर्यञ्च और मनुष्यों की जघन्य आयु कहते हैं —

सव्वजहण्णं आऊ, लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं।
मज्झिमहीणमुहुत्तं, पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं॥

लब्ध्यपर्याप्तक सभी की, जघन आयु जिन कहें।
पर्याप्त की भी जघन आयु, मध्य हीन मूहूर्त है॥

अन्वयार्थ : [लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवों की **[सव्वजहण्णं आऊ]** जघन्य आयु **[मज्झिमहीणमुहुत्तं]** मध्यमहीनमुहूर्त है (यह क्षुद्रभवमात्र जानना चाहिए, एक उस्वास के अठारहवें भागमात्र है) **[पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं]** लब्ध्यपर्याप्तक (कर्मभूमि तिर्यञ्च, मनुष्य सब ही पर्याप्त) जीवों की जघन्य आयु भी मध्यमहीनमुहूर्त है (यह पहिले से बड़ा मध्यअन्तर्मुहूर्त है)।

अब, देव, नारकियों की आयु कहते हैं —

देवाण णारयाणं, सायरसंखा हवंति तेत्तीसा।
उक्किट्ठं च जहण्णं, वासाणं दस सहस्साणि॥

तेतीस सागर परम आयु, देव नारक की कही।
जिनदेव आयु जघन्य इनकी, दस हजार वरष कही॥

अन्वयार्थ : [देवाण णारयाणं] देवों की तथा नारकी जीवों की **[उक्किट्ठं]** उत्कृष्ट आयु **[तेत्तीसा]** तेतीस **[सायरसंखा हवंति]** सागर की है **[जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि]** और जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

भावार्थ : यह सामान्य देवों की अपेक्षा कथन है, विशेष त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

अब, एकेन्द्रिय आदि जीवों की शरीर की उत्कृष्ट व जघन्य अवगाहना, दश गाथाओं में कहते हैं —

अंगुलअसंखभागो, एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं।
जोयणसहस्समहियं, पउमं उक्करस्सयं जाण॥

भाग अंगुल असंख्याता, वायु भू अरु तेज जल।
सहस योजन कुछ अधिक, उत्कृष्ट अवगाहन कमल॥

अन्वयार्थ : [एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं] एकेन्द्रिय चतुष्क (पृथ्वी, अप, तेज, वायुकाय के) जीवों की अवगाहना **[उक्कसयं]** जघन्य तथा उत्कृष्ट **[अंगुलअसंखभागो]** घन अङ्गुल के असंख्यातवें भाग **[जाण]** जानो। **[जोयणसहस्समहियं पउमं]** प्रत्येक वनस्पति काय में उत्कृष्ट अवगाहनायुक्त कमल है, उसकी अवगाहना कुछ अधिक हजार योजन है।

यहाँ सूक्ष्म तथा बादर पर्याप्तक अपर्याप्तक का शरीर छोटा-बड़ा है तो भी घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग ही सामान्यरूप से कहा है। विशेष गोम्मटसार से जानना चाहिए और अङ्गुल उत्सेधअङ्गुल आठ यव प्रमाण लेना; प्रमाणाङ्गुल न लेना।

बायसजोयण संखो, कोसतियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा।
भमरो जोयणमेगं, सहस्स सम्मुच्छिमो मच्छो॥

शंख योजन द्वादशा, त्रय कोस का है गोभिका।
है भ्रमर इक योजन कहा, अरु सहस योजन मच्छ है॥

अन्वयार्थ : [बायसजोयण संखो] द्वीन्द्रियों में शंख बड़ा है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन लम्बी हैं, **[कोसतियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा]** त्रीन्द्रियों में गोभिका (कानखजूरा) बड़ा है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस लम्बी है, **[भमरो जोयणमेगं]** चतुरिन्द्रियों में बड़ा भ्रमर है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन लम्बी है, **[सहस्स सम्मुच्छिमो मच्छो]** पञ्चेन्द्रियों में बड़ा मच्छ है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन लम्बी है (ये जीव अन्त के स्वयंभूरमण द्वीप तथा समुद्र में जानना चाहिए)।

अब, नारकियों की उत्कृष्ट अवगाहना कहते हैं —

पंचसयाधणुछेहा, सत्तमणरए हवंति णारइया।
तत्तो उस्सेहेण य, अद्धद्धा होंति उवरुवरि॥

सप्तम नरक में नारकी, अवगाहना पच शत धनुष।
छह पाँच चौ त्रय दो प्रथम में, अर्ध अर्ध प्रमानिये॥

अन्वयार्थ : [सत्तमणरए] सातवें नरक में **[णारइया]** नारकी जीवों का शरीर **[पंचसयाधणुछेहा]** पाँच सौ धनुष ऊँचा **[हवंति]** है, **[तत्तो उस्सेहेण य उवरुवरि अद्धद्धा होंति]** उसके ऊपर शरीर की ऊँचाई आधी आधी है (छट्ठे में दो सौ पचास धनुष, पाँचवें में एक सौ पच्चीस धनुष, चौथे में साढ़े बासठ धनुष, तीसरे में सवा इकतीस धनुष, दूसरे में पन्द्रह धनुष दस आना, पहिले में सात धनुष तेरह आना; इस तरह जानना चाहिए। इनमें गुणचास पटल है, उनमें भिन्न-भिन्न विशेष अवगाहना त्रिलोकसार से जानना चाहिए)।

अब, देवों की अवगाहना कहते हैं —

असुराणं पणवीसं, सेसं णवभावणय दहदंडं।
विंतरदेवाण तहा, जोइसिया सत्तधणुदेहा॥

पच्चिस धनुष है असुर की, नौ भवनवासी दस धनुष।
दस व्यन्तरों की कही, एवं सात ज्योतिषी देव की॥

अन्वयार्थ : [असुराणं पणवीसं] भवनवासियों में असुरकुमारों के शरीर की ऊँचाई पच्चीस धनुष, **[सेसं णवभवणय दहदंडं]** बाकी नौ भवनवासियों की दश धनुष, **[विंतरदेवाण तहा]** व्यन्तरों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष, **[जोइसिया सत्तधणुदेहा]** और ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष है।

अब, स्वर्ग के देवों की कहते हैं —

दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं।
सत्तछहपंचहत्था, चउरो अद्धद्ध हीणा य॥
हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्झे तह विमाणचउदसए।
अद्धजुदा वे हत्था, हीणं अद्धद्धयं उवरिं॥

दो, युगल फिर चार, चार, युगल, दो सुरकलप में।
सात, छह अरु पाँच, सौ त्रय अर्ध, त्रय तन हाथ है॥
ग्रैवेक मध्य अधो उपरि दश चारु सर्व विमान में।
अर्ध हाथ घटायें क्रम से, देह की ऊँचाई है॥

अन्वयार्थ : [दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं] दो (सौधर्म, ईशान), दो (सानतकुमार, माहेन्द्र), चार (ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ), चार (शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार) दो (आनत, प्राणत), दो (आरण, अच्युत) युगलों के देवों का शरीर क्रम से **[सत्तछहपंचहत्था, चउरो अद्धद्ध हीणा यं]** सात हाथ, छह हाथ, पाँच हाथ, चार हाथ, साढ़े तीन हाथ, तीन हाथ ऊँचा है **[हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्झे तह विमाणचउदसए]** अधोग्रैवेयक में, मध्यमग्रैवेयक में, ऊपर के ग्रैवेयक में, नव (९), अनुदिश तथा पाँच अनुत्तरों में क्रम से **[अद्धजुदा वे हत्था, हीणं अद्धद्धयं उवरिं]** आधा-आधा हाथ हीन अर्थात् ढाई हाथ, दो हाथ, डेढ़ हाथ और एक हाथ देवों के शरीर की ऊँचाई है।

अब, भरत-ऐरावतक्षेत्र में काल की अपेक्षा से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई कहते हैं —

अवसप्पिणिए पढमे, काले मणुया तिकोसउच्छेहा।
छट्ठस्स वि अवसाणे, हत्थपमाणा विवत्था य॥

अवसर्पिणी के काल पहिले, में मनुज त्रय कोस के।
अरु छठे कालान्त में नर, हस्त इक निर्वस्त्र हों॥

अन्वयार्थ : [अवसप्पिणिए पढमे काले मणुया तिकोसउच्छेहा] अवसर्पिणी के प्रथम काल की आदि में मनुष्यों का शरीर, तीन कोस ऊँचा होता है, **[छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थपमाणा विवत्था य]** छठे काल के अन्त में मनुष्यों का शरीर एक हाथ ऊँचा होता है और छठे काल के जीव वस्त्रादि रहित होते हैं।

अब, एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य शरीर कहते हैं —

सव्वजहण्णो देहो, लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं।
अंगुलअसंखभागो, अणेयभेओ हवे सो वि॥

लब्ध्यपर्याप्तक सभी की, जघन तन अवगाहना।
घनांगुल के असंख्याता, भाग भेद अनेक है॥

अन्वयार्थ : [लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवों का **[देहो]** शरीर **[अंगुलअसंखभागो]** घनअङ्गुल के असंख्यातवें भाग है, **[सव्वजहण्णो]** यह सब जघन्य हैं **[अणेयभेओ हवे सो वि]** इसमें भी अनेक भेद हैं।

भावार्थ : एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य शरीर भी छोटा-बड़ा है, सो घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग में भी अनेक भेद हैं। इन अवगाहना के चौसठ भेदों का वर्णन गोम्मटसार में है, वहाँ से जानना चाहिए।

अब, द्वीन्द्रिय आदि की जघन्य अवगाहना कहते हैं —

वि ति चउपंचक्खाणं, जहण्णदेहो हवेइ पुण्णाणं।
अंगुलअसंखभागो, संखगुणो सो वि उवरुवरिं॥

पर्याप्त दो त्रय चार, पञ्चेन्द्रिय जघन अवगाहना।
असंख्याता भाग अंगुल, संख्यात गुण इससे उपरि॥

अन्वयार्थ : [वि ति चउपंचक्खाणं] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय **[पुण्णाणं]** पर्याप्त जीवों का **[जहण्णदेहो]** जघन्य शरीर **[अंगुलअसंखभागो]** घन

अङ्गुल के असंख्यातवें भाग है, **[सो वि उवरुवरिं]** वह भी ऊपर-ऊपर **[संखगुणो]** संख्यातगुणा है।

भावार्थ : द्वीन्द्रिय के शरीर से संख्यातगुणा त्रीन्द्रिय का शरीर है; त्रीन्द्रिय से संख्यातगुणा चतुरिन्द्रिय का शरीर है; उससे संख्यातगुणा पञ्चेन्द्रिय का शरीर है।

अब, जघन्य अवगाहना के धारक द्वीन्द्रिय आदि जीव कौन-कौन हैं, सो कहते हैं —

आणुधरीयं कुन्थो, मच्छीकाणा य सालिसित्थो य।
पज्जत्ताण तसाणं, जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो॥

अणुद्धरी अरु कुन्थु मक्षिककान सिक्कथशालि की।
पर्याप्त त्रस की जिन कहें, यह है जघन अवगाहना॥

अन्वयार्थ : [आणुधरीयं कुन्थं] द्वीन्द्रियों में अणुद्धरी जीव, त्रीन्द्रियों में कुन्थु जीव, **[मच्छीकाणा य सालिसित्थो य]** चतुरिन्द्रियों में काणमक्षिका, पञ्चेन्द्रियों में शालिसिक्थक नामक मच्छ, इन **[तसाणं]** त्रस **[पज्जत्ताण]** पर्याप्त जीवों के **[जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो]** जघन्य शरीर कहा गया है।

गाथा १५४ से १७५ तक सारभूत प्रवचन

सर्वज्ञदेव ने लोक का अस्तित्व अनादि-अनन्त देखा है। धर्मी जीव, ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक लोक के ऐसे स्वरूप का विचार करता है। किन जीवों की कितनी संख्या है, कितनी आयु है तथा कितनी अवगाहना है? यह सब सर्वज्ञदेव की आज्ञा के अनुसार समझना चाहिए। ●●

गाथा १७६

अब, जीव के लोकप्रमाण और देहप्रमाणपना कहते हैं —

लोयपमाणो जीवो, देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते।
ओगाहणसत्तोदो, संहरणविसप्पधम्मादो॥

संकोच अरु विस्तार एवं, शक्ति है अवगाहना।
जीव लोक प्रमाण है अरु, तन प्रमाण अवगाहना॥

अन्वयार्थ : [जीवो] जीव **[संहरणविसप्पधम्मादो]** सङ्कोच, विस्तार, धर्म तथा **[ओगाहणसत्तीदो]** अवगाहना की शक्ति होने से **[लोयपमाणो]** लोकप्रमाण है **[देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते]** और देहप्रमाण भी है।

भावार्थ : लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं; इसलिए जीव के भी इतने ही प्रदेश हैं। केवल समुद्घात करता है, उस समय लोकपूरण होता है। जीव में सङ्कोच-विस्तारशक्ति है; इसलिए जैसा शरीर पाता है, उसी के प्रमाण रहता है और समुद्घात करता है, तब शरीर के बाहर भी प्रदेश निकलते हैं।

गाथा १७६ पर प्रवचन

प्रत्येक जीव में असंख्य प्रदेश हैं, उनका आकार देह के आकार प्रमाण है और किसी समय प्रदेशों का विस्तार होने पर लोकप्रमाण भी होता है, ऐसी उसकी सङ्कोच विस्तार होने की योग्यता है; आत्मा सर्वथा लोकव्यापक नहीं है। आत्मा का विचार, आनन्द और वेदन अपने स्व प्रदेश में ही होता है। अपना क्षेत्र, देहप्रमाण है। एक जीव को बिच्छु डङ्क मारे और दु:ख का वेदन हो, वहाँ दूसरा जीव उसके शरीर को स्पर्श करे तो उसे वैसे दु:ख का वेदन नहीं होता

है क्योंकि दोनों जीव भिन्न हैं। यह जीव अपने देहप्रमाण है, अपने ज्ञान-आनन्दस्वरूप के भानपूर्वक धर्मी जीव ऐसी यथार्थ विचारना/चिन्तन करता है। आत्मा के भान बिना ऐसे विचार करे तो वह भी वस्तुत: भावना नहीं है किन्तु शुभराग है तो फिर जो ऐसे विपरीत विचार करते हैं कि समस्त मिलकर एक आत्मा है अथवा आत्मा सर्वथा सर्वव्यापक है — ऐसे जीव तो तीव्र मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

जीव को स्वभाव से विपरीत माननेवाले को धर्म किसी भी प्रकार नहीं हो सकता; इसलिए जीव का यथार्थ स्वरूप जानने के पश्चात् उसकी भावना यथार्थ होती है, जाने बिना भावना किसकी ?

लोक के बाहर चारों ओर आकाश है, उसके तो अनन्तानन्त प्रदेश हैं परन्तु इस लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं। जितने लोक के प्रदेश हैं, उतने ही प्रत्येक जीव के प्रदेश हैं और ऐसे अनन्त जीव भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा के प्रदेश, संख्या से तो सदा लोकप्रमाण असंख्यात ही हैं; उनमें कम-ज्यादा नहीं होते परन्तु उनके आकार में सङ्कोच-विस्तार होने की जीव की शक्ति है। जीव का आकार देहप्रमाण है और केवलीभगवान को समुद्घात के समय उनके प्रदेश बाहर फैलकर लोकप्रमाण आकार होता है। केवलीभगवान के अतिरिक्त अन्य जीवों को भी दूसरे प्रकार के समुद्घात होते हैं, तब उनके प्रदेश भी विस्तार प्राप्त कर देह से बाहर फैल जाते हैं; इसलिए आत्मा सर्वथा देहप्रमाण नहीं है तथा सर्वथा लोकप्रमाण भी नहीं है।

देखो! कर्म के कारण आत्मा का आकार (देहप्रमाण) नहीं है परन्तु आत्मा में ही सङ्कोच-विस्तार की योग्यता है; इसी कारण देहप्रमाण आत्मा का आकार है। ●●

गाथा १७७

अब, कोई अन्यमती, जीव को सर्वथा सर्वगत ही कहते हैं, उनका निषेध करते हैं —

सव्वगओ जदि जीवो, सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती।
जाइज्ज ण सा दिट्ठी, णियतणुमाणो तदो जीवो॥

यदि जीव होवें सर्वगत, सब क्षेत्रगत सुख दुःख लहें।
प्रत्यक्ष यह दिखता नहीं, इसलिए देह प्रमाण है॥

अन्वयार्थ : [**जदि जीवो सव्वगओ**] यदि जीव सर्वगत ही होवे तो [**सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती**] सब क्षेत्र सम्बन्धी सुख-दुःख की प्राप्ति इसको [**जाइज्ज**] होवे [**सा ण दिट्ठी**] परन्तु ऐसा तो दिखाई देता नहीं है; [**तदो जीवो**] इसलिए जीव [**णियतणुमाणो**] अपने शरीरप्रमाण ही है।

गाथा १७७ पर प्रवचन

यदि आत्मा, सर्वथा सर्वगत ही हो तो जगत् के समस्त क्षेत्रों के सुख-दुःख का उसे अनुभव होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता। दूसरों के शरीर को बिच्छु डङ्क मारे तो यहाँ अपने को दुःख नहीं होता परन्तु इस शरीर को बिच्छु के काटने पर शरीर में अपनेपने के कारण दुःख लगता है; इसलिए आत्मा स्वदेहप्रमाण ही है।

यह आत्मा, पर के देह में व्यापक नहीं है। प्रत्येक जीव की पर से पृथक्ता है। शरीर को बिच्छु ने काटा, उसके कारण दुःख हुआ — ऐसा नहीं समझना चाहिए। वास्तव में दुःख तो स्वयं के कारण होता है और उस दुःख का क्षेत्र अपने शरीरप्रमाण है। तात्पर्य यह है कि जीव का आकार देहप्रमाण है। देह को बिच्छु द्वारा काटने पर, उस देह में रहनेवाला

जीव, ममता करता है; इसलिए उसे दु:ख होता है परन्तु दूसरे जीव को वह दु:ख नहीं होता। प्रत्येक तत्त्व पृथक्–पृथक् है — ऐसा जिसे भान नहीं है, उसे तो सत्य वस्तु का भान भी नहीं है।

अनेक मूढ़ जीव ऐसा मानते हैं कि सबका अन्तिम ध्येय तो एक ही है परन्तु यह बात मिथ्या है। सभी मिलकर एक ही आत्मा हैं, ऐसी मान्यता तो महादु:खी होने का रास्ता है। जिसे अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता का भान नहीं है, उस जीव को धर्म नहीं हो सकता। ●●

धीर... गुण–गम्भीर मुनिराज

सन्त मुनिराज धीर और गुण-गम्भीर हैं। चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य बल को क्षण में पराजित कर दें, ऐसे ऋद्धि का बल प्रगटा होने पर भी चैतन्य के परमानन्द के अनुभव की धुन में स्थित सन्तों को, उस ऋद्धि के प्रयोग के प्रति लक्ष्य ही नहीं जाता; घोर प्रतिकूलता आ पड़ने पर भी वे ऋद्धि का उपयोग नहीं करते। अहो! मुनिराज ऐसे धीर और गम्भीर हैं।

साधारण प्राणी तो किञ्चित् ऋद्धि प्राप्त होने पर भी उसे झेल नहीं सकता और किञ्चित् प्रतिकूलता आ पड़ने पर ही धैर्य से च्युत हो जाता है, परन्तु चैतन्य के साधक सन्त तो महाधीर और गम्भीर होते हैं। बाह्य में कैसी भी ऋद्धि प्रगट हो परन्तु मेरी चैतन्य ऋद्धि के समक्ष उसकी क्या महिमा? और बाहर में कैसी भी प्रतिकूलता का ढेर आवे परन्तु मेरे चैतन्य में उसका प्रवेश नहीं है। मेरी साधना में, प्रतिकूलता उत्पन्न करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है; इस प्रकार जानते हुए धर्मात्मा, चैतन्य के अवलम्बन से घोर उपसर्ग को भी जीत लेते हैं। इस प्रकार वे धीर और गुण-गम्भीर हैं।

ऐसे गुण-गम्भीर सन्तों को भक्ति क्रिया में कुशल ऐसे हम, भव-दुःख के अभाव के लिए पूजते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ ४१*

गाथा १७८

जीवो णाणसहावो, जह अग्गी उह्णओ सहावेण।
अत्थंतरभूदेण हि, णाणेण ण सो हवे णाणी॥

ज्यों अग्नि ऊष्ण स्वभाव है, त्यों जीव ज्ञान स्वभाव है।
इसलिए ज्ञानी और ज्ञान को, भिन्न वस्तु जानिये॥

अन्वयार्थ : [**जह अग्गी**] जैसे, अग्नि [**सहावेण**] स्वभाव से [**उह्णओ**] उष्ण है [**जीवो णाणसहावो**] वैसे ही जीव, ज्ञानस्वभाव है [**अत्थंतरभूदेण हि**] इसलिए अर्थान्तरभूत (अपने से प्रदेशरूप पृथक्) [**णाणेण ण सो हवे णाणी**] ज्ञान से ज्ञानी नहीं है।

भावार्थ : नैयायिक आदि जीव और ज्ञान को प्रदेशभेद मानकर कहते हैं कि आत्मा से ज्ञान भिन्न है परन्तु समवाय तथा संसर्ग से एक हो गया है; इसलिए ज्ञानी कहलाता है। जैसे कि धन से धनी कहलाता है किन्तु ऐसा मानना असत्य है। जैसे, अग्नि और उष्णता के अभेदभाव है; वैसे ही आत्मा और ज्ञान के तादात्म्यभाव है।

गाथा १७८ पर प्रवचन

इस प्रकार जीव को स्वतन्त्र सिद्ध करके अब 'जीव, ज्ञानस्वभावी है' — ऐसा कहते हैं। पहले जीव का स्वक्षेत्र सिद्ध किया, अब जीव का स्वभाव सिद्ध करते हैं।

जीव, स्वयं ही ज्ञान है। ज्ञान उसका स्वयंसिद्ध स्वभाव है। शरीरादि अथवा रागादि भाव, जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु ज्ञान, जीव का सहज स्वभाव है; इसलिए कोई भी बाह्य कारण से ज्ञान होता है, यह बात ही नहीं रहती। आत्मा असंख्यप्रदेशी ज्ञानमूर्ति है, वह स्वयं

ही ज्ञानस्वभावी है, उसके स्वभाव से ही ज्ञान होता है। ज्ञान के प्रदेश जीव से पृथक् नहीं हैं। भिन्न वस्तुभूत ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञानी होता है — ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और ज्ञान के भेद नहीं हैं, दोनों अभिन्न एक प्रदेशी हैं। ज्ञान कुछ अलग वस्तु है — ऐसा नैयायिक मानते हैं अर्थात् वे यह मानते हैं कि ज्ञान बाहर से आता है; वस्तुतः वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं। इसी प्रकार यदि कोई जैनमत में होने पर भी यह माने कि हमारा ज्ञान पुस्तक, गुरु इत्यादि निमित्तों से आता है तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है, उसने ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं जाना है।

आत्मा, स्वयं त्रिकाल ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, उसके ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही ज्ञान की पर्याय खिलती है। ज्ञानस्वभाव के प्रति समय के परिणमन से ही ज्ञान होता है, वह ज्ञान बाहर से नहीं आता। सम्यग्ज्ञान की अपनी योग्यता के समय निमित्तरूप से ज्ञानी गुरु इत्यादि होते हैं परन्तु उस निमित्त में से अपना ज्ञान नहीं आया है; अपना ज्ञान तो अपने त्रिकालीस्वभाव से आया है। ज्ञानगुण का ही त्रिकाल विविध पर्यायरूप होने का स्वभाव है। पर के कारण ज्ञान माननेवाले सभी जीव नैयायिक मत के समान मिथ्यादृष्टि हैं। गुण–गुणी की एकता की प्रतीति करे तो ज्ञान अन्तरस्वभाव सन्मुख हुए बिना नहीं रह सकता। वाणी इत्यादि के अवलम्बन से ज्ञान होता है, जिसने यह माना है, उसने तो गुण–गुणी की एकता नहीं मानी है, वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न : आपकी यह बात मानने से तो भगवान की दिव्यध्वनि का बहुमान नहीं रहता ?

उत्तर : अरे भाई! जो इस सत्य बात को समझेगा, उसे ही दिव्यध्वनि का यथार्थ बहुमान आएगा। भगवान ने दिव्यध्वनि में ज्ञान की प्रतिसमय की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध की है, उसके बदले जो अज्ञानी जीव यह मानता है कि मेरा ज्ञान, भगवान की वाणी इत्यादि पर में से आता है, उस अज्ञानी जीव ने भगवान की वाणी का विरोध किया है। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव की स्वतन्त्रता स्वीकार की है, उस जीव को भगवान की वाणी का वास्तविक बहुमान आयेगा कि अहो! मेरा ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, वैसा ही भगवान की दिव्यध्वनि प्रसिद्ध करती है। इस प्रकार स्वभाव के बहुमानपूर्वक निमित्त का यथार्थ विवेक और बहुमान धर्मी को आये बिना नहीं रहता है।

नैयायिक आदि जीव को और ज्ञान को प्रदेशभेद मानकर कहते हैं कि आत्मा से ज्ञान भिन्न है और वह समवाय तथा संसर्ग से एक हुआ है; इसलिए जीव को ज्ञानी कहते हैं। जैसे, धन से व्यक्ति को धनवान कहते हैं; उसी प्रकार ज्ञान के संयोग से जीव को ज्ञानी कहते हैं। नैयायिकों की यह मान्यता असत्य है। आत्मा और ज्ञान को अग्नि और उष्णतावत् अभेदभाव है अर्थात् तादात्म्यभाव है।

धन और धनवान तो सर्वथा भिन्न हैं परन्तु ज्ञान और ज्ञानवान को भिन्नता नहीं है। धन तो परवस्तु है। वस्तुतः धन, जीव का है ही नहीं। जैसे, धन के प्रति ममता करनेवाला जीव, उस ममताभाव से उस समय पृथक् नहीं है; वैसे ही ज्ञान और ज्ञानवान जीव कभी अलग नहीं हैं। ज्ञान और आत्मा पहले कभी भिन्न-भिन्न थे और फिर एकमेक होकर आत्मा ज्ञानी हुआ — ऐसा नहीं है। आत्मा और ज्ञान के धन और धनवान जैसा सम्बन्ध नहीं है किन्तु अग्नि और उष्णतावत् एकमेकपना है। जैसे, अग्नि स्वयं ही उष्ण स्वभाव है, अग्नि की ऊष्णता कोई लकड़ी के कारण अथवा घी के कारण नहीं है, घी की और लकड़ी की पर्याय का अग्नि में अभाव है; इसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह स्वयं ही ज्ञान है; किन्हीं इन्द्रियों और पुस्तक इत्यादि निमित्तों के कारण आत्मा के ज्ञान का परिणमन नहीं है।

सम्यग्दृष्टि धर्मी विचार करता है कि अहो! मेरा ज्ञानस्वभाव मुझमें, मुझसे ही है। बाहर के क्षेत्र से मेरा ज्ञान नहीं आता तथा बाहर के विविध पदार्थों के कारण मेरे ज्ञान की विविधता नहीं होती। ज्ञान का स्वतन्त्र स्वभाव ही वैसी विविधतारूप परिणमित होने का है।

आत्मा एक तत्त्व है। तत्त्व अपने स्वभाव से रहित नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व है, उसके ज्ञान की अल्पदशा में से पूर्णदशा होती है, वह ज्ञान के अपने स्वभाव से ही है। देखो, अग्नि में उष्णता कहाँ से आयी? कहीं बाहर से नहीं आयी है, अपितु अग्नि स्वयं ही उष्णता का पिण्ड है; इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान कहाँ से आया? बाहर से नहीं आया, अपितु आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वभाव का पिण्ड है। अहो! ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने से निमित्त के आश्रय की बुद्धि का अभाव हो जाता है, राग में एकत्वबुद्धि का नाश हो जाता है; मैं पर्याय जितना हूँ — ऐसी पर्यायबुद्धि का भी अभाव हो जाता है और त्रिकालीद्रव्यस्वभाव की दृष्टि होती है तथा उसकी सन्मुखता से धर्म होता है।

देखो, पहले आत्मा के आकार की स्वाधीनता बतलायी थी, आत्मा के प्रदेशों में सङ्कोच-विस्तार की वैसी सामर्थ्य है, वह कहीं दूसरों के कारण नहीं है। सिद्ध भगवन्तों का जो आकार है, वह स्वयं के कारण है; उनको अब सङ्कोच-विस्तार की योग्यता नहीं रही है। इस प्रकार क्षेत्र से स्वाधीनता बतलायी गयी है। अब, यहाँ भाव से स्वाधीनता बतलाते हैं कि आत्मा का त्रिकाल ज्ञानस्वभाव स्वयं से ही है और उसकी प्रतिसमय की वर्तमानदशा भी स्वयं से ही है।

कोई जीव भले ही तत्त्वाभ्यास करे, राग मन्द करे, व्रतादि धारण करे परन्तु यदि अन्तरङ्ग में प्रतिसमय की पर्यायों की स्वाधीनता का विश्वास न हो तो उस जीव को त्रिकाली स्वाधीनतत्त्व की प्रतीति नहीं होती और ऐसे जीव का कल्याण भी नहीं होता। जिसने एक समय की अवस्था पर से होना मानी है, उसने तीनों काल की अवस्थाओं को पर के कारण माना है। तात्पर्य यह है कि उसने त्रिकाली तत्त्व को ही पराधीन माना है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है; उसे धर्म नहीं होता। इसलिए यहाँ कहा है कि ज्ञान और आत्मा के प्रदेशभेद नहीं हैं; आत्मा और ज्ञान अभेद है। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है, उसका ज्ञान पर से नहीं होता — ऐसी समझ करने से ज्ञान की वर्तमानदशा स्वभाव में अन्तर्मुख होकर, भेदज्ञान और वीतरागतारूप धर्म प्रगट होता है। ●●

लोकोत्तर मुनिदशा

इतनी पाठशालाओं में एक घण्टे तक तो पढ़ाना ही होगा, पाठशाला अथवा मन्दिर के लिए इतने रुपयों का चन्दा तो करना ही पड़ेगा, व्याख्यान भी देना होगा, पत्रों में लेख छपवाना पड़ेंगे - अरे! यह सब मुनिदशा का काम नहीं है। मुनि की दशा ही कोई लोकोत्तर होती है। मुनिदशा तो कार्य के भाररहित, मात्र निज ज्ञायकतत्त्व में ही लीन, अपने ज्ञान-आनन्दादि गुणों में ही रमणशील तथा निरावलम्बन स्वभाववाली होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/३५८

गाथा १७९

अब, जीव और ज्ञान को भिन्न मानने में दोष बतलाते हैं —

जदि जीवादो भिण्णं, सव्वपयारेण हवदि तं णाणं।
गुणगुणिभावो य तदा, दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं॥

सर्वथा यदि भिन्न होवें, जीव एवं ज्ञान तो।
गुण-गुणी का भाव उनमें, दूर से ही नष्ट हो॥

अन्वयार्थ : [जदि जीवादो भिण्णं सव्वपयारेण हवदि तं णाणं] यदि जीव से ज्ञान सर्वथा भिन्न ही माना जाए तो **[गुणगुणिभावो य तदा दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं]** उन दोनों के गुण–गुणीभाव दूर से हो नष्ट हो जाएगा।

भावार्थ : यदि जीव और ज्ञान को सर्वथा भिन्न माना जाएगा तो यह जीवद्रव्य है, यह इसका ज्ञानगुण है — ऐसा भाव नहीं रहेगा।

गाथा १७९ पर प्रवचन

जिसने पर के कारण ज्ञान होना माना, उसने ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना है। ज्ञान को पर से माना है; अत: उसकी मान्यता में ज्ञानगुण आत्मा का नहीं रहा किन्तु पर का हो गया – अर्थात् आत्मा तो ज्ञानगुणरहित अचेतन ही हो गया। आत्मा द्रव्य है और ज्ञान उसका गुण है, इस प्रकार गुण–गुणी भेद है — इस अपेक्षा से भेद है किन्तु प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा पर को तथा राग को जाननेवाला है किन्तु पर से अथवा राग से उसका ज्ञान नहीं आता; त्रिकालीस्वभाव के आश्रय से ही ज्ञान आता है।

यदि ज्ञान और आत्मा को क्षेत्र से भेद हो तो ज्ञान आत्मा का गुण है — ऐसा ही सिद्ध नहीं होता अर्थात् आत्मा, ज्ञान से रहित अचेतन हो जाएगा; इसलिए अन्तर में ज्ञान और आत्मा की अभेदता की प्रतीति करना धर्म है। देखो, यह धर्म की रीत! इसके अतिरिक्त बाहर में दानादि करे किन्तु स्वयं कौन है? — यह नहीं जाने तो उसे धर्म नहीं होता।

भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव तुझमें है, उसे तू बाहर में मत शोध! अन्तर्मुख ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके, उसके सन्मुख होकर उसका आशीर्वाद ले! इसके अतिरिक्त बाह्य में किसी अन्य के आशीर्वाद से कुछ कल्याण नहीं होता। अरे भगवान! तेरे स्वभाव में तेरा सुख और शान्ति है, उस स्वभाव के साथ एकता करके उसमें अन्तर्मुख हो तो पर्याय में शुद्धता प्रगट होगी, तेरा कल्याण होगा। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा को अभेद जानकर, उसमें अन्तर्मुख दृष्टि करना ही धर्म है।

देखो! धर्मी जीव, आत्मा के भानपूर्वक बारह भावनाएँ भाता है, उनका वर्णन यहाँ किया गया है। छह द्रव्यस्वरूप लोक है, वह ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है। यह लोक में विद्यमान पदार्थों का वर्णन है। जीव भी लोक में विद्यमान है, जीव ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसका भान करके उसमें एकाग्रता की भावना, धर्मी जीव भाता है। ये वैराग्य भावनाएँ भव्यजीवों को आनन्दजननी हैं। आत्मवस्तु की दृष्टिपूर्वक इन भावनाओं को भाने से राग घटता जाता है और अरागीभाव बढ़ता जाता है, इसी का नाम संवर है; बीच में होनेवाला शुभभाव संवर नहीं है। तीर्थङ्करदेव भी जिनदीक्षा से पूर्व इन बारह वैराग्यभावनाओं का चिन्तवन करते हैं। जिस ज्ञायकस्वभाव को जाना है, उसमें विशेष एकाग्रता करना भावना है।

सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव की दृष्टि ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव पर होती है और उसके ध्यान में एकाग्रता करता है, वह मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, वह ध्यान ही है। ज्ञानस्वभाव का ध्यान ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और वही संवर-निर्जरा तथा मोक्ष का उपाय है। बारह भावना भी इसी में समाहित हो जाती है। आत्मा चिदानन्दस्वभावी है, उसका ध्यान, वह धर्म है; उसके ध्यान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित हो जाते हैं। शुद्धस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्र होना, मोक्ष के कारणरूप ध्यान है और राग की रुचि करके उसमें एकाग्र होना, संसार के कारणरूप ध्यान है।

भाई! आत्मा वर्तमान प्रगट अवस्था जितना ही नहीं है, अपितु त्रिकाल शक्ति का अखण्ड पिण्ड है। संयोग तो पर हैं, पुण्य-पाप के भाव क्षणिक विकारी वृत्तियाँ हैं; उतना मात्र ही आत्मा नहीं है। ज्ञान के क्षयोपशमभाव जितना भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो अखण्ड ज्ञानस्वभावी परिपूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड है, उस ज्ञायकस्वभाव की ओर ज्ञान की एकाग्रता का होना ही भावना है।

सर्वज्ञदेव द्वारा देखी हुई लोक स्थिति में प्रत्येक जीव का ऐसा ही स्वभाव है। अपने ऐसे स्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता, वह मोक्षमार्ग है और उस स्वभाव को चूककर पर की रुचि और एकाग्रता, वह संसारमार्ग है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में लोकालोक को जाना है। सम्यग्दृष्टि को उसकी प्रतीति वर्तती है और तदुपरान्त उसे लोकस्वरूप का चिन्तवन करते हुए, ज्ञान की विशेष निर्मलता और एकाग्रता होती है। लोक में विद्यमान जीववस्तु का स्वरूप क्या है और उसे नहीं समझनेवाले जीव कैसा विपरीत स्वरूप मानते हैं? उसका धर्मी जीव विचार करता है।

●●

दिगम्बर सन्तों का अद्‌भुत कार्य

अहो! ऐसा मार्ग वीतराग के सिवा अन्यत्र कहीं है नहीं; वह भी दिगम्बर सन्तों द्वारा कहा गया मार्ग ही परम सत्य है। अहा! दिगम्बर सन्तों ने अद्‌भुत कार्य किया है। जिनके एक-एक शब्द में, एक-एक श्लोक में गम्भीरता... गम्भीरता... गम्भीरता। भाई! गहनता इतनी है कि वह ऊपरी दृष्टि से दिखनेवाली वस्तु नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/६५

गाथा १८०

अब, कोई पूछे कि गुण और गुणी के भेद बिना दो नाम कैसे कहे जाते हैं ? उसका समाधान करते हैं —

जीवस्स वि णाणस्स वि, गुणगुणिभावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं, एवं भेओ कहं होदि॥

ज्ञान एवं जीव में है, भेद गुण-गुणी भाव से।
जो जानता वह ज्ञान ऐसा, भेद फिर कैसे बने॥

अन्वयार्थ : [**जीवस्स वि णाणस्स वि**] जीव और ज्ञान के [**गुणगुणिभावेण**] गुण-गुणीभाव से [**भेओ**] कथञ्चित् भेद [**कीरए**] किया जाता है, [**जं जाणदि तं णाणं**] 'जो जानता है, वह ही आत्मा का ज्ञान है' [**एवं भेओ कहं होदि**] — ऐसा भेद कैसे होता है ?

भावार्थ : यदि गुण-गुणी में सर्वथा भेद होवे तो 'जो जानता है, वह ज्ञान है' — ऐसा अभेद कैसे कहा जाता है ? इसलिए कथञ्चित् गुण-गुणीभाव से भेद कहा जाता है, प्रदेशभेद नहीं है।

इस तरह कई अन्यमती गुणगुणी में सर्वथा भेद मानकर जीव और ज्ञान के सर्वथा अर्थान्तर भेद मानते हैं, उनके मत का निषेध किया।

गाथा १८० पर प्रवचन

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसे ज्ञान के साथ भेद नहीं है। ज्ञान अलग और आत्मा अलग — ऐसा प्रदेशभेद नहीं है। यदि आत्मा और ज्ञान को प्रदेशभेद न हो तो उनके अलग

–अलग दो नाम क्यों कहे जाते हैं ? ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका समाधान इस प्रकार है।

आत्मा स्वयं जाननेवाला तत्त्व है, उसे ज्ञान से भिन्नता नहीं है। आत्मा द्रव्य है और ज्ञान उसका गुण है; इस प्रकार उन्हें नामभेद है किन्तु प्रदेश भेद नहीं है अर्थात् वस्तुभेद नहीं है। जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान न हो और जहाँ ज्ञान है, वहाँ आत्मा न हो — ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा, इन्द्रियों से अथवा राग से ज्ञात नहीं होता किन्तु स्वयं ही ज्ञानस्वभावी जाननहार तत्त्व है। आत्मा अपने से भिन्न ज्ञान द्वारा जानता है — ऐसा नहीं है किन्तु ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव ही है। इस प्रकार आत्मा और ज्ञान में नामभेद–लक्षणभेद होने पर भी वस्तुभेद अर्थात् प्रदेशभेद नहीं है। पाँचों इन्द्रियाँ बन्द होने पर भी उस समय अन्दर कौन जानता है ? आत्मा ही ज्ञान से जानता है। वह जाननेवाला, ज्ञान से अलग रहकर नहीं जानता किन्तु ज्ञान के साथ एकमेक है।

आत्मा और शरीर तो अत्यन्त भिन्न हैं, दोनों वस्तुएँ ही भिन्न हैं; दोनों के प्रदेश ही भिन्न हैं किन्तु आत्मा और ज्ञान को वैसा भेद नहीं है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना धर्म है। बाहर से ज्ञान आता है — ऐसा माननेवाला जैन नहीं है किन्तु अन्यमती है।

गुण–गुणी की एकता है, इसमें एकाग्र हों तो गुण खिलते हैं — ऐसा न मानकर, निमित्त से और राग से ज्ञान खिलता है अर्थात् विकसित होता है — ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसका मत लोकस्थिति से विपरीत है; आत्मस्वभाव से विपरीत है; सर्वज्ञ से विपरीत है; जैनदर्शन से विपरीत है। ●●

जैनदर्शन की मुद्रा

अहो! मुनिदशा तो अलौकिक दशा है - वह तो जैनदर्शन की मुद्रा है। उनकी ऐसी दशा हो गयी है कि मानो चलते-फिरते सिद्ध! ऐसा मुनिदशा का स्वरूप है। जो उसको विपरीत मानता है, उसे जैनदर्शन की खबर नहीं है। उसकी दृष्टि में भूल है, ज्ञान में भूल है, चारित्र में भूल है, तप में भूल है; वह जीव मार्ग से भ्रष्ट है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९०

गाथा १८१

अब, चार्वाकमती ज्ञान को पृथ्वी आदि का विकार मानते हैं, उसका निषेध करते हैं —

णाणं भूयवियारं, जो मण्णदि सो वि भूदगहिदव्वो।
जीवेण विणा णाणं, किं केण वि दीसए कत्थ॥

पंच भूतों से हुआ है, ज्ञान जो यह मानते।
उनको लगा है भूत, किसको जीव ज्ञान बिना दिखे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो चार्वाकमती **[णाणं भूयवियारं मण्णदि]** ज्ञान को पृथ्वी आदि पञ्च भूतों का विकार मानता है, **[सो वि भूदगहिदव्वो]** यह चार्वाक, भूत (पिशाच) द्वारा ग्रहण किया हुआ है **[जीवेण विणा णाणं]** क्योंकि बिना ज्ञान के जीव **[किं केण वि कत्थ दीसए]** क्या किसी से कहीं देखा जाता है? अर्थात् कहीं भी ऐसा दिखाई नहीं देता है।

गाथा १८१ पर प्रवचन

जैसे, घड़ी में सभी पुर्जे इकट्ठे होते हैं, तभी वह चलती है; इसी प्रकार ज्ञान भी संयोगों से होता है अर्थात् इन्द्रियाँ, पुस्तकें इत्यादि अनेक साधन हों तो ज्ञान होता है — ऐसा माननेवाला भी चार्वाक्मत जैसा है। अन्तर में स्वभाव विद्यमान है, उसका अवलम्बन करूँ तो धर्म होता है — ऐसा नहीं मानकर, बाहर के संयोगों से धर्म मानता है, वह जीव भी चार्वाक् जैसा मिथ्यादृष्टि ही है। चार्वाक्मतवाले जीव यह मानते हैं कि पृथ्वी, अग्नि इत्यादि पञ्चभूत एकत्रित होकर जीव की उत्पत्ति हुई है और वापस वह पञ्चभूत में मिल जाएगा; इसके

अतिरिक्त वे किसी ज्ञानस्वभावी जीव को नहीं मानते। स्वर्ग-नरक अथवा मोक्ष ऐसा कुछ भी नहीं मानते परन्तु भाई! आत्मा है, उसमें पुण्य-पाप होते हैं, पुण्य का फल स्वर्ग है, पाप का फल नरक है और पुण्य-पापरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का फल मोक्ष है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी सत् वस्तु है। ज्ञानरहित जीव कभी, कहीं, किसी को, किसी स्थान में देखने में नहीं आता। जीव है किन्तु ज्ञान नहीं है — ऐसा जगत में कभी, किसी ने, कहीं नहीं देखा है। 'ऐसा जीव नहीं है' — यह कहते ही जीव की सिद्धि हो जाती है क्योंकि वस्तु को जाने बिना उसका अभाव नहीं कहा जा सकता।

जङ्गल में एक बनिये से ग्रामीण ने माल लिया। बनिया समझ गया कि यह पैसा नहीं देगा, इसलिए उसने एक युक्ति का प्रयोग करते हुए कहा कि भाई! तुमने माल लिया है तो इसकी साक्षी चाहिए। जङ्गल में दूसरा तो कोई नहीं था, इसलिए एक काली बिल्ली को बताकर कहा कि यह अपनी साक्षी है, फिर कोर्ट में केस चला, तब न्यायाधीश कहने लगा कि तुम्हारा कोई साक्षी है? तब बनिये ने दूसरी बिल्ली को बुलाकर कहा कि यह बिल्ली साक्षी है। तुरन्त ही ग्रामीण ने कहा कि यह बिल्ली नहीं थी, बस! 'यह नहीं थी तो दूसरी थी' —ऐसा सिद्ध हो गया। इसी तरह अज्ञानी कहता है कि 'जीव नहीं है' परन्तु जीव नहीं है — यह कहते ही जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। जीव नहीं है, यह कहनेवाला स्वयं कौन है? वह भी जीव है न! श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि **शङ्का का करनार खुद, अचरज यह अमाप।**

'मैं नहीं हूँ' — यह शङ्का किसने की? जीव के बिना ऐसी शङ्का किसने की? शङ्का करनेवाला स्वयं ही जीव है। ●●

गाथा १८२

अब, इसको दूषण (दोष)बताते हैं —

सच्चेयण पच्चक्खं, जो जीवं णेय मण्णदे मूढो।
सो जीवं ण मुणंतो, जीवाभावं कहं कुणदि॥

प्रत्यक्ष चेतन सत् न माने, जीव को वे मूढ़ हैं।
मानते नहिं जीव को, अभाव वे कैसे कहें॥

अन्वयार्थ : [सच्चेयण पच्चक्खं] यह जीव सत्‌रूप और चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षप्रमाण से प्रसिद्ध है। **[जो जीवं णेय मण्णदे]** जो चार्वाक, जीव को ऐसा नहीं मानता है, **[सो मूढो]** वह मूर्ख है **[जो जीवं ण मुणंतो]** और जो जीव को नहीं जानता है, नहीं मानता है तो वह **[जीवाभावं कहं कुणदि]** जीव का अभाव कैसे करता है ?

भावार्थ : जो जीव को जानता ही नहीं है, वह उसका अभाव भी नहीं कह सकता है। अभाव का कहनेवाला भी तो जीव ही है, क्योंकि सद्‌भाव के बिना अभाव कहा नहीं जा सकता।

गाथा १८२ पर प्रवचन

जीव को जाने बिना उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिए जीव का अभाव कहनेवालों के मत में दोष बतलाते हैं।

आत्मा का सद्‌भाव जाने बिना 'आत्मा नहीं है' — ऐसा अभाव भी नहीं कहा जा सकता। अहो! ज्ञानस्वभावी आत्मा त्रिकाल आनन्दकन्द है। आत्मा है — ऐसा उसका सद्‌भाव जाने, तभी 'देहादिक हैं, वे आत्मा नहीं हैं' इस प्रकार पररूप से आत्मा का अभाव कहा जा सकता है। किन्तु आत्मा को जाने बिना, आत्मा का अभाव नहीं कहा जा सकता। देह में रोग हुआ हो, उसे देह नहीं जानता किन्तु आत्मा ही जानता है; इसलिए आत्मा, देह से भिन्न जाननेवाला तत्त्व है। ●●

गाथा १८३

अब, इसी मतवाले को युक्ति से जीव का सद्भाव दिखाते हैं —

जदि ण य हवेदि जीओ, ता को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि।
इन्दियविसया सव्वे, को वा जाणदि विसेसेण॥

यदि जीव है ही नहीं तो, फिर कौन सुख दुःख भोगता।
इन्द्रियों के सर्व विषयों को, कहो को जानता॥

अन्वयार्थ : [जदि ण य हवेदि जीओ] यदि जीव नहीं होवे तो **[सुक्खदुक्खाणि]** अपने सुख-दुःख को **[को वेदेदि]** कौन जानता है ? **[इंदियविसया सव्वे]** इन्द्रियों के स्पर्श आदि सब विषयों को **[को वा जाणदि]** कौन जानता है ?

भावार्थ : चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाण मानता है, वह अपने सुख-दुःख को तथा इन्द्रियों के विषयों को जानता है, सो प्रत्यक्ष है। जीव के बिना प्रत्यक्षप्रमाण किसके होता है ? इसलिए जीव का सद्भाव अवश्य सिद्ध होता है।

गाथा १८३ पर प्रवचन

अब, युक्तिपूर्वक जीव का सद्भाव बतलाते हैं।

मुझे सुख है, मुझे दुःख है — ऐसे सुख-दुःख को जीव के बिना कौन वेदन करेगा ? आत्मा, त्रिकाली सत् है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र करे तो सुख है और उस सत्स्वभाव की विपरीत मान्यता, वह असत् है और उस असत् मान्यता का फल दुःख है। इसके अतिरिक्त संयोग में सुख या दुःख नहीं हैं। इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों में यह ठण्डा है, यह गर्म है, यह मीठा है, यह खट्टा है, यह सुगन्ध है, यह दुर्गन्ध है — ऐसा कौन जानता है ? आत्मा ही

उन्हें जानता है। इन्द्रियों में उन्हें जानने की सामर्थ्य नहीं है, ज्ञान में ही जानने की सामर्थ्य है। इन्द्रियों के विषयों में ज्ञान नहीं है किन्तु आत्मा ही उन्हें ज्ञान से जानता है। जैसे, कितना भी अन्धकार इकट्ठा करो किन्तु उसमें से कोई प्रकाश नहीं होता; इसी प्रकार अनन्त जड़पदार्थ इकट्ठे होकर उसमें से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती और चेतन के किसी अंश में से जड़ की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए जाननेवाला तत्त्व देहादि के संयोग से भिन्न है, वह चेतन ही जीवतत्त्व है।

जीव हो, तब तक जो कहो वह सुनता है परन्तु जीव के चले जाने पर देह पड़ा रहा हो, वह कुछ नहीं सुनता क्योंकि देह में ज्ञान नहीं है। जाननेवाला तत्त्व तो जीव है, उस जीव के बिना सुख-दुःख इत्यादि का वेदन कौन करेगा? मैं सुखी, मैं दुःखी, यह अच्छा, यह बुरा — ऐसा जाननेवाला तो आत्मा का ज्ञान है।

भाई! तू अपनी आँख (अर्थात् ज्ञान नेत्र) खोलकर तत्त्वों को जान कि जगत् में कितने तत्त्व हैं? जैसे किसी को आँख में मोतियाबिन्द आ गया हो तो डाक्टर उससे पूछता है कि ये कितनी अंगुलियाँ हैं? यदि मोतियाबिन्द निकल गया हो तो जितनी अंगुलियाँ हों, उतनी देखता है। इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि तू मिथ्यात्वरूपी मोतियाबिन्द उतारकर ज्ञानचक्षु खोलकर जगत् के पदार्थों को देख! जगत् में जीव हैं, अजीव हैं — ऐसे समस्त तत्त्व हैं; जो उन्हें नहीं मानता, उस जीव के मिथ्यात्वरूपी मोतियाबिन्द का अभाव नहीं हुआ है।

●●

ऋद्धियों के प्रति भी परम उपेक्षा

अहो! मुनिवरों को अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हों, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ हो; तथापि अभिमान का किञ्चित् विकल्प भी नहीं होता, उलटे विनम्र होकर स्वभावोन्मुखता द्वारा पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करते हैं। मुनि को पर्याय की ओर लक्ष्य जाकर विकल्प उत्पन्न हो कि 'केवलज्ञान प्रगट करूँ' तो वह भी राग है। — ऐसे विकल्प को भी तोड़कर जो वीतरागी स्वरूपस्थिरता है, वह उत्कृष्ट मार्दवधर्म है और वही मुक्ति का कारण है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ ४०*

गाथा १८४

अब, आत्मा का सद्भाव जैसे बनता है, वैसे कहते हैं —

संकप्पमओ जीवो, सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेददि जीवो, देहे मिलिदो वि सव्वत्थ॥

जीव हे संकल्पमय, संकल्प सुख-दुःखरूप हैं।
संकल्प को जीव जानता, अरु देह में सर्वत्र है॥

अन्वयार्थ : [जीवो संकप्पमओ] जीव सङ्कल्पमयी है, **[संकप्पो सुहदुक्खमयं हवेइ]** सङ्कल्प सुखदुःखमय है; **[तं चिय वेददि जीवो]** उस सुखदुःखमयी सङ्कल्प को जानता है, वह जीव है। **[देहे मिलिदो वि सव्वत्थ]** वह देह में सब जगह मिल रहा है, तो भी जाननेवाला जीव है।

गाथा १८४ पर प्रवचन

अब, आत्मा का सद्भाव जैसे सिद्ध हो, वैसे कहते हैं।

सङ्कल्प-विकल्प, जीव का मूलस्वरूप नहीं है किन्तु वे सङ्कल्प-विकल्प जीव के अस्तित्व में होते हैं; जीव के अस्तित्व के बिना सङ्कल्प-विकल्प नहीं होते। इस प्रकार जीव के अस्तित्व की सिद्धि करने के लिये यह कथन है। यहाँ जीव के त्रिकाली शुद्धस्वरूप की बात नहीं है।

बिच्छु के काटने पर 'मुझे दुःख होता है' — ऐसा सङ्कल्प किसको होता है? जीव को अथवा शरीर को? जीव को ही वैसा सङ्कल्प होता है तथा अब बिच्छु का जहर उतर गया है — यह भी जीव जानता है। यद्यपि यह सङ्कल्प-विकल्प विकार है परन्तु वह जीवतत्त्व

की विपरीतदशा है। तात्पर्य यह है कि जीव के अस्तित्व के बिना इन विकल्पों की उत्पत्ति नहीं होती है।

जिसने जीव के अस्तित्व का स्वीकार किया है परन्तु उसका त्रिकालीस्वभाव नहीं जाना है, उसे शुद्धस्वभाव बतलाने के लिए समयसार में कहा है कि जो सङ्कल्प-विकल्परूप विकार हैं, वे पुद्‌गल का कार्य हैं और यहाँ तो जो जीव के अस्तित्व को ही नहीं मानता, उसे जीव का अस्तित्व बतलाने के लिए कहा है कि जीव को ही सङ्कल्प-विकल्प होते हैं; जीव के बिना कभी सङ्कल्प-विकल्प नहीं होते।

भाई! देह के साथ संयोगरूप से होने पर भी जीव उससे भिन्न है; जाननेवाला तत्त्व ही जीव है। जैसे - तिल और तेल संयोग अपेक्षा एकमेक होने पर भी वस्तुतः दोनों भिन्न हैं; उसी प्रकार जीव और देह एकक्षेत्र में होने पर भी जीव तो जाननेवाला है और देह अचेतन है; उस देह से जीव भिन्न है। इस प्रकार जीवतत्त्व को पहचानना चाहिए।

जीव, ज्ञानस्वभावी है, वह सङ्कल्प-विकल्प का भी जाननेवाला है। सुख-दुःख का जो सङ्कल्प होता है, वह जीव की पर्याय में होता है परन्तु जीव का ज्ञान उससे भी भिन्न रहकर उसका जाननेवाला है। ऐसे जीव को स्वसंवेदन से जानना धर्म है। ●●

मुनिराज का निज वैभव

प्रचुर स्वसम्वेदन मुनि का भावलिङ्ग है। समयसार की पाँचवीं गाथा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने निजवैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। कैसा है वह निजवैभव? निरन्तर झरता हुआ – आस्वाद में आता हुआ, सुन्दर आनन्द, उसकी छापवाला प्रचुर सम्वेदन /स्वरूप स्वसम्वेदन, उससे उसका जन्म हुआ है। भीतर ज्ञान की धारा, सम्यक्त्व की धारा और वीतरागता की धारा उत्पन्न हुई है, वही हमारा निजवैभव है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन २/१९९

गाथा १८५

अब, जीव, देह में मिला हुआ सब कार्यों को करता है, यह कहते हैं —

देहमिलिदो वि जीवो, सव्वकम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणो, एयत्तं बुज्झदे दोण्हं॥

देह मिश्रित जीव क्योंकि, सभी कार्यों को करे।
इसलिए इस जगत को, एकत्व दोनों में दिखे॥

अन्वयार्थ : [**जम्हा**] क्योंकि [**जीवो**] जीव [**देहमिलिदो वि**] देह से मिला हुआ ही [**सव्वकम्माणि कुव्वदे**] (कर्म नोकर्मरूप) सब कार्यों को करता है, [**तम्हा पयट्टमाणो**] इसलिए उन कार्यों में प्रवृत्ति करते हुए लोगों को, [**दोण्हं एयत्तं बुज्झदे**] दोनों (देह और जीव) के एकत्व दिखाई देता है।

भावार्थ : लोगों को देह और जीव भिन्न तो दिखाई देते नहीं है, दोनों मिले हुए दिखाई देते हैं। संयोग से ही कार्यों की प्रवृत्ति दिखाई देती है; इसलिए दोनों को एक ही मानते हैं।

गाथा १८५ पर प्रवचन

जीव और शरीर का संयोग है, इस अपेक्षा से यह कथन है कि जीव, देह के साथ मिला हुआ सब कार्यों को करता है।

वास्तव में जीव की क्रिया जीव करता है और देह की क्रिया देह से ही होती है परन्तु उस कार्य की व्यवस्था का ज्ञान जीव को है; जड़ को कोई ज्ञान नहीं है। ज्ञान, व्यवस्थित कार्य करता है। जैसे 'शक्कर लाओ' — ऐसा कोई कहे, वहाँ ज्ञान वैसा ही ज्ञान करता है — ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। उस समय विकल्प हुआ, वह जीव का विकार है तथा देह की क्रिया

होती है, वह देह के कारण है किन्तु प्राय: ऐसा मेल होता है कि ज्ञान में जैसा विचार हो, वैसी देह की क्रिया होता है — ऐसा कहकर यहाँ जीव सिद्ध करना है। जीव, देह की क्रिया करता है — इस बात पर वजन नहीं देना है। यह तो जीव को सिद्धि करने के लिए व्यवहार का कथन है।

जैसे, जिस दिशा की ओर चलने की इच्छा होती है, उस दिशा की ओर ही देह का गमन होता है। थाली में से जो वस्तु लेनी हो, वही वस्तु हाथ में आती है — ऐसा लगभग व्यवस्थित बनता है – यह जीव के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जीव के अस्तित्व के बिना ऐसी व्यवस्था नहीं होती। देह की क्रिया तो देह के ही कारण होती है परन्तु देह और जीव का संयोग होने से लोगों को जीव और देह की एकता ही भासित होती है। जीव और देह भिन्न हैं — ऐसा उन्हें भासित नहीं होता। इस कारण देह की क्रिया को मानो जीव ही करता हो — ऐसा अज्ञान से भासित होता है।

आश्चर्य यह है कि लोगों को देह और जीव भिन्न तो दिखते नहीं किन्तु दोनों मिले हुए ही दिखाई देते हैं। संयोगी कार्यों की प्रवृत्ति दिखती है; इसलिए वे दोनों को एक ही मानते हैं किन्तु दोनों भिन्न हैं। जीव तो जानने-देखने की क्रिया का कर्ता है और शरीर की क्रिया का कर्त्ता जड़ है। इस प्रकार अज्ञानी को दोनों की भिन्नता भासित नहीं होती।

देखो, लोक में मुख्य द्रव्य जीव है; इसलिए सबसे पहले जीव की ही बात की गयी है।

●●

मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी

अहो! मुनिदशा अर्थात् साक्षात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्द के अनुभव का झूला झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर भी अथवा अड़तालीस गाँवों तक सुनी जानेवाली आवाज होने पर भी, जिन्हें उसकी खबर नहीं पड़ती और आनन्द में गहरे उतरकर क्षण में केवलज्ञान ले लेते हैं। उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य मुनिदशा!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १६५

गाथा १८६

अब, जीव को देह से भिन्न जानने के लिये लक्षण दिखाते हैं —

देहमिलिदो वि पिच्छदि, देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देहमिलिदो वि भुञ्जदि, देहमिलिदो वि गच्छेदि॥

देह मिश्रित ही दिखे अरु, शब्द सुनता है यही।
देह मिश्रित जीव भोजन, करे गति करता यही॥

अन्वयार्थ : [देहमिलिदो वि पिच्छदि] जीव, देह से मिला हुआ ही आँखों से पदार्थों को देखता है; **[देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं]** देह से मिला हुआ ही कानों से शब्दों को सुनता है; **[देहमिलिदो वि भुञ्जदि]** देह से मिला हुआ ही मुख से खाता है, जीभ से स्वाद लेता हैद्य **[देहमिलिदो वि गच्छेदि]** देह से मिला हुआ ही पैरों से गमन करता है।

भावार्थ : देह में जीव न हो तो जड़रूप केवल देह ही के देखना, स्वाद लेना, सुनना, गमन करना — ये क्रियाएँ नहीं होतीं; इसलिए जाना जाता है कि जीव, देह से न्यारा है और वह ही इन क्रियाओं को करता है।

गाथा १८६ पर प्रवचन

देखो, यहाँ आँख से दिखता है — यह सिद्ध नहीं करना है किन्तु आँख तो निमित्त है; उस आँख से भिन्न अन्दर देखनेवाला जीव अलग है, उसे सिद्ध करना है। उस जीव का लक्षण जानना-देखना है, यह बतलाकर यहाँ जीव को देह से भिन्न सिद्ध करना है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान करनेवाला जीव है।

जीव, मुख से खाता है, जीभ से स्वाद लेता है, नाक से सूँघता है और कान से सुनता है — यह सारा कथन निमित्त के उपचार से है। इसके पीछे ज्ञान व्यवस्थित कार्य कर रहा है — यह सिद्ध करना है। जीव, पैर से गमन करता है, इसका अर्थ यह है कि चलने की क्रिया के समय ज्ञान जानने का कार्य करता है परन्तु ज्ञान के कोई पैर नहीं है कि वह चले। पैर तो जड़ हैं, चलते-चलते बीच में गड्ढा आवे तो उसमें पड़ता नहीं किन्तु बाजू में होकर चलता है तो वहाँ देह के चलने की क्रिया तो देह के कारण हुई है, किन्तु इस ओर नहीं चलना और इस ओर चलना — ऐसा ज्ञान किसने किया? वह ज्ञान करनेवाला जीव है — ऐसा यहाँ बताना है। देह की क्रिया तो अजीव की है।

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़ सममेल

लघुता गुरुता गमनता, ये जीव के खेल॥

चलना, बोलना, खाना इत्यादि समस्त क्रियाएँ अजीव की हैं। जीव उनका जाननेवाला है परन्तु उनका करनेवाला नहीं है। जीव कैसा है? तो कहते हैं कि —

समता-रमता ऊर्ध्वता, ज्ञायकता सुखभास।

वेदकता चेतन्यता, ये सब जीवविलास॥

इस प्रकार जीव और देह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ ही हैं।

आशय यह है कि यदि देह में जीव न हो तो जड़रूप ऐसे मात्र देह को ही देखना-जानना, स्वाद लेना, सुनना और गमन करना इत्यादि क्रियाएँ नहीं होतीं; इसलिए जाना जाता है कि जीव, देह में है किन्तु देह से भिन्न है और वही यह क्रियाएँ करता है।

देखो, यह तो संयोग का कथन है, जीव को सिद्ध करने के लिए निमित्त से कथन है। यदि जीव न हो तो देह में कोई जानने की क्रिया नहीं होती, जानने की क्रिया जीव में होती है। जड़ की क्रिया जीव से नहीं होती, जीव के अस्तित्व में जीव का कार्य होता है परन्तु कोई जीव के अस्तित्व में जड़ का कार्य नहीं होता। जड़ का कार्य जड़ के अस्तित्व में होता है। अज्ञानीजन जीव और जड़ को भिन्न नहीं जानते किन्तु एक ही मानते हैं; इसलिए मानो

जीव और जड़ दोनों इकट्ठे होकर काम करते हों — ऐसा वे मानते हैं। वे अज्ञानी जीव कहते हैं कि क्या जीव के बिना भाषा बोली जा सकती है? क्या आँख के बिना जाना जा सकता है?

परन्तु भाई! बोलना जड़ की क्रिया है या जीव की? बोलना जड़ की क्रिया है, वह जड़ के अस्तित्व में होती है; जीव नहीं बोलता और जानना, वह जीव की क्रिया है या जड़ की? आँख तो जड़ है, उसमें जानने की क्रिया नहीं होती। जानने की क्रिया तो जीव के ही अस्तित्व में होती है। इस प्रकार जीव और जड़ दोनों की क्रियाओं में भिन्नता है। जिसे इस भिन्नता का भान नहीं है, उसे धर्म नहीं होता है। ●●

वचनातीत आनन्दमय मुनिदशा

मुनि तो आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलते हैं। अहा! उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता! जहाँ शक्ति में से व्यक्ति / प्रगटता हुई, शान्ति का, आनन्द का, स्वच्छता का, सम्यग्दर्शन का, स्वसम्वेदन का, चारित्र का ज्वार आया, वहाँ ज्ञानी आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलता है। अन्तर में आनन्द का नाथ उल्लसित हुआ है, उसमें दृष्टि और एकाग्रता होने पर, वह एकाग्रता की पर्याय आनन्द तरङ्गों में डोलती है।

यहाँ तो अनन्तगुणों से भरपूर आत्मा स्वभाव के सन्मुख हुआ और रागादि विभाव तथा पर्याय से विमुख हुआ, तब अन्तर में चमत्कारिक पर्यायों की तरङ्गें उठीं आश्चर्यजनक ज्ञानपर्याय, आश्चर्यजनक सम्यक्त्वपर्याय, आश्चर्यजनक चारित्रपर्याय, आश्चर्यजनक आनन्दपर्याय आदि अनन्त गुणों की अद्‌भुत पर्यायें मुनिराज को उत्पन्न हुईं। पञ्च महाव्रत या नग्नता, वह मुनिपना नहीं है, परन्तु भीतर अनन्त गुणों का समुद्र भरा है उसमें दृष्टि देने पर, उसकी प्रतीति होने पर आनन्दादि गुणों की तरङ्गें उठें वह धर्म एवं मुनिपना है। जैसे समुद्र में ज्वार और नदी में बाढ़ आती है, वैसे ही साधक सन्तों की-मुनिराज को-अन्तर में आनन्दादि तरङ्गें उछलती हैं, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७७

गाथा १८७

अब, इस तरह जीव को मिला हुआ माननेवाले लोग भेद को नहीं जानते हैं – ऐसा कहते हैं —

राओ हं भिच्चो हं, सिट्ठी हं चेव दुव्वलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि॥

मैं राव हूँ मैं रंक हूँ, मैं सेठ हूँ निर्धन बली।
एकत्वबुद्धि है जिन्हें, अन्तर न दो में जानते॥

अन्वयार्थ : [एयत्ताविट्ठो] देह और जीव के एकत्व की मान्यतावाले लोग ऐसा मानते हैं कि **[राओ हं]** मैं राजा हूँ, **[भिच्चो हं]** मैं भृत्य (नौकर) हूँ, **[सिट्ठी हं]** मैं सेठ (धनी) हूँ, **[चेव दुव्वलो]** मैं दुर्बल हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं निर्बल हूँ **[बलिओ]** मैं बलवान हूँ; **[इदि]** इस प्रकार से **[दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि]** देह और जीव के भेद को नहीं जानते हैं।

गाथा १८७ पर प्रवचन

जिन्हें देह और आत्मा की भिन्नता का भान नहीं है, वे दोनों को एक ही मानते हैं। ऐसे अज्ञानी जीवों की मान्यता को यहाँ बतलाते हैं।

मैं राजा हूँ, इस प्रकार अज्ञानी जीव देह के साथ एकत्वबुद्धि से मानता है परन्तु देह तो जड़ है और मैं तो जानने-देखनेवाला आत्मा हूँ — ऐसा भिन्नपना वह नहीं जानता। जगत् के पदार्थ सत् हैं, उन पर मेरा अधिकार नहीं है — यह बात अज्ञानी नहीं जानता है। अज्ञानी अपने को राजा मानकर अभिमान करता है अथवा नौकर हो तो अपने को दीन मानता है परन्तु धर्मी तो जानता है कि देहादिक का संयोग मैं नहीं हूँ। धनवानपने से मेरी महत्ता नहीं है और निर्धनता

से मेरी दीनता नहीं है। मैं तो चैतन्य बादशाह हूँ, बाहर के संयोग-वियोग मैं नहीं हूँ; इस प्रकार धर्मी जीव, देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानता है। उसे अल्प राग-द्वेष होते हैं, वह भी स्वयं की अस्थिरता से होते हैं। उसे देह और आत्मा की एकत्वबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष नहीं होते।

आत्मा तो ज्ञान है, वह देहादिक का तथा लक्ष्मी इत्यादि का जाननेवाला है। शरीर पुष्ट हो अथवा दुर्बल हो; लक्ष्मी का संयोग हो अथवा न हो — इन सबका जीव तो जाननेवाला है परन्तु उन्हें जानते हुए मैं दुर्बल हूँ, मैं पुष्ट हूँ, मैं धनवान हूँ और मैं निर्धन हूँ — ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। धर्मी जीव को ऐसी देहबुद्धि नहीं होती, उस धर्मी जीव को ही बारह भावनाओं का यथार्थ चिन्तन होता है। स्वयं को तो देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान हुआ है और परजीवों को कैसी मिथ्याबुद्धि है, इसका विचार करता है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे निर्धनपने में दीनता लगती है। शरीर कुरूप हो, आवाज सुन्दर न हो तो दीनता लगती है परन्तु भाई! ये तो सब जड़ की अवस्थाएँ हैं। तू तो इनसे भिन्न चैतन्यमूर्ति सबका ज्ञाता है — ऐसा भान करके पर का अभिमान छोड़ दे तो राग-द्वेषरहित शान्ति प्रगट होकर धर्म होता है। इसके अतिरिक्त कैसे भी दया, दान, व्रत, पूजा के शुभभाव करे तो भी उसे धर्म नहीं होता और उसके संसार परिभ्रमण का अभाव भी नहीं होता।

आत्मा में अनन्त बल है परन्तु ऐसा बल नहीं है कि वह पर का कार्य कर सके। अनन्त बल है, वह स्वयं अपने में पुरुषार्थ द्वारा उल्टा या सीधा कर सकता है, सुलटा पुरुषार्थ करके क्षण में केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट करे ऐसी आत्मा की ताकत है परन्तु एक रजकण को बदल सके — ऐसी कोई ताकत आत्मा में नहीं है। ●●

गाथा १८८

अब, जीव के कर्तृत्व आदि को चार गाथाओं से कहते हैं —

जीवो हवेइ कत्ता, सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाइलद्धिजुत्तो, संसारं कुणइ मोक्खं च॥

कर्म अरु नोकर्म का, कर्ता स्वयं यह जीव है।
संसार का कर्ता स्वयं है, काल पाकर मोक्ष का॥

अन्वयार्थ : [**जम्हा**] क्योंकि [**जीवो**] यह जीवं [**सव्वं कम्माणि कुव्वदे**] सब कर्म-नोकर्मों को करता हुआ, अपना कर्तव्य मानता है, इसलिए [**कत्ता हवेइ**] कर्ता भी है [**संसारं कुणइ**] सो अपने संसार को करता है [**कालइलद्धिजुत्तो**] और काल आदि लब्धि से युक्त होता हुआ [**मोक्खं च**] अपने मोक्ष को भी आप ही करता है।

भावार्थ : कोई जानते हैं कि इस जीव के सुख-दुःख आदि कार्यों को ईश्वर आदि कोई अन्य करता है परन्तु ऐसा नहीं है। आप ही कर्ता है, सब कार्यों को स्वयं ही करता है, संसार को भी आप ही करता है, कालादि लब्धि से युक्त होता हुआ मोक्ष को भी आप ही करता है। सब कार्यों के प्रति द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्री निमित्त है ही।

गाथा १८८ पर प्रवचन

अब, चार गाथाओं में जीव का कर्तापना-भोक्तापना इत्यादि बतलाते हैं।

जीव, अज्ञानदशा में अपने को पर का करनेवाला मानता है — ऐसी मान्यतावाला जड़ नहीं, अपितु चेतन है। अज्ञानी जीव मोहभाव का कर्ता होता है और धर्मी जीव, ज्ञान का ही कर्ता होता है। एक रजकण को भी बदलने की क्रिया, धर्मी जीव अपनी नहीं मानता। जीव

स्वतन्त्ररूप से अपनी संसार अथवा मोक्षदशा को करता है। जीव, कालादिलब्धि से युक्त होता हुआ, अपने से ही अपनी संसार या मोक्षदशा को करता है।

पुरुषार्थ, नियत, काल, स्वभाव और कर्म – इन पाँचों ही लब्धियों से युक्त होता हुआ, जीव ही मिथ्यात्व आदि भाव को करता है तथा स्वयं ही सम्यग्दर्शनादि प्रगट करके सिद्ध होता है। निगोद से लेकर मोक्ष तक की समस्त पर्यायें, जीव अपनी कालाधिलब्धि से ही करता है परन्तु अज्ञानी जीव को ऐसी स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं है। जो ज्ञातास्वभाव का निर्णय करता है, उसे ही कालादिलब्धि का यथार्थ ज्ञान होता है।

यह जीव, स्वयं विपरीत पुरुषार्थ से पाँच लब्धिरूप परिणमित होकर संसार में परिभ्रमण करता है; कर्म के कारण नहीं, क्षेत्र के कारण नहीं, पञ्चम काल के कारण भी नहीं। आत्मा अनन्त शक्ति का पुञ्ज है, वह अपनी कालादिलब्धि से ही अपनी पर्याय को करता है। जिस समय संसार पर्याय करता है, उस समय उसी पर्याय का काल है, उस पर्याय का वैसा ही स्वभाव है, उस समय वैसा ही पुरुषार्थ है, वही पर्याय होने का नियत है और उसमें कर्म निमित्त है तथा मोक्ष होने में भी जीव अपनी पाँच लब्धि से संयुक्त होकर स्वयं अपनी मोक्षदशा को करता है। अहो! संसार अथवा मोक्ष दोनों में जीव स्वयं ही अपना कर्ता है, दूसरा कोई कारण नहीं है। कर्म, जीव को परिभ्रमण कराते हैं अथवा निमित्तों से कुछ होता है — यह बात सत्य नहीं है।

जिसे सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसे ही कालादिलब्धि का यथार्थ ज्ञान होता है। अज्ञानी को भले ही कालादिलब्धि का भान नहीं है परन्तु वह जीव भी अपनी कालादिलब्धि से ही संसार में परिभ्रमण करता है। निगोद का जीव, कर्म के कारण निगोद में नहीं रहा है किन्तु वह उसकी कालादिलब्धि से युक्त होकर निगोद में रहा है। अभव्य जीव उसकी कालादिलब्धि से संसार में परिभ्रमण करता है; कर्म के कारण नहीं। छहों द्रव्यों में अपनी-अपनी काललब्धि है। ईश्वर ने तो जीव को संसार में परिभ्रमण कराया ही नहीं है; कर्म के कारण भी जीव ने परिभ्रमण नहीं किया है। जीव अपने स्वभाव को भूलकर, उस-उस पर्याय की कालादिलब्धि से स्वयं को संसाररूप करता है और स्वयं ही स्वभाव के पुरुषार्थ से सुकाललब्धि इत्यादि पाकर अपने को

मोक्षरूप करता है। देखो, यह समझते तो पराश्रयबुद्धि का अभाव हो जाता है और स्वभाव का आश्रय होता है।

देखो! इन गाथा १८८ से १९१ तक की चार गाथाओं में आचार्यदेव ने सम्यक् वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी है। इसमें कालादिलब्धि कहकर लोक का नियतस्वभाव बतला दिया है। जगत में समस्त पदार्थ अपनी-अपनी काललब्धि से परिणमित हो रहे हैं, उसमें निमित्त क्या करेगा?

आशय यह है कि ईश्वर आदि अन्य कोई इस जीव के संसार-मोक्ष के कर्ता नहीं हैं अर्थात् कर्म या निमित्त कोई भी जीव को संसार अथवा मोक्ष नहीं कराते। जीव स्वयं ही काललब्धि पाकर अपना संसार अथवा मोक्षभाव करता है। 'कार्य अपने कार्यकाल में ही होता है' — ऐसे काललब्धि का स्वरूप निश्चित किया तो उसमें वस्तु पर दृष्टि जाती है। ज्ञान-स्वभाव की सन्मुखता के बिना काललब्धि का यथार्थ निर्णय नहीं होता।

अहो! सब व्यवस्थित है, ऐसा निश्चित करने से वह जीव समस्त पर से उदासीन हो गया और पर्याय पर भी दृष्टि छोड़कर ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि गयी, ध्रुवस्वभाव के सन्मुख हुआ; उसे ही काललब्धि का यथार्थ निर्णय हुआ है। जो जीव सुलटा पुरुषार्थ करता है, उसे सच्चे देव-गुरु इत्यादि योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की सामग्री ही निमित्त होती है। कार्य तो अपनी काललब्धि इत्यादि से होता है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपना कार्य नहीं होता — ऐसे वस्तु स्वभाव की प्रतीति होना धर्म है और इससे विपरीत मान्यता करना अधर्म है। ●●

गाथा १८९

जीवो वि हवइ भुत्ता, कम्मफलं सो वि भुञ्जदे जम्हा।
कम्मविवायं विविहं, सो वि य भुञ्जेदि संसारे॥

क्योंकि भोगे कर्मफल यह, इसलिए भोक्ता यही।
विविध कर्म विपाक को, संसार में भोगे यही॥

अन्वयार्थ : [जम्हा] क्योंकि **[जीवो वि कम्मफलं भुंजदे]** जीव, कर्मफल को संसार में भोगता है, **[सो वि भुत्ता हवइ]** इसलिए भोक्ता भी यही है और **[सो वि य संसारे]** वह ही संसार में **[विविहं कम्मविवायं भुंजेदि]** सुख-दु:खरूप अनेक प्रकार कर्मों के विपाक को भोगता है।

गाथा १८९ पर प्रवचन

देखो! यहाँ लोक अनुप्रेक्षा में जीवद्रव्य का वर्णन चल रहा है। उसमें इस १८९वीं गाथा में जीव के भोक्तापने की बात है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने लोक का जैसा स्वरूप देखा है, वैसा धर्मी जीव विचार करता है। मेरा आत्मा, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और ये शरीरादि तो मुझसे पर हैं — ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव को लोक भावना होती है। जो सिद्ध भगवन्त हुए हैं, वे सब अन्तरङ्ग शक्ति में से हुए हैं और मुझमें भी वैसी शक्ति है, उसमें से मैं सिद्ध होनेवाला हूँ; इस प्रकार जिसे अपने स्वभाव की प्रतीति होती है, उसे सच्ची भावना होती है।

धर्मी जीव विचारता है कि संसार में जीव को रागादिभाव होते हैं, उनसे कर्म का बन्धन होता है और उन कर्म के फलरूप हर्ष-शोक को जीव अकेला ही भोगता है। पर चीज को कोई

आत्मा नहीं भोगता, क्योंकि वह तो आत्मा से भिन्न है। पूर्व में जीव ने जैसा-जैसा विकारभाव किया, वैसा कर्म का बन्ध हुआ और उसके फल में जो बाह्य का संयोग प्राप्त हुआ, उसमें हर्ष-शोक करके जीव अकेला ही उन्हें भोगता है; कोई ईश्वर, जीव को कर्म का फल नहीं देता। संयोग-वियोग तो आत्मा से भिन्न हैं, उन्हें तो अज्ञानी भी नहीं भोग सकता परन्तु उन्हें जानते हुए ज्ञातास्वभाव को भूलकर अज्ञानी जीव, हर्ष-शोक करता है और उस हर्ष-शोक का वह अकेला ही अनुभव करता है। कर्म कहीं उसे हर्ष-शोक नहीं कराता। अहो! अनन्त अरहन्त और सिद्ध हो गये हैं; वैसी ही मेरी जाति है — ऐसा भान अज्ञानी नहीं करता। इस कारण वह हर्ष-शोक को भोगता है।

प्रश्न - यदि आत्मा अपने हर्ष-शोक के भाव को ही भोगता है तो फिर बाहर के स्वर्ग -नरकादि भोग्य स्थानों की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर - उपादानरूप से तो स्वयं अपने हर्ष-शोक का ही भोक्ता है परन्तु उस समय निमित्तरूप कैसा संयोग होता है — यह बताया है। स्वर्ग-नरकादि का संयोग निमित्त है और उस-उस प्रकार के हर्ष-शोक को भोगने की योग्यतावाले जीवों को वैसा संयोग होता है।

तेते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन बात है शिष्य यह, कही संक्षेपे साब॥

नरक अथवा स्वर्ग इत्यादि का संयोग निमित्तरूप है, उस समय भी जीव अपने भाव को ही भोगता है; किसी संयोग को नहीं भोगता, किन्तु जीव की जैसी योग्यता होती है, उस अनुसार स्वर्ग अथवा नरक इत्यादि का संयोग निमित्तरूप होता है — ऐसी वस्तुस्थिति है। संसार में सुख-दुःखरूप अनेक प्रकार के कर्मफल को जीव अकेला भोगता है।

देखो, संसार के भाव में दुःख ही है परन्तु अज्ञानी जीवों को संयोग में सुख भासित होता है। लोग संसार में अनुकूल संयोगों में सुख मानते हैं, इस अपेक्षा से यहाँ कहा है परन्तु वास्तव में आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त पर में कहीं भी सुख नहीं है। धर्मी जीव संयोग में सुख नहीं मानता है। अज्ञानी मानता है कि मेरा पर के बिना नहीं चलता, परन्तु भाई! तीनों काल तुझमें पर का तो अभाव ही है; इसलिए तुझे सदा पर के बिना ही चलता है। परचीज

भिन्न है, वह कभी आत्मा के साथ एकमेक नहीं होती, फिर भी अज्ञानी को भ्रम है कि मेरा सुख पर में है।

जीव-अजीव इत्यादि नवतत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, उसमें आत्मतत्त्व को पहचानकर अन्तर एकाग्र होने से धर्म होता है। पर में सुख-दु:ख की कल्पना करना अपराध है। वह जीव का मूलस्वरूप नहीं है। जीव का मूलस्वरूप तो ज्ञानानन्द है — ऐसा भान करके केवलज्ञान और परमार्थदशा प्रगट होती है। ●●

भावलिङ्गी सन्तों की अलौकिक दशा

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता भावलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्ग-सहित बाहर में दिगम्बर दशा, पञ्च महाव्रतादि, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्गी सन्त की दशा तो अलौकिक है।

'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो'.... के रूप में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पश्चात् तुरन्त ही जिनका नाम माङ्गलिकरूप में आता है – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावपाहुड़ की १२९वीं गाथा में कहते हैं –

'अहो! जो मुनि श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक हैं, उस सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की शुद्धिरूप भाव से सहित हैं और जिनके माया नष्ट हो गयी है – ऐसे जो भावलिङ्गी सन्त हैं, वे धन्य हैं, उनको हमारा त्रिविध नमस्कार हो।

अहो! तुम भी हमारे मुनिमार्ग में आये, मोक्षमार्ग में आये, उसका मैं प्रमोद से अनुमोदन करता हूँ। तुम धन्य हो, तुम्हें मेरा नमस्कार हो।'

जैसे बड़े श्रीमन्तों के यहाँ शादी हो और बारात आवे, वहाँ धूमधाम से बैण्ड -बाजों के साथ अगवानी करते है। वैसे ही यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सन्त तुम मुक्तिसुन्दरी को वरण करने चले, मैं आपकी अगवानी करता हूँ; धूमधाम से आपका बहुमान करता हूँ।

देखो, यह मुनिदशा का स्वरूप और उसकी महिमा!! ऐसे मुनि धन्य हैं और वन्द्य हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९२

गाथा १९०

जीवो वि हवइ पावं, अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं।
जीवो वि हवेइ पुण्णं, उवसमभावेण संजुत्तो॥

जब हो कषाय अतितीव्र तो, पाप है यह जीव ही।
जब भाव उपशम सहित हो, तब पुण्य है यह जीव ही॥

अन्वयार्थ : [जीवो वि अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं पावं हवइ] जब यह जीव अति तीव्रकषायसहित होता है, तब यह ही पापजीव होता है और **[उवसमभावेण संजुत्तो]** उपशमभाव (मन्दकषाय) सहित होता है, तब **[जीवो वि पुण्णं हवेइ]** यह ही पुण्यजीव होता है।

भावार्थ : क्रोध-मान-माया-लोभ की अति तीव्रता से तो पापपरिणाम होते हैं और इनकी मन्दता से पुण्यपरिणाम होते हैं। इन परिणामोंसहित पुण्यजीव-पापजीव कहलाते हैं।

एक ही जीव, दोनों प्रकार के परिणामोंसहित को पुण्यजीव-पापजीव कहते हैं। सो सिद्धान्त की अपेक्षा इस प्रकार है, सम्यक्त्वसहित जीव होवे, उसके तो तीव्रकषायों की जड़ कट जाने से पुण्यजीव कहलाता है और मिथ्यादृष्टि जीव के भेदज्ञान बिना कषायों की जड़ कटती नहीं है, इसलिए बाह्य में कदाचित् उपशमपरिणाम भी दिखाई दें तो भी उसको पापजीव ही कहते हैं — ऐसा जानना चाहिए।

गाथा १९० पर प्रवचन

जीव को कर्म के उदय से पुण्य-पाप होते हैं — ऐसा नहीं है किन्तु जीव स्वयं ही पुण्य अथवा पापभावरूप परिणमित होता है। सम्पूर्ण जीवतत्त्व कहीं पापरूप नहीं हो जाता परन्तु

पर्याय में जीव स्वयं पापरूप होता है। मिथ्याअभिप्राय और तीव्रकषायभाव से जीव स्वयं पापरूप होता है और मन्दकषाय से जीव स्वयं पुण्यरूप होता है। जड़कर्म में पुण्य-पाप है, उसकी बात यहाँ नहीं है; वे तो जीव से भिन्न हैं, यहाँ तो जीव के भाव की बात है। जीव के भाव को जीव स्वयं करता है, वे पुण्य-पाप क्षणिक हैं, उनसे रहित चिदानन्दस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्र होने से वे पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं और पूर्ण परमार्थदशा प्रगट होती है।

जैसे, छोटी पीपल में शक्तिरूप से चौसठ पहरी चरपराहट भरी है, वही उसमें से प्रगट होती है; उसी प्रकार आत्मा की शक्ति में केवलज्ञान भरा है, उसकी प्रतीति करके उसमें लीन होनेवाले को केवलज्ञान व्यक्त होता है। क्षणिक पाप अथवा पुण्यभाव के समय भी सम्पूर्ण आत्मा वैसा नहीं होता। यदि सम्पूर्ण आत्मा, पुण्य-पापरूप हो जाए तो उन पुण्य-पाप का अभाव होकर वीतरागदशा किसमें से आयेगी ? यहाँ पर्याय की बात है, पर्याय में आत्मा स्वयं पुण्य-पापरूप होता है।

कर्म के फल के समय भी यह जीव स्वयं जैसे हर्ष-शोक करता है, वैसे होते हैं; कर्म कुछ नहीं कराता। स्वयं दोष करके उसका आरोप दूसरों पर डालना — ऐसी अनादि की आदत पड़ी है; इसलिए अज्ञानी कहता है कि कर्म हमें विकार कराता है। अरे भाई! बाहर का संयोग भले ही कम-ज्यादा हो परन्तु तू उसमें क्यों हर्ष-शोक करता है ? जिस जीव को तीव्रकषाय है, उसे पापजीव कहते हैं; जिसे मन्द कषाय है उसे पुण्यजीव कहते हैं और दोनों परिणामसहित हों, उसे पुण्य-पाप जीव कहते हैं।

सिद्धान्त की अपेक्षा से तो ऐसा ही है। क्योंकि सम्यक्तसहित जीव को तो तीव्रकषाय की जड़ अर्थात् मिथ्याश्रद्धा के अभाव से पुण्यजीव कहते हैं तथा मिथ्यादृष्टि जीव को भेदज्ञान के बिना कषायों की जड़ नष्ट नहीं होती; इसलिए कदाचित् बाहर से उपशम परिणाम दिखाई दें, तब भी उसे पापजीव ही कहते हैं — ऐसा जानना चाहिए।

जिसे अन्तर में चैतन्यस्वभाव का भान हुआ है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय तो होती ही नहीं। उसे तीव्र कषाय के मूल का अभाव हो गया है। अहो! मैं तो देहदेवल में विराजमान चैतन्यभगवान हूँ। यह विकार मेरा स्वरूप नहीं है — ऐसा आठ वर्ष की बालिका को अथवा मेढ़क को भी भान होता है, उन जीवों को तो पुण्यजीव कहते हैं। देखो! भगवान के समवसरण

में छोटा सा मेढ़क भी आत्मा का भान करता है, उसे भी सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से पुण्यजीव कहा जाता है। उसे विपरीत मान्यता का तीव्रभाव नष्ट हो गया है और अनन्तानुबन्धी कषाय भी मिट गयी है; इसलिए वह पुण्यजीव है।

मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ और पवित्रता प्रगट हुई, उसे मिथ्यात्व का पाप तो होता ही नहीं, अनन्तानुबन्धी की तीव्र कषाय भी नहीं होती; इसलिए वह पुण्यजीव है। बाहर में पुण्य के संयोग बहुत हों किन्तु यदि आत्मा का भान नहीं करे तो वह पापजीव है। जो आत्मा निज स्वभाव का अनादर करके परवस्तु से अपने को सुख मानता है, वह जीव महापापी है। अन्दर महाचैतन्यनिधि विद्यमान है, उसका आदर नहीं करता और जड़ में सुख मानता है, उस जीव को बाहर में भले ही लक्ष्मी के ढेर हों तो भी उसे भगवान पापी कहते हैं और देह से भिन्न चिदानन्दस्वभाव का भान करनेवाला छोटा मेढ़क हो तो भी वह पुण्यजीव है, वह जीव अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

हमें शुभभाव लाभ करेगा, शरीर की क्रिया से धर्म होगा — ऐसा माननेवाला जीव भी पापी है। जिसे अन्दर में पर से भिन्न चैतन्य का भान नहीं है, उसे भेदज्ञान के बिना पाप की जड़ नहीं कटती; इसलिए वह पापजीव है। वह भले ही बड़ा राजा हो किन्तु उसे पर से भिन्न चैतन्य का भान नहीं है; अत: उसको पाप का मूल / मिथ्यादर्शन विद्यमान है; इसलिए वह पापजीव है। भेदज्ञान के बिना पाप का मूल नष्ट नहीं होता। भले ही ऐसे जीव को मन्दकषाय और शुभभाव हों तो भी परमार्थ से उसे पापजीव कहा गया है। क्रोधादिभाव कम दिखें किन्तु अन्दर में कषायरहित चिदानन्दस्वभाव का भान जिसे नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि पापजीव है। मेरा आत्मा देह से और राग से भिन्न चिदानन्द मूर्ति है — ऐसे भान में धर्मी जीव को कषाय का मूल कट गया है, वह पुण्यजीव है।

सातवें नरक में पड़ा हुआ नारकीजीव भी यदि आत्मा का भान करता है तो वह पुण्यजीव है और स्वर्ग में रहनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव, पापी है। निर्धनता, वह कोई अपराध नहीं है और सधनता, वह कोई गुण नहीं है। निर्धन होने पर भी जिसे यह भान हो कि मैं तो चैतन्यनिधि का स्वामी हूँ, केवलज्ञान की अनन्त निधियाँ मुझमें पड़ी हैं, मेरा सुख जड़ संयोग में नहीं है — ऐसे धर्मी जीव को भगवान ने पुण्यजीव कहा है। बाहर में लोग भले ही निर्धन

का आदर न करते हों, धनवान का आदर करते हों परन्तु इससे धर्मी जीव को दीनता और अभिमान नहीं होता। धर्मी तो जानता है कि बाहर में सधनता अथवा निर्धनता मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो आत्मा हूँ — ऐसे भान में धर्मी जीव निर्धन हो तो भी भगवान उसे पुण्यजीव कहते हैं और जो जीव मिथ्याश्रद्धा का सेवन कर रहा है, वह जीव भले ही बाहर में धनवान हो तो भी उसे भगवान पापजीव कहते हैं। देखो, संयोग से माप नहीं है किन्तु अन्दर सम्यक्श्रद्धा और मिथ्याश्रद्धा है, उससे ही सारा माप है। भेदज्ञानी धर्मात्मा जीवों को पुण्यवन्त कहा गया है और मिथ्यादृष्टि जीवों को पापी कहा गया है।

जिसे पर से भेदज्ञान नहीं है — ऐसे पापी जीवों का ढेर जगत् में बहुत बड़ा है। जगत् में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं; निगोद में अनन्त जीव पड़े हुए हैं और मनुष्य होकर भी जो आत्मा की गरज नहीं करते और तत्त्व का विरोध करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि जीव, निगोद में चले जाएँगे; इसलिए वे पापजीव है।

धर्मी की दृष्टि में बाहर के संयोग की महिमा नहीं है परन्तु जिसे चैतन्य का भान है, ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही वह पुण्यवन्त मानता है और जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे पापी मानता है। सुन्दर शरीर होना वह कहीं आत्मा का गुण नहीं है और काला शरीर होना, वह कोई दोष नहीं है। सुन्दर शरीर हो या काला हो परन्तु जिसे अन्दर में देह से भिन्न स्वभाव का भान है, वह पुण्यजीव है और जिसे ऐसा भान नहीं है, वह पापजीव है — ऐसा समझना चाहिए। ●●

यह है मुनिराज का कर्तव्य

अहा! मुनिपना किसे कहा जाता है? मुनिपना अर्थात् परमेष्ठी पद। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द में केलि करते-करते, झूलते-झूलते केवलज्ञान पद प्राप्त करते हैं। अन्तरस्वरूप में दृष्टि लगाकर आनन्द में स्थिर हो जाना, वह मुनिपने का कर्तव्य है। अरे! मुनिपने का जो कार्य है, वह यदि हमने नहीं किया, अहाहा! भीतर स्वरूप में स्थिर हो जाना था, वह कार्य यदि हमने नहीं किया, तो हमने कुछ नहीं किया।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१६६

गाथा १९१

रत्नत्रयसहित जीव ही उत्तम तीर्थ है, ऐसा कहते हैं —

रयणत्तयसंजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए॥

रतनत्रय की दिव्य नौका, से तिरे संसार जब।
जीव रत्नत्रय सहित है, यही उत्तम तीर्थ है॥

अन्वयार्थ : [जदो] जब यह जीव **[रयणत्तयदिव्वणावाए]** रत्नत्रयरूप सुन्दर नाव के द्वारा **[संसारं तरइ]** संसार से तिरता है, पार होता है, तब **[जीवो वि]** यह ही जीव **[रयणत्तयसंजुत्तो]** रत्नत्रयसहित होता हुआ **[उत्तमं तित्थं हवेइ]** उत्तम तीर्थ है।

भावार्थ : जो तैरता है तथा जिससे तैरा जाता है, उसको तीर्थ कहते हैं। यह जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रयरूपी नाव के द्वारा तैरता है तथा दूसरों के तैरने को निमित्त है, इसलिए यह जीव ही तीर्थ है।

गाथा १९१ पर प्रवचन

अब, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय ही संसार से पार होने के लिए दिव्य नौका है — ऐसा कहते हैं।

देखो! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष की नौका है; इसके अतिरिक्त पुण्यपरिणाम, मोक्ष का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही मोक्ष होता है, इसलिए जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित है, वह जीव ही तीर्थ है। बाहर में सम्मेदशिखर इत्यादि को तीर्थ कहना तो व्यवहारनय से है। जिसे अन्दर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयतीर्थ

प्रगट हुआ है — ऐसे ज्ञानी को और मुनियों को भी बाहर में तीर्थयात्रा इत्यादि का शुभभाव आता है। अहो! अनन्त तीर्थङ्कर यहाँ से मोक्ष पधारे हैं, अनन्त सन्तों ने यहाँ केवलज्ञान प्राप्त किया है! इस प्रकार उन सन्तों के स्मरणपूर्वक तीर्थयात्रा का भाव आता है, वह शुभभाव है, पुण्य है और अन्दर अर्थात् परिणति में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वह निश्चयतीर्थ है, वह मोक्ष का कारण है।

अहो! रत्नत्रयरूप दिव्य नौका से जीव, संसार को तिर जाता है; इसलिए जीव स्वयं ही उत्तम तीर्थ है। देखो, जो जीव ऐसे रत्नत्रय से निरपेक्ष होकर अकेले गुरुचरण की सेवा, विनय इत्यादि से ही मोक्ष मानते हैं, उन जीवों को विनयमिथ्यादृष्टि कहा है। जो अन्दर रत्नत्रय को नहीं पहचानता और अकेले शुभराग से ही मोक्ष मानकर भक्ति इत्यादि करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञभगवान ने आत्मा का जैसा स्वभाव कहा है, वैसा स्वयं श्रद्धा-ज्ञान में लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करे तो स्वयं संसार से तिरता है और तब अपने लिए भगवान तारनेवाले हैं — ऐसा कहा जाता है।

जिसने स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं किया है, वह अन्य को तारने में निमित्त भी नहीं हो सकता है। जो स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करता है, वह जीव संसार से तिरता है; इसलिए वह जीव उत्तम तीर्थ है।

इस संसार में जीव अनादि से मिथ्यात्वादि दोषों के कारण परिभ्रमण कर रहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो रत्नत्रय है, उसके द्वारा जीव, भव का पार पाता है; इसलिए रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही उत्तम तीर्थ है। धर्मी को ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से पर्याय में रत्नत्रय की वृद्धि होती जाती है और रागादि का अभाव होता जाता है; इस प्रकार रत्नत्रयरूप दिव्य नौका द्वारा जीव, संसार से तिरता है; इसलिए रत्नत्रय ही उत्तम तीर्थ है।

यह संसार, जीव की पर्याय में होनेवाला औदयिकभाव है। चिदानन्द ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन में एकाग्र होने पर रत्नत्रय प्रगट होकर औदयिकभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती — ऐसे रत्नत्रयसंयुक्त जीव स्वयं ही उत्तम तीर्थ है। इस रत्नत्रयरूपी तीर्थ के बिना अन्य किसी तीर्थ से संसार का अन्त नहीं आता। देखो, द्रव्यस्वभाव को लक्ष्य में रखकर ही इन बारह भावनाओं का वर्णन किया गया है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने इस कार्तिकेयानुप्रेक्षा को वैराग्य का उत्तम ग्रन्थ कहा है। वैराग्य किसे कहते है ? जिसे वस्तु का भान हो, उसे स्वभाव सामर्थ्य की प्रतीति करके, उसमें लीनता किये बिना पर से यथार्थ वैराग्य नहीं होता। जीव का संसार कहीं बाहर में नहीं रहता किन्तु जीव की पर्याय में होनेवाला विकारभाव ही संसार है। उस संसार को दु:खदायक वास्तव में किसने माना कहा जाए ? जिसने उस संसार के अभावस्वरूप ऐसे त्रिकालीस्वभाव को प्रतीति में लिया, उसने संसार को दु:खरूप माना कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तिरते हैं, इसलिए वह रत्नत्रय तीर्थ है और उन सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा तिरता है, इसलिए आत्मा उत्तम तीर्थ है। विकार द्वारा आत्मा नहीं तिरता तथा शरीरादि परद्रव्य तो भिन्न हैं, उनके आधार से भी नहीं तिरा जाता है तथा रत्नत्रयरूप परिणमित हुआ जीव अन्य पात्रजीवों को तिरने में भी निमित्त होता है, इसलिए वह जीव उत्तम तीर्थ है। ऐसे तीर्थ के भानपूर्वक सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की यात्रा का भाव आना, वह निमित्तरूप से तीर्थ है।

जहाँ छह द्रव्य रहते हैं, वह लोक है। उसमें रहनेवाले जीवतत्त्व का स्वरूप कैसा है ? — उसकी यह बात चल रही है। जगत् में जीव ही उत्तम तीर्थ है, उसका आश्रय करने से पुण्य -पाप की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए जीव को उत्तम तीर्थ जानकर उसका आश्रय करना ही धर्म है। ●●

यह तो उपसर्ग है

प्रश्न - यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाए तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा?

उत्तर - किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाला जाए, यह तो उपसर्ग है; इससे मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वहाँ तो वस्त्र, ज्ञान का ज्ञेय है अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायकपने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ ७०

गाथा १९२

अब, अन्य प्रकार से जीव के भेद कहते हैं —

जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य॥

जीव तीन प्रकार के, बहिरात्मा अन्तरात्मा।
परमात्मा दो विध कहें, अर्हन्त एवं सिद्ध हैं॥

अन्वयार्थ : [जीवा बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य परमप्पा तिविहा हवंति] जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा — इस तरह तीन प्रकार के होते हैं **[परमप्पाा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य]** और परमात्मा भी अरहन्त तथा सिद्ध, इस तरह दो प्रकार के होते हैं।

गाथा १९२ पर प्रवचन

अब, जीव के तीन भेद बतलाते हैं।

स्वभाव से सभी जीव, समान होने पर भी उनकी पर्याय में विविधता और भेद है — ऐसा ही लोक का स्वभाव है। जगत् में परमात्मा ही है और दूसरा कुछ नहीं — ऐसा कोई माने तो वह सत्य नहीं है। लोक के जीव, साधक ही रहेंगे, वे कभी पूर्ण नहीं होंगे — ऐसा भी नहीं है और जगत् में अकेले बाधक जीव ही रहेंगे — ऐसा भी कभी नहीं होता।

पूर्णता को प्राप्त परमात्मा जगत् में अनादि-अनन्त हैं; साधक अन्तरात्मा जीव भी अनादि से ही हैं और बहिरात्मा भी अनादि से ही हैं। जगत् में कोई पहले — पश्चात् नहीं हैं; सभी सामान्यरूप से अनादि-अनन्त हैं। एक जीव की अपेक्षा से संसार का नाश और मोक्ष

की शुरुआत हो सकती है परन्तु जगत में मोक्ष की शुरुआत नयी नहीं हुई है। अनादि से संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीव हैं तथा साधक जीव और परमात्मादशा को प्राप्त जीव भी अनादि से ही हैं और वे नये-नये भी होते जाते हैं।

परमात्मा दो प्रकार के हैं - सिद्ध और अरहन्त। लोक में अनन्त सिद्ध हैं और अरहन्त भी लोक में सदा विराजमान हैं। लोक में कभी भी अरहन्त का विरह नहीं होता। अभी भरतक्षेत्र में विरह है परन्तु यह तो लोक की भावना है। लोक में तीर्थङ्कर न हों, ऐसा कभी भी नहीं होता।

देखो जगत् में जो सद्पदार्थ हैं, उन्हें धर्मी जीव, ज्ञान का ज्ञेय बनाता है। ज्ञान का स्वभाव जानने का है और पदार्थों का ज्ञेय होने का स्वभाव है। ●●

अहो! उपकार गुरुवर का!

श्रीगुरु के उपदेश द्वारा आत्मस्वभाव समझकर शिष्य को जहाँ अपूर्व आनन्द का प्राप्ति हुई, वहाँ रोम-रोम में गुरु के प्रति अपार विनय से उसका आत्मा उछल जाता है। निश्चय प्रगट होने पर उसका व्यवहार भी लोकोत्तर हो जाता है और श्रीगुरु के अनन्त उपकार को व्यक्त करते हुए वह कहता है –

अहो प्रभो! आपने ही इस पामर को ज्ञान और आनन्द का दान दिया... आप ही हमारी आँख हैं... अपने आनन्द को भूलकर मैं अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करता था, उससे छुड़ाकर आपने ही मुझे आनन्द प्रदान किया है... घोर भवभ्रमण के दुःखों से आपने ही मुझे बचाया है... आपने ही कृपा करके संसार से मुझे उभारा है... हे नाथ! आपने अनन्त उपकार का बदला कैसे चुकाऊँ? इस प्रकार पात्र जीव अपार विनय-भक्तिपूर्वक श्रीगुरु / मुनिराज के चरणों में अर्पित हो जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्नसंग्रह, पृष्ठ ९१

गाथा १९३

जीवों के भेदों में बहिरात्मा कैसा है ? सो कहते हैं —

मिच्छतपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥

मिथ्यात्व से परिणमित अतिशय, लिप्त तीव्र कषाय से।
एक माने जीव और शरीर, वह बहिरात्मा॥

अन्वयार्थ : [मिच्छतपरिणदप्पा] जो जीव, मिथ्यात्वरूप परिणमा हो **[तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो]** और तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी) से अतिशय आविष्ठ अर्थात् युक्त हो, **[जीवं देहं एक्कं मण्णंतो]** जीव और देह को एक मानता है, वह जीव **[बहिरप्पा होदि]** बहिरात्मा है।

भावार्थ : जो बाह्य परद्रव्य को आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है। ऐसी मान्यता मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय से होती है; इसलिए वह भेदज्ञान से रहित होता हुआ देह आदि समस्त परद्रव्यों में अहङ्कार-ममकार युक्त होता हुआ, बहिरात्मा कहलाता है।

गाथा १९३ पर प्रवचन

लोक में तीन प्रकार के आत्माएँ हैं, उनमें बहिरात्मा का स्वरूप कहते हैं।

चैतन्यस्वरूप भगवान अन्तर स्वरूप है, उसे छोड़कर जो जीव, मिथ्याभाव से देहादि बाह्य वस्तुओं को अपना स्वरूप मानता है, वह जीव बहिरात्मा है। उसमें मिथ्यात्वकर्म का उदय तो निमित्तमात्र है; वास्तव में जीव स्वयं अपने मिथ्याभाव के कारण बहिरात्मा होता है। वह जीव कैसा है ? मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के कारण देह और जीव को एक ही मानता है। देह और जीव को एक मानने को कहा, उसमें देह कहने से कार्मणशरीर भी आ गया

है और उस कर्म के निमित्त से हुए शुभाशुभभाव भी वास्तव में तो कर्म की ओर झुकाववाले भाव हैं, वे भी आ गये हैं। वे विकारीभाव भी ज्ञायकजीव का स्वभाव नहीं हैं। आत्मा तो देह से भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप है — ऐसे चैतन्यस्वरूप को जो जीव नहीं मानता और पर्याय जितना ही अपना अस्तित्व मानता है तथा वह पर्याय, पर के कारण होती है — ऐसा भी मानता है। उस जीव को पर के साथ एकत्वबुद्धि है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान पर्याय को त्रिकाली स्वद्रव्य में अभेद न करके, पर की ओर उन्मुख करके, उससे लाभ माननेवाला जीव, बहिरात्मा है।

जो जिससे लाभ मानता है, वह उसे अपना माने बिना नहीं रहता। जिसने देह की क्रिया से लाभ माना, उसने देह को ही आत्मा माना है। चिदानन्दस्वभाव में सुख है — ऐसा न मानकर, जिसने बाहर के विषयों से सुख माना, उसने स्वभाव को अपना नहीं माना किन्तु पर को अपना माना है। पर है, वह ही मैं हूँ — ऐसा माने बिना पर से सुख नहीं माना जा सकता। मेरे कारण पर की पर्याय का अस्तित्व है और पर के कारण मेरी पर्याय होती है — ऐसा जो मानता है, उसे पर के साथ एकत्वबुद्धि है; यह विपरीतमान्यता मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के भाव बिना नहीं हो सकती। जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, वह जीव देहादि से लेकर समस्त परद्रव्यों में अहङ्कार-ममकार करता है, वह बहिरात्मा है। जो ऐसा मानता है कि श्रीखण्ड और आम में सुख है, वह बहिरात्मा है। यह आम मीठा है — ऐसा जाना परन्तु वहाँ 'इसमें मेरा सुख है' — यह बात कहाँ से लाया? यह तो मिथ्यादृष्टि की कल्पना है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय में कर्म का उदय निमित्त है और जीव की अपनी विपरीत योग्यता से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है, वह नैमित्तिक है। निमित्त और नैमित्तिक के कालभेद नहीं हैं किन्तु भावभेद है। किसी के कारण, किसी की पर्याय नहीं है — ऐसा भिन्नपना अज्ञानी नहीं जानता है।

आम के रस की मीठी पर्याय है, वह तो आम का स्वभाव है और उसे जानने का जीव का स्वभाव है परन्तु वहाँ 'यह मुझे ठीक है' — ऐसा मानना, अज्ञानी की मिथ्या कल्पना है। वह मिथ्या कल्पना किसी ने कराई नहीं है; स्वयं ने मिथ्या कल्पना की है, उसमें आम निमित्त है। निमित्त कब कहलाता है? जब यहाँ नैमित्तिक हो, तब। निमित्त-नैमित्तिक का एक ही समय होने पर भी दोनों स्वतन्त्र हैं। आम के रस का आत्मा में अत्यन्त अभाव है तो उसके कारण आत्मा में कुछ हो — ऐसा नहीं होता। अभाव कहना और फिर भी उससे कुछ होता

है, यह कहना, दोनों बातें एकदम विरुद्ध हैं।

जड़ वस्तु कभी अपनी नहीं होती परन्तु स्वभाव को साधकर अल्प काल में केवलज्ञान हो — ऐसा अपना स्वभाव है। जीव ने अनादि काल से शरीर को अपना माना, फिर भी एक रजकण भी अपना नहीं हुआ। यह जीव, अनन्त काल से राग को अपना स्वरूप मानकर उसे रखना चाहता है परन्तु पहले समय का राग कभी दूसरे समय नहीं रहता। ध्रुवचिदानन्दस्वभाव अपना है, उसका विश्वास करे तो निर्मलदशा प्रगट होकर सादि अनन्त काल तक ज्यों की त्यों कायम रहती है; इसलिए वस्तुतः वही सुलभ है परन्तु स्वभाव की रुचि से कभी अभ्यास नहीं किया, इसलिए कठिन लगती है।

अज्ञानी कहते हैं कि मिट्टी में से घड़ा अपने आप नहीं हो जाता। जब कुम्हार घड़ा बनाता है, तब बनता है। उनसे कहते हैं कि अरे भाई! विचार तो कर कि कुम्हार की उपस्थिति के समय भी घट का उत्पाद होता है, वह मिट्टी में से होता है या कुम्हार से? मिट्टी के परमाणुओं में प्रति समय उत्पाद हो रहा है। कुम्हार निमित्त है परन्तु किस पर्याय का निमित्त है? जो पर्याय हो गयी है, उसका निमित्त है? अथवा जो पर्याय नहीं हुई, उसका निमित्त है? जो पर्याय हो गयी, उसका निमित्त है तो कुम्हार ने उसमें क्या किया? मिट्टी के परमाणु, द्रव्य हैं या अद्रव्य? यदि द्रव्य हैं तो वह द्रव्य अपनी पर्याय में द्रवता है या कुम्हार ने द्रवित किया है? जो द्रव्य है, वह तो प्रति समय अपनी पर्याय को द्रवता है। घड़े की पर्यायरूप परमाणु, द्रवित हुए हैं; उनमें कुम्हार द्रवित नहीं हुआ है। कुम्हार निमित्त भले ही हो परन्तु कुम्हार के हाथ का मिट्टी की पर्याय में अभाव है; इसलिए उसने मिट्टी में कुछ नहीं किया है।

भाई! वस्तु के स्वरूप की भिन्नता के भान बिना यह जीव अनन्त बार द्रव्यलिङ्गी साधु हुआ, केवली प्रभु की धर्मसभा में गया, फिर भी कल्याण नहीं हुआ। भाई! अपने उपादान की तैयारी के बिना निमित्त क्या करेगा? और सत् समझने की अपनी पात्रता हो, वहाँ सत् का निमित्त होता ही है।

भाई! तू ज्ञाता है और परद्रव्य तो तेरा ज्ञेय है। इसके बदले ज्ञेय पदार्थों के साथ तू एकता मानता है, यही मिथ्यादृष्टिपना है। दो पदार्थ हैं, वे दो रूप से भिन्न-भिन्न रहते हैं; किसी की पर्याय में दूसरा नहीं वर्तता होने पर भी बहिरात्मा जीव परपदार्थों के साथ एकत्व मानकर, उनसे अपने को लाभ-हानि मानता है; इस प्रकार बहिरात्मा का स्वरूप जानना चाहिए। ●●

गाथा १९४

अब, अन्तरात्मा का स्वरूप कहते हैं —

जे जिणवयणे कुसलो, भेयं जाणंति जीवदेहाणं।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अन्तरअप्पा य ते तिविहा॥

जिन वचन में जो कुशल, जानें भिन्न जीव शरीर को।
आठ मद को जीतते वे, त्रिविध अन्तर आत्मा॥

अन्वयार्थ : [जे जिणवयणे कुसलो] जो जीव, जिनवचन में प्रवीण हैं, **[जीवदेहाणं भेयं जाणंति]** जीव और देह के भेद को जानते हैं, **[णिज्जियदुट्ठट्ठमयो]** और जिन्होंने आठ मदों को जीत लिया है, **[अन्तरअप्पा य ते तिविहा]** वे अन्तरात्मा हैं और उत्कृष्ट मध्यम-जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं।

भावार्थ : जो जीव, जिनवाणी का भले प्रकार से अभ्यास करके जीव और देह के स्वरूप को भिन्न-भिन्न जानते हैं, वे अन्तरात्मा हैं। उसके जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और ऐश्वर्य — ये जो आठ मद के कारण हैं, इनमें अहङ्कार-ममकार उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि ये परद्रव्य के संयोगजनित हैं, इनमें गर्व नहीं करते हैं। वे (अन्तरात्मा) तीन प्रकार के हैं।

गाथा १९४ पर प्रवचन

अब, अन्तरात्मा का स्वरूप कहते हैं।

जिसे अन्तर आत्मपना प्रगट होता है, उसे वीतरागी जिनवचन ही निमित्त होते हैं; अन्य निमित्त नहीं होता। इसलिए कहा है कि अन्तरात्मा जीव, जिनवचन में प्रवीण होता है।

जिनवचन में जो भाव कहा है, उस भाव में वह प्रवीण है। जो यह मानता हो कि सभी मिलकर एक आत्मा हैं तो उस जीव को अन्तर आत्मदशा नहीं हो सकती। जिनवचन में कहे अनुसार देह से भिन्न केवल चेतन का ज्ञान जिसको वर्तता है, उस जीव को अन्तर आत्मदशा होती है। उसे देह से भिन्न चैतन्यस्वभाव की दृढ़ता होती है, उसने आठ मद जीत लिये हैं। स्वभाव की दृढ़ता होने पर परद्रव्य का अहङ्कार नहीं रहता — ऐसे अन्तरात्मा जीव १. उत्कृष्ट अर्थात् उत्तम, २. मध्यम, ३.जघन्य — ऐसे तीन प्रकार के हैं।

देखो! जिनवचन का भले प्रकार से अभ्यास करना कब कहा जाता है? जब देह से भिन्न चैतन्यस्वभाव को जानकर प्रतीति करे और देहादि का अभिमान छोड़े, तब। जीव हो तो देह की क्रिया होती है — ऐसा माननेवाला जीव, बहिरात्मा है। अपने को साक्षीभाव से पर का काम करना चाहिए — ऐसा माननेवाला भी मूढ़ है। कोई भी पर का कार्य नहीं कर सकता, फिर भी मैं पर का कर सकता हूँ — ऐसा मानना ही मूर्खता है। जिसे भिन्न चिदानन्द आत्मा की अस्ति का भान हुआ, वह जाति-कुल इत्यादि का अपने में अभाव मानता है; इसलिए उसे जातिमद, कुलमद इत्यादि नहीं होते, ऐसे जीव को अन्तरात्मा जानना चाहिए।

मेरी तो ज्ञान जाति है; देह की जाति मेरी नहीं है — जो ऐसा जानता है, उसे देह का अहङ्कार नहीं रहता। जिनवाणी तो देह और आत्मा की भिन्नता कह रही है। जो जीव, देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानता है, उसमें ही वास्तव में जिनवाणी जानी कहलाती है और जो जीव, अपने आत्मा को देह से भिन्न जानता है, उस जीव को देह की जाति, रूप इत्यादि का अभिमान नहीं होता। देह तो अजीव है, वह देह ही मैं नहीं हूँ, जब ऐसा माना है तो फिर देह की जाति का अभिमान कैसे हो सकता है?

माता खानदानी हो, पिता का कुल महान हो, पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि का लाभ हो, उसमें धर्मी को अहङ्कार-ममकार नहीं होता है। राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी पदवियाँ मिलें , राजा द्वारा स्वर्णपत्र पर अङ्कित सम्मान प्राप्त हो तो भी धर्मी जानता है कि यह मेरी चीज नहीं है; मैं तो चिदानन्द आत्मा हूँ। गर्भ श्रीमन्त कुल में जन्म हुआ, वह तो देह है; आत्मा तो चैतन्यलक्ष्मी का धनी है, जिसे ऐसा भान है, उस अन्तरात्मा को देह का अभिमान नहीं होता है। देह का रूप

अत्यधिक सुन्दर हो, हाथ-पैर-मुँह इत्यादि सब सुन्दर हों, सुरीली आवाज हो तो यह सब परद्रव्यजनित संयोग हैं, इनमें धर्मी को कभी आत्मबुद्धि नहीं होती है।

अज्ञानी जीव, उपवास, विनय इत्यादि तप करके इनका अभिमान करता है परन्तु धर्मी को उनमें अभिमान नहीं होता। घी-दूध छोड़कर अधिक उपवास करे, वहाँ अपने को दूसरों से अधिक मानता है और दूसरे उपवास न करें तो उन्हें हीन मानता है — ऐसा अभिमान धर्मी को नहीं होता। शरीर में अत्यधिक बल हो, वह जड़ है, धर्मी को उसका अभिमान नहीं होता। विद्या का अभिमान धर्मी को नहीं होता, ज्ञान का थोड़ा-सा उघाड़ होने पर भी अज्ञानी को अभिमान हो जाता है। कुछ स्मरणशक्ति हो और अवधान करे तो अज्ञानी को उसमें बहुत लग जाता है। अज्ञानी हो और दो हजार अवधान करे परन्तु उससे क्या? अज्ञानी को उसमें महत्ता लग जाती है परन्तु भाई! केवलज्ञान के समक्ष इसकी क्या कीमत है?

जिसने अखण्ड चेतनस्वभाव को जाना है, उसे अल्प ज्ञान का अभिमान कैसे हो सकता है? जिसने पूर्ण स्वभाव को नहीं देखा है, उसे अल्पज्ञता में अभिमान हो जाता है। धर्मी को अपूर्ण ज्ञान में अभिमान नहीं होता। अहो! केवलज्ञान की अनन्तता के समक्ष चारों ही ज्ञान अत्यन्त अल्प हैं, उनका अभिमान करने से पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टि हो जाता है। धर्मी जीव जानता है कि मेरी प्रभुता, द्रव्य में है परन्तु पर्याय में केवलज्ञान न हो, तब तक पामरता है तथा ऐश्वर्य प्राप्त होने पर, चक्रवर्ती पद प्राप्त हो अथवा आचार्य पदवी प्राप्त हो — ऐसे अधिकार में धर्मी जीव को अभिमान नहीं होता। उसे स्वभाव का भान है और संयोग से भिन्नता जानता है, इसलिए उसे परद्रव्य के संयोग पर गर्व होता ही नहीं है। ●●

गाथा १९५-१९७

अब, उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप कहते हैं —

पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अन्तरा होंति॥
सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता॥
अविरयसम्मद्दिट्ठी, होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता।
अप्पाणं णिंदंता, गुणगहणे सुट्ठअणुरत्ता॥

महाव्रत से युक्त हैं रत, धर्म शुक्लध्यान में।
विजित सर्व प्रमाद को, उत्कृष्ट अन्तर आत्मा॥
श्रावक गुणों से युक्त, विरत-प्रमत्त वे मध्यम कहे।
जिनवचन में अनुरक्त, उपशमशील महापराक्रमी॥
जो जिनचरण के भक्त हैं, गुण-ग्रहण में अनुरक्त हैं।
आत्म निन्दक अव्रत सम्यग्दृष्टि, आत्मा जघन हैं॥

अन्वयार्थ : [पंचमहव्वयजुत्ता] जो जीव, पाँच महाव्रतों से युक्त हों, **[णिच्चं धम्मे सुक्के वि संठिदा]** नित्य ही धर्मध्यान शुक्लध्यान में स्थित रहते हों **[णिज्जियसयलपमाया]** और जिन्होंने निद्रा आदि सब प्रमादों को जीत लिया हो, **[उक्किट्ठा अन्तरा होंति]** वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं।

[जिणवयणे अणुरत्ता] जो जिनवचनों में अनुरक्त हों, **[उवसमसीला]** उपशमभाव (मन्द कषाय) रूप जिनका स्वभाव हो, **[महासत्ता]** महा-पराक्रमी हों, परीषहादिक के सहन करने में दृढ़ हों, उपसर्ग आने पर प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं होते हों, ऐसे **[सावयगुणेहिं जुत्ता]** श्रावक के व्रतसहित तथा **[पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति]** प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि, मध्यम अन्तरात्मा होते हैं।

[जिणंदपयभत्ता] जो जीव, जिनेन्द्र भगवान के चरणों के भक्त हैं। (जिनेन्द्र, उनकी वाणी तथा उसके अनुसार वर्तनवाले निर्ग्रन्थ गुरु-उनकी भक्ति में तत्पर हैं) **[अप्पाणं णिंदंता]** अपने आत्मा की निन्दा करते रहते हैं (चारित्रमोह से व्रत धारण नहीं किये जाते लेकिन उनकी भावना निरन्तर बनी ही रहती है, इसलिए अपने विभावपरिणामों की निन्दा करते ही रहते हैं) **[गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता]** और गुणों के ग्रहण करने में भले प्रकार अनुरागी हैं (जिनमें सम्यग्दर्शन आदि गुण देखते हैं, उनसे अत्यन्त अनुरागरूप प्रवृत्ति करते हैं। गुणों से अपना और पर का हित जाना है, इसलिए गुणों से अनुराग ही होता है) ऐसे **[अविरयसम्मद्दिट्ठी]** अविरतसम्यग्दृष्टि जीव (सम्यग्दर्शन तो जिनके पाया जाता है परन्तु चारित्रमोह की युक्तता से व्रत धारण नहीं कर सकते हैं), **[जहण्णा होंति]** जघन्य अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के अन्तरात्मा कहे, सो गुणस्थानों की अपेक्षा से जानना चाहिए।

भावार्थ : चौथे गुणस्थानवर्ती तो जघन्य अन्तरात्मा, पाँचवें-छठे गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा और सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक उत्कृष्ट अन्तरात्मा जानना चाहिए।

गाथा १९५-१९७ पर प्रवचन

अब, उत्कृष्ट अन्तरात्मा का स्वरूप कहते हैं।

यहाँ सातवें से बारहवें गुणस्थान तक उत्कृष्ट अन्तरात्मा गिना गया है।

देखो, पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक और छठवें गुणस्थानवाले मुनि की यह बात है। वे श्री जिनवचन में अनुरत हैं, वीतराग के चरण कमल के भक्त हैं, महा उपशान्त मन्द कषायी हैं तथा महा-पराक्रमी हैं। समाज की, परिवार की अथवा अन्य संयोगों की कैसी भी प्रतिकूलता आने पर भी महापराक्रमपूर्वक सहन करनेवाले हैं। पुरुषार्थ में सिंह जैसे हैं, वे

वीतरागमार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं। श्रावक भी महापराक्रमी है। उपशमभाव उसका स्वभाव हो गया है अर्थात् सहजशान्ति और मन्दकषाय वर्तती है। श्रावक अथवा मुनि को दुनिया की परवाह नहीं है। धर्मात्मा को स्वभाव के अवलम्बन से ऐसा पराक्रम वर्तता है कि वे कैसे भी उपसर्ग में प्रतिज्ञा से च्युत नहीं होते हैं। अनुकूलता का प्रसङ्ग आवे अथवा प्रतिकूलता आवे परन्तु वह धर्मात्मा अपने प्रतिज्ञा से च्युत नहीं होते — ऐसे जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं।

अब, जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप इस प्रकार है।

चौथे गुणस्थानवाले अविरत सम्यग्दृष्टि, जघन्य अन्तरात्मा हैं। वे जिनेन्द्रदेव के चरणकमल के उपासक हैं, अन्दर में चिदानन्द भगवान की उपासना और बाहर में वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की उपासना, पूजा-भक्ति करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव, इनके अतिरिक्त अन्य को नहीं मानता। वह श्री जिनेन्द्रदेव की वाणी तथा उनकी परम्परा में निर्ग्रन्थ सन्तों द्वारा कही हुई वाणी की भक्ति में तत्पर है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, धरसेनाचार्य, अकलङ्कदेवाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अमृतचन्द्राचार्य इत्यादि निर्ग्रन्थ सन्त पुरुषों की भक्ति में सम्यग्दृष्टि, रत है। वह धर्मी जीव, इनके अतिरिक्त अन्य कुगुरु को नहीं मानता है। अहो! कहाँ वीतरागी सन्त-मुनि और कहाँ यह राग! इस प्रकार उसे अपने अविरतपरिणाम का खेद वर्तता है; इसलिए वह अपनी आत्मा की निन्दा करता है। सम्यग्दृष्टि को स्वभाव की प्रबलता का भान है परन्तु अभी पर्याय हीन है। सम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्रमोह के उदय से व्रत धारण नहीं कर सकता है — यह कथन निमित्त की अपेक्षा से है।

प्रश्न - सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह का उदय क्यों रहा?

उत्तर - भाई! यहाँ अपनी योग्यता के बिना सामने निमित्त नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि स्वयं का पुरुषार्थ उग्र नहीं हैं, इसलिए व्रत धारण नहीं कर सकता परन्तु उसकी (व्रत, संयमादि की) भावना तो निरन्तर रहा करती है।

अहो! कब निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनिदशा प्रगट करेंगे! — ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि को

निरन्तर वर्तती है और वह विभाव की निन्दा किया ही करता है तथा सम्यग्दर्शन आदि गुणों के प्रति अनुरागी है। जिसे अपनी सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान हुआ हो, उसकी चमक छिपी नहीं रह सकती। दूसरे सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारक जीवों के प्रति उसे अत्यन्त प्रेम होता है। धर्मात्मा को देखकर अनुराग आता है क्योंकि स्वयं को गुण की प्रीति और बहुमान है, इसलिए अन्य जीवों में भी गुण देखने पर उनका बहुमान और आदर आता है। दूसरों की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादि के धारक जीवों में उसे अन्तर पड़ जाता है। ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जघन्य अन्तरात्मा हैं।

तात्पर्य यह है कि —

- चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, जघन्य अन्तरात्मा हैं।
- पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक और छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज, मध्यम अन्तरात्मा हैं।
- सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के साधक मुनिराज, उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं।

इस प्रकार अन्तरात्मा के तीन भेद जानना चाहिए। ●●

मुनिदशा में परिग्रह का ढेर माननेवाले मिथ्यादृष्टि

जो कल्पित शास्त्र बनाकर, उनमें मुनिदशा का स्वरूप विरुद्ध मनवाते हैं, मुनि को वस्त्रादि का परिग्रह रखना मनाते हैं – वे सब कथन मिथ्यादृष्टि के ही जानना। देखो! मुनिदशा में ऐसे परिग्रह के ढेर रखने के कथन समकिती के नहीं हैं; अपितु प्रगटरूप मिथ्यादृष्टि के ही हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९७

गाथा १९८

अब, परमात्मा का स्वरूप कहते हैं —

स-सरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता॥

सशरीर हैं अर्हन्त, केवलज्ञान से सब जानते।
हैं सिद्ध ज्ञानशरीर, सर्वोत्तम सुखों को प्राप्त हैं॥

अन्वयार्थ : [केवलणाणेण मुणिपसयलत्था] केवलज्ञान से जान लिए हैं सकल पदार्थ जिन्होंने, ऐसे **[ससरीरा अरहंता]** शरीरसहित अरहन्त परमात्मा हैं; **[सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता]** सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति जिनको हो गयी है, तथा **[णाणसरीरा सिद्धा]** ज्ञान ही है शरीर जिनके, ऐसे शरीररहित सिद्ध परमात्मा हैं।

भावार्थ : तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त शरीरसहित परमात्मा हैं और सिद्ध परमेष्ठी शरीररहित परमात्मा हैं।

गाथा १९८ पर प्रवचन

अब, परमात्मा का स्वरूप कहते हैं।

सिद्ध भगवान तो शरीररहित, चैतन्यबिम्ब हो गये हैं और अरहन्त भगवान शरीरसहित सर्वज्ञपरमात्मा हैं। वे परमात्मा, आत्मा की पूर्ण ज्ञान-आनन्द लक्ष्मी को प्राप्त हैं। सिद्ध भगवान कहाँ हैं ? लोक में ही हैं। अरहन्त भगवान भी लोक में सदा होते ही हैं। लोक कभी भी अरहन्तरहित नहीं होता। लोक में अरहन्त-सिद्ध-परमात्मा, तीन प्रकार के अन्तरात्मा और बहिरात्मा — ऐसे जीवों का कभी विरह नहीं होता है; ऐसे जीव जगत में सदा होते हैं। ●●

गाथा १९९

अब, परा शब्द का आशय कहते हैं —

णिस्सेसकम्मणासे, अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती।
कम्मजभावखए वि य, सा वि य पत्ती परा होदि॥

नाश हो सम्पूर्ण कर्मों का, स्वभावोत्पन्न हो।
क्षय हुआ कर्मज भाव का, वे ही 'परम' यह जानिये॥

अन्वयार्थ : [जो णिस्सेसकम्मणासे] जो समस्त कर्मों के नाश होने पर **[अप्पसहावेण समुप्पत्ती]** अपने स्वभाव से उत्पन्न हो और **[कम्मजभावखए वि य]** जो कर्मों से उत्पन्न हुए औदयिक आदि भावों का नाश होने पर उत्पन्न हो, **[सा वि य पत्ती परा होदि]** वह भी परा कहलाती है।

भावार्थ : परा कहिये उत्कृष्ट और मा कहिये लक्ष्मी, वह जिसके हो — ऐसे आत्मा को परमात्मा कहते हैं। समस्त कर्मों के नाश से स्वभावरूप लक्ष्मी को प्राप्त हुए, वे सिद्ध परमात्मा हैं और घातियाकर्मों के नाश से अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी को प्राप्त हुए, वे अरहन्त भी परमात्मा हैं तथा वे ही औदयिक आदि भावों के नाश से भी परमात्मा हुए कहलाते हैं।

गाथा १९९ पर प्रवचन

अब, परा शब्द का अर्थ कहते हैं।

जड़कर्म का और विभाव का नाश होने पर भगवान आत्मा अपने उत्कृष्ट चेतनस्वभाव से उत्पन्न होता है, उन्हें उत्कृष्ट चेतन लक्ष्मी प्रगट हुई है, इसलिए वे परमात्मा हैं।

परमात्मा शब्द का अर्थ यह है कि जो परा अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान तथा मा अर्थात् लक्ष्मी

जिन्हें प्रगट हुई हो — ऐसे आत्मा को परमात्मा कहते हैं। जो समस्त कर्मों का अभाव करके स्वभाव लक्ष्मी को प्राप्त हुए हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा हैं तथा घातिकर्मों के नाश से जिन्होंने अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी को प्राप्त किया है, वे अरहन्त भी परमात्मा हैं। उन्हें ही औदयिक आदि भावों का नाश करके परमात्मा हुए — ऐसा भी कहते हैं।

भाई! बाहर की जड़ लक्ष्मी आत्मा की नहीं है। जिसे आत्मा की परिपूर्ण चैतन्यलक्ष्मी प्रगट हुई है, वही परमात्मा है। जिन्होंने भावकर्म और द्रव्यकर्म के अभाव से अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव लक्ष्मी प्रगट की है, वे अरहन्त और सिद्ध भगवान, परमात्मा हैं। सिद्ध भगवान को तो क्षायिक और पारिणामिकभाव ही है; अरहन्त भगवान को क्षायिक और पारिणामिकभाव तो है ही, अभी योग इत्यादि का उदयभाव भी है। केवलज्ञानरूप क्षायिकभाव प्रगट हुआ है, वह तो आत्मा का स्वभाव है; इसलिए वह धर्म है। शास्त्र में कभी विकार को भी धर्म कहा जाता है क्योंकि वह पर्यायधर्म है। विकारीपर्याय भी अपनी है, इस अपेक्षा से उसे धर्म कहते हैं। वह कोई मोक्ष का कारणरूप धर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को भी धर्म कहते हैं और केवलज्ञान को भी धर्म कहते हैं। केवलज्ञान आत्मा का स्वभावभाव है, इसलिए वह धर्म है। केवली परमात्मा को केवलज्ञान और पूर्णानन्ददशा प्रगट हुई है। ●●

आनन्द की स्फुरणा, फव्वारा और झरना

अहा! सर्वज्ञ परमात्मा और सन्तों की वाणी चैतन्य-शक्ति के रहस्य खोलकर आत्मस्वभाव की सन्मुखता कराती है – ऐसी वाणी को पहचान कर उसमें क्रीड़ा करने से, उसका चिन्तन-मनन करने से ध्यान के विशिष्ट संस्कार द्वारा **आनन्द की स्फुरणा, आनन्द का फव्वारा** फूटता है, **आनन्द का झरना** झरता है। देखो, यह सुख और ज्ञान की क्रीड़ा का लोकोत्तर आनन्द!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग ३, पृष्ठ ५३

गाथा २००-२०१

अब, कोई जीवों को सर्वथा शुद्ध ही कहते हैं, उनके मत का निषेध करते हैं —

जइ पुण सुद्धसहावा, सव्वेजीवा अणाइकाले वि।
तो तवचरणविहाणं, सव्वेसिं णिप्फलं होदि॥
ता किह गिण्हदि देहं, णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि।
सुहिदा वि य दुहिदा वि य, णाणारूवा कहं होंति॥

हैं अनादि काल से यदि, शुद्ध ही सब जीव तो।
फिर तपश्चरण विधान सब ही, पूर्ण निष्फल जान लो॥
वह देह को क्यों ग्रहण करता, करे नाना कर्म को।
कोई सुखी कोई दुःखी, ये रूप नाना क्यों कहो॥

अन्वयार्थ : **[जइ]** यदि **[सव्वेजीवा अणाइकाले वि]** सब जीव अनादिकाल से **[सुद्धसहावा]** शुद्धस्वभाव हैं **[तो सव्वेसिं]** तो सब ही को **[तवचरणविहाणं]** तपश्चरण विधान **[णिप्फलं होदि]** निष्फल होता है।

यदि जीव, सर्वथा शुद्ध है **[ता किह गिणहदि देहं]** तो देह को कैसे ग्रहण करता है ? **[णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि]** नाना प्रकार के कर्मों को कैसे करता है ? **[सुहिदा वि य दुहिदा वि य]** कोई सुखी है, कोई दुःखी है **[णाणारूवा कहं होंति]** — ऐसे नानारूप कैसे होते हैं ? इसलिए सर्वथा शुद्ध नहीं है।

गाथा २००-२०१ पर प्रवचन

अब, कहते हैं कि अनादि से सभी जीव, पर्याय में शुद्ध नहीं हैं। स्वभाव से शुद्धता है परन्तु पर्याय में अनादि से शुद्धता नहीं है। सभी जीव, सर्वथा पर्याय से भी शुद्ध ही हैं — ऐसी मान्यता का यहाँ निषेध करते हैं।

लोक में पर्याय में अशुद्धतावाले जीव भी हैं। जीव को अनादि से पर्याय में अशुद्धता है। यदि पर्याय में अशुद्धता न हो तो व्रत, तप आदि किसलिए करते हैं? अशुद्धता न हो तो अशुद्धता के अभाव का उपाय क्यों किया जाए?

देखो, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में भी जितना औदयिकभाव है, उतनी अशुद्धता है। इसलिए देह का संयोग है तो फिर अन्य संसारी जीवों को तो अशुद्धता होगी ही। यदि अशुद्धता न हो तो देह का संयोग क्यों होगा तथा शुभ-अशुभभाव क्यों होंगे? कभी दया के भाव, कभी हिंसा के भाव — ऐसे अलग-अलग प्रकार के कर्मों को जीव क्यों करेगा? सिद्ध भगवन्त तो कृतकृत्य हैं परन्तु संसारिक जीवों की पर्याय में अनादि से अशुद्धता है। स्वभाव से शुद्धता और पर्याय में अशुद्धता — ऐसे दोनों पहलुओं को जानना चाहिए।

भाई! जीव, सर्वथा शुद्ध ही नहीं है। यदि सर्वथा शुद्ध ही हो तो मोक्ष का उपाय करना नहीं रहता। लोक की स्थिति ही ऐसी है कि जीव के कथञ्चित् शुद्धता और कथञ्चित् अशुद्धता है — ऐसे भान बिना लोक अनुप्रेक्षा सच्ची नहीं होती।

प्रत्येक वस्तु कायम रहकर, उसकी अवस्था प्रतिक्षण पलटती है। उस अवस्था में संसार और मोक्ष होता है। संसार में सभी जीव, समान नहीं हैं। कोई सुखी है, कोई दुःखी है — ऐसे विविध प्रकार की असमानता अशुद्धता के बिना नहीं रह सकती। इसलिए पर्याय में अनादि से अशुद्धता है और स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध। उस शुद्धस्वभाव की दृष्टि करके, उसमें एकाग्र होने पर पर्याय की अशुद्धता का अभाव होकर, शुद्धता प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

तात्पर्य यह है कि लोक में अनन्त जीव हैं। उनमें पर्याय से शुद्ध जीव भी हैं और अशुद्ध भी हैं। सभी जीव, सर्वथा शुद्ध ही हैं — ऐसा नहीं है और सभी जीव, अशुद्ध ही हैं — ऐसा भी नहीं है।

●●

गाथा २०२

अब, अशुद्धता का कारण कहते हैं —

सव्वे कम्म-णिबद्धा, संसरमाणा अणाइ-कालम्हि।
पच्छा तोडिय बंधं, सुद्धा सिद्धा धुवं होंति॥

सब जीव कर्मों से बँधे, चिर काल से करते भ्रमण॥
फिर कर्मबन्धन तोड़कर हों, सिद्ध निश्चल शुद्ध सब॥

अन्वयार्थ : [सव्वे] सब संसारी जीव, **[अणाइकालम्हि]** अनाादि काल से **[कम्म-णिबद्धा]** कर्मों से बँधे हुए हैं, **[संसरमाणा]** इसलिए संसार में भ्रमण करते हैं, **[पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा]** फिर कर्मों से बन्धन को तोड़कर सिद्ध होते हैं, **[सुद्धा धुवं होंति]** तब शुद्ध और निश्चल होते हैं।

गाथा २०२ पर प्रवचन

यहाँ पर्याय में जीव की शुद्धता और अशुद्धता का निमित्त बतलाते हैं।

जीव ने स्वयं भूल की तो कर्मों से बँधा है — ऐसा उपचार से कहा जाता है। वस्तुत: जीव स्वयं अपनी अशुद्धता से परिभ्रमण करता है, उसमें कर्म निमित्त हैं और उन कर्मों का नाश जीव करता है — यह भी उपचार से कहा गया है तथा जीव अशुद्धता का नाश करता है — यह कहना भी व्यवहार है। जिस समय अशुद्धता है, उस समय उसका नाश करे — ऐसा नहीं होता परन्तु शुद्धस्वभाव के आश्रय से शुद्धता का उत्पाद होने पर अशुद्धता का उत्पाद नहीं होता और पूर्वकर्म उनके स्वयं के कारण अभावरूप हो जाते हैं, तब जीव सर्वथा शुद्ध / मुक्त / सिद्ध होता है।

●●

गाथा २०३

अब, जिस बन्ध से जीव बँधते हैं, उस बन्ध का स्वरूप कहते हैं —

जो अण्णोण्णपवेसो, जीवपएसाण कम्मखंधाणं।
सव्वबंधाण वि लओ, सो बंधो होदि जीवस्स॥

जीव कर्म प्रदेश खंड, मिलें परस्पर में जभी।
सब बन्ध जिसमें लीन हैं, वह जीव का बन्ध जानिए॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[जीवपएसाण कम्मखंधाणं]** जीव के प्रदेशों का और कर्मों के स्कन्ध का **[अण्णोण्णपवेसो]** परस्पर प्रवेश होना अर्थात् एक क्षेत्ररूप सम्बन्ध होना और **[सव्वबंधाण वि लओ]** प्रकृति, स्थिति, अनुभाग सब बन्धों का लय अर्थात् एकरूप होना, **[सो]** सो **[जीवस्स]** जीव के **[बंधो होदि]** प्रदेशबन्ध होता है।

गाथा २०३ पर प्रवचन

आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, उनके साथ एक क्षेत्र में कर्मपरमाणु रहते हैं, वह प्रदेश बन्ध है। जीव को वास्तविक बन्धन तो अशुद्धभाव का है, तब वहाँ निमित्तरूप से द्रव्यकर्म का बन्धन है। कर्म, परद्रव्य हैं और जीव, भिन्न द्रव्य है, उनका सम्बन्ध कहना तो मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन है। किसी के कारण पर का कुछ हो — ऐसा होता ही नहीं। जीव और कर्म कभी एकरूप नहीं हो जाते हैं; दोनों भिन्न-भिन्न हैं — ऐसी पृथक्ता के भानपूर्वक ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का सच्चा ज्ञान होता है।

●●

गाथा २०४

अब, सब द्रव्यों में जीवद्रव्य ही उत्तम परमतत्त्व है, ऐसा कहते हैं —

उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो॥

उत्तम गुणों का धाम है, सब द्रव्य में उत्तम यही।
सब तत्त्व में उत्कृष्ट है यह, जीव निश्चय जानिये॥

अन्वयार्थ : [उत्तमगुणाण धामं] जीवद्रव्य, उत्तम गुणों का धाम/स्थान है, ज्ञान आदि उत्तमगुण इसी में हैं; **[सव्वदव्वाण उत्तम दव्वं]** सब द्रव्यों में यह ही द्रव्य प्रधान है; सब द्रव्यों को जीव ही प्रकाशित करता है; **[तच्चाण परमतच्चं जीवं]** सब तत्त्वों में परमतत्त्व जीव ही है; अनन्तज्ञान सुख आदि का भोक्ता यह ही है; **[णिच्छयदो जाणेह]** इस तरह से हे भव्य! तू निश्चय से जान।

गाथा २०४ पर प्रवचन

अहो! भगवान आत्मा, समस्त पदार्थों में उत्तम तत्त्व है। उसे ही दृष्टि में लेना योग्य है। ज्ञान, आनन्द आदि उत्तम गुण, जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं हैं; जीव में ही ज्ञानादि अनन्त गुण हैं। छहों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से परिपूर्ण हैं परन्तु उन्हें जाननेवाला जीव है; इस कारण जीव ही उत्तम द्रव्य है। जीव को अपना आत्मा ही उत्तम द्रव्य है; अपने लिए दूसरा आत्मा भी उत्तम द्रव्य नहीं है।

सर्वज्ञदेव की प्रतीति किसने की? जीव ने ही की। इसलिए वस्तुत: समस्त द्रव्यों में आत्मा ही मुख्य है। स्वद्रव्य के बिना पर को प्रकाशित कौन करेगा? सात तत्त्वों में जीव ही

महा–तत्त्व है। अजीवतत्त्व उत्तम नहीं है, वह तो जड़ है। जीवतत्त्व से उत्तम दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। अनन्त ज्ञान–दर्शन आनन्द का अनुभव करनेवाला जीव ही है — ऐसा हे भव्य! तू जान।

जीव ही अपने अनन्त ज्ञान–अनन्त दर्शन–अनन्त सुख इत्यादि का भोग करता है; इसलिए जीव ही परमतत्त्व है — ऐसा जानकर, धर्मी जीव अपने आत्मा की ही भावना भाता है। वीतराग सर्वज्ञदेव उत्तम हैं; अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली द्वारा कथित धर्म — ये चारों लोक में उत्तम हैं परन्तु ऐसा जाना किसने ? जीव के बिना कौन जानता है ? इसलिए परमार्थ से अपना आत्मा ही उत्तम तत्त्व है — ऐसा जानकर निज आत्मा की ही भावना करनी चाहिए।

●●

सन्तों ने खजाना खोल दिया

अहा! समयसार में सन्तों ने अनन्त शक्ति का खजाना खोल दिया... चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ खुल्ली करके बतायीं हैं। ऐसे चैतन्य खजाने को कौन नहीं लेगा? कौन जीव ऐसे निज निधान को नहीं देखेगा। श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं – हे जिनेन्द्र आदिनाथ प्रभु! आपने केवलज्ञान प्रगट करके दिव्यध्वनि द्वारा जगत को अचिन्त्य चैतन्य निधान बताया है। ऐसा निधान बताया है कि मोक्षार्थी जीव उसके समक्ष विशाल राजपाट को तुच्छ तृणसम समझकर, उसे छोड़कर, मुनि होकर उस चैतन्य निधान को साधने के लिये वन में चल निकले।

अहा! तीर्थङ्करदेवों और सन्तों ने चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ दिखाकर निजवैभव का स्वानुभव कराया है। अरे जीवों! देखो रे देखो... अपने चैतन्य निधान को देखो, जिसे देखते ही अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित हो, ऐसा निधान तुम्हारे अन्तर में ही भरा है। स्वसन्मुख होकर उस आनन्द का स्वानुभव करो।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ ५१

गाथा २०५

अब, जीव के ही उत्तम तत्त्वपना कैसे है ? सो कहते हैं —

अंतरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि।
णाणविहीणं दव्वं, हियाहियं णेय जाणेदि॥

जीव अन्तर तत्त्व है, बाकी सभी बहि तत्त्व हैं।
वे द्रव्य ज्ञानविहीन, हेयाहेय को नहिं जानते॥

अन्वयार्थ : [जीवो अंतरतच्चं] जीव अन्तरतत्त्व है, **[सेसाणि बाहिरतच्चं हवंति]** बाकी के सब द्रव्य बाह्यतत्त्व हैं; **[णाणविहीणं दव्वं]** वे द्रव्य ज्ञानरहित हैं **[हियाहियं णेय जाणेदि]** और हेय-उपादेय वस्तु को नहीं जानते हैं।

भावार्थ : जीवतत्त्व के बिना सब शून्य है; इसलिए सबका जाननेवाला तथा हेय -उपादेय का जाननेवाला जीव ही परमतत्त्व है।

गाथा २०५ पर प्रवचन

अपना आत्मा ही अन्त:तत्त्व है, शेष सब बाह्यतत्त्व हैं। जीवतत्त्व के बिना स्व-पर के अस्तित्व को कौन जानेगा ? ज्ञान के बिना सब शून्यवत् है, क्योंकि ज्ञान ही सबके अस्तित्व को जानता है। जगत् में तो समस्त पदार्थ हैं परन्तु ज्ञान बिना उनका अस्तित्व कौन निश्चित करेगा ? ज्ञान के अस्तित्व में पर का अस्तित्व ज्ञात होता है। जीवतत्त्व ही सबका प्रकाशक और हेय -उपादेय का विवेक करनेवाला है; इसलिए वही परमतत्त्व है। यह पर है — ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान है, इसलिए ज्ञान का अस्तित्व निश्चित किये बिना पर के अस्तित्व को जानेगा कौन ? जीवतत्त्व ही सबको जाननेवाला है, उसके बिना सब शून्य है; इसलिए सबको जानकर हेय-उपादेय का विवेक करनेवाला निज जीवतत्त्व एक ही परमतत्त्व है, वही उपादेय है — ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार लोक के समस्त पदार्थों में उत्तम जीवतत्त्व का वर्णन किया। ●●

गाथा २०६-२०७

अब, पुद्‌गलद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

सव्वो लोयायासो, पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो।
सुहमेहिं बायरेहिं य, णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं॥
जे इन्दिएहिं गिज्झं, रूवरसगंधफासपरिणामं।
तं चिय पुग्गलदव्वं, अणंतगुणं जीवरासीदो॥

विविध शक्ति सहित एवं, सूक्ष्म बादर जो सभी।
भरपूर पुद्‌गल द्रव्य से, सम्पूर्ण लोकाकाश ही॥
रूप रस स्पर्श एवं, गन्ध इन्द्रिय ग्राह्य हैं।
वे सभी पुद्‌गल द्रव्य, जीवों से अनन्त गुणे कहे॥

अन्वयार्थ : [सव्वो लोयायासो] सब लोकाकाश **[णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं]** नाना प्रकार की शक्तिवाले **[सुहमेहि वायरेहिं य]** सूक्ष्म और बादर **[पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो]** पुद्‌गलद्रव्यों से सब जगह भरा हुआ है।

[जे] जो **[रूवरसगंधपासपरिणामं]** रूप, रस, गन्ध, स्पर्श परिणामस्वरूप से **[इंदिएहिं गिज्झं]** इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य हैं, **[तंचिय पुग्गल-दव्वं]** वे सब पुद्‌गलद्रव्य हैं, **[अणंतगुणं जीवरासीदो]** वे संख्या में जीवराशि से अनन्तगुणे द्रव्य हैं।

भावार्थ : शरीर आदि अनेक प्रकार की परिणमनशक्तियुक्त सूक्ष्म-बादर पुद्‌गलों से सब लोकाकाश भरा हुआ है।

गाथा २०६-२०७ पर प्रवचन

अब, पुद्गलद्रव्य का स्वरूप बतलाते हैं।

पुद्गलद्रव्य में उसकी स्वयं की अनन्त शक्तियाँ हैं। उसमें कर्मरूप अवस्था हुई, वह जीव के विकार के कारण नहीं हुई है, अपितु उसकी अपनी परिणमनशक्ति से ही वह अवस्था हुई है। शरीर, मन, वाणी, कर्म इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थारूप परिणमित होने की पुद्गल की ही शक्ति है; किसी अन्य के कारण पुद्गल में परिणमन नहीं होता है।

देखो, पुद्गल में अनन्त शक्तियाँ हैं परन्तु उस पुद्गल को अपनी शक्तियों का पता नहीं है। उसकी शक्तियों को जाननेवाला भी जीव है, फिर भी जीव के कारण पुद्गल की शक्तियाँ नहीं हैं। तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो और परमऔदारिक शरीर की रचना हो — यह सब अवस्थाएँ पुद्गल की परिणमनशक्ति से ही होती हैं; जीव के शुभराग के कारण पुद्गल में कोई अवस्था नहीं होती।

देखो, यह लोक के द्रव्यों का स्वरूप! धर्मीजीव, द्रव्यों के इस स्वरूप का विचार करता है।

जगत् में विविध प्रकार के शरीर, विविध प्रकार की भाषाएँ, विविध प्रकार के कर्म — ऐसी अनेक प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। उन समस्त अवस्थाओं को कौन करता है? पुद्गल की परिणमनशक्ति से ही वैसी अवस्थाएँ होती हैं; जीव उन्हें नहीं करता है।

देखो, पुद्गलद्रव्य का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम ही यह बात कही है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं अनेक प्रकार की परिणमनशक्ति से सहित है। **नानाविधशक्तियुक्तैः** अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वयं अनेक प्रकार की अवस्थारूप परिणमित होने की शक्तिवाला है। यह सिद्धान्त सर्वत्र लक्ष्य में रखने योग्य है।

जगत् में जीवों की संख्या अनन्त है और पुद्गलों की संख्या उनसे से अनन्तगुनी है।

●●

गाथा २०८-२०९

अब, पुद्गलद्रव्य के जीव के उपकारीपने को कहते हैं —

जीवस्स बहुपयारं, उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं।
देहं च इन्दियाणि य, वाणी उस्सासणिस्सासं॥
अण्णं पि एवमाई, उवयारं कुणदि जाव संसारं।
मोह अणाणमयं पि य, परिणामं कुणदि जीवस्स॥

देह इन्द्रिय वचन या उच्छ्वास, अरु निःश्वास है।
बहु भाँति पुद्गल द्रव्य करता, जीव का उपकार है॥
उपकार करता और भी, जब तक अहो संसार है।
मोह अरु अज्ञानमय, परिणाम जीवों का करे॥

अन्वयार्थ : [**पुग्गलं दव्वं**] पुद्गलद्रव्य, [**जीवस्स**] जीव के [**देहं च इंदियाणि य**] देह, इन्द्रिय [**वाणी उस्सासणिस्सासं**] वचन, उस्वास, निस्वास [**बहुपयारं उवयारं कुणदि**] बहुत प्रकार उपकार करता है।

पुद्गलद्रव्य, [**जीवस्स**] जीव के [**अण्णं पि एवमाई**] पूर्वोक्त को आदि लेकर अन्य भी [**उवयारं कुणदि**] उपकार करता है। [**जाव संसारं**] जब तक इस जीव को संसार है, तब तक [**मोह अणाणमयं पि य परिणामं कुणदि**] मोहपरिणाम (पर द्रव्यों से ममत्व परिणाम), अज्ञानमयी परिणाम — ऐसे सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि अनेक प्रकार करता है। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ जब उपादान कार्य करे, तब संयोग को निमित्तकारणपने का आरोप है — ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।

भावार्थ : संसारी जीव के देहादिक पुद्‌गलद्रव्य से रचे गए हैं, इनसे जीव का जीवितव्य है, यह उपकार है।

गाथा २०८-२०९ पर प्रवचन

यहाँ उपकार शब्द का आशय निमित्त समझना चाहिए। देह, मन, वाणी इत्यादि पुद्‌गल की रचना हैं। जीव को शरीर आदि का संयोग होता है, इस अपेक्षा से पुद्‌गल का उपकार कहा गया है। उपकार का अर्थ कल्याण करता है — ऐसा नहीं है। मरण में भी पुद्‌गल का उपकार कहेंगे तो क्या मार डालने में भी उपकार होता है? उसमें पुद्‌गल का निमित्तपना है — इस अपेक्षा से उपकार कहा है। जीव को संसार में परिभ्रमण करने में भी पुद्‌गल का उपकार है। पुद्‌गल से रचित शरीर, वाणी इत्यादि की ममता करके जीव, संसार में भ्रमण करता है। इस अपेक्षा से पुद्‌गलद्रव्य ने जीव पर उपकार किया कहा जाता है। जीव को इच्छा होती है कि ऐसी भाषा बोली जाए तो ठीक और पुद्‌गल, भाषारूप परिणमित होते हैं तो वहाँ पुद्‌गल का उपकार कहा गया है। संसारी जीवद्रव्य व्यवहार से दश प्राणों से जीता है और द्रव्यप्राण पुद्‌गलमय हैं; इसलिए जीव के जीवन में पुद्‌गल का उपकार कहा गया है। दश प्राण तथा राग, द्वेष, मोह इत्यादि भावों में जीव को पुद्‌गलद्रव्य का निमित्तपना है, यह बतलाने के लिए उसका उपकार कहा गया है।

देखो, यह उपकार! जीव को मोहभाव होने में भी पुद्‌गल का उपकार! पुद्‌गलकर्म मोह में निमित्त है, मोहभाव करके जीव को संसार में परिभ्रमण करने में कर्म का आश्रय है, इसलिए कर्म ने जीव पर उपकार किया! जिस जीव को संसार में परिभ्रमण करना है, उसे परिभ्रमण में पुद्‌गलकर्म निमित्त है; इसलिए पुद्‌गल ने उस पर उपकार किया है! भाई! यह सब तो व्यवहारनय के कथन हैं। वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर उपकार करता है — ऐसे जितने कथन हैं, वे सब व्यवहारनय के कथन हैं।

व्यवहारनय एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ मिलाकर कथन करता है परन्तु वैसे ही श्रद्धान से तो मिथ्यात्व होता है। कर्म, जीव को परिभ्रमण कराता है — ऐसा कथन भी व्यवहार से है। यहाँ तो पुद्‌गल की पहचान बतलाने के लिए यह कथन है। जीव के एकरूप स्वभावपरिणाम नहीं रहें और राग-द्वेष-मोह इत्यादि विशेष परिणाम हों, उसमें पुद्‌गलकर्म

निमित्त है; इस कारण यहाँ निमित्तपने की पहचान कराने के लिए यह कहा है कि जीव के राग-द्वेष-मोह इत्यादि अनेक प्रकार के परिणामों को पुद्गल करता है — ऐसा उसका उपकार है। उपकार अर्थात् जीव के विकार होने में निमित्त होना।

जीव को सुख-दुःख की कल्पना होती है, उसमें पुद्गल का उपकार है। जीवन-मरण, हर्ष-शोक इन समस्त भावों में पुद्गल निमित्त है। जब तक आयुष्य हो, तब तक जीवन रहता है और आयुष्य समाप्त होने पर मरण होता है; इस प्रकार जीवन-मरण इत्यादि में पुद्गलकर्म निमित्त है। जीव का सारा संसार पुद्गल के निमित्त से है। सांसारिक जीव को अनेक प्रकार के परिणाम होते हैं, उसमें पुद्गलद्रव्य निमित्त है; इस प्रकार समस्त विकारीपरिणामों में पुद्गलद्रव्य निमित्त होता है — ऐसी उसकी शक्ति है। ●●

सन्तों ने किया है गजब का काम

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे; उन्होंने तो तीर्थङ्कर जैसा कार्य किया है और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। सन्तों ने अजब-गजब का काम किया है। अहो! आकाशवत् निरालम्बी मुनिराज तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। उनकी वाणी निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके निकलती है। ऐसे वीतरागी सन्तों का परम हितोपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊर्ध्व ले जाना अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी का पहला कर्तव्य है।

अहा! सुख के सागर दिगम्बर सन्तों को देखते ही सर्वज्ञ की और जिनशासन की प्रतीति हो जाती है। कुन्दकुन्दाचार्य की क्या बात! उन्होंने तो तीर्थङ्करदेव और केवली भगवन्तों को साक्षात् देखा और समयसार, प्रवचनसार इत्यादि में समस्त श्रुत का रहस्य संग्रहीत करके आत्मा का साक्षात्कार कराया है। सन्त भगवन्तों द्वारा कथित श्रुत/शास्त्र अतीन्द्रिय आत्मसुख की रुचि कराकर बाह्य विषयों से विरक्त कराता है।

नमस्कार हो, श्रुत और श्रुत प्रकाशक सन्तों को।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्नसंग्रह, पृष्ठ ९९

गाथा २१०

अब, उसी प्रकार जीव भी जीव का उपकार करता है, ऐसा कहते हैं —

जीवा वि दु जीवाणं, उवयारं कुणदि सव्वपच्चक्खं।
तत्थ वि पहाणहेऊ, पुण्णं पावं च णियमेण॥

जीव भी उपकार करते, जीव का प्रत्यक्ष है।
उसमें नियम से पुण्य एवं, पाप हेतु प्रधान है॥

अन्वयार्थ : [जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणदि] जीव भी जीवों के परस्पर उपकार करते हैं, **[सव्व पच्चक्खं]** यह सब के प्रत्यक्ष ही है। स्वामी, सेवक का; सेवक, स्वामी का; आचार्य, शिष्य का; शिष्य, आचार्य का; पिता-माता, पुत्र का; पुत्र, पिता-माता का; मित्र, मित्र का; स्त्री, पति का उपकार करते हैं, इत्यादि प्रत्यक्ष माने जाते हैं। **[तत्थ वि]** उस परस्पर उपकार में **[पुण्णं पावं च णियमेण]** पुण्य-पापकर्म नियम से **[पहाणहेऊ]** प्रधान कारण हैं।

गाथा २१० पर प्रवचन

अब, यह बतलाते हैं कि एक जीव भी दूसरे जीव का उपकार करता है अर्थात् निमित्त होता है।

गुरु, शिष्य पर उपकार करता है अर्थात् शिष्य को समझाने में गुरु निमित्त है — ऐसा जगत् में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। एक जीव ने दूसरे जीव को बचाया; एक जीव ने दूसरे जीव को मारा — ये सब कथन परस्पर निमित्तपना बताने के लिए हैं। इनका प्रयोजन निमित्त है, इतना सिद्ध करना है। निमित्त ने उपकार किया, यह कब कहलाता है ? जब नैमित्तिक पर्याय हुई, तब अर्थात् नैमित्तिक कार्य के समय दूसरा निमित्त होता है — ऐसा समझना चाहिए। एक-दूसरे

में एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में अभाव है, इसलिए वे एक-दूसरे में कुछ नहीं करते हैं। शिष्य को सम्यग्ज्ञान और वीतरागता हुई है, वह उसकी स्वकाल की पर्याय से हुई है, तब आचार्य को निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार वैयावृत्त्य इत्यादि में शिष्य भी आचार्य को निमित्त होता है।

माता-पिता ने पुत्र पर उपकार किया; मित्र ने मित्र पर उपकार किया — ये सब निमित्त के कथन हैं। जगत् में निमित्त है परन्तु निमित्त के कारण कार्य होता है — ऐसा नहीं है। जगत् में एक जीव दूसरे जीव के सुख-दुःख इत्यादि में निमित्त होता है परन्तु कब? जब सामनेवाले जीव को उसके पुण्य-पाप की योग्यता से वैसा संयोग प्राप्त हो, तब दूसरे जीव को उसमें निमित्त कहा जाता है।

सुख-दुःख इत्यादि में पुण्य-पापकर्म प्रधान निमित्तकारण हैं और वहीं माता-पिता, शत्रु-मित्र आदि जीवों को उपकार या निमित्त होते हैं। सामनेवाले जीव के पुण्य-पाप के उदय के बिना कोई भी जीव अन्य को निमित्त नहीं हो सकता है। अन्य जीव को आहारादि मिलने का पुण्ययोग न हो तो कोई दूसरा जीव उसे आहारादि देने में निमित्त भी नहीं हो सकता है; इसलिए पुद्गलकर्म प्रधान कारण है।

देखो, यहाँ निमित्तरूप से प्रधान कारण कौन है? — यह बतलाना है परन्तु निमित्त की प्रधानता से जीव का कार्य हुआ — ऐसा नहीं है। कार्य तो सर्वत्र उपादान की प्रधानता से ही होता है परन्तु उसके अनन्त निमित्तों में प्रधान निमित्त कौन है? यहाँ इन सबकी पहचान करायी गयी है। जीव को आहार प्राप्त हुआ, उसमें प्रधान निमित्त उसके पूर्व का पुण्योदय है — यह कहकर पुद्गल में निमित्त होने की शक्ति है, यह बतलाया है। निमित्त किसे होता है? जिसके उपादान में ऐसी योग्यता हो, उसे ही निमित्त होता है; उपादान के बिना निमित्त किसका होगा?

●●

गाथा २११

अब, पुद्‌गल के बड़ी शक्ति है, ऐसा कहते हैं —

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स॥

ऐसी अपूरव शक्ति कोई, दिखे पुद्‌गल द्रव्य की।
शक्ति केवलज्ञान जिससे, नष्ट होती जीव की॥

अन्वयार्थ : [**पुग्गलदव्वस्स**] पुद्‌गलद्रव्य की [**का वि**] कोई [**एरिसी**] ऐसी [**अपुव्वा**] अपूर्व [**सत्ती**] शक्ति [**दीसदि**] दिखाई देती है, [**जाइ जीवस्स**] जिससे जीव का [**केवलणाणसहाओ विणासिदो**] केवलज्ञानस्वभाव नष्ट हो रहा है।

भावार्थ : जीव में अनन्त शक्ति हैं। उसमें केवलज्ञानशक्ति ऐसी है कि जिसके प्रगट होने पर यह जीव सब पदार्थों को एक समय में जान लेता है। ऐसे प्रकाश को पुद्‌गल नष्ट कर रहा है; नहीं होने देता है, सो यह अपूर्व शक्ति है। ऐसे पुद्‌गलद्रव्य का वर्णन किया।

गाथा २११ पर प्रवचन

देखो, जीव का उत्कृष्ट स्वभाव, केवलज्ञान है। वह जब अपनी योग्यता से अवरुद्ध होता है, तब उस केवलज्ञान के आवरण में निमित्त होने की उत्कृष्ट शक्ति पुद्‌गलद्रव्य में है। पुद्‌गलद्रव्य ने जीव की केवलज्ञान शक्ति का घात किया — यह व्यवहार का कथन है; वस्तुतः ऐसा है नहीं। जीव के अपने अपराध से स्वयं का केवलज्ञान अवरुद्ध हुआ है और पुद्‌गल में उत्कृष्टतम ऐसी शक्ति है कि जीव के केवलज्ञान के आवरण में वह निमित्त होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह केवलज्ञान के आवरण में निमित्त हो।

जीव ने स्वयं अपने षट्कारकों से ज्ञान की पर्याय को हीन किया है, इसलिए केवलज्ञान अवरुद्ध हुआ है, यह यथार्थ वस्तुस्थिति है और उस समय सामने पुद्‌गलकर्म में केवलज्ञान को आवरण में निमित्त हो — ऐसा उत्कृष्ट परिणमन है। यह उसका स्वतन्त्र परिणमन है, तब इस केवलज्ञानावरणीय कर्म ने जीव के केवलज्ञान का घात किया — ऐसा कहना निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है, इसलिए व्यवहार कथन है।

जीव का उत्कृष्ट परिणमन होने पर केवलज्ञान होता है — ऐसी जीव की उत्कृष्ट शक्ति है और केवलज्ञान न होने में निमित्त हो — ऐसी उत्कृष्ट शक्ति पुद्‌गलकर्म की है। इस प्रकार कहकर जीव और पुद्‌गल दोनों के स्वभाव का ज्ञान कराया है परन्तु कर्म, जीव के गुणों /निर्मल पर्यायों का घात करता है — ऐसा इस कथन का अर्थ नहीं है। जीव के अपने अपराध से ज्ञान का घात होता है, तब उसमें निमित्त होने की योग्यता पुद्‌गल में हैं।

एक जीव, दूसरे जीव का उपकार करता है, उसमें पूर्व का पुण्य निमित्त है; बाह्य में अनुकूल साधन पुण्य के बिना नहीं मिलते। माता-पिता, पुत्र की सेवा करते हैं तो उसमें माता -पिता ने उपकार किया — ऐसा कहा जाता है परन्तु वहाँ प्रधान निमित्त तो पुत्र का पुण्य-उदय है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य में, मालिक-चाकर में भी पूर्व का पुण्य ही मुख्य निमित्त है। यहाँ पुण्य को मुख्य निमित्त कहा है, वह बाह्य अन्य जीवों की अपेक्षा से उसकी प्रधानता बतलाने के लिए कहा है परन्तु उपादान से ज्यादा उसकी प्रधानता नहीं है। कार्य तो उपादान से ही होता है अर्थात् उपादान ही प्रधान हेतु है परन्तु उस समय निमित्तों में प्रधान निमित्त क्या है ? यह बतलाने के लिए पूर्व कर्म को प्रधान निमित्त कहा है - ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार यह तो जीव की बात हुई।

अब, पुद्‌गलद्रव्य में भी ऐसी शक्ति है कि जीव अपना केवलज्ञान प्रगट नहीं करता, तब उसे केवलज्ञान न होने में पुद्‌गल निमित्त होता है। निमित्तरूप से पुद्‌गल का उत्कृष्ट परिणमन हुआ है, वह यहाँ बतलाया है परन्तु किसी कर्म के कारण जीव की दशा हीन होती है — ऐसा नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु अपनी कालादि लब्धिसहित ही है अर्थात् पदार्थ अपनी कालादि लब्धि से परिणमन करता है, उसे रोकने में कोई समर्थ नहीं है और दूसरा कोई उसके परिणमन का कर्ता नहीं हैं। ●●

गाथा २१२-२१४

अब, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

धम्ममधम्मं दव्वं, गमणट्ठाणाण कारणं कमसो।

जीवाण पुग्गलाणं, बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि॥

जीव-पुद्गल की गति अरु, स्थिति में निमित्त हैं।

धर्म और अधर्म दोनों, द्रव्य लोक प्रमाण हैं॥

अन्वयार्थ : [जीवाण पुग्गलाणं] जीव और पुद्गल, इन दोनों द्रव्यों को **[गमणट्ठाणाण कारणं कमसो]** गमन और अवस्थान (ठहरना) में सहकारी अनुक्रम से कारण **[धम्ममधम्मं दव्वं]** धर्म और अधर्मद्रव्य हैं, **[बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि]** ये दोनों ही लोकाकाश परिणाम प्रदेशों को धारण करते हैं।

भावार्थ : जीव-पुद्गल को गमन का सहकारीकारण तो धर्मद्रव्य है और स्थिति का सहकारी-कारण अधर्मद्रव्य है। ये दोनों लोकाकाश प्रमाण हैं।

अब, आकाशद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

सयलाणं दव्वाणं, जं दादूं सक्कदे हि अवगासं॥

तं आयासं दुविहं, लोयालोयाण भेयेण॥

सब द्रव्य को अवकाश देने, में समर्थ पदार्थ जो।

आकाश है वह लोक और, अलोक के द्वय भेद युत॥

अन्वयार्थ : [जं] जो **[सयलाणं दव्वाणं]** सब द्रव्यों को **[अवगासं]** अवकाश

[दादुं सक्कदे] देने को समर्थ है, **[तं आयासं]** उसको आकाशद्रव्य कहते हैं; **[लोयालोयाण भेयेण दुविहं]** वह लोक-अलोक के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ : जिसमें सब द्रव्य पाये जाते हैं — ऐसे अवगाहनगुण को धारण करता है, वह आकाशद्रव्य है। जिनमें पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, सो तो लोकाकाश है और जिसमें अन्य द्रव्य नहीं पाये जाते, वह अलोकाकाश है — ऐसे दो भेद हैं।

अब, आकाश में सब द्रव्यों को अवगाहन देने की शक्ति है, वैसी अवकाश देने की शक्ति सब ही द्रव्यों में है — ऐसा कहते हैं —

सव्वाणं दव्वाणं, अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं॥
जह भसमपाणियाणं, जीवपएसाण जाण बहुयाणं॥

परमार्थ से सब द्रव्य में, अवगाहशक्ति जानिए।
ज्यों भस्म अरु जल में रहे, त्यों जीव के सब देश में॥

अन्वयार्थ : [सव्वाणं दव्वाणं] सब ही द्रव्यों के परस्पर **[परमत्थं]** परमार्थ से (निश्चय से) **[अवगाहणसत्ति अत्थि]** अवगाहना देने की शक्ति है, **[जह भसमपाणियाणं]** जैसे, भस्म और जल के अवगाहनशक्ति है; **[जीवपएसाण जाण बहुयाणं]** वैसे ही जीव के असंख्य प्रदेशों को जानना चाहिए।

भावार्थ : जैसे, जल को पात्र में भरकर, उसमें भस्म डालते हैं सो समा जाती है, उसमें मिश्री डालते हैं तो वह भी समा जाती है और उसमें सूई घुसाई जाती है तो वह भी समा जाती है; वैसे अवगाहनशक्ति को जानना चाहिए।

गाथा २१२-२१४ पर प्रवचन

एक-दूसरे को परस्पर अवगाहन दे, ऐसी सामान्य अवगाहनशक्ति तो समस्त द्रव्यों में है। यदि सभी द्रव्यों में परस्पर अवगाहन देने की शक्ति न हो तो एक क्षेत्र में छहों द्रव्य कैसे रह सकते हैं? परन्तु आकाश में ऐसी विशेष अवगाहनशक्ति है कि वह एकसाथ समस्त द्रव्यों को अवगाहन देता है। समस्त द्रव्यों को एकसाथ अवगाहन दे — ऐसा स्वभाव तो आकाश

का ही है। धर्मास्तिकाय तो गति का कारण है परन्तु वह समस्त द्रव्यों को अवगाहन दे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जैसे, भस्म और पानी एक-दूसरे को जगह देते हैं, भस्म भरी हो और उसमें पानी डालें तो समाहित हो जाता है; इसी प्रकार जीव के असंख्य प्रदेश में वहाँ दूसरा जीव भी रह सकता है, दूसरे परमाणु, कालाणु इत्यादि द्रव्य भी रह सकते हैं। इस प्रकार समस्त द्रव्यों में ऐसा अवगाहनस्वभाव है कि एकक्षेत्र में रहने में कोई किसी को व्यवधान नहीं करता। आकाश तो समस्त द्रव्यों को जगह देता ही है परन्तु तदुपरान्त दूसरे द्रव्य भी परस्पर अवगाहन देते हैं।

जैसे, किसी पात्र में जल भरकर उसमें भस्म डाल दी जाए तो वह उसमें समाहित हो जाती है तथा उसमें शक्कर डाल दें तो वह भी उसमें समाहित हो जाती है और उसमें सुई घोंप दी जाए तो वह भी उसमें समाहित हो जाती है — ऐसी अवगाहनशक्ति जानना चाहिए।

●●

सर्वज्ञ के प्रतिनिधि वीतरागी सन्त

सन्त तो सर्वज्ञ के प्रतिनिधि हैं, वे जगत को सर्वज्ञ का सन्देश सुनाते हैं। अरे जीवों! प्रतीति तो करो कि तुम्हारे में ऐसा सर्वज्ञपद भरा है...। तुम जगत के पदार्थरहित ही स्वयं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हो, मुझे अमुक वस्तु के बिना नहीं चलता - ऐसा तुमने पराधीनदृष्टि से माना है और इसी कारण पराश्रय से संसार में परिभ्रमण कर रहे हो। वस्तुतः तो तुम्हारा आत्मा पर के बिना ही अर्थात् पर के अभाव से ही, पर की नास्ति से ही स्वयं अपने से टिका हुआ है। प्रत्येक तत्त्व अपनी अस्ति से और पर की नास्ति से ही टिका हुआ है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म (गुजराती), अङ्क ३०५, पृष्ठ ७

गाथा २१५

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि सब ही द्रव्यों में अवगाहनशक्ति है तो आकाश का असाधारणगुण कैसे है ?

उसका उत्तर – जो परस्पर तो अवगाह सब ही देते हैं तथापि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है; इसलिए इसमें सब ही समाते हैं, यह असाधारणता है।

जदि ण हवदि सा सत्ती, सहावभूदा हि सव्वदव्वाणं।
एक्केकास पएसे, कह ता सव्वाणि वट्टंति॥

सब द्रव्य में अवगाह शक्ति, स्वभावतः यदि हो नहीं।
नभ के प्रत्येक प्रदेश में, सब द्रव्य कैसे रह सकें॥

अन्वयार्थ : [जदि] यदि **[सव्वदवाणं]** सब द्रव्यों के **[सहावभूदा]** स्वभावभूत **[सा सत्ती]** वह आवगाहनशक्ति **[ण हवदि]** न होवे तो **[एक्केकास पएसे]** एक-एक आकाश के प्रदेश में **[कह ता सव्वाणि वट्टंति]** सब द्रव्य कैसे रहते हैं ?

भावार्थ : एक आकाश के प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु (द्रव्य) रहते हैं। एक जीव का प्रदेश , एक धर्मद्रव्य का प्रदेश, एक अधर्मद्रव्य का प्रदेश, एक कालाणुद्रव्य — ऐसे सब रहते हैं। वह आकाश का प्रदेश, एक पुद्गल के परमाणु के बराबर है। यदि अवगाहनशक्ति न होवे तो कैसे रहे ?

गाथा २१५ पर प्रवचन

देखो, वीतराग सर्वज्ञ के अलावा अन्यत्र कहीं यह बात नहीं हो सकती।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि यदि समस्त द्रव्यों में अवगाहनशक्ति है तो वह अवगाहनशक्ति आकाश का असाधारणधर्म किस प्रकार सिद्ध हुआ ?

उसका **समाधान** इस प्रकार है कि यद्यपि परस्पर अवगाह तो सभी द्रव्य देते हैं, तथापि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है; इसलिए उसमें सभी द्रव्य समाहित हो जाते हैं। यही उसकी असाधारणता है।

आकाश का ऐसा विशेष अवगाहनस्वभाव है कि जगत के समस्त पदार्थों को एक ही साथ अवगाहन देता है और अन्य द्रव्य भी परस्पर अवगाहन देते हैं। आकाश के एक ही प्रदेश में अनन्त जीवों के अनन्त-असंख्यात प्रदेश रहते हैं अर्थात् एक आकाश प्रदेश में अनन्त जीवों के प्रदेश अलग-अलग रहते हैं। जगत् का कोई प्रदेश ऐसा नहीं है कि जहाँ समस्त जीवों के अनन्त प्रदेश न हों। एक जीव के तो असंख्य प्रदेश ही हैं और आकाश के एक प्रदेश में उसका असंख्यातवाँ भाग रहता है। एक आकाश प्रदेश में एक जीव के असंख्यात प्रदेश रहते हैं तो अनन्त जीव के कितने रहेंगे ? असंख्यात से भी अनन्तगुने प्रदेश रहते हैं।

देखो, एक जीव के प्रदेश लोकप्रमाण असंख्यात हैं। जब केवलीभगवान लोकपूरण समुद्घात करते हैं, तब आकाश के एक प्रदेश में उस जीव का एक प्रदेश रहता है। अब कोई जीव यदि आधा लोक रोके तो आकाश के एक प्रदेश पर उसके दो प्रदेश रहते हैं; इस तरह गिनती करते हुए लोक के असंख्यातवें भाग में जीव रहता है, तब आकाश के एक प्रदेश में जीव के असंख्य प्रदेश रहते हैं। उस एक जीव के असंख्य, ऐसे अनन्तजीवों के प्रत्येक के असंख्य प्रदेश एक ही आकाश प्रदेश में रहते हैं; इसलिए एक आकाश प्रदेश में समस्त जीवों के अनन्त प्रदेश रहते हैं।

एक जीव के सभी प्रदेश आकाश के एक प्रदेश में नहीं रह सकते। जीव, कम से कम असंख्य प्रदेश तो रोकता ही है परन्तु अलग-अलग जीवों के मिलाकर अनन्त प्रदेश एक आकाश प्रदेश में रहते हैं।

एक आकाश प्रदेश में जीवों के अनन्त प्रदेश; परमाणुओं के अनन्त प्रदेश; एक कालाणु (एक प्रदेश); धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश; अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश; इस प्रकार लोक में एक-एक प्रदेश में छहों द्रव्य रहते हैं — ऐसी प्रत्येक द्रव्य की भी परस्पर अवगाहनशक्ति है। लोक का ऐसा स्वभाव है और उसे जानने का जीव का स्वभाव है। ●●

गाथा २१६

अब, कालद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

सव्वाणं दव्वाणं, परिणामं जो करेदि सो कालो।
एक्केकासपएसे, सो वट्टदि एक्किको चेव॥

सब द्रव्य के परिणमन को, जो करे वह ही काल है।
एक एक प्रदेश नभ में, एक कालाणु रहे॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**सव्वाणं दव्वाणं परिणामं**] सब द्रव्यों के परिणाम (परिणमन/बदलाव) [**करेदि सो कालो**] करता है, सो कालद्रव्य है, [**सो**] वह [**एक्केकासपएसे**] एक-एक आकाश के प्रदेश पर [**एक्किो चेव वट्टदि**] एक-एक कालाणुद्रव्य वर्तता है।

भावार्थ : सब द्रव्यों को पर्यायें प्रति समय उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं; इस प्रकार के परिणमन में निमित्त कालद्रव्य है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशिवत् रहता है, यह निश्चयकाल है।

गाथा २१६ पर प्रवचन

स्वद्रव्य के परिणाम को परद्रव्य करता है — यह कहना व्यवहार का कथन है। काल को सिद्ध करने के लिए यहाँ यह कहा है कि कालद्रव्य सर्वद्रव्यों के परिणाम करता है, क्योंकि समस्त द्रव्यों को परिणमन में निमित्त होने की सामर्थ्य कालद्रव्य में ही है परन्तु परिणमित होने का स्वभाव किसका ? परिणमित होने का स्वभाव तो समस्त द्रव्यों का स्वयं का ही है। सिद्ध भगवन्त भी अपने-अपने परिणमनस्वभाव से ही परिणमित होते हैं, उन्हें काल के आधीन होकर बलजोरी से परिणमित नहीं होना पड़ता। प्रति समय प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उत्पन्न और विनष्ट होती है, इस परिणमन में कालद्रव्य निमित्तमात्र है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु स्थित है और वही निश्चयकाल है। ●●

गाथा २१७

अब कहते हैं कि परिणमने की शक्ति स्वभावभूत सब द्रव्यों में है; अन्यद्रव्य तो निमित्तमात्र है —

णियणियपरिणामाणं, णियणियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं वाहिरदव्वं, णिमित्तमित्तं वियाणेह॥

सब द्रव्य कारण हैं कहें, जिन स्वयं के परिणाम के।
अन्य बाह्य पदार्थ उसमें, निमित्तकारण जानिये॥

अन्वयार्थ : [णियणियपरिणामाणं णियणियदव्वं पि कारणं होदि] सब द्रव्य अपने-अपने परिणमन के उपादानकारण हैं, **[अण्णं वाहिरदव्वं]** अन्य बाह्य द्रव्य हैं, वे अन्य के **[णिमित्तमित्तं वियाणेह]** निमित्तमात्र जानों।

भावार्थ : जैसे, घड़े आदि में मिट्टी उपादानकारण है और चाक, दण्डादि निमित्तकारण हैं; वैसे ही सब द्रव्य अपनी पर्यायों को उपादानकारण हैं, तब कालद्रव्य तो निमित्तमात्र कारण है।

गाथा २१७ पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि परिणमित होने की शक्ति तो सर्वद्रव्यों में स्वभावरूप है और उसमें अन्य द्रव्य, निमित्तमात्र है।

अहो! सभी द्रव्यों में स्वभावभूत परिणमनशक्ति है, उसके बदले अज्ञानी जीव पराधीनपना खोजते हैं। सिद्ध से लेकर निगोद के समस्त जीव तथा परमाणु इत्यादि सभी द्रव्य अपनी -अपनी स्वभावशक्ति से ही परिणमित होते हैं। अपने परिणामों का उपादानकारण वे-वे द्रव्य

स्वयं ही है; काल के कारण किसी को परिणमन नहीं करना पड़ता। अन्य बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र हैं; उसमें सभी द्रव्यों को परिणमन में निमित्त होने का स्वभाव, कालद्रव्य में है।

जैसे, घड़ा, मिट्टी के परिणाम से ही होता है, बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र हैं; इसी प्रकार समस्त द्रव्यों का परिणमन अपने स्वभाव से ही होता है, अन्य द्रव्य उसका कर्ता नहीं है; बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है। ●●

धन्य उनका जीवन! धन्य उनका वैराग्य!!

दीक्षा के लिए तैयार हुए श्री जम्बूस्वामी अपनी शोकमग्न माता को वैराग्यपूर्वक सम्बोधन करते हैं – हे माता! तू शीघ्र ही शोक को छोड़... कायरता को छोड़.... इस संसार की समस्त अवस्थाएँ क्षणभङ्गुर हैं। जीव ने संसार के इन्द्रियसुख बारम्बार भोगे परन्तु उनसे तृप्ति नहीं हुई; इसलिए उन विषयों से अब बस होओ... अब तो मैं चैतन्य के अविनाशी सुख की साधना करूँगा। माता! तू आनन्दित होकर मुझे जिनदीक्षा की आज्ञा प्रदान कर। क्योंकि –

यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ। बारम्बार महान विभूतिसहित राजा भी हुआ है और बारम्बार कीड़ा भी हुआ है। तरङ्गरूप इस संसार में किसी को सुख अथवा दुःख स्थिर नहीं रहते। तब फिर हे माता! इसमें हर्ष अथवा शोक क्या? एक चैतन्य तत्त्व ही स्थायी शरणरूप है, मैं अब उसी की साधना करूँगा और इसी भव में जन्म-मरण का अन्त करूँगा।

इस प्रकार वैराग्यरूपी अमृत से माता को सम्बोधन कर, जम्बूकुमार ने वन की ओर प्रयाण किया। सुधर्मस्वामी के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार की और कुछ ही वर्षों में केवलज्ञान प्रगट करके उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। अहो! धन्य उनका जीवन और वैराग्य! *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्नसंग्रह, पृष्ठ ७१*

गाथा २१८

अब कहते हैं कि सब परस्पर उपकार है, सो सहकारी निमित्तमात्र कारणभाव से है —

सव्वाणं दव्वाणं, जो उवयारो हवेइ अण्णोणं।
सो चिय कारणभावो, हवदि हु सहयारिभावेण॥

सब द्रव्य का है परस्पर, उपकार श्री जिनवर कहें।
सहकारि कारण भाव से ही, उन्हें कारण जानिये॥

अन्वयार्थ : [सव्वाणं दव्वाणं जो] सब ही द्रव्यों के जो **[अण्णोणं]** परस्पर **[उवयारो हवेइ]** उपकार है, **[सो चिय]** वह **[सहयारिभावेण]** सहकारीभाव से **[कारणभावो हवदि हु]** कारणभाव होता है, यह प्रगट है।

गाथा २१८ पर प्रवचन

सब द्रव्यों को परस्पर उपकार है, वह सहकारीकारणभाव से है — ऐसा अब कहते हैं।

दूसरा द्रव्य निमित्तरूप उपस्थित होता है परन्तु कार्य तो उपादान की शक्ति से ही होता है। पण्डित बनारसीदासजी ने भी कहा है कि —

उपादान निजगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।

अर्थात् जहाँ उपादान होता है, वहाँ निमित्तरूप से परवस्तु होती है; तथापि परिणाम तो द्रव्य की अपनी-अपनी परिणमनशक्ति से ही होते हैं। ●●

गाथा २१९

अब, द्रव्यों के स्वभावभूत अनेक शक्तियाँ हैं, उनका निषेध कौन कर सकता है? — ऐसा कहते हैं —

कालाइलद्धिजुत्ता, णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं, ण सक्कदे को वि वारेदुं॥

कालादि लब्धि युक्त नाना, शक्ति से संयुक्त हैं।
सब द्रव्य परिणमते स्वयं को, रोक सकता कौन है॥

अन्वयार्थ : [अत्था] सब ही पदार्थ **[कालाइलद्धिजुत्ता]** काल आदि लब्धिसहित **[णाणासत्तीहि संजुदा]** अनेक प्रकार की शक्तिसहित हैं, **[हि सयं परिणममाणा]** स्वयं परिणमन करते हैं; **[को वि वारेदुं ण सक्कदे]** उनको परिणमन करते हुए कोई निवारण करनेमें समर्थ नहीं है।

भावार्थ : सब द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल सामग्री को पाकर आप ही भावरूप परिणमन करते हैं, उनका कोई निवारण नहीं कर सकता है।

गाथा २१९ पर प्रवचन

जीव, जीव के स्वभावरूप रहकर, अपनी शक्ति से ही सुकाललब्धि से परिणमित होता है। जीव, कोई पुद्गलरूप परिणमित नहीं हो जाता और पुद्गल, जीवरूप नहीं हो जाता; सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं। जीव, जीवरूप से परिणमित होता है; पुद्गल, पुद्गलरूप से परिणमित होता है; इस प्रकार छहों द्रव्य अपनी-अपनी स्वकाललब्धि से ही परिणमित होते हैं।

जीव को केवलज्ञान प्रगट नहीं है, वह जीव की अपनी काललब्धि से ही प्रगट नहीं है, केवलज्ञानावरण कर्म ने उसे ढक दिया है — यह तो कथनमात्र है। स्वकाललब्धि से स्वयं परिणमते हुए छहों द्रव्यों को रोकने में कोई समर्थ नहीं हैं। कोई द्रव्य पर के कारण परिणमित नहीं होता परन्तु अपना स्वभाव और अपने स्वकाल की लब्धि पाकर ही स्वयं परिणमित होता है।

यह जीव केवली की सभा में गया, वहाँ भी अपनी काललब्धि से युक्त होकर ही परिणमित होता है; केवली भगवान इसे परिणमित नहीं कराते। निगोद का जीव अपनी कालादिलब्धि से ही निगोद में रहा है, उसे कर्म ने वहाँ नहीं रोका है तथा जब जीव, निगोद से निकलकर स्वकालादिलब्धि से ही मनुष्य होता है, तब कोई कर्म उसे परिणमन करते हुए रोकता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय की पर्याय स्वतन्त्र है; तब मैं, पर का क्या कर सकता हूँ और पर, मेरा क्या कर सकता है ? इसलिए ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की श्रद्धा करके, वीतरागभावरूप रहना ही धर्म है।

भाई ! जगत् के पदार्थ जैसे परिणमित होते हैं, वैसे उन्हें जानने का जीव का स्वभाव है परन्तु उन्हें परिणमते हुए रोकने में कोई समर्थ नहीं हैं। केवली भगवन्त अपनी पूर्णता करके सिद्ध हो गये परन्तु अन्य जीवों को तो वे भी केवली नहीं बना सके। जीव स्वयं परिणमित होने से, उसमें अन्य क्या कर सकता है ? अपनी शक्ति से स्वयं परिणमते हुए द्रव्यों को रोकने के लिए कोई समर्थ नहीं है।

देखो, पहले कहा था कि पुद्गलद्रव्य, जीव के केवलज्ञान का घात करता है और यहाँ कहा है कि समस्त द्रव्य अपनी काललब्धि से परिणमित होते हैं, तो क्या इन दोनों कथनों में विरोध है ? नहीं, विरोध नहीं किन्तु पहला कथन तो पुद्गल का स्वरूप बताने के लिए निमित्त के उपचार से किया गया था और यह कथन वास्तविक है।

जीव अपनी शक्ति से ही ज्ञान की हीनतारूप परिणमित होता है। कालाणु, धर्मास्तिकाय इत्यादि समस्त द्रव्यों में अपनी-अपनी कालादि लब्धियाँ हैं; मात्र जीव में ही कालादिलब्धि है — ऐसा नहीं है। छहों द्रव्य अपनी-अपनी कालादिलब्धि से ही परिणमित हो रहे हैं। अन्य

द्रव्य भले ही निमित्त हो परन्तु पदार्थ तो अपने-अपने परिणामरूप स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल की सामग्री अनुसार ही परिणमित होते हैं, उन्हें कोई रोकनेवाला नहीं है।

मैं तो चिदानन्द ज्ञाता हूँ। जगत् के पदार्थ, उनकी पर्याय की कालादिलब्धि से परिणमित हो रहे हैं, मैं उनका ज्ञाता हूँ — ऐसी प्रतीति करना, धर्म है। यह मिथ्यानियतवाद नहीं है परन्तु वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय है। गोम्मटसार में मिथ्यादृष्टि के नियतवाद का वर्णन है, वह अलग बात है। वहाँ तो वह जीव, सर्वज्ञ की प्रतीति किये बिना नियत को मानता है; इसलिए उसका नियतवाद मिथ्या है और यहाँ तो इस स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा ३२१-३२२ में कहेंगे कि —

'जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जन्म-मरण तथा उपलक्षण से सुख-दुःख, रोग, दरिद्रता इत्यादि होना सर्वज्ञदेव ने जाना है, वह उसी प्रकार नियम से होना है और इसी अनुसार होने योग्य है। उस जीव को उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से नियम से होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र, तीर्थङ्करदेव कोई भी बदल नहीं सकते — ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता है।'

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि जीव, सर्वज्ञ के निर्णयसहित और अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिसहित ऐसे वस्तुस्वरूप विचार करता है, वह मिथ्यानियतवाद नहीं किन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति है।

आशय यह है कि सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, सामग्री पाकर स्वयं ही भावरूप परिणमित होते हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता है।

लोक के समस्त द्रव्य अपने स्वकाल से परिणमित हो रहे हैं। जगत् में प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु इत्यादि पदार्थ अपनी कालादिलब्धि को प्राप्त करके स्वयं परिणमित हो रहे हैं और वहाँ निमित्तरूप से योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल होता है परन्तु पदार्थ अपनी शक्ति से ही परिणमित होता है। जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में होना है, उसे रोकने में अथवा बदलने में कोई समर्थ नहीं है। आत्मा का स्वभाव उसे वीतरागभाव से जानने का है। तीर्थङ्कर इन्द्र, नरेन्द्र इत्यादि कोई भी दूसरे की पर्याय में फेरफार करने में समर्थ नहीं हैं। ●●

गाथा २२०

अब, व्यवहारकाल का निरूपण करते हैं —

जीवाण पुग्गलाणं, जे सुहुमा बादरा य पज्जाया।
तीदाणागदभूदा, सो ववहारो हवे कालो॥

पर्याय हैं जो सूक्ष्म बादर, जीव पुद्गल द्रव्य की।
हो चुकी हैं, होएगी, व्यवहार काल सुजानिये॥

अन्वयार्थ : [जीवाण पुग्गलाणं] जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य के **[सुहुमा बादरा य पज्जाया]** सुक्ष्म तथा बादर पर्याय हैं, **[जे]** वे **[तीदाणागदभूदा]** अतीत हो चुके हैं, अनागत/आगामी होयेंगे, वर्तमान हैं, **[सो ववहारो कालो हवे]** सो ऐसा व्यवहार काल होता है।

भावार्थ : जो जीव-पुद्गल के स्थूल-सूक्ष्म पर्याय हैं, वे जो हो चुके अतीत कहलाए; जो आगामी होयेंगे, उनको अनागत कहते हैं; जो वर्त रहे हैं, सो वर्तमान कहलाते हैं। इनको जितना काल लगता है, उस ही को व्यवहारकाल नाम से कहते हैं। सो जघन्य तो पर्याय की स्थिति एक समयमात्र है और मध्यम, उत्कृष्ट अनेक प्रकार है।

आकाश के प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पुद्गल का परमाणु मन्दगति से जाता है, उतने काल को समय कहते हैं, ऐसे जघन्ययुक्ताऽसंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली के समूह को एक उस्वास कहते हैं, सौ उस्वास का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लव की एक घड़ी होती है। दो घड़ी का एक मुहुर्त होता है। तीस मुहूर्त का रात-दिन होता है। पन्द्रह रात-दिन का पक्ष होता है। दो पक्ष का मास होता है। दो मास की ऋतु होती है। तीन ऋतु का अयन होता है। दो अयन का वर्ष होता है — इत्यदि पल्य, सागर, कल्प आदि व्यवहारकाल के अनेक प्रकार हैं।

गाथा २२० पर प्रवचन

जीव-पुद्गल के अलावा चार द्रव्यों की पर्याय तो त्रिकाल एक समान हुआ करती है। जीव, पुद्गल की सूक्ष्म तथा बादर पर्याय है। व्यञ्जनपर्याय स्थूलरूप से बहुत काल तक ऐसी की ऐसी दिखती है, उसका नाम स्थूलपर्याय है और प्रतिसमय पर्याय का परिणमन होता है, वह सूक्ष्मपर्याय है। पदार्थों में भूतकाल की पर्यायें हुईं, वर्तमान में है और भविष्य में होंगी — ऐसे काल के तीन भेद करना, वह व्यवहार है।

जो जीव-पुद्गल की स्थूल-सूक्ष्म पर्यायें हैं, वे भूतकाल में हो गयी हैं; उन्हें अतीत नाम से कहा जाता है और भविष्यकाल में होंगी, उन्हें अनागत नाम से कहा जाता है, तथा जो वर्तमान में वर्तती है, उसे वर्तमान नाम से कहा जाता है; इन्हें जितना समय लगता है, उसे ही व्यवहारकाल नाम से कहते हैं।

पर्याय का काल जघन्यरूप से तो एक समय का ही है। वह की वही पर्याय दो समय तक नहीं रहती है। सम्पूर्ण दुनियाँ प्रतिसमय पलट रही है। वस्तुरूप से ध्रुव रहकर, प्रतिसमय उसमें उत्पाद-व्यय हुआ करता है तथा सामान्यरूप से पर्याय की स्थिति के अनेक प्रकार हैं। जैसे, चित्र है, उसकी पर्याय प्रतिसमय पलटती है परन्तु स्थूलरूप से पाँच वर्ष, दश वर्ष इत्यादि काल तक ऐसी की ऐसी पर्याय दिखती है, इस अपेक्षा से पर्याय की मध्यम तथा उत्कृष्ट स्थिति अनेक प्रकार की कही जाती है। इस लोक में शाश्वत जिनबिम्ब इत्यादि हैं, उनमें भी प्रतिसमय परिणमन तो हुआ ही करता है। सूर्य-चन्द्र के बिम्ब शाश्वत् हैं परन्तु उनकी पर्याय प्रतिसमय परिवर्तित होती है तथा उसमें रहे हुए पृथ्वी के जीव भी २२००० वर्ष से अधिक काल नहीं रहते, वे जीव भी पलट जाते हैं। आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु मन्द गति से जाता है, वह एक समय कहलाता है।

● जघन्ययुक्त असंख्यात समय की एक आवली ● असंख्यात आवली का एक उच्छ्वास ● सात उच्छ्वास का एक स्तोक ● सात स्तोक का एक लव ● साढ़े अड़तीस लव की एक घड़ी ● दो घड़ी का एक मुहूर्त ● तीस मुहूर्त का एक रात-दिन ● पन्द्रह दिन-रात्रि का एक पक्ष ● दो पक्ष का एक माह ● दो माह की एक ऋतु ● तीन ऋतु का एक अयन ● दो अयन का एक वर्ष होता है।

इस प्रकार पल्य-सागर-कल्प इत्यादि व्यवहारकाल के अनेक भेद हैं। ●●

गाथा २२१

अब, अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायों की संख्या कहते हैं —

तेसु अतीदा णंता, अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो, एत्तियमित्तो वि सो कालो॥

भूतवर्ती हैं अनन्त, भविष्य नन्तगुणी कही।
पर्याय वर्ते एक ये, सब काल है व्यवहार ही॥

अन्वयार्थ : [तेसु अतीदा णंता] उन द्रव्यों की पर्यायों में अतीत पर्याय अनन्त हैं **[य भाविपज्जाया अणंतगुणिदा]** और अनागत पर्यायें उनसे अनन्तगुणी हैं; **[एक्को वि वट्टमाणो]** वर्तमान पर्याय एक ही है, **[एत्तियमित्तो वि सो कालो]** सो जितनी पर्यायें हैं, उतना ही व्यवहारकाल है। इस तरह द्रव्यों का वर्णन किया।

गाथा २२१ पर प्रवचन

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल है, उसमें भूतकाल की अनन्त पर्यायें हो गईं, वर्तमान में एक पर्याय प्रगट वर्तती है तथा भविष्यकाल की पर्यायें भूतकाल से अनन्तगुनी हैं। भूतकाल भी अनन्त है और भविष्यकाल भी अनन्त है परन्तु भूतकाल से भविष्यकाल अनन्तगुना है। संसार अनादि-शान्त है, उसका जितना काल है, उसकी तुलना में मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव को मोक्षदशा का काल अनन्तगुना अधिक होता है।

भाई! भूतकाल से भविष्यकाल एक समय ही अधिक नहीं किन्तु अनन्तगुना अधिक है। यद्यपि यहाँ तो समस्त द्रव्यों की बात है, तथापि इस बात को जीव पर घटित करें तो जीव की संसार की पर्याय में जितना काल व्यतीत हुआ, उससे मोक्ष पर्यायों का काल अनन्तगुना है।

अतीतकाल का प्रारम्भ नहीं है परन्तु अन्त है तथा भविष्यकाल का प्रारम्भ है परन्तु अन्त नहीं है; इसलिए ये दोनों समान हैं — ऐसा यदि कोई कहे तो उसकी बात मिथ्या है। अनन्त-अनन्त पर्यायें भविष्य में से भूतकाल में जाएँगी, तब भी जब देखो तब भूतकाल से भविष्यकाल अनन्तगुना ही रहेगा।

पर्याय से द्रव्य का सामर्थ्य अनन्त है, इसलिए द्रव्य के आश्रय से जो सिद्धदशा प्रगट हुई, उसका काल संसार से अनन्तगुना है। वर्तमानरूप से देखने पर सिद्ध में अनन्त सुख है और काल अपेक्षा से भी सिद्धदशा का काल संसार से अनन्तगुना है। विकार के अनुभव में जितना काल व्यतीत हुआ, उससे स्वभाव के अनुभव का काल अनन्त-अनन्तगुना अधिक है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में विकार तो क्षणिक है, अल्प है; विकार की तुलना में स्वभाव अनन्त-अनन्तगुना है। भूतकाल से अनन्तगुनी भविष्य की पर्यायें होने का सामर्थ्य द्रव्य में विद्यमान है। उस भविष्य का कभी अन्त नहीं आयेगा और जब देखो तब भूतकाल से अनन्तगुना ही रहेगा।

भूतकाल और भविष्यकाल समान हैं परन्तु वर्तमान एक समय को भविष्य में मिलाकर कहने से भविष्यकाल एक समय अधिक है — ऐसा कोई मत कहता है। वस्तुतः ऐसा कहनेवाले वस्तुस्वरूप को नहीं समझ पाये हैं। यदि भविष्यकाल मात्र एक समय ही अधिक हो तो अनन्त समय व्यतीत हो जाएँ तब तो भविष्यकाल कम हो जाएगा और भूतकाल उससे अधिक हो जाएगा ? परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जब देखो तब भूतकाल से भविष्य की पर्यायें अनन्तगुनी हैं।

पर्याय की तुलना में द्रव्य की सामर्थ्य अनन्तगुनी है और संसार के काल से मोक्ष पर्यायों का काल भी अनन्तगुना है। संसार से सिद्धदशा की सामर्थ्य तो अनन्तगुनी हैं ही परन्तु काल और संख्या से भी अनन्तगुनी हैं। भविष्य की अनन्त पर्यायें, भूतकाल में मिल जाने पर भी वह भूतकाल कभी भी भविष्यकाल से अधिक नहीं हो जाएगा। पर्यायबुद्धिवाले जीव को यह बात समझ में आने योग्य नहीं है। अहो ! भूतकाल में जो अनन्त पर्यायें व्यतीत हुई, उनसे अनन्त-अनन्तगुनी पर्यायें होने की सामर्थ्य द्रव्य में विद्यमान है — ऐसा समझनेवाले का झुकाव द्रव्यस्वभाव के सन्मुख हो जाता है।

अज्ञानी जीव, जगत् के जीवों में समानता करना चाहते हैं परन्तु भाई! जगत् में पुण्य–पाप की विचित्रता है और उसके फल में भी विचित्रता है, उसमें समानता नहीं हो सकती —

१– सिद्धदशा में सभी जीव समान हैं, वहाँ पवित्रता से समानपना है।

२– जुगलिया जीवों में आयु इत्यादि में लगभग समानता है, वहाँ पुण्यसामग्री की लगभग समानता है परन्तु उन्हें अन्दर के परिणामों में तो अन्तर होता ही है। कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है तो कोई मिथ्यादृष्टि होता है।

३– निगोद के जीवों में अनन्त जीवों को शरीरादि की समानता है।

इसके अतिरिक्त जगत् के मनुष्य इत्यादि में समानता नहीं हो सकती क्योंकि संसार के समस्त जीवों के परिणाम एक समान नहीं होते। प्रत्येक जीव के परिणाम भिन्न–भिन्न हैं और उनके संयोग भी भिन्न–भिन्न हैं।

भाई! यहाँ तो वस्तुस्वरूप की सूक्ष्म बात है। भूतकाल से भविष्यकाल की पर्यायें अनन्तगुनी हैं। जो जीव, अनन्त काल के पश्चात् सिद्ध होगा, उस जीव को भी संसार से सिद्धदशा अनन्तगुनी है। अभव्य जीव को भी भूतकाल से भविष्यकाल की संसार पर्यायें अनन्तगुनी हैं; प्रत्येक पदार्थ को भूतकाल से भविष्यकाल की पर्यायों की संख्या अनन्तगुनी अधिक है। ●●

श्रामण्यमार्ग के प्रणेता वीतरागी सन्त

उस दशा का नाम साधुपद है, जो साक्षात् सिद्धभूत है। आचार्यदेव अपने में ऐसी शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप साधुदशा प्रगट करके, अन्य जीवों को भी वह दशा अङ्गीकार करने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि **मैंने जिस प्रकार शुद्धात्मा के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक शुद्ध उपयोगरूप श्रामण्य को अङ्गीकार किया है, वैसे ही जो आत्माएँ दुःख से छूटना चाहती हैं, वे ऐसा ही श्रामण्य अङ्गीकार करें। उसका मार्ग हमने जाना है, अनुभव किया है; उस यथानुभूत मार्ग के प्रणेता हम यह रहे। नमस्कार हो, श्रामण्य-मार्ग के प्रणेता वीतरागी सन्तों को।**

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म (गुजराती), अङ्क ३०८-ए, पृष्ठ २१

गाथा २२२

अब, द्रव्यों के कार्यकारणभाव का निरूपण करते हैं —

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा॥

द्रव्य कारण रूप होता, पूर्व परिणामों सहित।
परिणाम उत्तर युक्त द्रव्य, कार्य जानो नियम से॥

अन्वयार्थ : [**पुव्वपरिणामजुत्तं**] पूर्व परिणामयुक्त [**दव्वं**] द्रव्य [**कारणभावेण वट्टदे**] कारणरूप है [**उत्तरपरिणामजुदं तं चिय**] और उत्तर परिणामुयक्त द्रव्य [**णियमा**] नियम से [**कज्जं हवे**] कार्यरूप है।

गाथा २२२ पर प्रवचन

परिणाम और द्रव्य, सर्वथा एक नहीं हैं। परिणाम की स्थिति एक समय की है और द्रव्य की स्थिति त्रिकाल है। यदि वे सर्वथा अभेद हों तो परिणाम का नाश होने पर द्रव्य का ही नाश हो जाएगा किन्तु ऐसा होता नहीं है।

पूर्व परिणामसहित द्रव्य कारण है और वे दूसरे परिणाम हुए, वह कार्य है अर्थात् उत्तर परिणामसहित द्रव्य कार्य है। अज्ञानपरिणाम का नाश होकर, ज्ञानपरिणाम हुआ तो उसका कारण कौन है ? गुरु इत्यादि तो निमित्त हैं। इसका कारण पूर्व अज्ञानपर्यायरूप परिणमित आत्मा ही ज्ञानपरिणाम का कारण है। देखो, अभी तो यह भी व्यवहार है। पूर्व परिणाम को उत्तर परिणाम का कारण कहना भी व्यवहार है।

●●

गाथा २२३

अब, वस्तु के तीनों कालों में ही कार्य-कारणभाव का निश्चय करते हैं —

कारणकज्जविसेसा, तिस्सु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समए, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज॥

वस्तु के परिणाम होते, पूर्व अरु उत्तर सभी।
हैं विशेष त्रिकाल कारण-कार्य, के वे प्रतिसमय॥

अन्वयार्थ : [**वत्थूणं**] वस्तुओं के [**पुव्वुत्तरभावमासिज्ज**] पूर्व और उत्तरपरिणाम को पाकर [**तिस्सु वि कालेसु**] तीनों ही कालों में [**एक्केक्कम्मि य समए**] एक-एक समय में [**कारणकज्जविसेसा**] कारण-कार्य के विशेष [**होंति**] होते हैं।

भावार्थ : वर्तमान समय में जो पर्याय है, सो पूर्व समयसहित वस्तु का कार्य है। ऐसे ही सब पर्यायें जानना चाहिए। ऐसे समय-समय कार्य-कारणभावरूप है।

गाथा २२३ पर प्रवचन

देखो, प्रत्येक समय में कारण और कार्यपना अनादि-अनन्त वर्त रहा है। पूर्व पर्याय की अपेक्षा से वर्तमान पर्यायरूप द्रव्य, कार्य है और पूर्व पर्याय की अपेक्षा से वही कारण है। एक ही समय में पूर्व की अपेक्षा से कार्य और बाद की अपेक्षा से कारण है। जैसे, लकड़ी सीधी थी, वह टेढ़ी हुई, वहाँ पूर्व की सीधी पर्यायरूप परिणमित परमाणु, वे उसका कार्य हैं और बाद में जो पर्याय होगी, उसका वर्तमान पर्याययुक्त परमाणु कारण हैं। इस प्रकार एक ही समय कारण-कार्य वर्त रहा है और ऐसी कारण-कार्य की धारा अनादि-अनन्त चल रही है।

मिथ्यादर्शनरूप परिणमित जीव, दूसरे समय में सम्यग्दर्शनरूप परिणमित हुआ। वहाँ पूर्व पर्यायरूप परिणमित जीव, वह दूसरी पर्याय का कारण है परन्तु उसमें मिथ्यात्वपना का

अभाव होकर सम्यक्त्वपरिणाम हुए हैं, इसलिए उसे कारण कहना व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय ध्रुवद्रव्य के अवलम्बन से प्रगट हुई है, इसलिए निश्चय से तो ध्रुवकारणपरमात्मा/परमपारिणामिक द्रव्य ही सम्यग्दर्शन का कारण है और निश्चय से तो ध्रुवद्रव्य ही मोक्ष का कारण है। यहाँ तो ध्रुव और वर्तमान दोनों को साथ ही रखकर कारण-कार्य की बात कही है कि पूर्व की पर्याय में वर्तता द्रव्य, कारण है और बाद की पर्यायरूप हुआ द्रव्य, वह उसका कार्य है तथा वही उसके पश्चात् की पर्याय का कारण है। इस प्रकार कारण और कार्य की सन्धि अनादि से चला ही करती है।

देखो, पूर्व पर्याय का व्यय हुआ और नवीन पर्याय का उत्पाद हुआ, उसमें द्रव्य, ध्रुव रहा। वहाँ पूर्व की पर्याय में वर्तता द्रव्य, कारणरूप है, बाद की पर्याय में वर्तता द्रव्य, कार्यरूप है; इस प्रकार समस्त द्रव्यों में प्रतिसमय कारण-कार्य वर्त ही रहा है, इसमें दूसरा क्या करेगा?

देखो! यह सन्तों की रचना!! जङ्गल में अन्तरस्वभाव की शान्ति में झूलते-झूलते विकल्प उत्पन्न हुआ और शास्त्रों की रचना हो गयी। वहाँ उसमें भी प्रत्येक अक्षर अपनी पूर्व पर्याय में रहे हुए परमाणु का कार्य है और वह परमाणु उसका कारण है। मेरे कारण अक्षर की पर्याय नहीं होती और वे अक्षर मेरा कार्य नहीं हैं। देखो, यह वीतरागता!

जगत् के प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक समय उसके स्वभाव से ही कारण-कार्यरूप परिणमन हो ही रहा है। उसमें दूसरा क्या करेगा? निमित्तरूप वस्तु के कारण-कार्य निमित्त में हैं और उपादान के कारण-कार्य, उपादान में हैं। भाई! इसमें महासिद्धान्त समाहित है। मैं परजीव की दयापालन करके उसे बचा दूँ — ऐसा माननेवाले ने वस्तु के कारण-कार्य को नहीं जाना है। भाई! परजीव की पर्याय उसके कारण-कार्य से होती है, उसका पूर्व समय का भाव कारणरूप है और उसके बाद का भाव कार्यरूप है; उसमें तेरा कारण-कार्यपना नहीं है। तेरा कारण-कार्य तुझमें है और पर का कारण-कार्यपना पर में है।

पदार्थों में पूर्व समयवर्ती, वह कारण और उत्तरसमयवर्ती, वह कार्य — ऐसी कारण -कार्य की अविच्छिन्न शृङ्खला चला करती है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषस्वरूप ही है, उसमें कोई किसी के कारण नहीं है। सामान्य के कारण उसका विशेष है — ऐसा कहा जाए तो विशेषधर्म की हानि/क्षति होती है। वस्तुतः दोनों धर्म अर्थात् सामान्य और विशेष निरपेक्ष

हैं — ऐसी निरपेक्षता के स्वीकारपूर्वक एक-दूसरे की अपेक्षा लगाई जाती है कि यह विशेष किसका? इस सामान्य का यह विशेष है। एक ही वस्तु में सामान्यपना और विशेषपना एक साथ विद्यमान हैं। वस्तु की पर्याय अपने से होती है, पर से निरपेक्ष है — ऐसा स्वतःसिद्ध माने बिना वस्तुस्वरूप सिद्ध नहीं होता। स्वतःसिद्ध वस्तुस्वरूप के स्वीकारपूर्वक निमित्त का ज्ञान करना तो उचित है, वस्तु की अपनी पूर्व और उत्तरपर्याय के आश्रय से ही उसमें कारण-कार्य अनादि-अनन्त वर्त ही रहा है।

देखो! यह लोकभावना का वर्णन है। लोक में छह द्रव्य हैं, वे सभी प्रतिसमय नवीन-नवीन पर्यायरूप परिणमित हो रहे हैं। पूर्व अवस्थासहित द्रव्य, उस नवीन अवस्था का कारण है। इस प्रकार वस्तु में तीनों काल प्रति समय कारण-कार्यपना है। वस्तुतः पूर्व परिणाम का व्यय होकर, नवीन परिणाम होते हैं। पूर्व समय में अस्तिरूप परिणाम है, उनका दूसरे समय में तो नाश होता है। द्रव्य की निरन्तरता की अपेक्षा पूर्व पर्याय को उत्तर पर्याय का कारण कहा है। पूर्व पर्याय में वस्तु थी, उस वस्तु के साथ परिणाम की सन्धि है अर्थात् पूर्व परिणामयुक्त वर्तता द्रव्य, कारण है और उत्तर परिणामयुक्त द्रव्य, कार्य है। द्रव्य के परिणाम की धारा टूटती नहीं है। इस प्रकार द्रव्य का अखण्डपना रखकर, परिणाम के कारण-कार्य की बात की गयी है। परिणाम का व्यय हो जाता है परन्तु द्रव्य, ध्रुव रहता है। ध्रुवद्रव्य के साथ परिणाम की सन्धि नहीं टूटती है।

द्रव्य कथञ्चित् परिणामी है। द्रव्य और परिणाम सर्वथा भिन्न नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने कारण-कार्यरूप से वर्त रहा है, उसमें दूसरा क्या करेगा? अनादि से द्रव्य के परिणाम में कारण-कार्य का प्रवाह चल ही रहा है। एक परमाणु के कारण दूसरा परमाणु कार्यरूप परिणमित नहीं होता है। जीव के कारण शरीर के परमाणु कार्यरूप परिणमित नहीं होते तथा शरीर के कारण जीव में सम्यग्दर्शन इत्यादि कार्य भी नहीं होता। पूर्व परिणाम से परिणमित आत्मा ही उत्तर परिणामरूप परिणमित होता है; इसलिए आत्मा के कारण-कार्य आत्मा में ही हैं; आत्मा के कारण-कार्य बाहर में नहीं हैं — ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप है।

प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने परिणाम से सहित कार्य-कारणरूप वर्तती है। कर्म के परमाणु पहले अन्य अवस्थारूप थे, फिर कर्मरूप परिणमित हुए, वहाँ वे परमाणु ही उसका कारण हैं। जीव के विकार के कारण कर्म की अवस्था नहीं हुई है तथा कर्म के कारण जीव

की विकारीअवस्था नहीं हुई है; अपितु पूर्व अवस्था में वर्तता जीव ही कारण होकर उत्तर अवस्थारूप परिणमित होता है।

जगत् की प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपना कार्य करती हुई परिणमित होती है। दूसरा ऐसा कहता है कि मैं पर का कार्य कर दूँ तो वह जीव मूढ़ है, उसने वस्तुस्वरूप को जाना ही नहीं है। भाई! यह तो वस्तु के स्वरूप का वर्णन है। लोक में जितने द्रव्य हैं, उन सभी द्रव्यों में प्रति समय पूर्व पर्यायसहित द्रव्य, कारणरूप है और उत्तर परिणामरूप द्रव्य, कार्य है। जैसे, पटरी पर रेलगाड़ी दौड़ती है तो वहाँ पटरी के कारण रेल नहीं दौड़ती और इंजन के कारण भी डिब्बे नहीं दौड़ते। रेलगाड़ी के डिब्बों में प्रत्येक रजकण स्वतन्त्ररूप से अपने कारण से ही पूर्व पर्याय का व्यय करके नवीन पर्यायरूप परिणमित होते हैं।

इसी प्रकार शिष्य की आत्मा को ज्ञान हुआ, उसमें गुरु निमित्त है; गुरु की वाणी, वह बाह्य निमित्त और गुरु का आत्मा, उपचार से अन्तरङ्ग निमित्त है — ऐसा नियमसार में कहा है। यह कथन तो निमित्त में ज्ञानी की मुख्यता बताने के लिए किया गया है किन्तु शिष्य का आत्मा, गुरु के कारण परिणमित नहीं होता। शिष्य का आत्मा, अपनी पूर्व अवस्था का व्यय करके, नवीन अवस्थारूप स्वयं ही परिणमित होता है। इस प्रकार जाननेवाले को निमित्त, विकार और पर्याय की दृष्टि न रहने से पर्यायवान द्रव्य पर दृष्टि जाती है। परिणामसहित द्रव्य ही कारणकार्यरूप परिणमित होता है — ऐसा जिसने निश्चित किया, उसे ज्ञायकद्रव्य की प्रतीति हो गयी।

अरे! पहले वस्तुस्वरूप जैसा है, उसे वैसा समझकर उसकी हाँ करके, अभ्यास करने से सत्य समझ में आता है। प्रत्येक द्रव्य, सामान्य-विशेषरूप है; वह प्रमाणज्ञान का विषय है और द्रव्यार्थिकनय के विषय में सामान्यद्रव्य है, उसमें पर्याय की गौणता है। जहाँ सामान्यद्रव्य को लक्ष्य में लिया, वहाँ वर्तमान पर्याय, द्रव्यसन्मुख हो गयी है। पूर्व-उत्तर परिणाम, पर्यायार्थिकनय का विषय है। सामान्यद्रव्य, द्रव्यार्थिकनय का विषय है तथा परिणामसहित द्रव्य, प्रमाणज्ञान का विषय है। इस प्रकार द्रव्य को जानने से अन्तरङ्ग स्वभाव की दृष्टि हुए नहीं रहती। भाई! तू अपने में समा जा, वहाँ निमित्त, निमित्त के कारण परिणमता हुआ आकर खड़ा रहेगा। निमित्त होने पर भी अपने पूर्व परिणामसहित द्रव्य ही कारणरूप है और उत्तर परिणामरूप द्रव्य कार्यरूप है। वस्तु की ऐसी ही स्वतन्त्रता है। ●●

गाथा २२४

अब, वस्तु है, वह अनन्त धर्मस्वरूप है, ऐसा निर्णय करते हैं —

संति अणंताणंता, तीसु वि कालेसु सव्वदव्वाणि।
सव्वं पि अणेयंतं, तत्तो भणिदं जिणेंदेहि॥

सब द्रव्य की पर्याय, तीनों काल नन्तानन्त हैं।
इसलिए जिनदेव सबको, अनेकान्तमयी कहें॥

अन्वयार्थ : [सव्वदव्वाणि] सब द्रव्य **[तीसु वि कालेसु]** तीनों ही कालों में **[अणंताणंता]** अनन्तानन्त **[संति]** हैं, अनन्त पर्यायों सहित हैं, **[तत्तो]** इसलिए **[जिणेंदेहि]** जिनेन्द्रदेव ने **[सव्वं पि अणेयंतं]** सब ही वस्तुओं को अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्मस्वरूप **[भणिदं]** कहा है।

गाथा २२४ पर प्रवचन

जगत् में तीनों काल अनन्त द्रव्य हैं। जीव अनन्त हैं और पुद्गल उनसे भी अनन्त हैं। एक-एक आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु हैं। यदि वे स्थूलरूप धारण करें तो अनन्त सुमेरु बन जाएँ। एक आकाश प्रदेश में एक जीव के असंख्यातवें भाग में असंख्यात प्रदेश हैं और ऐसे-ऐसे अनन्त जीवों के मिलकर अनन्त प्रदेश एक आकाश प्रदेश में हैं। आकाश का कोई भी प्रदेश, अनन्त पुद्गल और अनन्त जीवों के प्रदेश से खाली नहीं है — ऐसे अनन्त द्रव्य जगत् में त्रिकाल हैं। तीन काल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं। जगत् में अनन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और तीन काल के जितने समय हैं, उतनी एक-एक गुण की पर्यायें हैं। जीव और पुद्गल अनन्त हैं; कालद्रव्य असंख्यात हैं; धर्म,

अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक ही है। काल के समय अनन्त हैं परन्तु वे द्रव्य असंख्यात हैं। जगत् के सभी पदार्थ अनेकान्तस्वरूप हैं; वस्तुरूप से एक और गुण-पर्यायरूप से अनेक हैं — ऐसा वस्तु स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु, अनन्त गुण-पर्यायोंसहित होने से अनेकान्तस्वरूप है। ●●

गणधरदेव द्वारा वन्दनीय अद्भुत मुनिदशा

अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान समवसरण में विराजमान हैं, उनकी देह पाँच सौ धनुष की है। उनके समवसरण में गणधर विराजते हैं। वे भगवान की दिव्यध्वनि झेलकर दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की अद्भुत सामर्थ्यवाले हैं। तीर्थङ्कर भगवान अर्थात् धर्म के राजा और गणधर अर्थात् धर्म के दीवान; ऐसे गणधरदेव भी जब नमस्कार मन्त्र बोलकर पञ्च परमेष्ठी को भावनमस्कार करते हैं, तब वीतरागी आनन्द में झूलनेवाले सभी मुनि उसमें आ जाते हैं।

अहो! गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करें, उन सन्तों की दशा कैसी! उन मुनिराज की महिमा कितनी!! मुनि भी परमेष्ठी हैं। वे मुनि अत्यन्त भवभीरु हैं और रागरहित निष्कर्म परिणतिवाले हैं। बाहर के किसी कार्य का बोझ वे अपने सिर पर नहीं लेते; अन्तर में आनन्द के अनुभव में ही उनकी परिणति लीन है। ऐसे सन्त शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति-आराधना करते हैं। अन्तर में रत्नत्रय की आराधना हो और बाह्य में निष्परिग्रही मुद्रा हो – ऐसी मुनि की दशा है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४४-४५)

गाथा २२५

अब, कहते हैं कि जो अनेकान्तात्मक वस्तु है, वह अर्थक्रियाकारी है —

जं वत्थु अणेयंतं, तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसदे लोए॥

कार्य करती है नियम से, वस्तु अन् एकान्तमय।
बहु धर्ममय ही अर्थ दिखता, कार्यकारी लोक में॥

अन्वयार्थ : [जं वत्थु अणेयंतं] जो वस्तु अनेकान्त है - अनेक धर्मस्वरूप है, **[तं चिय]** वही **[णियमेण]** नियम से **[कज्जं करेदि]** कार्य करती है। **[लोए]** लोक में **[बहुधम्मजुदं अत्थं]** बहुत धर्मों से युक्त पदार्थ ही **[कज्जकरं दीसदे]** कार्य करनेवाले देखे जाते हैं।

भावार्थ : लोक में नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद इत्यादि अनेक धर्मयुक्त वस्तुएँ हैं, वे कार्यकारिणी दिखाई देती है; जैसे, मिट्टी के घड़े आदि अनेक कार्य बनते हैं, सो सर्वथा मिट्टी एकरूप, नित्यरूप तथा अनेक अनित्यरूप ही होवे तो घड़े आदि कार्य बनते नहीं है, ऐसे ही सब वस्तुओं को जानना चाहिए।

गाथा २२५ पर प्रवचन

अनेकान्तस्वरूप वस्तु ही अपनी अर्थक्रिया को करती है — ऐसा अब कहते हैं।

यदि वस्तु एकान्त नित्य ही हो तो उसमें नया कार्य नहीं हो सकता और एकान्त क्षणिक ही हो तो वह भी कार्य नहीं कर सकती। कथञ्चित् नित्य-अनित्य इत्यादि अनेकान्तस्वरूप वस्तु ही अपना कार्य करती है।

पुद्गल परमाणु सदा एक समान नहीं रहता है, वह द्रव्य-गुणरूप से त्रिकाल कायम रहकर, उसमें प्रतिक्षण नयी-नयी अवस्थाएँ वर्तती हैं। वस्तु स्वयं अपने अनेकान्तस्वभाव से ही अपना कार्य करती है। अनेकान्तस्वरूप पदार्थ स्वयं ही अपना कार्य करनेवाला है; अन्य कोई उसका कार्य करनेवाला नहीं है। शरीर चलता है, वह कार्य उसके परमाणुओं से ही है, जीव का तो उसमें अभाव है। प्रत्येक वस्तु में अपने अनन्त धर्म हैं और जगत् में अपने स्वभाव से ही प्रत्येक पदार्थ कार्य करता हुआ दिखता है।

प्रत्येक द्रव्य का स्व में अनन्त धर्मपना स्वयं-सिद्ध है; उसके कार्य में अन्य का हस्तक्षेप नहीं है। अन्दर स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से निःसन्देहरूप से जिसने जाना है, वह कहता है कि ऐसा ही अनेकान्तस्वरूप तीनों काल है और इसलिए जो एक वही अनेक, जो नित्य वही अनित्य; अपने-अपने कारण से है और इस कारण प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कारण-कार्यरूप परिणमित होता है। जो संयोगबुद्धि से छूटकर, अंशतः राग से छूटकर, अंशतः प्रत्यक्ष स्वप्रकाशक ज्ञानवान हुआ है, वही यह निश्चित कर सकता है कि परज्ञेय कैसे हैं ?

देखो, जगत् में सभी द्रव्य निरन्तर अपने कारण ही परिणमनरूप कार्य कर रहे हैं। सभी त्रिकाल स्वतन्त्र हैं — ऐसी सत्यार्थ भावना भव्यजनों को आनन्दजननी है।

एक वस्तु में सामान्य-विशेष, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, स्वरूप से अस्ति, पररूप से नास्ति इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एकसाथ प्रकाशित होना, अनेकान्त है; इसी से प्रत्येक वस्तु अपना कार्य करनेवाली दृष्टिगोचर होती है। जिसने इस वस्तुस्वरूप को जाना है, उसने स्व-पर का स्वतन्त्रपना जाना है — ऐसे जीव को ही सच्ची भावनाएँ/अनुप्रेक्षाएँ होती हैं।

भगवान सर्वज्ञदेव ने लोक का जैसा स्वरूप जाना है, उस स्वरूप का सम्यग्दृष्टि विचार करता है। यह लोक किसी के द्वारा किया गया नहीं, अपितु स्वयंसिद्ध है। लोक में सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त हैं, उनमें कोई किसी का कर्ता अथवा सहायक नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने अनन्त धर्मस्वरूप है — ऐसी अनेकान्त वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है।

●●

गाथा २२६

अब, सर्वथा एकान्त वस्तु के कार्यकारीपना नहीं है — ऐसा कहते है —

एयंतं पुणु दव्वं, कज्जं ण करदि लेसमेत्तं पि।
ज पुणु ण करदि कज्जं, तं वुच्चदि केरिसं दव्वं॥

एकान्तरूपी द्रव्य किञ्चित्, भी करे नहिं कार्य को।
जो कार्य भी करता नहीं, वह द्रव्य कैसा हो सके॥

अन्वयार्थ : [एयंतं पुणु दव्वं] एकान्तस्वरूप द्रव्य **[लेसमेतं पि]** लेशमात्र भी **[कज्जं ण करदि]** कार्य को नहीं करता है **[जं पुणु ण करदि कज्जं]** और जो कार्य नहीं करता है, **[तं वुज्जदि केरिसं दव्वं]** वह कैसा द्रव्य है ? वह करता है तो शून्यरूप है।

भावार्थ : जो अर्थक्रियास्वरूप होवे, वही परमार्थरूप वस्तु कही है और जो अर्थक्रियारूप नहीं है, वह तो आकाश के फूल के समान शून्यरूप है।

गाथा २२६ पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य एकान्त वस्तु में कार्यकारीपना नहीं है।

यदि वस्तु में स्वरूप से अस्तिपना और पररूप से नास्तिपना न हो तो वह वस्तु टिक ही नहीं सकती। आत्मा, आत्मारूप से है और शरीररूप से नहीं — ऐसा उसका अनेकान्तस्वभाव है। आत्मा नित्य ही है — ऐसा एकान्त कहो तो उसमें परिणमन के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती तथा एकान्त अनित्य ही हो तो भी कार्य नहीं बन सकेगा। परिणाम के बिना वस्तु नहीं होती और वस्तु के बिना परिणाम किसमें होंगे ? इसलिए वस्तु द्रव्यरूप से नित्य है और पर्यायरूप से अनित्य है — ऐसे दोनों धर्म उसमें एक साथ विद्यमान हैं। पदार्थों का ऐसा

स्वरूप जानने से सम्यग्ज्ञान होता है और वही धर्म है।

आत्मा में धर्म कब होता है? यदि आत्मा कायम टिककर, उसकी अवस्था बदलती हो, तब। जगत् की कोई भी वस्तु लो, उसमें प्रतिक्षण नया-नया कार्य होता है। वस्तुरूप से एक होने पर भी पर्याय में अनेकता है। अनेकता के बिना नवीन कार्य नहीं हो सकता — ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप है। यदि आटे के परमाणुओं में परिणमन न हो तो आटा परिणमित होकर रोटी नहीं हो सकती और यदि परमाणु कायम न रहते हों तो परमाणु के बिना रोटी कैसे होगी? इसलिए नित्य-अनित्यपना वस्तु का स्वभाव है। इसी प्रकार नित्य-अनित्य धर्म की तरह ही एक-अनेकपना, अस्ति-नास्तिपना इत्यादि भी वस्तु का स्वभाव है। वस्तु अनेकान्तस्वरूप के बिना कार्य नहीं कर सकती और कार्य ही नहीं करे तो उसे वस्तु ही नहीं कहा जा सकता। वह वस्तु तो शून्यरूप हो गयी है।

भाई तू समझ! — ऐसा कहते ही अनेकान्त सिद्ध हो जाता है। यदि सामनेवाला जीव नित्य कायम न हो तो 'तू समझ' — ऐसा किसे कहा गया? और यदि सामनेवाला जीव असमझदशा को पलटकर समझ न कर सकता हो तो अर्थात् उसमें अनित्यपना न हो तो उसे समझने को क्यों कहा जाता है? 'तू समझ' — ऐसा कहते ही उसका नित्य-अनित्यपना सिद्ध हो जाता है।

तू समझ — ऐसा कहनेवाला सामनेवाला जीव अलग है और उस रूप यह जीव नहीं है। यह समझनेवाला जीव अपने से अस्तिरूप है और दूसरे जीव में इसकी नास्ति है — ऐसा अस्ति-नास्ति धर्म भी उसमें है तथा वह जीव एक का एक ही रहता होने पर भी परिणमन की अपेक्षा उसमें अनेकान्त भी है। नित्यपने की अपेक्षा से एकता है और अनित्यपने की अपेक्षा अनेकान्त है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपना-अपना कार्य कर रही है, यह समझते ही जगत् के पदार्थों की भिन्नता जानकर अपना ही आश्रय करना रहा। इस बात को समझनेवाले में अज्ञान नहीं रह सकता।

आशय यह है कि आकाश का फूल तो कोई वस्तु ही नहीं है क्योंकि उसमें कोई सुगन्ध इत्यादि कार्य नहीं देखा जाता। इसी प्रकार जगत् में सर्वथा अनित्य अथवा सर्वथा कूटस्थ कोई वस्तु ही नहीं है।

●●

गाथा २२७

अब, सर्वथा नित्य एकान्त में अर्थक्रियाकारीपने का अभाव दिखाते हैं —

परिणामेण विहीणं, णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव।
णो उप्पज्जेदि य सया, एवं कज्जं कहं कुणदि॥

परिणाम से जो रहित है, वह नित्य नष्ट न हो कभी।
उत्पन्न भी होता नहीं, तो कार्य को कैसे करे॥

अन्वयार्थ : [परिणामेण विहीणं] परिणामरहित **[णिच्चं दव्वं णेव विणस्सदे]** नित्य द्रव्य नष्ट नहीं होता है **[णो उप्पज्जेदि य]** और उत्पन्न भी नहीं होता है, **[कज्जं कहं कुणदि]** तब कार्य कैसे करता है ? **[एवं सया]** और यदि उत्पन्न व नष्ट होवे तो नित्यपना नहीं ठहरे। इस तरह जो कार्य नहीं करता है, वह द्रव्य नहीं है।

गाथा २२७ पर प्रवचन

यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही हो और उसके परिणाम न होते हों तो कार्य किस प्रकार होगा ? यदि वस्तु की पूर्व पर्याय विनष्ट न हो तो नयी पर्याय किस प्रकार होगी ? आटे की पर्याय नष्ट न हो तो रोटी कैसे होगी ? यदि आत्मा की पर्याय प्रतिक्षण न होती हो तो अज्ञान में से ज्ञान नहीं हो सकता; दु:ख का अभाव होकर सुख नहीं हो सकता। दु:ख का नाश और सुख की उत्पत्ति — ऐसा उत्पत्ति-विनाश होता है; इसलिए वस्तु सर्वथा नित्य ही नहीं है किन्तु प्रतिक्षण पलटती है अर्थात् वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद-विनाश होता है — ऐसा उसका अनित्य स्वभाव है। जगत् में प्रत्यक्ष दिखता है कि वस्तु में प्रतिक्षण नये-नये कार्य की उत्पत्ति होती है और पूर्व पर्याय का विनाश होता है।

●●

गाथा २२८

अब फिर, क्षणस्थायी के कार्य का अभाव दिखाते हैं —

पज्जयमित्तं तच्चं, विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं, ण य कज्जं किं पि साहेदि॥

क्षणमात्र में जो नष्ट होता, अन्य क्षण में अन्य है।
अन्वयी द्रव्य विहीन है, वह कार्य को कैसे करे॥

अन्वयार्थ : [विणस्सरं] जो क्षणस्थायी **[पज्जयमित्तं तच्चं]** पर्यायमात्र तत्त्व **[खणे खणे वि अण्णण्णं]** क्षण-क्षण में अन्य-अन्य होवे — ऐसा विनश्वर मानें तो **[अण्णइदव्वविहीणं]** अन्वयीद्रव्य से रहित होता हुआ **[किं पि कज्जं ण य साहेदि]** कुछ भी कार्य को सिद्ध नहीं करता है। क्षणस्थायी विनश्वर के कैसा कार्य?

गाथा २२८ पर प्रवचन

यदि वस्तु नित्य न रहती हो तो पूर्व-उत्तरपरिणाम की सन्धि किसने की? एक तरङ्ग गयी और दूसरी तरङ्ग आयी परन्तु किसकी? पानी की। पानी तो सभी तरङ्गों में अन्वय रहनेवाला है। नित्य वस्तु के बिना कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता। जिसे कल रुपये दिये थे, यह वही मनुष्य है, ऐसी नित्यता के बिना निश्चित नहीं हो सकता। मनुष्य की अवस्था पलट गयी परन्तु मनुष्य तो वही है, मनुष्य नया नहीं हुआ; इसी प्रकार आत्मवस्तु नित्य कायम रहकर, प्रतिक्षण पलटती है। दु:ख भोगनेवाला आत्मा दूसरा और दु:ख का अभाव होकर सुख हुआ, उसे भोगनेवाला आत्मा दूसरा — ऐसा नहीं है। दु:ख में और सुख में एक ही आत्मा है। वह आत्मा, नित्य कायम रहकर, उसकी अवस्था बदलती है। ●●

गाथा २२९

अब, अनेकान्तवस्तु के कार्यकारणभाव बनता है, यह दिखाते हैं —

णवणवकज्जविसेसा, तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज॥

वस्तु में होते त्रिकाल, नवीन कार्य-विशेष हैं।
पूर्व उत्तर भाव को, पाकर हुए प्रति समय में॥

अन्वयार्थ : [वत्थूणं] जीवादिक वस्तुओं के **[तीसु वि कालेसु]** तीनों ही कालों में **[एक्केक्कमि य समये]** एक-एक समय में **[पुव्वुत्तरभावमासिज्ज]** पूर्व-उत्तर परिणाम के आश्रय करके **[णवणवकज्जविसेसा]** नवीन-नवीन कार्य विशेष **[होंति]** होते हैं, नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

गाथा २२९ पर प्रवचन

अब, यह बतलाते हैं कि कार्य-कारणभाव अनेकान्त वस्तु में ही घटित होता है।

जीवादि छहों द्रव्य जगत् में त्रिकाल हैं, उनमें तीनों काल अपने-अपने पूर्व-उत्तर परिणाम को पाकर नये-नये कार्य होते हैं। कोई कार्य निमित्त अथवा संयोग का आश्रय करके नहीं होता, अपितु वस्तु के अपने पूर्व परिणाम पलटकर नवीन परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वस्तु में प्रतिक्षण नया कार्य हुआ ही करता है। दूसरा निमित्त भले ही हो परन्तु वस्तु का कार्य अपने ही परिणाम से होता है। यदि वस्तु स्वयं नित्य टिककर परिणमित न होती हो तो उसमें नया कार्य नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव कहता है कि अपने बिना दूसरों का कार्य नहीं होता परन्तु भाई! सामनेवाली चीज भी वस्तु है और उसका कार्य उससे स्वयं से ही हुआ करता है। इसी प्रकार कोई कहे कि पर के बिना मेरा काम नहीं चलता तो वह भी मूढ़ है। भाई! तेरा कार्य तेरे पूर्व-उत्तर परिणाम से होता है। प्रत्येक वस्तु में नया-नया कार्य उसके अपने परिणाम से होता है। शरीर चलता है तो उसके कारण और मुर्दा नहीं चलता तो वह भी उसका कार्य है। जीव के कारण शरीर चलता है — ऐसा नहीं है तथा जीव चला गया, इसलिए मुर्दा नहीं चलता — ऐसा भी नहीं है। वास्तव में नये-नये कार्य होने का उस-उस वस्तु का स्वभाव ही है, इसलिए निश्चित होता है कि शब्द इत्यादि के कारण सच्ची समझ नहीं होती, (सच्ची समझ अपने ज्ञान से ही होती है)। पर से सुख-दु:खादि नहीं होते, अपितु पूर्व और उत्तर परिणाम का आश्रय करके नये-नये कार्य अर्थात् विशेष अवस्था होती है।

प्रत्येक द्रव्य में स्वयं अपनी योग्यता से उसके कारण ही नयी-नयी पर्याय उत्पन्न होती है। तीनों काल यह एक ही नियम है, किसी भी काल पर से कुछ होता हो — ऐसा नहीं है। ऐसा ही लोक की सर्व वस्तुओं का स्वतन्त्र स्वभाव है।

जीव है तो भाषा बोली जाती है अथवा शरीर की क्रिया, जीव की इच्छानुसार होती है — ऐसा भ्रम संयोग में एकत्वबुद्धिवाले अज्ञानी को होता है। वस्तुत: भाषा के कारण क्रोध नहीं होता तथा ज्ञान भी भाषा के कारण नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वसत्ता में, स्वयं से, स्वकाल में होता है। भाषावर्गणा पलटकर भाषा होती है, जीव की इच्छा से भाषा नहीं हुई है। संयोग को देखनेवाला स्वभाव को चूकता है, वह परवस्तु को भी संयोग से पराधीनरूप ही देखता है। जो नया-नया कार्य होता है, वह प्रत्येक द्रव्य का पर्यायधर्म है, उसे संयोग के कारण हुआ कहना उपचार कथन है; वस्तुत: संयोग से कभी पर का कार्य नहीं होता है। ●●

गाथा २३०

अब, पूर्वोत्तरभाव के कारणकार्यभाव को दृढ़ करते हैं —

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा॥

पूर्व परिणामों सहित हो, द्रव्य कारण नियम से।
परिणाम उत्तर युक्त द्रव्य, कार्य जानो नियम से॥

अन्वयार्थ : [**पुव्वपरिणामजुत्तं**] पूर्व परिमणायुक्त [**दव्वं**] द्रव्य [**कारणभावेण वट्टदे**] कारणभाव से वर्तता है। [**तं चिय**] और वह द्रव्य [**उत्तरपरिणामजुदं**] उत्तर परिणामयुक्त होवे, तब [**कज्जं हवे**] कार्य होता है [**णियमा**] — ऐसा नियम है।

गाथा २३० पर प्रवचन

देखो, इस ग्रन्थ की २२२ वीं और २३० वीं गाथा अक्षरशः मिलती है। इन गाथाओं में चौदह ब्रह्माण्ड के तत्त्वों का वर्णन है।

तीव्रराग पलटकर मन्दराग हुआ, इसमें कारण कौन? वस्तु स्वयं पूर्व पर्यायरूप से पलटकर उत्तर पर्यायरूप वर्तती है। पूर्व पर्याय में वर्तता द्रव्य, कारणरूप वर्तता है और उत्तर पर्याय में वह कार्यरूप वर्तता है परन्तु अन्य कोई उसका कारण नहीं है।

जैसे – मिट्टी का पिण्ड कारण है और उसका घड़ा हुआ वह कार्य है किन्तु कुम्हार कारण और घड़ा उसका कार्य — ऐसा नहीं है। पूर्व पर्याय में वर्तता द्रव्य ही कारणरूप होकर उत्तर पर्याय में कार्यरूप वर्तता है परन्तु उसमें दूसरे का कोई हस्तक्षेप नहीं है। देखो, यह जगत् की वस्तु का नियम!

भाई! कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है परन्तु माटी स्वयं ही पलटकर घट पर्यायरूप वर्तती है। कुम्हार आया तो घड़ा बनता है और नहीं आया तो घड़ा नहीं बनता — ऐसा संयोगीदृष्टिवाले अज्ञानी मानते हैं परन्तु वे वस्तु के स्वभाव को नहीं जानते। मिट्टी, पूर्व परिणाम में पिण्डरूप वर्तती थी, वही पलटकर घटरूप हुई है। वहाँ पूर्व परिणाम में वर्तता द्रव्य, कारण है और उत्तर परिणाम होना, कार्य है। उपादान तो कारण है और कार्य हुआ, वह नैमित्तिक अथवा उपादेय है।

प्रश्न – वस्तु में नया कार्य हुआ, उसका कारण कौन है ?

उत्तर – पूर्व पर्याय में वर्तती वस्तु ही उसका उपादानकारण है। नये-नये कार्य, द्रव्य के अपने कारण से ही होते हैं; निमित्त भले हो परन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता। कार्य को नैमित्तिक कहा, इसलिए निमित्त ने उसमें कुछ किया है — ऐसा नहीं है। निमित्त की अपेक्षा से कथन करने पर कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है और उपादान की अपेक्षा से उसी कार्य को उपादेय कहा जाता है परन्तु कार्य तो वस्तु के अपने ही कारण से होता है — ऐसा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है।

तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में लोक का जैसा स्वरूप देखा है, वैसा ज्ञानी अपने ज्ञान में चिन्तवन करता है। लोक के सभी द्रव्य अपनी पूर्व पर्याय से उत्तर परिणामरूप परिणमित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अनादि-अनन्त कारण-कार्यरूप परिणमित हो रही है। जीव भी अनादि से अपने कारण-कार्यभाव से परिणमित होता है — ऐसा आगे कहेंगे। ●●

वीतरागी साधना का जीवन

मुनिराज का जीवन तो वीतरागी साधना का जीवन है। वे मौन रहकर अपनी आत्मसाधना करते रहते हैं और जब बोलते हैं तो ऐसा बोलते हैं, जिससे वीतरागभाव का पोषण होता है। तीर्थङ्कर तो दीक्षा लेकर मुनि होने के बाद केवलज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं। केवलज्ञान होने के बाद ही उनकी दिव्यध्वनि खिरती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १४

गाथा २३१

अब, जीवद्रव्य के भी वैसे ही अनादिनिधन कार्यकारणभाव सिद्ध करते हैं —

जीवो अणाइणिहणो, परिणयमाणो हु णवणवं भावं।
सामग्गीसु पवट्टदि, कज्जाणि समासदे पच्छा॥

जीव शाश्वत परिणमे, प्रति समय नूतन भाव में।
सामग्रियों में वर्तता, फिर प्राप्त होता कार्य को॥

अन्वयार्थ : [जीवो अणाइणिहणो] जीवद्रव्य अनादि-निधन है, **[णवणवं भावं परिणयमाणो हु]** वह नवीन-नवीन पर्यायरूप प्रगट परिणमता है; **[सामग्गीसु पवट्टदि]** वह ही पहिले द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की सामग्री में प्रवृत्त होता है **[पच्छा कज्जाणि समासदे]** और बाद में कार्यों को/पर्यायों को प्राप्त होता है।

भावार्थ : जैसे, कोई जीव पहिले शुभपरिणामरूप प्रवृत्ति करता है, तब स्वर्ग पाता है और पहिले अशुभपरिणामरूप प्रवृत्ति करता है, तब नरक आदि पर्याय पाता है — ऐसे जानना चाहिए।

गाथा २३१ पर प्रवचन

सिद्ध से लेकर निगोद तक के प्रत्येक जीव अनादि-निधन हैं और वही जीव प्रगटरूप अपनी पर्यायरूप से प्रतिक्षण परिणमित होता है; उसमें बाह्य वस्तु तो निमित्तमात्र है, वह जीव में कुछ नहीं कराती। राग करे या वीतरागता; धर्म करे या अधर्म - इन सभी पर्यायरूप, जीव स्वयं ही परिणमित होता है। जीवद्रव्य, पूर्व परिणाम में वर्तता है, वह कारणरूप है। अपना

स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव — इस सामग्रीरूप परिणमता है, वह कारणरूप है और उत्तर पर्याय कार्यरूप है। देखो, यह उपादानकारण और कार्य की स्वतन्त्रता।

भाई! परवस्तु निमित्त है और निमित्त, जीव के परिणाम को कर्ता नहीं है। निगोद का जीव भी अपने ही कारण–कार्य से परिणमित हो रहा है। द्रव्य, त्रिकाल पर्यायों का पिण्डस्वरूप है, उसमें पूर्व पर्याय का व्यय, वह उत्तर पर्याय की उत्पत्ति का कारण है। पूर्व परिणाम की अस्ति को उत्तर पर्याय का कारण कहना भी व्यवहार से है। वस्तुतः कारण–कार्य में समयभेद नहीं है। द्रव्य, तीन काल के परिणामों में अन्वय/अविच्छिन्न रहता है।

जिस प्रकार कोई जीव पहले शुभपरिणाम में प्रवर्तता है और स्वर्गगति को प्राप्त होता है और कोई जीव पहले अशुभपरिणामरूप प्रवर्तता है और फिर नरकादि पर्यायों को प्राप्त करता है। देखो, यह तो स्थूल दृष्टान्त है। वस्तुतः तो प्रत्येक समय में द्रव्य, कारण–कार्यरूप परिणमित हो रहा है। ●●

हे माता! मैं अब दूसरी माता को नहीं रुलाऊँगा

माता! मुझे संयमधर्म अङ्गीकार करने की अनुमति दो। मैं अपने आनन्द के विशेष वेदन के लिए वन में जाता हूँ। जिसने अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया है, स्वानुभूति प्रगट की है, उस स्वानुभूतिजनित आनन्द के विशेष स्वाद के लिए अन्तर के वैराग्यभीने भावपूर्वक अपनी माता से कहता है – 'हे माता! हमारी रुचि अन्तर में आनन्दनिधान आत्मा के सिवा अन्यत्र नहीं लगती; अन्तर में दृष्टि के विषयभूत जो ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा है, उस पर से हमारी रुचि बिलकुल नहीं हटती। उस रुचि के जोर से विशेष आनन्द प्राप्त करने हेतु हम वन में जा रहे हैं। हे जनेता! पुत्र मोहवश तुझे रोना हो तो एक बार रो ले; परन्तु हम शपथ लेते हैं कि अब पुनः दूसरी माता को नहीं रुलाएँगे, पुनः अवतार नहीं लेंगे, इसी भव में भवातीत होकर पूर्ण परमात्मदशा को प्राप्त करेंगे।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, भाग २, पृष्ठ ३०९

गाथा २३२

अब, जीवद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता हुआ ही अर्थात् अपने में ही नवीन पर्यायरूप कार्य को करता है — ऐसा कहते हैं —

ससरूवत्थो जीवो, कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि।
खित्ते एकम्मि ठिदो, णियदव्वे संठिदो चेव॥

निज रूप में स्थित रहे, निज कार्य में ही वर्तता।
निज क्षेत्र में रहता हुआ, निज द्रव्य में स्थित रहे॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] जीवद्रव्य, [**ससरूवत्थो वट्टमाणं पि**] अपने चैतन्यस्वरूप में स्थित होता हुआ [**खित्ते एकम्मि ठिदो**] अपने ही क्षेत्र में स्थित रहकर [**णियदव्वे संठिदो चेव**] अपने ही द्रव्य में रहता हुआ [**कज्जं साहेदि**] अपने परिणमनरूप समय में अपने पर्यायस्वरूप कार्य को सिद्ध करता है।

भावार्थ : परमार्थ से विचार करें तो अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप होता हुआ जीव, पर्यायस्वरूप-कार्यरूप परिणमन करता है; परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है, वे तो निमित्तमात्र है।

गाथा २३२ पर प्रवचन

जीवादि द्रव्य, अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहकर ही अपना कार्य करते हैं। अपना द्रव्य, अपना क्षेत्र और अपनी पर्यायरूप काल में रहकर ही द्रव्य, अपने नवीन -नवीन भाव को करता है।

परमार्थ से विचार किया जाए तो अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप होता हुआ जीव, पर्यायस्वरूप कार्यरूप परिणमता है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, वे तो निमित्तमात्र हैं।

उपादान का कार्य कहो अथवा नैमित्तिक कहो, एक ही बात है और वह स्वतन्त्र है। नैमित्तिक कहा, उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है परन्तु वह कार्य निमित्त के कारण हुआ है — ऐसा नहीं है। जैसे, मिट्टी से घड़ा होता हो, उस समय कुम्हार भले ही निमित्त हो परन्तु कुम्हार उस घड़े का कर्ता नहीं है; घड़ा तो अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप होकर ही हुआ है, उसमें परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तो निमित्तमात्र हैं। कार्य तो एक ही हुआ है, वह कार्य निमित्त से ही हुआ है और उपादान से भी हुआ है — ऐसा दो प्रकार नहीं हैं।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की नास्ति है। केवलज्ञान, जीव के अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही होता है; वज्रवृषभनाराचसंहनन के कारण केवलज्ञान नहीं होता। अभी यहाँ पञ्चम काल है तथा वज्रवृषभनाराचसंहनन का अभाव है, भरतक्षेत्र में अवतार है, इसीलिए केवलज्ञान नहीं हुआ है — ऐसा नहीं है। वास्तव में जीव की स्वयं की पर्याय के कारण ही केवलज्ञान नहीं हुआ है; बाहर की सामग्री की हीनता के कारण कार्य रूक गया है — ऐसा नहीं है किन्तु अन्तर की कमी के कारण केवलज्ञान नहीं हुआ है।

देखो, पर्याय की अपेक्षा से तो पहले समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों ही दूसरे समय में पलट जाते हैं। सदृशता की अपेक्षा से द्रव्य को ध्रुव कहते हैं परन्तु पहले समय का द्रव्य, दूसरे समय पर्याय की अपेक्षा से पलट गया है। जैसे, चक्की के दो पाटों में से ऊपर का पाट घूमता है और नीचे का स्थिर रहता है; इसी तरह किसी वस्तु में दो अलग-अलग पहलू नहीं हैं कि एक पहलू ध्रुव रहे और दूसरा पलटे। चक्की के दो पाट तो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; इसी प्रकार किसी वस्तु में ध्रुव और उत्पाद-व्यय, सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं हैं। ध्रुववस्तु पलटकर पर्याय होती है; ध्रुव अलग नहीं रहता।

देखो, पर्याय के उत्पाद-व्यय में विसदृशता और ध्रुव में सदृशता है। पर्याय में एक का उत्पाद और दूसरे का व्यय, ऐसी द्विरूपता है, इसीलिए विसदृशपना है और ध्रुवस्वभाव सामान्य सदृशरूप है। विरुद्धस्वभाव अर्थात् उत्पाद-व्यय और अविरुद्धस्वभाव अर्थात् ध्रुव, परन्तु उनमें पहले समय का द्रव्य दूसरे समय पलट गया है। द्रव्य अपने स्वभाव से ही पूर्व पर्याय से उत्तर पर्यायरूप परिणमित होता है। इस प्रकार अनादि-अनन्त अपने द्रव्य-क्षेत्र

–काल–भाव में वर्तता हुआ नवीन–नवीन कार्य करता है। इसमें वस्तु की स्वतन्त्रता का ढिंढोरा है। सम्पूर्ण लोक के सभी पदार्थों का ऐसा ही स्वरूप है।

उपादान भी है और निमित्त भी है — ऐसी दोनों की भिन्न–भिन्न अस्ति है। निमित्त के कारण उपादान का कार्य हुआ — यदि ऐसा हो तो दो वस्तुओं का अस्तित्व ही भिन्न–भिन्न नहीं रहा। देखो, विकार भी अपने ही द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के कारण है और विकाररहित सिद्धदशा होती है, वह भी अपने ही द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से परिणमती है। संसारदशा में अथवा सिद्धदशा में जीव अपने ही द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप वर्तता है; पर के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव में नहीं वर्तता। औदायिक आदि पाँचों भाव हैं, वे जीवतत्त्व के भाव हैं। वे स्वयं के ही कारण हैं; अन्य वस्तु भले ही हो परन्तु उसके कारण, वे भाव नहीं होते है।

अहो! दिगम्बर सन्तों का कोई भी वचन लो तो उसमें स्वतन्त्रता का ही ढिंढोरा है। भाई! दिगम्बर सन्त तो जैनदर्शन के स्तम्भ हैं, इन सन्तों ने ही सम्पूर्ण जैनदर्शन को टिका रखा है। ●●

अहो! वह समय और वे भाव कैसे होंगे?

वह समय कैसा होगा, जब कुन्दकुन्दाचार्य जैसे वीतरागी सन्त इस भूमि पर विचरण करते होंगे और अपनी मधुर वाणी से एकत्व-विभक्त ज्ञायकस्वरूप आत्मा दिखाते होंगे! अहाहा! वह क्षण और वे भाव कैसे होंगे और उनकी वाणी को झेलकर एकत्व-विभक्त आत्मा का अनुभव करनेवाले श्रोताजन कैसे होंगे!! कुन्दकुन्दप्रभु के मुखचन्द्र से वीतरागी अमृत झरता होगा और महाभाग्यवान श्रोताजन वह अमृत पीकर स्वानुभव करते होंगे। धन्य है वह अवसर! मुनिराज उपदेश देते होंगे, किन्तु दूसरे ही क्षण भाषा का विकल्प छूट जाने से निर्विकल्प उपयोग द्वारा आत्मा के आनन्द रस का पान करने में मग्न हो जाते होंगे - ऐसा मुनि जीवन धन्य है! यह मोक्षमार्ग धन्य है!!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १६

गाथा २३३

अब, यदि जीव, अन्यस्वरूप होकर कार्य करे तो उसमें दोष दिखाते हैं —

ससरूवत्थो जीवो, अण्णसरूवम्मि गच्छदे जदि हि।
अण्णोण्णमेलणादो, एक्क-सरूवं हवे सव्वं॥

निज रूप स्थित जीव यदि, पररूप में भी परिणमे।
सब द्रव्य एक स्वरूप होवें, परस्पर सम्मिलन से॥

अन्वयार्थ : [**जदि हि**] यदि [**जीवो**] जीव [**ससरूवत्थो**] अपने स्वरूप में रहता हुआ [**अण्णसरूवम्मि गच्छदे**] पर स्वरूप में जाए तो [**अण्णोण्णमेलणादो**] परस्पर मिलने से एकत्व हो जाने से [**सव्वं**] सब द्रव्य [**एक्कसरूवं हवे**] एक स्वरूप हो जाएँ, तब तो बड़ा दोष आवे परन्तु एक स्वरूप कभी भी नहीं होता है, यह प्रगट है।

गाथा २३३ पर प्रवचन

यदि जीव अपने स्वरूप में रहकर भी परस्वरूप हो जाए तो दो द्रव्य एक ही हो जाएँगे। जीव और शरीर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, उनका एक-दूसरे में अभाव है; इस कारण वस्तुतः जीव और शरीर एक-दूसरे को स्पर्श ही नहीं करते। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में वर्त रहा है, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के साथ एकमेक नहीं होता।

कोई कहता है आत्मा पर का कर्ता नहीं है और उपवास के शुभराग से धर्म नहीं होता; इसलिए भूख लगे तो खा लेना, तो उसे वस्तु का कुछ भी भान नहीं है। अरे भाई! आत्मा पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता तो फिर 'भूख लगे तो खा लेना' — यह बात तू लाया कहाँ से? भूख लगे तो खा लेना — ऐसा ज्ञानी नहीं कहते। ज्ञानी तो कहते हैं कि भाई! आत्मा

ज्ञानस्वभावी है; वह जड़ शरीर से और आहार से भिन्न है, इसलिए वह पर का ग्रहण अथवा त्याग नहीं करता, तो फिर 'खा लेना' — यह बात तू कहाँ से लाया ?

यदि जीव पर का कार्य करे तो जीव परवस्तु के साथ एकमेक हो जाएगा — यह बड़ा दोष आयेगा। आत्मा और जड़ वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं और दोनों अपने-अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही वर्तते हैं। उनमें कौन किसका क्या करे ? जीव अधिकतम राग कर सकता है परन्तु उस राग से वह किसी जड़पदार्थ का कार्य नहीं कर सकता।

देखो, यह वस्तु की स्वतन्त्र मर्यादा है। कोई द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा का उल्लङ्घन करके पर का काम नहीं करता। आत्मा, शरीर का काम करे तो आत्मा और शरीर एक हो जाएँगे। यदि मनुष्य, घोड़ा को चलाये तो मनुष्य और घोड़ा एक हो जाएगा। यदि आत्मा, रोटी खाये तो रोटी और आत्मा एक हो जाएँगे परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में रहकर अपना कार्य करता है। आत्मा विकार करता है, इसलिए वह जड़कर्म में मिल नहीं जाता, क्योंकि दो द्रव्य कभी भी एकरूप होकर परिणमित नहीं होते। कोई द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता।

यहाँ लोक के छह द्रव्यों का वर्णन करके, जीव की बात विशेषरूप से ली गयी है क्योंकि छह द्रव्यों में जीव को समझाना है। समझनेवाला जीव है। वस्तु अपने परिणाम में वर्तती है; पर के परिणाम में नहीं वर्तती। जीव अपने ज्ञानपरिणाम में अथवा रागपरिणाम में वर्तता है परन्तु परवस्तु में वह नहीं वर्त सकता। कोई जीव समवसरण में बैठा हो और भगवान की वाणी सुनता हो, उस सुनने के समय ज्ञान अपने कारण होता है और वाणी के परमाणु अपने से भिन्न परिणमित होते हैं; आत्मा का ज्ञान भिन्न परिणमित होता है, कोई किसी का कर्ता नहीं है। देखो, यदि जीव यह बात समझले तो अनन्त परद्रव्यों से उदासीन होकर अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हो जाए — इसी का नाम धर्म है। ●●

गाथा २३४

अब, सर्वथा एक स्वरूप मानने में दोष दिखाते हैं —

अहवा बंभसरूवं, एक्कं सव्वं पि मण्णदे जदि हि।
चंडालबंभणाणं, तो ण विसेसो हवे को वि॥

यदि एक ब्रह्म स्वरूप ही, सब रूप – ऐसा मान लें।
चाण्डाल-ब्राह्मण में कभी कुछ, भेद फिर रहता नहीं॥

अन्वयार्थ : [जदि हि अहवा बंभसरूवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे] यदि सर्वथा एक ही वस्तु मानकर ब्रह्मास्वरूपरूप सर्व माना जाए तो **[चंढालबंभाणाणं तो ण विसेसो हवे कोवि]** ब्राह्मण और चाण्डाल में कुछ भी विशेषता (भेद) न ठहरे।

भावार्थ : एक ब्रह्मस्वरूप सब जगत को माना जाए तो अनेकरूप न ठहरे। यदि अविद्या से अनेकरूप दिखाई देता हुआ माना जाए तो अविद्या उत्पन्न किससे हुई ? यदि ब्रह्म से हुई तो उसमें भिन्न हुई या अभिन्न हुई ? अथवा सत्‌रूप है या असत्‌रूप है ? एकरूप है या अनेकरूप है ? इस तरह विचार करने पर कहीं भी अन्त नहीं आता है; इसलिए वस्तु का स्वरूप अनेकान्त ही सिद्ध होता है और यह ही सत्यार्थ है।

गाथा २३४ पर प्रवचन

जगत् में सभी पदार्थ भिन्न–भिन्न हैं, उन्हें सर्वथा एकरूप मानने से आनेवाले दूषण इस गाथा में बताते हैं।

जगत् में अनन्त पदार्थ हैं, वे सभी स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र हैं। किसी को किसी का आधार नहीं है। आत्मा, ज्ञान और राग को करता है परन्तु शरीरादि पर का काम नहीं करता। यदि

आत्मा पर का काम करे तो वह पर से भिन्न नहीं रहेगा, अपितु पर के साथ एकमेक हो जाएगा अर्थात् वेदान्त की तरह सर्वथा अद्वैत हो जाएगा और इससे महादोष आयेगा।

आत्मा, भाषा बोलता है; आत्मा, खाता है; आत्मा, शरीर को चलाता है — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। जैसे, वेदान्तदर्शन सब मिलकर एक अद्वैत ब्रह्म मानता है; इसी प्रकार इसने भी आत्मा को और पर को एकमेक माना, इसलिए यह भी वेदान्त जैसा ही हुआ। जीव, राग करता है परन्तु पर के काम नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है, पदार्थ स्व से है और पर से नहीं — ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। यदि सब होकर एक ही अद्वैत हो तो ब्राह्मण और चाण्डाल के बीच कोई भेद नहीं रहेगा। यह ब्राह्मण है, यह चाण्डाल है, यह पुरुष है, यह स्त्री है — ऐसा भेद अद्वैत ब्रह्म में किस प्रकार हो सकता है? और ये भेद तो प्रत्यक्ष दिखते हैं, इसलिए प्रत्येक का आत्मा भिन्न-भिन्न है और शरीर भी भिन्न-भिन्न है।

सभी तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा कहे और फिर एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को करे — ऐसा भी माने तो उसने वस्तुतः तत्त्व को भिन्न-भिन्न नहीं माना है परन्तु वेदान्त की तरह सबको एकमेक माना है। मेरा शरीर, मेरे कपड़े — ऐसा भाषा में बोला जाता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। आत्मा ने शरीर में अथवा वस्त्रों में प्रवेश नहीं किया है। आत्मा, आत्मा में है और शरीर, शरीर में है। राजा का आत्मा अलग है और प्रजा का आत्मा अलग है। भगवान का आत्मा अलग है और यह आत्मा अलग है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व अलग-अलग है। दो तत्त्व कभी एकमेक नहीं होते हैं।

यदि सभी तत्त्व एक ही हों तो भूल क्यों होती है? वस्तुतः परलक्ष्य के बिना एक में भूल नहीं हो सकती। देखो, भिन्न-भिन्न तत्त्व माने बिना स्वभावसन्मुख नहीं झुका जा सकता और स्वभावसन्मुखता के बिना वीतरागता नहीं होती। कोई कहता है कि भले ही सब मिलाकर एक मानें परन्तु प्रयोजन तो वीतरागभाव करने का है न? परन्तु भाई! जिसने पर के साथ एकता मानी है, उसे पर का अभिमान नहीं मिटेगा और वह स्वभावसन्मुख नहीं होगा। पर से भिन्नपना जाने बिना, परलक्ष्य का त्याग करके स्वभावसन्मुख कैसे होगा? और स्वभावसन्मुख हुए बिना वीतरागता नहीं होती। आत्मा पर का कर्ता है — ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यदि आत्मा

भाषा बोले तो भाषा से आत्मा अलग नहीं रह सकता अर्थात् आत्मा, जड़ हो जाता है और यदि सभी तत्त्व भिन्न-भिन्न हों तो तू पर का क्या करेगा ?

'सब मिलाकर एक ही तत्त्व है परन्तु अज्ञान से अलग भाषित होते हैं' — ऐसा यदि कोई कहे तो उससे पूछते हैं कि वह अज्ञान कहाँ से आया ? अकेले ब्रह्म में अज्ञान नहीं होता और अज्ञान है — ऐसा कहो तो दो वस्तुएँ सिद्ध हो गई। इसी प्रकार कोई जैनमतावलम्बी कहता है कि आत्मा और परवस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं परन्तु व्यवहार से आत्मा पर का कार्य करता है, तो उससे पूछते हैं कि यह व्यवहार कहाँ से आया ? व्यवहार तो विकल्प है, वह विकल्प तो आत्मा का है, जड़ में तो विकल्प होता नहीं; इसलिए आत्मा अपने में व्यवहार का विकल्प करता है परन्तु आत्मा पर का कार्य तो व्यवहार से भी नहीं करता। इस प्रकार सभी तत्त्व भिन्न -भिन्न हैं, उनमें कोई किसी का कुछ नहीं करता है। प्रत्येक वस्तु स्व रूप से है और पर रूप से नहीं अथवा प्रत्येक पदार्थ वस्तुरूप से एक है और गुण-पर्यायों से अनेक है — ऐसा अनेकान्तस्वरूप है — यह समझना चाहिए। ●●

सम्यक्त्वी को निरन्तर मुनिदशा की भावना

धर्मात्मा जीवों के हृदय में ऐसी गुप्ति-समितिरूप मुनिदशा की भावना निरन्तर होती रहती है। जिसने अपना वीतरागी चैतन्यपद देखा है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को ही मुनिदशा या मोक्षदशा की सच्ची भावना होती है। अज्ञानी तो बाहर के संयोग-वियोग को देखता है, वह अन्तर के अतीन्द्रिय भावों को नहीं पहचानता। मुनिराज की अन्तरङ्ग दशा एकदम शान्त होती है, उनकी वृत्ति शरीरादि के प्रति उदासीन और निरपेक्ष होती है। रत्नत्रय के धारक और सिद्धपद के साधक, साधु भगवन्त जीवन-मरण के प्रति समभावी होते हैं। वे निज-स्वरूप में गुप्त रहकर भी तीन गुप्ति के धारक होते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २२

गाथा २३५

अब, अणुमात्र तत्त्व को मानने में दोष दिखाते हैं —

अणुपरिमाणं तच्चं, अंसविहीणं च मण्णदे जदि हि।
तो संबंधाभावो, तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि॥

यदि वस्तु को अणु मात्र, अंश विहीन माना जाए तो।
अंश पूर्वोत्तर रहें सम्बन्ध बिन, नहिं कार्य हो॥

अन्वयार्थ : [जदि हि अंसविहीणं अणुपरिमाणं तच्चं मण्णदे] यदि एक वस्तु सर्वगत व्यापक न मानी जाए और अंशरहित अणुपरिमाण तत्त्व माना जाए **[तो संबंधाभावो तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि]** तो दो अंश के तथा पूर्वोत्तर अंश के सम्बन्ध के अभाव से अणुमात्र वस्तु से कार्य की सिद्धि नहीं होती है।

भावार्थ : निरंश, क्षणिक, निरन्वयी वस्तु के अर्थक्रिया नहीं होती है, इसलिए सांश, नित्य, अन्वयी वस्तु कथञ्चित्त मानना योग्य है।

गाथा २३५ पर प्रवचन

अब, कोई कहता है कि आत्मा अणुमात्र ही है, तो उसमें दोष बतलाते हैं।

आत्मा सर्व पदार्थों में व्यापक है, इस बात का तो पहले निषेध कर दिया गया है। अब, आत्मा सर्वथा अणुमात्र ही नहीं है — ऐसा कहते हैं। यदि आत्मा अपनी समस्त पर्यायों में सर्वगत न हो अर्थात् अन्वयरूप से व्याप्त न हो तो पूर्व-उत्तर अंशों के बिना वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। एक क्षणिक विचार आया, वह अंश है; उस अंश जितना ही आत्मा हो तो उस विचार का अभाव होकर दूसरा विचार/अंश प्रगट नहीं हो सकता। अत: निश्चित

है कि आत्मा एक समय की पर्याय के अंश जितना ही नहीं है, अपितु आत्मा तो तीन काल की पर्यायों में सर्वव्यापक है। क्षेत्र से सर्वव्यापक नहीं, किन्तु अपने भावों में सर्वव्यापक है।

आत्मा पर में व्यापक नहीं है, अपने में व्यापक है — यह अनेकान्त है। आत्मा पर से भिन्न रहकर अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त होता है। यदि सर्व अवस्थाओं में आत्मा को व्यापक न माना गया तो पूर्व और उत्तर अवस्थाओं का कोई मेल ही नहीं रहेगा। अत: पहली पर्याय में जो आत्मा व्यापक है, वही दूसरी पर्याय में व्यापक है। पर्यायें भिन्न-भिन्न होती हैं परन्तु उनमें व्यापकद्रव्य एक ही है। रागपर्याय में अथवा वीतरागपर्याय में सब में आत्मा अन्वय रहनेवाला है। यदि आत्मा अन्वयरूप से अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक न हो किन्तु एक पर्याय जितना ही अंशमात्र हो तो वह निरंश क्षणिक और निरन्वय हो जाएगा — ऐसी वस्तु में कोई कार्य नहीं हो सकेगा, यह दोष आयेगा।

यदि मिट्टी सर्वथा पिण्ड अवस्था जितनी ही हो तो घड़ा नहीं हो सकता। घड़ा अंश और पिण्ड अंश, इन दोनों अंशों में मिट्टी व्यापक है; इसी प्रकार राग अथवा वीतराग अवस्था; अल्पज्ञदशा अथवा सर्वज्ञदशा, इन समस्त अंशों में अन्वयरूप से आत्मा व्यापक है। यदि ऐसा न हो और आत्मा, राग अवस्था जितना ही होगा तो वह अंशमात्र सिद्ध होगा और राग अंश पलटकर वीतराग अंश नहीं हो सकेगा; अल्पज्ञता मिटकर सर्वज्ञता नहीं हो सकेगी; इसलिए वस्तु सर्वथा अंशमात्र नहीं है, अपितु पूर्व-उत्तर के समस्त अंशों में वस्तु व्यापक है अर्थात् अंशोंसहित नित्य है और सर्व पर्यायों में अन्वय रहनेवाली है।

पहली पर्याय में एक आत्मा और दूसरी पर्याय में दूसरा आत्मा — ऐसा नहीं है किन्तु समस्त पर्यायों में एक ही आत्मा अन्वय है। जैसे, दूध पलटकर दही हुआ, वहाँ दोनों पर्यायों में परमाणु, अन्वय रहते हैं। दूध के परमाणुओं का नाश होकर दही के परमाणु नये नहीं आये हैं; इसी प्रकार रागपर्याय पलटकर वीतरागपर्याय हुई, इन समस्त पर्यायों में आत्मा अन्वयरूप व्यापक है। यदि सर्वथा अंशमात्र ही वस्तु हो तो पर्याय का नाश होने पर वस्तु का ही सर्वथा नाश हो जाएगा परन्तु ऐसा नहीं है। द्रव्य तीनों काल की पर्यायों में अन्वय रहनेवाला है।

देखो, अपनी समस्त पर्यायों में आत्मा स्वयं व्यापक है। विकारीपर्याय में भी आत्मा है और निर्विकारीपर्याय में भी आत्मा है; इसलिए विकारीपर्याय कर्म ने करायी है — ऐसा नहीं है।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा तो यह कहा जाता है कि आत्मा में विकार है ही नहीं; विकार पुद्गल का कार्य है परन्तु ऐसी द्रव्यदृष्टि किसे होती है ? जिसे पर्याय की स्वतन्त्रता का भान हो, उसे ही ऐसी दृष्टि होती है। अभी जो जीव, पर्याय को भी स्वाधीन नहीं जानता, उसे तीन काल की पर्यायों के पिण्डरूप द्रव्य की दृष्टि नहीं होती। पर्याय में विकार है, वह कर्म ने नहीं कराया परन्तु मेरे अपराध से ही है। इस प्रकार जो जीव, अंश को स्वतन्त्र जानता है और उस अंश जितना ही मेरा त्रिकालस्वभाव नहीं है — ऐसा जानता है, उसे द्रव्यदृष्टि होती है। परन्तु कर्म ही विकार कराता है — ऐसा जिसने माना है, उसे पर्याय का भी भान नहीं है और उसे द्रव्यदृष्टि भी नहीं होती।

यदि पदार्थ निरंश हों अर्थात् एक पर्यायमात्र ही हों, क्षणिक हों और निरन्वय अर्थात् अन्वयरहित हों तो वस्तु में प्रयोजनभूत प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिए वस्तु ही सिद्ध नहीं हो सकती। अत: पूर्व-उत्तर अनेक पर्यायों में व्यापक नित्य अन्वय वस्तु है — ऐसा जानना चाहिए। ●●

ऐसी है मुनिराज की चैतन्य गुफा

अहो! जैन साधुओं की दशा अत्यन्त उत्कृष्ट होती है। वे परीषहों से नहीं डरते और आत्मध्यान में लीन रहते हैं। ध्यान द्वारा चैतन्यतत्त्व के आनन्द में समाए हुए मुनियों को उपसर्ग का क्या भय? मुनिवरों की चैतन्य गुफा में तो भय का प्रवेश ही नहीं है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २६*

गाथा २३६

अब, द्रव्य के एकत्वपने का निश्चय करते हैं —

सव्वाणं दव्वाणं, दव्वसरूवेण होदि एयत्तं।
णियणियगुणभेएण हि, सव्वाणि वि होंति भिण्णाणि॥

सब द्रव्य में एकत्व है, सामान्य द्रव्य स्वरूप से।
निज-निज गुणों के भेद से, भिन्न-भिन्न रहें सभी॥

अन्वयार्थ : [सव्वाणं दव्वाणं दव्वसरूपेण एयत्तं होदि] सब ही द्रव्यों के दव्यस्वरूप से तो एकत्व होता है **[णियणियगुणभेएण हि सव्वाणि वि भिण्णाणि होंति]** और अपने-अपने गुण के भेद से सब द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं।

भावार्थ : द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यास्वरूप सत् है। इस स्वरूप से तो सबके एकत्व है और अपने-अपने गुण, चेतनत्व-जड़त्व आदि भेदरूप हैं; इसलिए गुणों के भेद से सब द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं तथा एक द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें हैं, सो सब पर्यायों में द्रव्यस्वरूप से तो एकता ही है। जैसे, चेतन की पर्यायें सब ही चेतनस्वरूप हैं, पर्यायें अपने-अपने स्वरूप से भिन्न भी है, भिन्न कालवर्ती भी है, इसलिए भिन्न-भिन्न भी कहते हैं किन्तु उनके प्रदेशभेद तो कभी भी नहीं हैं, इसलिए एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायें होती है; इसमें विरोध नहीं आता।

गाथा २३६ पर प्रवचन

अहो ! अमृत के अनुभव की खुमारीसहित जङ्गल में विचरते हुए श्री कार्तिकेयस्वामी की यह वाणी है। जङ्गल में शुभविकल्प उत्पन्न हुआ और यह रचना हो गयी। इसमें भिन्न-भिन्न शैली के अनेक न्यायों से वस्तुस्वरूप का अद्भुत वर्णन किया है। सभी पदार्थ वस्तुस्वरूप से

तो एक हैं। जीवादि पदार्थों को वस्तु कहा जाता है; इस प्रकार उनमें एकपना है तथा अपने-अपने गुणों और पर्यायों से भिन्न-भिन्नपना है। आत्मा, अपने ज्ञानादि गुण-पर्यायों द्वारा जड़-पदार्थों के गुण-पर्यायों से भिन्न है।

द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। द्रव्य, नयी पर्याय से उत्पन्न होता है, पूर्व पर्याय से व्यय होता है और सदृशरूप से ध्रुव रहता है — ऐसा द्रव्य सत् है। शरीर कर्मादि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य शरीरादि में हैं, जीव के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य शरीरादि से भिन्न हैं। सत् की अपेक्षा तो सभी द्रव्य सत् हैं — इस अपेक्षा से उनमें एकत्व है; कोई सत्, कोई असत् हो — ऐसा नहीं है तो भी प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा चेतन है; शरीर, कर्म, मकान, जड़ हैं; इस प्रकार गुणभेद से सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं।

प्रत्येक द्रव्य के त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें हैं, उनमें वह द्रव्य, अन्वय रहता है — इस अपेक्षा से भी द्रव्य को एकपना है। तीन काल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, उन सभी पर्यायों में द्रव्य को स्वरूप से तो एकता ही है।

भाई! लोक में अनन्त द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। वे द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप सत् हैं। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण नवीन पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय का व्यय होता है और द्रव्य वस्तुरूप से ध्रुव रहता है। इस प्रकार सभी द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् हैं, इस अपेक्षा से उनमें समानता है परन्तु उनके विशेषगुण-पर्यायों से प्रत्येक का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जीव में चेतनगुण है, पुद्गल में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है; इस प्रकार गुणों से उनमें भिन्नता है। यद्यपि सत्पना तो दोनों में है परन्तु उसमें एक चेतन और दूसरा जड़ — ऐसा भेद है।

एक द्रव्य में तीन काल की अनन्त पर्यायें हैं परन्तु उनमें द्रव्यरूप से तो एकता है और पर्याय से देखो तो भिन्न-भिन्न अनेकता भाषित होती है, तथापि द्रव्यरूप से तो एकता ही है। पहले सभी द्रव्यों को सत्पने की अपेक्षा एकता कही गयी और फिर एक ही द्रव्य में अपनी अनन्त पर्यायों में द्रव्य अपेक्षा से एकता कही गयी। सिद्ध भी सत् और निगोद भी सत् है, जीव भी सत् है और अजीव भी सत् है; इस प्रकार सब सत् हैं। इससे जानने में वीतरागता ही आती है। सभी सत् है और मैं उनका जाननेवाला हूँ; कहीं भी हेरफेर करनेवाला नहीं हूँ — इस निर्णय में वीतरागता है।

एक द्रव्य में उसके तीन काल की जो पर्यायें हैं, वे सभी उस द्रव्यस्वरूप हैं। चेतनद्रव्य की तीन काल की पर्यायें चेतनरूप हैं और जड़ की जड़रूप हैं। चेतन की पर्याय कभी जड़रूप नहीं होतीं और जड़ की पर्याय कभी चेतनरूप नहीं होती। रागपर्याय अथवा वीतरागपर्याय, वह चेतनद्रव्य की ही पर्यायें हैं — ऐसा समझनेवाले को जड़ से अपनी भिन्नता जानकर त्रिकाल द्रव्यस्वभाव की प्रतीति होती है। मैं ही अपनी तीन काल की पर्यायों में एकरूप रहनेवाला हूँ, पर्यायें भिन्न-भिन्न होने पर भी द्रव्यरूप से एकता है — ऐसा जानने से पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्यबुद्धि होती है — यही धर्म है।

देखो, उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से पर्याय में अनेकता है और ध्रुव की अपेक्षा से एकता है। यह उत्पाद-व्यय-ध्रुव, सत् के ही अंश हैं। किसी के उत्पाद-व्यय किसी अन्य के कारण नहीं हैं। एक अचेतन परमाणु की तीन काल की जितनी पर्यायें हैं, वे समस्त अचेतनरूप वर्तती हैं; उसकी विविध पर्यायें उसके स्वयं के कारण होती है; ध्रुवरूप से उसका स्वभाव एकरूप है और उत्पाद-व्ययरूप से उसी का अनेकरूप होने का स्वभाव है।

कर्म भी अचेतन की पर्याय है, वह कभी जीवरूप नहीं होती। कोई जीव, कान से बहरा हो तो सुन नहीं सकता, किन्तु वहाँ जीव के ज्ञान की ही वैसी योग्यता है; कान तो अचेतन की पर्याय है और ज्ञान तो जीव की पर्याय है। तीन काल की पर्यायों में द्रव्य अपेक्षा से एकता है और प्रत्येक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न भी है और एक द्रव्य की तीन काल की पर्यायों में भी प्रत्येक समय की पर्याय अपने-अपने काल का सत् है। पहली पर्याय से दूसरी पर्याय भिन्न है, इसलिए पहली पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती है। पर्याय उस काल का सत् है। वह कहाँ से आयी ? — ऐसा कहना हो तो ध्रुवद्रव्य में से आयी है, यह कहा जाता है। वस्तुतः पूर्व पर्याय का तो व्यय हो जाता है, तीन काल की पर्यायें धारावाहीकरूप से सत् हैं। पहले समय की पर्याय, पहले समय का सत् और दूसरे समय की पर्याय, दूसरे समय का सत् है। पहली पर्याय में अज्ञान होता है और दूसरी पर्याय में सम्यग्ज्ञान हो जाता है। देखो, प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्वरूप से सत् हैं और पूर्व-उत्तर की पर्यायों से वह असत् है।

अहो! ज्ञान क्या करे ? सत् को जैसा हो, वैसा जाने! परन्तु उसमें कुछ भी बदलाव नहीं करे। पर्याय सत् है, उस सत् को कौन बदले ? अनन्त पर्यायों में द्रव्यअपेक्षा से एकता होने पर

भी तीन काल की पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा ही लोक के पदार्थों का स्वभाव है। इसमें 'ऐसा क्यों' — यह प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञान का स्वभाव जानने का है और पदार्थ प्रमेय स्वभाववाले हैं। वे प्रमेय/ज्ञेयरूप रहते हैं और ज्ञान उन्हें जानता है परन्तु पदार्थों को बदल दे — ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जैसे, आँख, अग्नि और बर्फ को देखती तो है परन्तु स्वयं उसरूप हो नहीं जाती अथवा उसे बदल नहीं देती; इसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव सबको जानना है, किसी द्रव्य, गुण अथवा पर्याय को बदलने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

लोग कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो जङ्गल में जाकर बैठना चाहिए। परन्तु अरे भाई! प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने स्वरूप में ही है और पर का तो उसमें अभाव ही है; इसलिए प्रत्येक तत्त्व एकान्त जङ्गल में ही बैठा है। द्रव्य में पर का प्रवेश है ही नहीं, असङ्ग चेतनतत्त्व को परमार्थ से पर का सङ्ग नहीं है — ऐसे असङ्ग तत्त्व को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसका निर्विकल्प अनुभव करने की यह बात है।

एक द्रव्य की तीन काल की पर्यायें हैं, उन पर्यायों में काल भेद हैं; इसलिए वे भिन्न -भिन्न हैं। एक समय में दो पर्यायें नहीं होतीं, प्रत्येक पर्याय का काल भिन्न-भिन्न है, इसलिए पूर्व पर्याय के कारण वर्तमान पर्याय नहीं होती किन्तु ध्रुवद्रव्य के आश्रय से पर्याय होती है। इसलिए पर्याय के आश्रय की बुद्धि नहीं रही किन्तु ध्रुवद्रव्य का ही आश्रय रहा। पर्याय का काल एक समय का है और वस्तु तो त्रिकाल है — ऐसा समझने से क्षणिक पर्याय के लक्ष्य का झुकाव छूटकर, ध्रुववस्तु की ओर झुकाव हो जाता है और ध्रुवस्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय होती है, इसी का नाम धर्म है।

भूतकाल की पर्याय का वर्तमान में अभाव है। जब वह भूतकाल की पर्याय वर्तमान में नहीं आती तो वह क्या लाभ-नुकसान करेगी? भविष्यकाल की पर्याय वर्तमान में नहीं आती तो उसमें तू क्या करेगा? परपदार्थ तुझमें नहीं आते तो वे तुझे क्या लाभ-नुकसान करेंगे?

यह समझने से समस्त वर्तमान पर्यायों को ध्रुवस्वभाव के सन्मुख झुकाकर, उसी में एकाग्र होना रहा। पर का तो अपने में अभाव ही है, इसलिए पर के आश्रय की बुद्धि नहीं रही। एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अभाव है; इसलिए पर्याय जितनी बुद्धि नहीं रही अर्थात्

पर्यायबुद्धि नहीं रही और ध्रुवद्रव्य का ही आश्रय करना रहा। लोक के पदार्थ और उनकी तीन काल की पर्यायें जैसे हैं, वैसे सत् हैं। अहो! जीव, अकेला जाननहार रह गया, इसमें वीतरागभाव ही है। देखो, सन्तों ने वस्तुस्वरूप का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है।

भाई! दो पदार्थ कभी एक होते ही नहीं और एक द्रव्य की दो पर्यायें भी एक नहीं होती — तो वे एक-दूसरे को क्या दें? प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और उसका प्रतिसमय का परिणमन भी स्वतन्त्र! पर्यायों को कालभेद है परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा के असंख्यात प्रदेश में ही उसकी समस्त पर्यायें होती हैं। एक पर्याय में जो असंख्यात प्रदेश हैं, वे ही प्रदेश तीनों काल की पर्यायों में हैं, प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं। पहली पर्याय अमुक प्रदेशों में हुई और दूसरी पर्याय दूसरे प्रदेशों में हुई — ऐसा प्रदेशभेद नहीं है। एक ही द्रव्य की सभी पर्यायें हैं; इस प्रकार वस्तु में कथञ्चित् एकपना और कथञ्चित् अनेकपना — ऐसा स्वभाव है, इसमें विरोध नहीं है — ऐसे वस्तुस्वभाव का ज्ञान करना चाहिए। ●●

वाह! जैनधर्म का मुनिमार्ग कहो या मुक्तिमार्ग

आनन्दमग्न मुनिराज बिम्ब जैसे स्थिर होकर बैठे रहते हैं और सिंह, बाघ आदि शान्ति से उनके चरणों के पास आकर बैठ जाते हैं। खरगोश और हिरण उनके शरीर से टिककर बैठ जाते हैं और अपनी खाज खुजाते हैं। **अहो! वह दृश्य कैसा अद्भुत होगा?**

देखो, यह जैनधर्म का मुनिमार्ग! मुनिमार्ग कहो या मुक्तिमार्ग कहो, वह शुद्धभावपूर्वक ही होता है। मुनिराज तो चैतन्यपिण्ड हैं, उन्हें चैतन्य के ध्यान की धुन लगी है, कषायें एकदम शान्त हो गयी हैं, वैराग्य का पूर उमड़ रहा है, चैतन्य के ध्यान में स्थिरता के समय उपयोग में मन-वचन-काय का लक्ष्य छूट जाता है। मन-वचन-काय - ये तीनों परद्रव्य हैं। जब उपयोग स्वद्रव्य में एकाग्र होता है, तब परद्रव्य में प्रवृत्ति नहीं रहती अर्थात् उसका सम्यक् प्रकार से निरोध हो जाता है। उपयोग स्वरूप में ही गुप्त हो जाता है; इसलिए उसे गुप्ति कहते हैं। मुनिराज को ऐसी दशा बारम्बार आती रहती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २०-२१

गाथा २३७

अब, द्रव्य के गुण–पर्यायस्वभावपना दिखाते है —

जो अत्थो पडिसमयं, उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो।
गुणपज्जयपरिणामो, सो सत्तो भण्णदे समये॥

उत्पाद-व्यय अरु ध्रुवस्वभावी, प्रति समय सब द्रव्य हैं।
पर्याय-गुण-परिणाममय हैं, सत् कहें सिद्धान्त में॥

अन्वयार्थ : [जो अत्थो पडिसमयं उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो] जो अर्थ अर्थात् वस्तु प्रति समय उत्पाद–व्यव–ध्रुवत्व के स्वभावरूप है, **[सो गुणपज्जयपरिणामो सत्तो समये भण्णदे],** सो गुणपर्यायपरिणामस्वरूप सत्व सिद्धान्त में कहते हैं।

भावार्थ : जो जीव आदि वस्तुएँ हैं, वे उत्पन्न होना, नष्ट होना और स्थिर रहना — इन तीनों भावमयी हैं और जो वस्तु गुणपर्यायपरिणामस्वरूप है, सो ही सत् है। जैसे, जीवद्रव्य का चेतनागुण है, उसका स्वभाव–विभावरूप परिणमन है; इसी तरह समय–समय परिणमे (बदले), सो पर्याय है। ऐसे ही पुद्गल के स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण गुण हैं, वे स्वभाव –विभवरूप प्रतिसमय परिणमते हैं, सो पर्यायें हैं। इस तरह से सब द्रव्य, गुणपर्यायपरिणामस्वरूप प्रगट हैं।

गाथा २३७ पर प्रवचन

प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप रहना है। आत्मा की इच्छा से हाथ का हलन–चलनरूप कार्य नहीं होता। छिपकली की पूँछ कट जाने पर वह कम्पित होती है, वह उन परमाणुओं के कारण है — ऐसा नहीं है कि वहाँ आत्मा के प्रदेश होने से वह

कम्पित होती है तथा वहाँ जो आत्मा के प्रदेश कम्पित होते हैं, वे आत्मा के कारण ही होते हैं किन्तु पूँछ के परमाणुओं के कारण नहीं होते हैं क्योंकि दोनों का उत्पाद-व्यय स्वतन्त्र है; कोई एक-दूसरे के कारण नहीं हैं। आत्मा की पर्याय में जो दु:खभाव होता है, वह उसके अपने कारण है; किसी रोग आदि के कारण नहीं, क्योंकि रोग तो शरीर में है, आत्मा में नहीं; आत्मा उस रोग को अपने में मान लेता है, यही दु:ख है।

जीव स्वयं ही चिन्ता अथवा कल्पना करता है। कोई आस-पास का संयोग उसे चिन्ता अथवा कल्पना नहीं कराता; इस प्रकार पर्याय स्वयं के कारण ही होती है — ऐसा जानें तो पर की ओर देखना नहीं रहे किन्तु निज द्रव्य की ओर देखना रहे। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के लक्ष्मी, सम्मान आदि में वृद्धि देखने से स्वयं को जो ईर्ष्या अथवा मन में बेचैनी होती है, वह स्वयं के कारण ही होती है; वह दूसरा मनुष्य अपने से अधिक बढ़ गया, इस कारण नहीं। यह जीव स्वयं व्यर्थ की कल्पनाएँ करता है, इससे दु:खी है।

जगत् के पदार्थों का उत्पाद-व्यय होता है, उसमें यह मूढ़ जीव घालमेल करके अपने ऊपर आकुलता ओढ़ लेता है। वास्तव में प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय, स्वतन्त्र उसके कारण होते हैं, कोई उसमें हेरफेर नहीं कर सकता — ऐसा जानने से अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की ओर झुकना रहा और इसी से शान्ति प्राप्त होती है, दूसरा कोई कार्य आत्मा में है ही नहीं।

देखो, यह लोकभावना का वर्णन है। ये बारह भावनाएँ सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं, ये भावनाएँ भव्य जीवों को आनन्दजननी है। आत्मस्वभाव, ध्रुव नित्यानन्द है, उसके सन्मुख दृष्टि करने से जिसे शुद्धि प्रगट होती है। उस जीव को निमित्तबुद्धि उड़ गयी है, वर्तमान पुण्य-पाप की बुद्धि छूट गयी है और पर्याय के आश्रय से धर्म मानने की बुद्धि भी विलय हो गयी है; उसे तो त्रिकाल शुद्ध कारणपरमात्मा-कारणशुद्धजीव एकरूप नित्यानन्दस्वरूप का ही अवलम्बन वर्तता है। सम्यग्दर्शन के बाद कमजोरी से राग होता है परन्तु ज्ञानी को उसकी रुचि नहीं है। वह पर की अवस्था अपने आधीन नहीं मानता है। जो पर्याय क्रमबद्ध होने योग्य है, वही होती है — ऐसा मानता है। उसे तो 'मैं राग का अभाव करूँ' — ऐसी रुचि भी नहीं है क्योंकि राग तो एक समयमात्र का है, उसका अभाव करूँ — ऐसी इच्छा होती है परन्तु उससे लाभ माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है।

मैं इच्छा करके हाथ चला सकता हूँ — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि इच्छा चारित्रगुण की विपरीतपर्याय है, उसका कार्यक्षेत्र जीवतत्त्व में है। पुद्‌गल की पर्याय का स्वामी जीव नहीं है। सम्यग्दृष्टि की भावना ज्ञायकस्वभाव की ओर जम गयी है। उसे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की पर्याय विकसित हो गयी है। वह स्व-पर को स्वतन्त्र जानता है — ऐसे ज्ञानी को बारह भावनाएँ होती हैं। उसे भूमिकानुसार राग आता है किन्तु वह भावना नहीं है क्योंकि भावना तो संवर का भेद है और राग तो आस्रवतत्त्व है।

ज्ञानी जानता है कि —

१. निमित्त में से धर्म नहीं आता,

२. राग में से धर्म नहीं आता, और

३. पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती।

इसलिए इन तीनों की दृष्टि छूटकर जिसे ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुई है, उसे स्वभाव की सन्मुखता से बारह वैराग्य भावनाएँ यथार्थ होती हैं और प्रतिक्षण शुद्धता तथा आनन्द की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार ये बारह भावनाएँ भव्य जीवों के लिए आनन्द की जननी है।

यहाँ लोकभावना का वर्णन है, लोक में अनन्त पदार्थ स्वतन्त्र हैं, उनमें प्रतिक्षण पर्याय होती हैं, वह भी पर से निरपेक्ष है। प्रति समय की पर्याय भी अहेतुक सत् है। प्रत्येक पदार्थ एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। जीवादि वस्तुएँ उत्पाद-व्यय और ध्रुव — ऐसे तीन भावमय हैं। गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु सत् है, उसमें प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों भाव हैं। व्यय भी सर्वथा अभावरूप नहीं है, वह भी सत् है। जीव का उत्पाद-व्यय-ध्रुव जीव में, शरीर का उत्पाद-व्यय-ध्रुव शरीर में, आहार के परमाणुओं का उत्पाद-व्यय-ध्रुव आहार में है तो फिर आहार के कारण जीव के परिणाम सुधरते अथवा बिगड़ते हैं, यह बात ही कहाँ रही ? क्या आहार के कारण जीव का उत्पाद-व्यय है ?

जिसे सहजस्वभाव का भान करके जितना राग का अभाव हुआ है, वहाँ बाहर में ही सदोष आहार इत्यादि नहीं होते परन्तु आत्मा उसका कर्ता अथवा छोड़नेवाला नहीं है। अज्ञानी तो आहारादि की कर्ताबुद्धि में ही अटक जाता है। मैं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव में वर्तता

हूँ और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पर में वर्तते हैं। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव पर में नहीं वर्तते और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में मैं नहीं वर्तता। इस प्रकार स्व-पर वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें किसी के कारण किसी का उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं है। ऐसे भानपूर्वक स्वभाव के अवलम्बन से धर्मी जीव का राग घट जाता है, इसी का नाम भावना और संवर है।

जब आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में कर्म है ही नहीं तो कर्म आत्मा का क्या करेंगे? आत्मा के विकार में कर्म निमित्त है परन्तु कर्म आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे विकार में परिणमित नहीं करते। 'कर्म ने विकार कराया' — यह कथन शैली तो मात्र निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है। वस्तुतः निमित्त का आत्मा में अत्यन्त अभाव है और शुद्धस्वभाव में तो क्षणिक विकार का भी अभाव है — ऐसे स्वभाव की दृष्टि करना ही धर्म है।

जीवद्रव्य का चेतनागुण है और उसका स्वभाव तथा विभावरूप परिणमन, वह पर्याय है। वह स्वभाव अथवा विभावपरिणाम किसी निमित्त के कारण नहीं होते हैं। कर्म का उदय, उपशम इत्यादि के कारण जीव के परिणाम हुए — ऐसा नहीं हैं। जीव के परिणाम, जीव के कारण ही होते हैं — ऐसे भान में धर्मी को शुभ-अशुभपरिणाम के समय भी स्वभाव की दृष्टि कभी नहीं चूकती और राग की, व्यवहार की मुख्यता कभी नहीं होती है।

जीव का चेतनागुण है, उस चेतनागुण में विभाव नहीं होता। उसमें हीनता-अधिकता होती है परन्तु विभाव नहीं होता। चेतना के साथ अन्य आनन्द, श्रद्धा इत्यादि अनन्त गुण हैं, उनमें विभावरूप परिणमन होता है — इस अपेक्षा से यहाँ चेतना में स्वभावरूप और विभावरूप परिणमन कहा है। चेतना तो उपयोगरूप है परन्तु उसके साथ जो श्रद्धा-आनन्द इत्यादि गुण हैं, उन गुणों में स्वभाव और विभावरूप परिणमन होता है, वह स्वयं के कारण ही होता है।

आत्मा में अपने कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण - ऐसे छह कारकरूप होकर परिणमित होने का स्वभाव है; पर के कारण जीव में कुछ नहीं होता। अज्ञानी शोर मचाता है कि निद्धत और निकाचित कर्म बँधे हों तो क्या हो सकता है? परन्तु अरे भाई! तेरे स्वभाव के सन्मुख होकर पुरुषार्थ करने में कर्म तुझे रोकता नहीं है। तू स्वभाव का पुरुषार्थ करे तो कर्म उनके स्वयं के कारण नष्ट हो जाते हैं।

श्री धवला ग्रन्थ में आता है कि —

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा॥

अर्थात् जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप संघातरूपी कुञ्जर के सौ टुकड़े हो जाते हैं; जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं। *(- भाग ६, पृष्ठ ४२८)*

निश्चय से अपना स्वभाव चैतन्यबिम्ब है, इसके भानपूर्वक वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को कभी स्पर्श नहीं करती। कर्म का उदय आत्मा को स्पर्श ही नहीं करता तो कर्म आत्मा का क्या करेंगे? वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने-अपने कारण होते हैं। समकिती को राग होता है, वह कोई चारित्रमोह कर्म के उदय के कारण नहीं हैं किन्तु अपनी ही पर्याय के कारण हैं। चारित्रमोह का उदय तो निमित्त है, उसका आत्मा में अभाव है।

उपादान का कथन एक ही प्रकार से है कि जैसी योग्यता हो, तदनुसार कार्य होता है। निमित्त के कथन में अनेक प्रकार हैं; इसीलिए कहा है कि —

उपादान विधि निर्वचन है, निमित्त उपदेश।

निरपेक्ष आत्मस्वभाव के भान बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। आत्म-स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, उसमें स्व के ज्ञान बिना पर का ज्ञान नहीं होता। उपादान की स्वतन्त्रता के ज्ञान के बिना, निमित्त का ज्ञान नहीं होता। निश्चय के बिना, व्यवहार का ज्ञान नहीं होता। जैसे, त्रिकाली द्रव्य स्वतन्त्र निरपेक्ष है; उसी प्रकार उसकी प्रति समय की पर्याय भी निरपेक्ष/स्वतन्त्र है। प्रति समय होनेवाली पर्याय स्वयं के ही कारण होती है तो कौन किसे समझाये और कौन किसे रोके? भाषा भी भाषा के कारण परिणमित होती है और सामनेवाला जीव, उसकी योग्यता के कारण समझता है। जिसे अपना कल्याण करना हो, वह जीव, निज आत्मस्वभाव की ऐसी भावना करता है।

अरे जीव ! जैनदर्शन में तुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है या सम्प्रदाय चलाना है ? शास्त्र की पण्डिताई से अथवा सम्प्रदाय की दृष्टि से कल्याण नहीं होता है। भाई ! यह तो वस्तु के स्वभाव की बात है। वस्तु का स्वभाव समझकर स्व-सन्मुख होने से ही कल्याण होता है। वस्तुस्वभाव की समझ के बिना, अज्ञानी लोग बाहर से धर्म मानते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु में स्वभावरूप अथवा विभावरूप परिणमन अपने-अपने कारण ही होता है।

इसी प्रकार पुद्गल भी अपने स्वभाव-विभावपरिणामरूप परिणमित होता है। अँगुली का हलन-चलन, वह पुद्गल के कारण है; जीव के कारण नहीं। अँगुली का प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र, स्वयं से ही परिणमित होता है। गाड़ी का चलना, स्थिर होना — यह सब उसके स्वयं के कारण होता है। पेट्रोल के होने अथवा न होने के आधीन, मोटर की गमन अथवा स्थिति नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पुद्गल अपने वर्तमान से ही वर्तता है।

कुन्दकुन्दाचार्य अथवा पूज्यपादस्वामी इत्यादि सभी आचार्यों का एक ही अभिप्राय है किन्तु लोगों को सन्धि मिलाना नहीं आती; इसलिए उनके कथनों में परस्पर विरोध भासित होता है, यह अपेक्षाज्ञान के अभाव को सूचित करता है।

प्रत्येक वस्तु, गुण-पर्यायस्वरूप है, वह अपने स्वभाव से ही प्रतिसमय पर्यायरूप परिणमित होती है। लोक में जीव और पुद्गल आदि सभी पदार्थ प्रतिसमय परिणमित होते हैं, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता का सम्यग्दृष्टि जीव विचार करता है। पुद्गल स्कन्ध में विभावरूप परिणाम होते हैं, वे अपने परिणमन की योग्यता से होते हैं। वहाँ भी प्रत्येक परमाणु को परस्पर पर्याय में अन्योन्याभाव है तथा दो गुण अधिक परमाणु, बन्ध का कारण होता है, वहाँ भी प्रत्येक परमाणु की योग्यता से स्वतन्त्र बन्धपर्याय होती है। एक परमाणु दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता क्योंकि स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का अभाव है।

परमाणु सजातीय बन्धरूप परिणमित हों, विजातीय बन्धरूप परिणमित हों अथवा पृथक्रूप से परिणमित हो; वह अपने स्वयं के कारण है। एक समय की पर्याय परतन्त्र मानी जाए तो उसका त्रिकाली सामान्य भी स्वतन्त्र नहीं रहेगा और सामान्यगुण स्वतन्त्र नहीं तो अनन्त गुणों का आधार द्रव्य भी स्वतन्त्र नहीं रहेगा किन्तु कभी ऐसा होता नहीं है।

कोई कहता है कि यदि प्रबल निमित्त आ जाए तो आत्मा को विभावरूप परिणमित होना पड़ता है किन्तु यह बात मिथ्या है। वास्तव में जीव अपनी कमजोरी से पराश्रयरूप/ विभावरूप परिणमित होता है; दूसरा कोई उसे परिणमित करानेवाला नहीं है। परिणमित होनेवाले को कौन परिणमन कराये और जो परिणमन के अयोग्य हो, उसे भी कौन परिणमित कराये ?

निमित्त-नैमित्तिक में भी परस्पर भिन्नता है, स्वतन्त्रता है और जिसे ऐसी दृष्टि हुई है, वह भी स्व-पर को स्वतन्त्र देखता है। मिथ्यादृष्टि अपनी पराधीन दृष्टि में सबको संयोग से देखता है।

देखो, लकड़ी के ऊपर के परमाणु, नीचे के परमाणुओं के आधार से नहीं रहते हैं, तथापि अन्योन्याधार कहना उपचार कथन है। वास्तव में प्रत्येक द्रव्य में कर्ता-कर्म-करण -सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण — ये छहों कारण स्वतन्त्र हैं।

निमित्त के आधार से अन्य वस्तु है — ऐसा देखनेवाला पराधीनदृष्टि से देखता है और इस प्रकार सर्वत्र परतन्त्रता देखनेवाला व्रतादि पालन करे, उस समय भी अधर्म करता है। भावलिङ्गी मुनि को कोई उपसर्ग आ जाए तो उस समय भी वे स्वरूप में लीन होकर शुक्लध्यानश्रेणी से परमसुख को भोगते हुए, मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं; उन्हें कभी भी संयोग का बल नहीं है। कथन भले ही उपचार से हो परन्तु कार्य तो एक प्रकार से अर्थात् अपने -अपने से ही होता है। जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से कार्य होने योग्य है, वह उसी प्रकार होता है; उसे कोई निमित्त अन्य प्रकार से परिणमित करा दे — ऐसा तीन काल में भी नहीं होता। निमित्त से कार्य होता हो तो नैमित्तिक भिन्न नहीं रहेगा। उपादान-उपादेय पर्यायरूप हो तो अन्य वस्तु को निमित्तरूप उपचार कारण कहा जाता है; निमित्त से कथन करना व्यवहार है।

भाई ! सर्व प्रथम निश्चय का स्वीकार करके तत्पश्चात् संयोग का ज्ञान करना चाहिए। चौकी पर पुस्तक है, यह व्यवहार कथन है; मुख्य अनुपचार निश्चय का स्वीकार किये बिना उपचार का कथन मिथ्या है। संयोग से वस्तु को देखनेवाला असली स्वभाव को भूल जाता है।

भाई ! सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और उससहित चारित्र, वह धर्म है। शुद्धस्वभाव का निर्णय कारण है और सम्यग् अनुभूति कार्य है। ●●

गाथा २३८

अब, द्रव्यों के व्यय-उत्पाद क्या हैं ? सो कहते हैं —

पडिसमयं परिणामो, पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो।
वत्थुविणासो पढमो, उववादो भण्णदे विदिओ॥

प्रति समय परिणाम पहिला, नष्ट हो फिर अन्य हो।
नष्ट होना पूर्व का व्यय, दूसरा उत्पाद है॥

अन्वयार्थ : [परिणामो] जो वस्तु का परिणाम **[पडिसमयं]** प्रति समय **[पुव्वो णस्सेदि अण्णो जायदे]** पहिला तो नष्ट होता है और दूसरा उत्पन्न होता है, **[पढमो वत्थुविणासो]** सो पहिले परिणामस्वरूप वस्तु का तो नाश (व्यय) है **[विदिओ उववादो मण्णदे]** और दूसरा परिणाम जो उत्पन्न हुआ, उसको उत्पाद कहते हैं; इस प्रकार व्यय और उत्पाद होते हैं।

गाथा २३८ पर प्रवचन

प्रथम तो वस्तु के परिणाम प्रति समय अपने ही कारण उत्पन्न-विनष्ट होते हैं। जड़-चेतन सभी द्रव्य अपनी अनन्त शक्तियों से भरे हुए ईश्वर हैं; जड़द्रव्य भी जड़ेश्वर हैं।

प्रत्येक उत्पाद-पर्याय का काल एक समय का है। व्यञ्जनपर्याय भी एक-एक समय की है, प्रति समय नयी-नयी है; बहुत काल तक सदृश दिखती है — इस अपेक्षा से धवला में मिथ्यात्व को स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा व्यञ्जनपर्याय कहा है। वस्तुतः तो मिथ्यात्व अर्थपर्याय है और सम्यग्दर्शन भी अर्थ पर्याय है।

प्रत्येक समय नयी पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय का व्यय होता है — ऐसी स्वतन्त्र परिणमनशक्ति से प्रत्येक द्रव्य परिणमित होता है। स्वयंभूस्तोत्र में श्री मुनि सुव्रत जिन की स्तुति में कहा है कि हे भगवान! एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव, सत् के तीन अंश तथा प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता आपने ही बताई है, यही आपकी सर्वज्ञता को बतलाती है; इसलिए हे नाथ! आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं। सर्वज्ञता के बिना प्रतिसमय की स्वतन्त्रता का कथन सम्भव ही नहीं है।

यदि सर्वज्ञ का निर्णय करे तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। सर्वज्ञता कहाँ से प्रगट हुई ? राग, निमित्त अथवा अल्पज्ञता, मेरा मूलस्वरूप नहीं है, मेरे ध्रुव-ज्ञानानन्दस्वभाव में से सर्वज्ञता प्रगट होती है; इस प्रकार जिसे ज्ञानस्वभाव की सन्मुख प्रतीति हुई, उसी ने वास्तव में सर्वज्ञ को माना कहा जाता है।

सभी पदार्थ प्रति समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप हैं — ऐसा वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान सकता। जगत् में महाविदेहक्षेत्र, असंख्यात द्वीप-समुद्र, नरक-स्वर्ग इत्यादि सब हैं; उन्हें नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, उसने सर्वज्ञ को भी नहीं माना है। स्वयं की अल्पज्ञता में वे पदार्थ नहीं दिखते; इस कारण उनका निषेध नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञदेव ने जो देखा है और कहा है, वही सन्तों ने कहा है और सम्यग्दृष्टि भी वैसा ही कहता है। कोई कहता है कि महाविदेहक्षेत्र और सीमन्धर भगवान इत्यादि हमको दिखाई नहीं देते; इसलिए वह नहीं हैं तो ऐसी नास्तिकता की बात धर्मी जीव नहीं सुन सकता। जगत् के पदार्थ सत् हैं, महाविदेहक्षेत्र है, सीमन्धर भगवान हैं; अपने ज्ञान की अल्पज्ञता के कारण वे न दिखलाई दें, इससे उन सत् पदार्थों का निषेध नहीं हो जाता।

यहाँ तो जगत् के समस्त पदार्थों के स्वरूप का वर्णन चल रहा है। जगत् के सभी पदार्थ प्रत्येक समय में परिणमित होते हैं। पर्याय अपेक्षा से सम्पूर्ण वस्तु ही परिणमती है; चक्की के दो पाट की तरह एक भाग सर्वथा कूटस्थ और दूसरा भाग परिणमन — ऐसे दो भाग भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अपितु वस्तु स्वयं पर्यायरूप से पलटती है। पदार्थ और पर्याय सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वस्तु स्वयं पर्याय अपेक्षा से उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है तथा ध्रुव भी रहती है। भले ही छद्मस्थ, प्रत्येक समय को अलग करके पकड़ न सके परन्तु सर्वज्ञ के कहे

अनुसार पदार्थ का निर्णय तो करता है। स्वभाव के भानपूर्वक पदार्थ के ऐसे स्वरूप को ज्ञानी ही जानता है। ऐसे निश्चयस्वरूप के भान बिना व्यवहार किसको कहना? — इसका भी अज्ञानी को पता नहीं है। यदि असंख्यात द्वीप-समुद्र न माने जाएँ तो ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात तिर्यञ्च पञ्चम गुणस्थानवर्ती हैं, यह भी मिथ्या हो जाएगा; साथ ही आगम तथा सर्वज्ञता भी मिथ्या सिद्ध होंगे। ●●

वात्सल्यमूर्ति मुनिराज के सम्बोधन के उपाय

जैसे माता बालक को शिक्षा दे, तब कभी ऐसा कहती है कि बेटा तू तो बहुत सयाना है.... तुझे यह शोभा देता है? और कभी ऐसा भी कहती है कि तू मूर्ख है, पागल है; इस प्रकार कभी मधुर शब्दों से शिक्षा देती है तो कभी कड़क शब्दों से उलाहना देती है, परन्तु दोनों समय माता के हृदय में पुत्र के हित का ही अभिप्राय है। इसीलिए उसकी शिक्षा में भी कोमलता ही भरी है।

इसी प्रकार धर्मात्मा सन्त बालकवत् अबुध शिष्यों को समझाने के लिए उपदेश में कभी मधुरता से ऐसा कहते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा सिद्ध जैसा है, उसे तू जान! और कभी कठोर शब्दों में कहते हैं कि अरे मूर्ख! पुरुषार्थहीन नपुंसक! अपनी आत्मा को अब तो पहचान! यह मूढ़ता तूझे कब तक रखनी है? अब तो छोड़!

इस प्रकार कभी मधुर सम्बोधन से तो कभी कठोर शब्दों से उपदेश देते हैं, परन्तु दोनों प्रकार के उपदेश के समय उनके हृदय में शिष्य के हित का ही अभिप्राय है; इसलिए उनके उपदेश में कोमलता ही है, वात्सल्य ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग ३, पृष्ठ १८६

गाथा २३९

अब, द्रव्य के ध्रुवत्व का निश्चय कहते हैं —

णो उप्पज्जदि जीवो, दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि।
तं चेव दव्वमित्तं, णिच्चतं जाण जीवस्स॥

उत्पन्न हो नहिं जीव द्रव्य, स्वरुप से नहिं नष्ट हो।
इसलिए नित्यत्व जानो, जीव का द्रव्यत्व से॥

अन्वयार्थ : [जीवो दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि णो उप्पज्जदि] जीवद्रव्य, द्रव्यस्वरूप से न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है; **[तं चेव दव्वमित्तं जीवस्स णिच्चतं जाण]** अत: द्रव्यमात्र से जीव के नित्यत्व जानना चाहिए।

भावार्थ : जीव, सत्ता और चेतना से उत्पन्न और नष्ट नहीं होता है, न तो नवीन जीव कोई उत्पन्न ही होता है और न नष्ट ही होता है, यह ही ध्रुवत्व कहलाता है।

गाथा २३९ पर प्रवचन

पर्याय अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु का प्रथम समय का द्रव्य-क्षेत्र-काल भावपना है, वह दूसरे समय नहीं है किन्तु द्रव्य अपेक्षा से जीवादि कोई द्रव्य नष्ट नहीं होता — ऐसा का ऐसा सदृशरूप रहता है; इसलिए द्रव्यमात्र से जीव के भी नित्यपना है।

आशय यह है कि यही ध्रुवपना है कि जीव, सत्ता और चेतनता से तो उपजता/बदलता नहीं है अर्थात् कोई नया जीव उपजता अथवा बदलता नहीं है। सत् का कोई कर्ता नहीं है -व्यवस्थापक नहीं है, कोई किसी का कुछ करने-धरनेवाला नहीं है; इसलिए पराश्रित पर्यायबुद्धि छोड़कर नित्य द्रव्यबुद्धि करना चाहिए — यही सार बात है। ●●

गाथा २४०

अब, द्रव्यपर्याय का स्वरूप कहते हैं —

अण्णइरूवं दव्वं, विसेसरूवो हवेइ पज्जाओ।
दव्वं पि विसेसेण हि, उप्पज्जदि णस्सदे सददं॥

द्रव्य अन्वयरूप से, पर्याय व्यतिरेकी कही।
पर्याय से उत्पन्न और, विनष्ट होता है सदा॥

अन्वयार्थ : [अण्णइरूवं दव्वं] जीवादिक वस्तु, अन्वयरूप से द्रव्य हैं, **[विसेसरूवो पज्जाओ हवेइ]** वह ही विशेषरूप से पर्याय है **[विसेसेण हि दव्वं पि सददं उप्पज्जदि णस्सदे]** और विशेषरूप से द्रव्य भी निरन्तर उत्पन्न और नष्ट होता है।

भावार्थ : अन्वयरूप पर्यायों में नित्य सामान्यभाव को द्रव्य कहते हैं और जो अनित्य विशेषभाव हैं, वे पर्यायें हैं। सो विशेषरूप से द्रव्य भी उत्पादव्ययस्वरूप कहा जाता है किन्तु ऐसा नहीं कि पर्याय, द्रव्य से भिन्न ही उत्पन्न होता है; भेदविवक्षा से भिन्न भी कहा जाता है।

गाथा २४० पर प्रवचन

लोकभावना के वर्णन में धर्मी जीव विचार करता है कि मैं तो ज्ञाता हूँ और लोक के पदार्थ, मेरे ज्ञेय हैं। लोक के सभी पदार्थ प्रति समय अपने-अपने कारण से परिणमित हो रहे हैं। रागरहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट करके, धर्मी जीव ऐसी भावना भाता है।

लोक का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेष स्वभावरूप है, उसमें सामान्यरूपभाव तो द्रव्य है और विशेषरूपभाव, पर्याय है। विशेषरूपपर्याय होने का पदार्थों का ही स्वभाव है,

किसी दूसरे के कारण किसी की पर्याय नहीं होती। वस्त्र का जलना, वह वस्त्र के परमाणुओं की विशेष पर्याय है, वह पर्याय, अग्नि के कारण नहीं हुई है; अग्नि के संयोग का वस्त्र में अभाव है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसमें होनेवाले रागादि विकार संयोगीभाव हैं, जिसे उन संयोगीभावों में ही अपनापन भासित हुआ, वह जीव, बाह्य में परपदार्थों के संयोग से कार्य हुआ मानता है। संयोग और संयोगीभाव से मेरा चिदानन्दस्वरूप भिन्न है — ऐसा भान करने पर संयोगबुद्धि नहीं रह सकती। वास्तव में प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने सामान्य-विशेष स्वभाववाला है, वह अपने से ही परिणमित हो रहा है, इस प्रकार स्वतन्त्रता की दृष्टि के बिना द्रव्यस्वभाव की दृष्टि नहीं हो सकती।

कोई कहता है — हमें प्रत्यक्ष दिखता है कि हाथ के कारण लकड़ी ऊँची हुई, बढ़ई ने टेबल बनायी — क्या यह सब मिथ्या है ?

उत्तर - पहले निश्चित करो कि प्रत्यक्ष तो ज्ञान है, उस ज्ञान का निर्णय किये बिना संयोग का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्षपना पर के कारण नहीं है किन्तु ज्ञान स्वयं ही प्रत्यक्षरूप से परिणमित हुआ है तथा टेबल बनी, उस समय बढ़ई की उपस्थिति थी परन्तु फिर टेबल पाँच-दश वर्ष तक बढ़ई की उपस्थिति के बिना ही टिक रही है न ? उसकी प्रति समय वैसी पर्याय हुआ करती है, उसमें बढ़ई कहाँ है ? इसलिए बढ़ई के बिना ही टेबल का कार्य हुआ है। यदि बढ़ई के कारण टेबल बनी हो तो बढ़ई की अनुपस्थिति में टेबल नहीं रह सकती।

अज्ञानी, संयोगदृष्टि से देखता है परन्तु पदार्थ के स्वभाव को नहीं जानता। पदार्थ सामान्य-विशेष स्वभाववाला है; उसकी विशेष पर्याय, निमित्त के कारण नहीं होती; अपितु सामान्य के आश्रय से विशेष होता है। यदि पर के कारण पर्याय होती हो तो उस समय पदार्थ का विशेष क्या रहा ? जिसने यह माना कि अग्नि ने पानी को ऊष्ण किया तो उसने आत्मा को पर का कर्ता भी माना है। वास्तव में एक परमाणु, दूसरे परमाणु का कुछ करता है — ऐसी जिसकी मिथ्या मान्यता है, उसकी मान्यता में आत्मा पर का कर्ता है — ऐसी मिथ्या मान्यता पड़ी ही है। व्यवहारनय के कथन में स्वद्रव्य और परद्रव्य को कारण-कार्यपना

कहा जाता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। स्वद्रव्य और परद्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, उनमें कारण -कार्यपना नहीं है।

न्याय-ग्रन्थों में अन्यमत के समक्ष निमित्त की सिद्धि करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक से कथन किया जाता है। जो जगत् में परवस्तु को मानते ही नहीं, निमित्त को मानते ही नहीं — ऐसे जीवों के समक्ष निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए वहाँ यह कहा है कि निमित्त हो तो कार्य होता है, निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता परन्तु वहाँ निमित्त के कारण कार्य होता है — यह बतलाना उद्देश्य नहीं है।

राग का निरोध करना — यह भी व्यवहार का कथन है। भाई! तू किस राग का निरोध करेगा? जो राग वर्तमान में है, वह तो उत्पादरूप है; उत्पाद का उसी समय व्यय नहीं होता और दूसरे समय तो वह राग मिट ही जाता है, उस समय राग है ही नहीं तो उसका अभाव करना कहाँ रहा? जहाँ वस्तुस्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव प्रगट हुआ, वहाँ राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई; इसलिए उपचार से कहा जाता है कि राग का निरोध किया। वस्तुतः उस समय राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई। राग होना था, उसे रोका — ऐसा नहीं है; इसी प्रकार अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आया — ऐसा कहना भी उपचार का कथन है।

जिन्हें गणधरदेव नमस्कार करते हैं — ऐसे भावलिङ्गी सन्तों श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री कार्तिकेयस्वामी इत्यादि की वाणी गम्भीर है, वे परमेष्ठी हैं, उनके कथन का आशय नहीं समझनेवाले निश्चय व्यवहार का विपरीत अर्थ करते हैं। विशेष में/पर्याय में उत्पाद-व्यय होते हैं, वहाँ पर्याय अपेक्षा से अभेदपना देखने पर द्रव्य भी उत्पाद-व्ययरूप होता है। सामान्यपना पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं है। सामान्यरूप गुण में से प्रति समय नयी-नयी पर्याय होती है। शुभ-विकल्प से अथवा निमित्त से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता किन्तु अनन्त गुणवर्ती द्रव्य की अभेददृष्टि से सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रारम्भ होते हैं। ●●

गाथा २४१

अब, गुण का स्वरूप कहते हैं —

सरिसो जो परिणामो, अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि।
सो सामण्णसरूवो, उप्पज्जदि णस्सदे णेय॥

द्रव्य का परिणाम जो, सदृश अनादि अनन्त है।
है गुण वही सामान्यतः, उत्पन्न – नष्ट न हो कभी॥

अन्वयार्थ : [जो परिणामो सरिसो अणाइणिहणो सो हि गुणो हवे] जो द्रव्य का परिणाम सदृश अर्थात् पूर्व उत्तर सब पर्यायों में समान होता है, अनादिनिधन होता है, वही गुण है, **[सो सामण्णसरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय]** वह सामान्यस्वरूप से उत्पन्न व नष्ट भी नहीं होता है।

भावार्थ : जैसे, जीव द्रव्य का चैतन्यगुण, सब पर्यायों में विद्यमान है, अनादिनिधन है, वह सामान्यस्वरूप से उत्पन्न व नष्ट नहीं होता है, विशेषरूप से पर्यायों में व्यक्तरूप होता ही है — ऐसा गुण है। इसी प्रकार अपने-अपने साधारण-असाधारणगुण सब द्रव्यों में जानना चाहिए।

गाथा २४१ पर प्रवचन

उत्पाद-व्यय, अनित्य और विसदृश हैं। गुण त्रिकाल सामान्य एकरूप रहते हैं। व्यय, अभावरूपभाव है, इसलिए अनित्य है; उत्पाद, एक समय का भाव है, वह भी अनित्य है। ध्रुव ही नित्यभाव है। केवलज्ञान भी गुण नहीं है, वह भी क्षणिक पर्याय है। ज्ञानगुण है, वह ध्रुव-सदृश है, वह एकेन्द्रिय अवस्था से सिद्धदशा तक में त्रिकाल एकरूप रहता है। द्रव्यनय का विषय त्रिकाल द्रव्यसामान्य है; पर्यायार्थिकनय का विषय, वर्तमान विशेष है, दोनों मिलकर प्रमाणज्ञान का विषय है।

जैसे, जीवद्रव्य का चेतनागुण, उसकी सर्व अवस्थाओं में रहता है, अनादि-अनन्त परमपारिणामिकभाव है। वह ध्रुवसामान्यस्वभाव नित्य है, उसे उत्पाद-व्यय की भी अपेक्षा नहीं है। सभी गुण, गुणरूप से सामान्य पारिणामिकभाव हैं। गुण का विशेषपना होना, वह पर्याय है। पञ्चास्तिकाय, गाथा ६१ में कहते हैं कि —

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स। स्वस्य भवनं स्वभावः

विभाव भी अपना पर्यायस्वभाव है, वह अपने द्वारा किया गया है। जो गुण है, वे त्रिकाल हैं, वे सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हैं। गुणों में परिवर्तन नहीं होता, वह सामान्य एकरूप रहते हैं परन्तु पर्याय/विशेष में प्रति समय परिवर्तन होता है। भाई! जो होता है, उसे दूसरा कौन करेगा? और जो नहीं होता, उसे भी कौन करेगा?

नयदृष्टि के यथार्थ ज्ञान बिना और ऐसी स्वतन्त्रता के ज्ञान बिना, अज्ञानी जीव त्यागी हो जाए, वह सच्ची परम्परा नहीं है। परम्परा तो ऐसी है कि प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार शुद्ध उपदेश द्वारा सम्यग्दृष्टि होना चाहिए।

पात्रता के बिना गुरुगम नहीं मिलता और गुरुगम के बिना सत्य समझ में नहीं आता। कहा है कि अनन्त काल में सत् पुरुष की सेवा नहीं की। इसका अर्थ यह है कि अपनी पात्रता नहीं थी, इसलिए निमित्त का आरोप भी नहीं आया। रुचिपूर्वक सत् का श्रवण नहीं किया, परिचय तथा सेवा नहीं की; अपनी पात्रता के बिना सत् का निमित्त प्राप्त होने पर भी, वह निमित्त कारण भी नहीं कहलाया। स्वतन्त्रता समझे, तभी सच्चा ज्ञान होता है।

जीव, परमाणु आदि द्रव्यों में गुण है, वे अप्रगट शक्ति सामान्यरूप कायम रहते हैं, वे पर्याय में विशेषरूप से व्यक्त/प्रगटरूप होते ही हैं - ऐसा गुण है। छहों द्रव्यों में अपने-अपने साधारण/सामान्य तथा असाधारण/विशेष गुण समझना चाहिए। ज्ञानगुण, त्रिकाल ऐसा का ऐसा है। निगोद अवस्था में ज्ञान कम व्यक्त है, इसलिए वहाँ ज्ञानगुण बहुत पुष्ट है और केवलज्ञान पर्याय पूर्णरूप से प्रगट हो गयी, इसलिए वहाँ अन्दर गुण की शक्ति कम हो गयी है, क्योंकि गुण पर्याय में आ गया है — ऐसा नहीं है।

चेतनद्रव्य के सभी गुण, चेतन हैं; अचेतनद्रव्यों के सभी गुण, अचेतन हैं। दूसरी अपेक्षा यह बात है कि जीवद्रव्य में ही ज्ञान-दर्शन गुण, वह चेतन हैं और इसके अतिरिक्त अन्य गुण अचेतन हैं क्योंकि वे स्व-पर को नहीं जानते हैं। ●●

गाथा २४२

अब कहते हैं कि गुणाभास विशेषस्वरूप से उत्पन्न व नष्ट होता है, गुणपर्यायों का एकत्व है, सो ही द्रव्य है —

सो वि विणस्सदि जायदि, विसेसरूवेण सव्वदव्वेसु।
दव्वगुणपज्जयाणं, एयत्तं वत्थु परमत्थं॥

उत्पन्न और विनष्ट हों, गुण भी विशेष स्वरूप से।
यह द्रव्य-गुण-पर्याय का, एकत्व ही परमार्थ है॥

अन्वयार्थ : [सो वि सव्वदव्वेसु विसेसरूवेण विणस्सदि जायदि] गुण भी द्रव्यों में विशेषरूप से उत्पन्न व नष्ट होता है, **[दव्वगुणपज्जयाणं एयत्तं]** इस तरह से द्रव्य-गुण-पर्यायों का एकत्व है, **[परमत्थं वत्थु]** वह ही परमार्थभूत वस्तु है।

भावार्थ : गुण का स्वरूप, वस्तु से भिन्न ही नहीं है, नित्यरूप सदा रहता है; गुण-गुणी के कथञ्चित् अभेदपना है; इसलिए जो पर्यायें उत्पन्न व नष्ट होती हैं, वे गुण-गुणी के विकार हैं; इसलिए गुण उत्पन्न होते हैं व नष्ट होते हैं — ऐसे भी कहा जाता है। इस तरह की नित्यानित्यात्मक वस्तु का स्वरूप है, ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायों की एकता ही परमार्थरूप वस्तु है।

गाथा २४२ पर प्रवचन

जगत् में जीवादि पदार्थ द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय अपेक्षा से क्षणिक हैं। द्रव्य में उत्पाद-व्यय होने पर, गुण में भी उत्पाद-व्यय होता है। स्वभावपर्याय हो अथवा विभावपर्याय, उनका काल एक समय का ही है; कोई पर्याय दो समय नहीं रहती। पर्याय और द्रव्य कथञ्चित् अभेद हैं। अतः पर्याय का उत्पाद-व्यय होने पर द्रव्य का भी उत्पाद-व्यय कहा

जाता है क्योंकि द्रव्य-गुण भी कथञ्चित् पलटते हैं। पर्याय अपेक्षा से द्रव्य-गुण भी उपजते, विनशते हैं — यह बात अब कहते हैं।

गुण और पर्याय, सर्वथा भिन्न नहीं हैं। पर्याय उत्पन्न हुई और गुण सर्वथा कूटस्थ रहे — ऐसा नहीं है। गुण भी कथञ्चित् परिणमित होते हैं। पर्याय व्यक्त होती है, उस समय भी गुण शक्तिरूप से तो पूर्ण ही रहते हैं। गुण स्वयं विशेषरूप से पर्याय में व्यक्तरूप होते हैं। राग होता है, वह चारित्रगुण की व्यक्त पर्याय है; वह किसी पर के कारण नहीं होती है। पर्याय का एक ही समय है। जो जीव क्रमबद्धपर्याय को नहीं मानता, उसने सर्वज्ञ को ही नहीं माना है। एक समय की पर्याय को भी जिसने पराधीन माना है, उसने वस्तु को ही पराधीन माना है; वस्तु ही प्रति समय अपनी पर्यायरूप से परिणमित होती है। सम्यग्दर्शनपर्यायरूप अथवा मिथ्यादर्शन -पर्यायरूप श्रद्धागुण उत्पन्न होता है। निगोद का जीव, तीव्रमोह परिणाम के कारण वहाँ रहा है, वह उसकी पर्याय का उत्पाद है; कर्म के कारण वह जीव निगोददशा में नहीं रहा है। कर्म की पर्याय में पुद्गल के द्रव्य-गुण उपजते हैं और जीव की पर्याय में जीव के द्रव्य-गुण उपजते हैं।

गोम्मटसार में कहा है कि '**भावकलंकसुपउरा**' अर्थात् निगोद के जीव, भावकलङ्क की प्रचुरता के कारण निगोद में रहते हैं और वे स्वयं भावकलङ्क की मन्दतारूप परिणमने पर, वहाँ से निकलकर मनुष्य आदि होते हैं। वे जीव, जड़कर्म के कारण निगोद में रहे हैं — ऐसा नहीं है। अन्य वस्तु निमित्त है परन्तु उस निमित्त का उत्पाद निमित्त में है और जीव का उत्पाद जीव में है। प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता है, यदि इस बात को नहीं मानकर पर्याय को पराधीन ही माना जाए तो स्वभाव का पुरुषार्थ किसमें करेगा ? कार्य तो पर्याय में होता है, वह पर्याय ही जिसने पर के कारण मानी है, उसे पर्याय को स्वभावसन्मुख लाकर, स्वभाव की प्रतीति करने का अवसर ही कहाँ रहा ?

प्रश्न - सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणाम का उपादान कारण है और अन्य बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र हैं — ऐसा २१७ वीं गाथा में कहा है। २११ वीं गाथा में कहा कि पुद्गलकर्म की ऐसी अचिन्त्यशक्ति है कि वह जीव के केवलज्ञान को ही व्यक्त नहीं होने देती, तो क्या इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध है ? —

उत्तर – भाई! विरोध नहीं है, किन्तु २११वीं गाथा में तो मात्र पुद्गल के उत्कृष्ट निमित्तपने का ज्ञान कराने के लिए निमित्त अपेक्षा कथन है। जीव ने अपनी योग्यता से केवलज्ञान प्रगट नहीं किया, तब उसमें निमित्तरूप से पुद्गलकर्म होता है — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु किसी के कारण किसी की पर्याय नहीं है। सुख-दुःख होना, जीव के अपने त्रिकाल आनन्दगुण का परिणमन है। दुःख भी अपना परिणाम है, किसी संयोग के कारण दुःख नहीं होता। रोग हो, सिंह फाड़ खाये, इन किन्हीं संयोग का दुःख, आत्मा को नहीं है परन्तु आत्मा का आनन्दगुण विपरीत अवस्थारूप परिणमित हुआ, यही दुःख है। इसी प्रकार अनुकूल विषयों में सुख नहीं है, सुख तो आत्मा के आनन्दगुण के आश्रय से/आधार से प्रगट होता है। अपनी सुख-दुःख पर्याय का उत्पाद किसी पर के कारण नहीं होता। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को कथञ्चित् अभेदपना है और इन तीनों की एकरूपता ही वस्तु है।

प्रतिक्षण जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह गुण-गुणी का परिणमन है। गुण और गुणी दोनों अखण्डरूप से पर्याय में परिणमित होते हैं। द्रव्य का परिणमन अलग और गुण का परिणमन अलग – ऐसा नहीं है। आत्मा और उसके ज्ञानादि गुण एकसाथ परिणमित होते हैं। जो पर्याय हुई, वह गुण-गुणी का विशेषपरिणमन है किन्तु किसी पर के कारण वह पर्याय नहीं हुई है। रागपर्याय हो अथवा वीतरागपर्याय हो, उसमें चारित्रगुण और आत्मा परिणमित होता है। सम्यक्श्रद्धा अथवा मिथ्याश्रद्धा में आत्मा का श्रद्धागुण स्वयं कर्ता होकर परिणमित होता है। सम्यग्ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञानपर्याय में ज्ञानगुण और आत्मा स्वतन्त्ररूप से परिणमित होते हैं। यदि एक समय की पर्याय को भी परतन्त्र मानोगे तो तीन काल की पर्यायें परतन्त्र होंगी और तब तो गुण और द्रव्य ही पराधीन हो गये, परन्तु वस्तु और उसके गुण-पर्याय स्वतन्त्र हैं। एक समय भी पर्याय, पर के कारण नहीं होती। परद्रव्य, परद्रव्य का किञ्चित् भी कर्ता नहीं है। आत्मा अपनी ज्ञानपर्याय को कर्ता है किन्तु कर्ता क्या कर सकता है ? श्री समयसार में कहा है कि —

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ ६२॥

अर्थात्, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे। आत्मा, परभाव का कर्ता है — ऐसा मानना अथवा कहना, यह तो व्यवहारिक जीवों का मोह/अज्ञान है।

आत्मा अपनी पर्याय को करे किन्तु पर में क्या करे ? मतिज्ञान अथवा केवलज्ञान; राग अथवा वीतरागता — ये सभी अनित्य पर्यायें हैं। ये पर्यायें, द्रव्य-गुण के परिणमन से होती हैं; इस प्रकार समस्त पदार्थों की पर्यायें अपने-अपने द्रव्य-गुण से ही होती हैं। परमाणु में रङ्गगुण कायम रहकर, उसकी पर्याय लाल से हरी होती है; एक अंश में से अनन्त अंश स्निग्धता अथवा रूक्षता हो जाती है — वह उसके अपने स्वभाव से परिणमति है। उपादान के समय निमित्त होता है परन्तु वह निमित्त स्वयं निमित्त में परिणमता है और उपादान, उपादान में परिणमता है। निमित्त पदार्थ स्वयं अपना तो उपादान है। पदार्थ अपने स्वभाव से अपनी प्रति समय की पर्यायरूप उत्पन्न होता है, उसे बदलने के लिए जगत् में कोई समर्थ नहीं है।

●●

अहो! ये मोक्षमार्गी तो मोक्षतत्त्व ही है....

जो मुनि, शुद्धात्मप्रवृत्ति द्वारा मोक्ष के साक्षात् कारण में वर्त रहे हों, उन मुनियों को मोक्षतत्त्व ही कहा गया है और जो जीव संसार के कारणरूप मिथ्यात्व में वर्त रहा है, उसे संसारतत्त्व कहा है। **अरे! अशरीरी आत्मा को शरीर धारण करना पड़े, यह शर्मजनक बात है।** धर्मी सन्त तो कहते हैं कि मैं तो सिद्धस्वरूप हूँ। धर्मी को धर्मात्मा के प्रति उल्लास आता है। स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त रहे आचार्य कुन्दकुन्ददेव को अन्य मोक्षमार्गी मुनिवरों के प्रति साधर्मी प्रमोद आने पर वे आह्लादपूर्वक कहते हैं कि **अहो! ये मोक्षमार्गी श्रमण तो मोक्षतत्त्व ही हैं**, हमारे मनोरथ का स्थान हैं; इन्हें नमस्कार हो।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म (गुजराती), अङ्क ३०८-ए, पृष्ठ ११

गाथा २४३

अब, आशङ्का उत्पन्न होती है कि द्रव्यों में पर्यायें विद्यमान उत्पन्न होती हैं या अविद्यमान उत्पन्न होती हैं ? ऐसी आशङ्का को दूर करते हैं —

जदि दव्वे पज्जाया, वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला, पडिपिहिदे देवदत्तेव्व॥

यदि विद्यमान ढ़की हुई, पर्याय हों सब द्रव्य में।
उत्पत्ति उनकी विफल है, ज्यों वस्त्र पहिने व्यक्ति में॥

अन्वयार्थ : [जदि दव्वे पज्जाया] जो द्रव्यों में पर्यायें हैं, वे **[वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति]** विद्यमान और तिरोहित/ढकी हुई हैं — ऐसा माना जाए **[ता उप्पत्ती विहला]** तो उत्पत्ति कहना विफल है, **[पडिपिहिदे देवदत्तेव्व]** जैसे, दैवदत्त कपड़े से ढ़का हुआ था, कपड़े को हटा देने पर यह कहा जाए कि यह उत्पन्न हुआ; इस तरह से उत्पत्ति कहना परमार्थ (सत्य) नहीं, विफल है। इसी तरह ढकी हुई द्रव्यपर्याय के प्रगट होने पर उसकी उत्पत्ति कहना परमार्थ नहीं है; इसलिए अविद्यमान पर्याय की ही उत्पत्ति कही जाती है।

गाथा २४३ पर प्रवचन

वस्तु में वर्तमान पर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्यायें व्यक्तरूप से विद्यमान नहीं हैं, वे पर्यायें तो अविद्यमान अर्थात् शक्तिरूप हैं। पर्यायें तो प्रगट हैं किन्तु ढँकी हुई हैं — ऐसा नहीं है। आत्मा में केवलज्ञान पर्याय प्रगट होने की शक्ति है, वह तो गुणरूप है। ऐसा नहीं है कि केवलज्ञान पर्याय तो विद्यमान पड़ी है किन्तु वह ढँकी हुई है और उस ढक्कन के खुलते ही

केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। देखो, भविष्य की पर्याय कैसी प्रगट होगी? यह वर्तमान में निश्चित तो है परन्तु वह पर्याय व्यक्त नहीं है, वह पर्याय उसके काल में व्यक्त होगी। द्रव्य में पर्यायें व्यक्त नहीं पड़ी हैं किन्तु शक्तिरूप हैं, उनका परिणमन तो भविष्य में उनके काल में होगा। भविष्य की पर्यायों का काल निश्चित है परन्तु वे पर्यायें व्यक्तरूप नहीं हैं; व्यक्त तो एक वर्तमान पर्याय ही है। दूसरी पर्याय को व्यक्त कहना और ढँकी हुई कहना तथा फिर उसे आवरण हटने से प्रगट हुई कहना तो विरुद्ध है।

जैसे, वस्तु पड़ी हो किन्तु कपड़े से ढँकी हो तो कपड़ा हटने पर ऐसा कहना कि यह वस्तु प्रगट हुई; इसी प्रकार वस्तु में पर्यायें व्यक्त पड़ी हैं किन्तु ढँकी हुई हैं, उस ढक्कन के हटने पर वे पर्यायें प्रगट होती हैं — ऐसा नहीं है। चार ज्ञानों के समय केवलज्ञान पर्याय नहीं है; चार ज्ञान की पर्याय व्यय होकर केवलज्ञान पर्याय नयी प्रगट होती है। द्रव्य में तीनों काल की पर्यायें सुनिश्चित हैं किन्तु प्रगटरूप तो एक ही पर्याय है। देखो, केवलज्ञान का परिपूर्ण सामर्थ्य प्रगट हुआ तो वहाँ सामने ज्ञेयरूप भी परिपूर्ण निमित्त है अर्थात् तीन काल की पर्यायें केवलज्ञान में ज्ञात होती हैं। केवलज्ञान के सामने तीन काल की पर्यायें, द्रव्य में निश्चित पड़ी हैं। एक समय में सम्पूर्ण द्रव्य तीन काल की पर्यायों सहित ज्ञेय होता है। यहाँ नैमित्तिक केवलज्ञान परिपूर्ण है और सामने निमित्त भी एक समय में पूरा है। भले ही सभी पर्यायें एक साथ प्रगट नहीं हैं परन्तु द्रव्य में समस्त पर्यायें निश्चित हैं।

यहाँ तो परिणमन की बात है। परिणमन में समस्त पर्यायें एकसाथ नहीं होती; परिणमन में तो वर्तमान पर्याय ही प्रगट है। भूत-भविष्य की पर्यायें प्रगट नहीं हैं, इसलिए पर्यायें असत्-उत्पाद है अर्थात् पहले समय नहीं थी, वह पर्याय प्रगट हुई है। पहले थी, वह उत्पन्न हुई — ऐसा कहो तो वह गुण हो गया। वस्तुतः तो पर्याय में समय-समय का निरपेक्ष उत्पाद है। पहले समय में नहीं थी, वह पर्याय दूसरे समय में प्रगट हुई — ऐसी अनादि-अनन्त काल में प्रति समय अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति होती है। देखो, यह वस्तु का स्वभाव!

शरीर की पर्याय पहले स्थिर हो, उस समय गमनरूप पर्याय अविद्यमान है, फिर गमनरूप पर्याय प्रगट हुई तो वह कहाँ से प्रगट हुई? वह पर्याय, जीव के कारण नहीं हुई है किन्तु उसके स्वभाव से ही उसकी अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति हुई है। पर्याय थी, वह उत्पन्न

हुई — ऐसा पर्याय अपेक्षा से नहीं कहा जा सकता। सभी पदार्थों में जब पर्याय उत्पन्न होती है, वह पहले अविद्यमान थी; उस अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति होती है। गुण त्रिकाल विद्यमान होते हैं किन्तु पर्याय एक समय में एक ही विद्यमान होती है; इसलिए अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति कही जाती है।

लोक में सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य देखे हैं, उनकी पर्याय प्रतिसमय स्वतन्त्ररूप से परिणमित होकर हो रही है — ऐसे वस्तुस्वरूप का सम्यग्दृष्टि को भान होता है। सर्व प्रथम चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प शुद्धोपयोग होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और तत्पश्चात् स्वभाव की दृष्टिपूर्वक शुद्धता बढ़ती जाती है। वहाँ ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूप की भावना भाता है। उपशम सम्यग्दर्शन हो, तब भी वस्तुस्वरूप के भानपूर्वक निर्विकल्प शुद्धोपयोग हो जाता है लेकिन उसका काल अधिक नहीं है। जो अनादि से पर्याय को पर के आश्रय से मानकर, गुण–गुणी में एकान्त भेद करता था, उसके बदले अब पर्याय को अन्तर्मुख करके अभेद होने पर अंशतः शुद्धोपयोग प्रगट होता है और वहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावपूर्वक शान्ति प्रगट होती है। अज्ञानी को तो वस्तुस्वरूप का भान ही नहीं है; इसीलिए उसे सच्ची शान्ति नहीं होती और बारह भावनाएँ भी यथार्थ नहीं होती।

ये बारह भावनाएँ सम्यग्दृष्टि जीवों को आनन्द की जननी हैं। धर्मी जीव को चिदानन्द स्वभाव का भान है, उसे अनित्य इत्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करने से ज्ञान की एकाग्रता होती जाती है और वीतरागभाव बढ़ता जाता है — इसका नाम भावना है।

ये भावनाएँ आस्रव नहीं, किन्तु संवर का प्रकार हैं। बीच में शुभराग हो, वह आस्रव है, उसकी इन भावना में मुख्यता नहीं है। आत्मस्वभाव की दृष्टिपूर्वक शुद्धता बढ़ने का नाम भावना है। स्वभाव के भान बिना शुभराग से बारह भावना भाने की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ये भावनाएँ भाने से ज्ञान की एकाग्रता होती जाती है और शुद्धता बढ़ती जाती है — इसका नाम भावना है।

सर्व प्रथम ज्ञानस्वभाव की रुचि होना चाहिए। सत्य वस्तुस्वरूप क्या है और किसके आश्रय से कल्याण है ? इसका निर्णय होना चाहिए। तत्पश्चात् भले ही किञ्चित् प्रमाद हो, राग हो परन्तु रुचि में स्वभाव की ओर का जोर होना चाहिए, तभी वह जीव सत् के मार्ग पर है।

अज्ञानी जीव, स्वयं को पराधीनदृष्टि होने से शास्त्रों में से भी पराधीनता का ही आशय निकालकर शास्त्रों को अपने अनुकूल बनाना चाहता है परन्तु शास्त्रों में वैसा आशय है ही नहीं। वह जीव, गुरुगम के बिना स्वच्छन्दता से शास्त्रों के विपरीत अर्थ निकालता है। यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्य की प्रत्येक समय की पर्याय स्वतन्त्र है। चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि में धर्मी जीव को राग की भी भावना नहीं है — ऐसे जीव को वस्तुस्वरूप की भावना होती है, जिसका वर्णन इस ग्रन्थ में चल रहा है। ●●

मुनिराज, पौद्गलिक आहार में मूर्च्छित क्यों नहीं होते ?

जैन मुनि, कुलवान श्रावक के घर विधिपूर्वक आहार लेते हैं। वे बिना विधि के जैसे तैसे चाहे जिसके यहाँ आहार नहीं लेते। वे अपने हाथ में, शोधकर तथा छयालीस दोषरहित आहार लेते हैं। रस की गृद्धता छोड़कर किसी न किसी रस का त्याग करते हैं। मात्र संयम की रक्षा के प्रयोजन से आहार लेते हैं। **अहा हा! अन्दर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का निरन्तर भोजन करनेवाले मुनिराज, पौद्गलिक आहार में मूर्च्छित कैसे हो सकते हैं?**

मुनिराज को आहार लेते समय उसमें यदि किसी जीव-जन्तु की हिंसा की शङ्का पड़ जाए या बाल जैसी अशुद्ध वस्तु आहार में दिख जाए तो वे आहार करना छोड़ देते हैं, चाहे गत एक-दो दिनों का उपवास ही क्यों न हो? जरा-सा दोषयुक्त आहार लेने से क्या बिगड़ता है? - ऐसे विचार से शिथिल होकर आहार नहीं लेते और आहार छोड़ देने पर अपने परिणामों में क्लेश नहीं करते। वे आहार सम्बन्धी विचार छोड़कर ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय में उपयोग जोड़ देते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १८

गाथा २४४

सव्वाण पज्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाईलद्धीए, अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि॥

अनादि-अनिधन द्रव्य में, कालादि लब्धि से सभी।
पर्याय की उत्पत्ति हो, जो विद्यमान नहीं अभी॥

अन्वयार्थ : [**अणाइणिहणाम्मि दव्वम्मि**] अनादिनिधन द्रव्यों में [**कालाईलद्धीए**] कालादि लब्धि से [**सव्वाण**] सब [**अविज्जमाणाण**] अविद्यमान [**पज्जयाणं**] पर्यायों की [**उप्पत्ती**] होदि होती है।

भावार्थ : आनादिनिधन द्रव्य में काल आदि लब्धि से अविद्यमान पर्यायें उत्पन्न होती हैं; ऐसा नहीं है कि सब पर्यायें एक ही समय में विद्यमान हों और वे ढ़कती जाती हैं, समय-समय क्रम से नवीन-नवीन ही उत्पन्न होती हैं। द्रव्य त्रिकालवर्ती सब पर्यायों का समुदाय है, कालभेद से क्रम से पर्यायें होती हैं।

गाथा २४४ पर प्रवचन

नियत कहो, योग्यता कहो, सुकाल कहो, काललब्धि कहो — वह वस्तु में प्रति समय अपने स्वरूप से ही उत्पन्न होती है तथा वस्तु में तीन काल की पर्यायें निश्चित हैं परन्तु वे प्रगटरूप नहीं हैं। एक समय में एक पर्याय ही विद्यमान होती है और दूसरी पर्यायें अविद्यमान होती हैं; इसलिए अविद्यमान पर्यायों की उत्पत्ति कही जाती है। द्रव्य अपेक्षा से यह कहा जाता है कि 'जो था वह उत्पन्न हुआ, इसलिए सत् का उत्पाद है' परन्तु यहाँ पर्याय की अपेक्षा से बात है। पर्याय अपेक्षा से जो पर्याय पहले नहीं थी, वह उत्पन्न हुई — ऐसा असत् का उत्पाद है। पर्याय पहले नहीं थी तो नयी कहाँ से से हुई ? वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि उसमें

अविद्यमान पर्यायों की उत्पत्ति होती है, निमित्त उनकी उत्पत्ति नहीं करता। उदासीन निमित्त हो या प्रेरक निमित्त हो — ये दोनों भेद पर हैं, वे उपादान में कुछ नहीं करते। निमित्त के प्रकारों की पहचान कराने के लिए उनके प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे गये हैं परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेरक निमित्त ने उपादान में कुछ किया है। निमित्त अनुकूल होता है, वह परिणमन के काल में ही निमित्त कहलाता है। जैसे, गति में धर्मास्तिकाय निमित्त है; इसी प्रकार निमित्त अनुकूल होता है। प्रेरक निमित्त है, वह भी उदासीनवत् ही है। सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं। ध्वजा हिलती हो, उसमें धर्मास्तिकाय को उदासीन और हवा को प्रेरक निमित्त कहा जाता है, क्योंकि हवा स्वयं गति करती है; इसलिए उसे प्रेरक निमित्त कहा गया है परन्तु वह कोई ध्वजा को गति नहीं कराती। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्य अपनी-अपनी स्वकाललब्धि से ही उत्पन्न होते हैं। जिस काल में जो पर्याय हुई, वही काललब्धि है; पर्याय से भिन्न कोई काललब्धि नहीं है।

इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक में इस प्रकार कहा गया है —

'**यहाँ प्रश्न है कि** मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है, या मोहादि के उपशमादि होने पर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है, सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिए देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या?

समाधान - एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता, वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे, उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ वही होनहार तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं, वह पुद्गल की शक्ति है; उसका आत्मा कर्ताहर्ता नहीं है तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

वहाँ यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं, और कार्य की भी सिद्धि होती ही जाती है तथा जिस

कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिलें तो सिद्धि नहीं होती।

सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, इससे मोक्ष होता ही होता है; इसलिए जो जीव, पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है, उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है; इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसके अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है — ऐसा निश्चय करना तथा जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता; इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसको कोई कारण नहीं मिलते और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती — ऐसी निश्चय करना।'

देखो, द्रव्य त्रिकाल है, उसका क्षेत्र त्रिकाल है, उसका भाव अर्थात् गुण भी त्रिकाल है और काल, वह एक समय की पर्याय है। ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव — प्रत्येक द्रव्य के स्वतन्त्र हैं। देखो, कुएँ में से पानी ऊपर आता है तो वह मनुष्य के कारण ऊपर नहीं आता किन्तु पानी का प्रत्येक परमाणु अपनी-अपनी काललब्धि से अर्थात् पर्याय की योग्यता से ही ऊपर आया है, डोरी और डोल उनके कारण गति करते हैं। भाई! यथार्थ वस्तुस्वरूप समझना हो तो पूर्व का सम्पूर्ण आग्रह छोड़ देना चाहिए। अभी तक उलटा समझा था, इसलिए उसकी पकड़ रखने का आग्रह नहीं होना चाहिए। भूल तो अनादि की है परन्तु सत्य समझकर भूल का अभाव करनेवाले की बलिहारी है।

परीषहजय अर्थात् बाहर में प्रतिकूल संयोग प्राप्त हुए, वे तो भिन्न ही हैं; उस समय विकल्प उत्पन्न हुआ और दूसरे समय विकल्प का अभाव करना — इसका नाम परीषहजय नहीं है। विकल्प उत्पन्न हुआ, उतना परीषहजय का अभाव है किन्तु स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव होने पर राग की उत्पत्ति ही नहीं होने का नाम परीषहजय है। विकल्प उत्पन्न हुआ और दूसरे समय उसे जीता — ऐसा नहीं है क्योंकि दूसरे समय तो विकल्प का अभाव हो ही जाता है, तब जीतना किसे? वस्तु के आश्रय से विकल्प हुआ ही नहीं, इसी का नाम परीषहजय है और वह संवर है।

त्रिकाल वस्तु में प्रतिसमय नयी-नयी पर्याय अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही उत्पन्न होती है। वस्तु में तीन काल की पर्यायें प्रगट हैं और निमित्त के अनुसार वे प्रगट होती हैं — ऐसा नहीं है किन्तु उस-उस समय की पर्याय के काल में वे अविद्यमान पर्यायें नयी प्रगट होती हैं। शब्द सुना, इसलिए ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई है — ऐसा नहीं है किन्तु ज्ञानगुण की वह अविद्यमान पर्याय, कालादि लब्धि पाकर प्रगट हुई है। कालादि लब्धि पर नहीं है किन्तु अपना ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है। द्रव्य में प्रति समय क्रम-क्रम से पर्याय उत्पन्न होती है। विभावपर्याय भी कर्म के कारण उत्पन्न नहीं होती, किन्तु अपने ही कारण उत्पन्न होती है। कर्म की पर्याय क्रम-क्रम से कर्म में उत्पन्न होती है और आत्मा की पर्याय, आत्मा में उत्पन्न होती है। दोनों की पर्यायों का उत्पाद भिन्न-भिन्न है; किसी के कारण किसी की पर्याय नहीं है।

अहो! प्रत्येक समय की पर्याय स्वतन्त्र है, एक समय एक पर्याय व्यक्त है और दूसरी अनन्त पर्यायों का सामर्थ्य तो द्रव्यरूप से विद्यमान है। यदि ऐसा समझ ले तो द्रव्य सन्मुख दृष्टि हुए बिना नहीं रहे। तीन काल की पर्यायों की पिण्ड, वह द्रव्य — ऐसा कहा है, वहाँ पर्यायें होने का सामर्थ्य द्रव्य में है, यह समझना चाहिए, किन्तु वे पर्यायें प्रगटरूप नहीं हैं। शक्ति है, उसमें से व्यक्ति होती है। भविष्य की पर्यायें अभी कोई पर्यायरूप नहीं हुई किन्तु शक्तिरूप हैं।

अहो! ऐसा वस्तुस्वरूप समझे बिना शान्ति कहाँ आयेगी? जब स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव समझकर द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करे, तब वीतरागी शान्ति प्रगट होती है। लोग बहुत वर्षों तक मन्दकषाय करके व्रतादि मानते हैं परन्तु इतना भी विचार नहीं करते कि इतने-इतने काल तक मन्दकषाय और व्रतादिक का शुभराग करने पर भी अन्तर में सम्यक् दृष्टि तो प्रगट ही नहीं हुई और स्वभाव की शान्ति तो आयी ही नहीं, तब मेरी मन्दकषाय ने और व्रतों ने क्या किया?

भाई! वस्तुस्वरूप के भान बिना तो तेरे व्रतादि बालतप और बालव्रत हैं। बालव्रत अर्थात् मूर्खता से भरपूर व्रत। वस्तुस्वरूप के भान बिना अज्ञानी जीव, व्रत-तप इत्यादि में धर्म मानकर क्लेश करते हैं तो करो परन्तु इससे भव का अन्त आनेवाला नहीं है। वस्तुस्वभाव क्या है? यह जानकर, उसका आश्रय करने से वीतरागभाव प्रगट होता है और भव का अन्त आता है; इसलिए पहले स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। ●●

गाथा २४५

अब, द्रव्य और पर्यायों के कथञ्चित् भेद व कथञ्चित् अभेद दिखाते हैं —

दव्वाणपज्जयाणं, धम्मविवक्खाइ कीरए भेओ।
वत्थुसरूवेण पुणो, ण हि भेओ सक्कदे काउं॥

है भेद धर्मों की अपेक्षा, द्रव्य अरु पर्याय में।
किन्तु वस्तु स्वरूप से नहिं, भेद कर सकते कभी॥

अन्वयार्थ : [दव्वाणपज्जयाणं] द्रव्य और पर्यायों के **[धम्मविवक्खाइ]** धर्म-धर्मी की विवक्षा से **[भेओ कीरए]** भेद किया जाता है; **[वत्थुसरूवेण पुणो]** वस्तुस्वरूप से **[भेओ काउं ण हि सक्कदे]** भेद करने को समर्थ नहीं है।

भावार्थ : द्रव्य-पर्याय के धर्म-धर्मी की विवक्षा से भेद किया जाता है। द्रव्य, धर्मी है; पर्याय, धर्म है और वस्तु से अभेद ही हैं। कई नैयायिकादि, धर्म और धर्मी के सर्वथा भेद मानते हैं, उनका मत प्रमाण से बाधित है।

गाथा २४५ पर प्रवचन

देखो, यहाँ पर्याय को भी वस्तु का धर्म कहा है। यहाँ धर्म का अर्थ मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु वस्तु का अंश होने से पर्याय को धर्म कहा गया है। पर्याय भी अंशी का अंश है, इसलिए वह धर्म है। जैसे रागपर्याय हुई, वह भी आत्मा की पर्याय है; इसलिए वह भी आत्मा का धर्म है। द्रव्य, धर्मी है और पर्याय, धर्म है। जो गुण-पर्यायों को धारण करता है, वह धर्मी है और उसकी गुण-पर्यायें, धर्म हैं। प्रत्येक समय की पर्याय उस वस्तु का अपना धर्म है, भले ही पर्याय त्रिकाल नहीं है परन्तु वर्तमानमात्र वह वस्तु का धर्म है। वस्तु का धर्म किसी पर के

कारण नहीं हुआ है। राग, आत्मा का धर्म है तो कर्म ने राग कराया — यह बात नहीं रहती है। छहों द्रव्यों की पर्यायें उनका धर्म है। पर्याय उस पदार्थ का ही एक भाग है, पदार्थ से उसकी पर्याय सर्वथा पृथक् नहीं है। जैसे, स्फटिक में लालिमा हुई तो वह स्फटिक का धर्म है। वह पर्याय, लाल फूल के कारण नहीं हुई है क्योंकि फूल का धर्म तो उसकी पर्याय में है और स्फटिक की पर्याय स्फटिक का अंश है; उस स्फटिक की पर्याय में फूल का अभाव है।

लोकालोक के पदार्थ केवलज्ञान में निमित्त हैं किन्तु उस लोकालोक की झलक केवलज्ञान में नहीं पड़ती; ज्ञान स्वयं अपनी वैसी स्व-परप्रकाशक पर्यायरूप से परिणमित हुआ है। निमित्त तो पर अर्थात् भिन्न वस्तु है, वह ज्ञान में नहीं आ जाता किन्तु ज्ञान की सामर्थ्य बताने के लिए उपचार से यह कहा जाता है कि मानो ज्ञान में समस्त पदार्थ गहरे उतर गये हों, ज्ञान में चित्रित हो गये हों, किन्तु कोई परपदार्थ ज्ञान में आ नहीं जाते हैं। ज्ञान अपने परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्यरूप परिणमित हो रहा है, यह बतलाने के लिए उक्त कथन निमित्तसापेक्ष है। वस्तुतः ज्ञानपर्याय हुई, वह आत्मा का धर्म है और आत्मा धर्मी है।

द्रव्य और पर्याय में धर्म - धर्मी की विवक्षा से भेद कहा जाता है अर्थात् द्रव्य, धर्मी है और पर्याय, उसका धर्म है किन्तु द्रव्य और पर्याय दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं; वस्तुरूप से दोनों अखण्ड हैं। देखो तो सही! यह भावना! इसमें स्वभाव की दृष्टि रखकर वस्तुस्वरूप की स्वतन्त्रता बतायी है, द्रव्यदृष्टि को कहीं छोड़ा नहीं गया है और पर्याय की पराधीनता कहीं नहीं कही गयी है। मेरी पर्याय पर के कारण होती है — ऐसा माननेवाले ने पर्याय को वस्तु का धर्म नहीं माना है किन्तु द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न माना है। उसे वस्तु के बेभान से विकारभाव हुआ है, वह भी आत्मा का धर्म है। विषरूप पर्याय हुई, वह भी परमाणुद्रव्य का धर्म है। यहाँ वह धर्म, सुख के कारणरूप नहीं है परन्तु वस्तु का अंश होने से पर्याय, वस्तु का धर्म है। जड़ की पर्याय, जड़ का धर्म है और आत्मा की पर्याय, आत्मा का धर्म है। विकारीपर्याय हो अथवा निर्मलपर्याय हो, वे दोनों आत्मा के धर्म हैं।

श्रुतज्ञान के पर्यायज्ञान, पर्यायसमासज्ञान - इत्यादि बीस भेद हैं, उनमें पर्यायज्ञान सबसे जघन्यज्ञान होता है, वह भी जीव का उस समय का धर्म है। सूक्ष्म निगोदिया, लब्धि

अपर्याप्तक जीव को अपने योग्य जितने भव सम्भव हैं, उतने अर्थात् छह हजार बारह भवों में भ्रमण करके अन्तिम अपर्याप्तक शरीर को तीन मोड़ापूर्वक धारण करे, उसमें पहले समय जो सबसे जघन्य श्रुतज्ञान का विकास होता है, उसका नाम पर्यायज्ञान है। इतना ज्ञान तो सदा रहता ही है, इसमें कभी आवरण नहीं होता; इसलिए इसे नित्योद्घाट कहा है। यदि इतने ज्ञान का भी अभाव हो जाए तो जीव, अचेतन हो जाएगा। यह जो सर्वाधिक अल्पज्ञान है, वह भी जीव की अपनी पर्याय का स्वभाव है; इसलिए वह भी जीव का धर्म है। यह पर्यायज्ञान एक समय ही रहता है, दूसरे समय यह नहीं रहता। यह ज्ञान कोई त्रिकालरूप नहीं है।

नियमसार में इस पर्यायज्ञान को कारणस्वभावज्ञान नहीं कहा है। कारणस्वभावज्ञान तो त्रिकाल पारिणामिकभावरूप है और यह पर्यायज्ञान तो एक समयमात्र का है तथा क्षयोपशमभावरूप है।

प्रतिसमय ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, वह ज्ञान का अपना धर्म है। इच्छा होती है और शरीर चलता है, वहाँ शरीर का चलना, आत्मा का धर्म नहीं है; शरीर का चलना, भाषा होना — यह परमाणु की पर्याय हैं, परमाणु का धर्म है; आत्मा के कारण ये पर्यायें नहीं हुई है। इच्छा होना आत्मा की पर्याय है, इसलिए वह आत्मा का धर्म है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म और ज्ञान की हीनता भी भिन्न-भिन्न है। ज्ञानावरणीयकर्म तो अचेतन पुद्गल का धर्म है; जीव के ज्ञान को रोके — ऐसा उसका धर्म नहीं है क्योंकि वह तो ज्ञान से भिन्न है और ज्ञान, आवरणयुक्त हुआ, वह ज्ञान का अपना धर्म है। वह पर्याय की आत्मा के साथ अभेद है और कर्म की पर्याय, पुद्गल के साथ अभेद है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को अपनी-अपनी पर्याय के साथ एकत्व है और पर से भिन्नत्व है।

जो जीव, इस वस्तुस्वरूप को नहीं जानता और जिसका यह अभिप्राय है कि पर्याय पर से होती है, वह जीव, नैयायिक इत्यादि मतवालों के समान है। धर्म और धर्मी अभेद है - ऐसा समझनेवाले को अभेदवस्तु की दृष्टि होकर राग का अभाव हुए बिना नहीं रहता। ऐसी वस्तुदृष्टि प्रगट करने को भगवान प्रथम धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन कहते हैं। ●●

गाथा २४६

अब, द्रव्य और पर्याय के सर्वथा भेद मानते हैं, उनको दोष दिखाते हैं —

जदि वत्थुदो विभेदो, पज्जयदव्वाण मण्णसे मूढ़।
तो णिरवेक्खा सिद्धी, दोणहं पि य पावदे णियमा॥

द्रव्य अरु पर्याय को, यदि भिन्न माने सर्वथा।
रे मूढ़! दोनों नियम से, निरपेक्ष वस्तु सिद्ध हो॥

अन्वयार्थ : द्रव्य-पर्याय के भेद मानता है, उसको कहते हैं कि **[मूढ़]** हे मूढ़! **[जदि]** यदि तू **[पज्जयदव्वाण]** द्रव्य और पर्याय के **[वत्थुदो विभेदो]** वस्तु से भी भेद **[मण्णसे]** मानता है **[तो]** तो **[दोण्हं पि य]** द्रव्य और पर्याय दोनों के **[णिरवेक्खा सिद्धी]** निरपेक्ष सिद्धि **[णियमा]** नियम से **[पावदे]** प्राप्त होती है।

भावार्थ : द्रव्य और पर्याय, भिन्न-भिन्न वस्तुएँ सिद्ध होती हैं; धर्म-धर्मीपना सिद्ध नहीं होता है।

गाथा २४६ पर प्रवचन

लोक के छहों द्रव्य अनेकान्तस्वरूप हैं अर्थात् द्रव्य-पर्यायस्वरूप हैं, जो उन द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद मानता है, उसमें आनेवाले दोष को यहाँ बतलाया जा रहा है।

द्रव्य, भिन्न वस्तु और पर्याय, भिन्न वस्तु — ऐसी दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। द्रव्य और पर्याय का क्षेत्र भिन्न नहीं है, एक ही क्षेत्र है। द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं होती। रागपर्याय होती है, वह भी आत्मद्रव्य से भिन्न नहीं है किन्तु कथञ्चित् अभेद है। जैसे, स्वर्ण और उसकी कुण्डल इत्यादि अवस्थाएँ भिन्न नहीं हैं; स्वर्ण की अवस्था स्वर्ण के साथ एकमेक है;

उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की अवस्था उस द्रव्य में ही होती है। द्रव्य की अवस्था उससे भिन्न नहीं होती है। वस्तुतः द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती और पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता। ज्ञान की अवस्था जानती है, वह अवस्था आत्मा से भिन्न नहीं है।

प्रश्न – राग आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ?

उत्तर – कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् एकमेक/अभिन्न है।

प्रश्न – किस अपेक्षा से ?

उत्तर – त्रिकाली द्रव्य में राग नहीं है, इस अपेक्षा से राग, आत्मा से भिन्न है किन्तु एक समयमात्र अपनी पर्याय में राग होता है, इसलिए वह आत्मा से एकमेक है। तात्पर्य यह है कि राग, आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है तथा सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। द्रव्यदृष्टि से राग, आत्मा से भिन्न है और पर्यायदृष्टि से राग, आत्मा से अभिन्न है। राग की ही भाँति ज्ञानपर्याय भी आत्मा से भिन्न नहीं है। द्रव्य और पर्याय को वस्तुरूप से भेद नहीं है। ज्ञानपर्याय के बिना आत्मा नहीं होता और आत्मा के बिना ज्ञानपर्याय नहीं होती। जैसे, राग के साथ आत्मा का कथञ्चित् भेद-अभेदपना कहा गया है; उसी प्रकार ज्ञानपर्याय के साथ भी कथञ्चित् भेद-अभेदपना है।

केवलज्ञान पर्याय का काल एक समयमात्र है और द्रव्य त्रिकाली है। यदि द्रव्य और पर्याय सर्वथा एकमेक हो तो पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा। इसलिए द्रव्य-पर्याय को कथञ्चित् भेद है किन्तु द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भेद नहीं है। यदि सर्वथा भेद हो तो द्रव्य कहीं और पर्याय कहीं — ऐसी भिन्नता सिद्ध होगी परन्तु ऐसा प्रदेशभेद नहीं है। द्रव्य और पर्याय को अभेदपना है; इसी प्रकार धर्मपर्याय भी आत्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है।

भाई ! द्रव्य क्या है ? पर्याय क्या है ? यह वस्तुस्वरूप समझना चाहिए। जो पर्याय को पर के कारण होना मानता है, उसने द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न माना है। कर्म ने राग कराया — ऐसा माने अथवा राग पर्याय सर्वथा पर की है, ऐसा माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। राग पर्याय भी आत्मा की है, वह पर्याय स्वयं से हुई है।

द्रव्य किसे कहते हैं ? अनन्त गुणों की पिण्डरूप वस्तु को द्रव्य कहते हैं।

पर्याय किसे कहते हैं ? वस्तु की प्रति समय बदलनेवाली दशा को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य, त्रिकाली है और पर्याय, एक समयमात्र की है परन्तु वह एक समयमात्र की पर्याय भी वस्तु की है। त्रिकाली तत्त्व की दृष्टि की अपेक्षा से पर्याय को अभूतार्थ कहा गया है परन्तु वह पर्याय, पर की नहीं है; द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही वस्तु हैं, भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। जैसे, मिट्टी और घड़ा एकमेक है, घड़ा कुम्हार से तो भिन्न है किन्तु मिट्टी से भिन्न नहीं है; इसी प्रकार विकारीपर्याय भी जड़कर्म से तो भिन्न है परन्तु आत्मा से वह पर्याय भिन्न नहीं है। विकार भी आत्मा की पर्याय है, यदि उस पर्याय को नहीं माने तो वह जीव मूढ़ है।

अहो! समयसार में तो कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव में विकार का अत्यन्त अभाव है, विकार तो जड़ का है क्योंकि वहाँ तो द्रव्यदृष्टि का कथन है। अपनी पर्याय को पहचाना है, फिर द्रव्यदृष्टि में उसका निषेध करते हैं परन्तु जो जीव, राग पर्याय को अपनी नहीं पहचानता और यह मानता है कि कर्म ही राग कराता है तो वह जीव, मूढ़ है। विकार भी आत्मा की पर्याय में होता है; इसलिए पर्याय अपेक्षा से वह भी जीव का धर्म है।

देखो, वस्तु को अपने द्रव्य-पर्याय के साथ एकमेकपना है परन्तु पर से तो अत्यन्त भिन्नपना है। जड़ की पर्याय जड़ का धर्म है, जीव उसका कर्ता नहीं है और आत्मा की पर्याय आत्मा का पर्यायधर्म है। शरीर, जड़ का धर्म है, शरीर को टिकाये रखना आत्मा का धर्म नहीं है। जो जीव यह निश्चित करता है, वह पर से भिन्नपना समझकर स्वसन्मुख होता है। अपने में भी पर्याय एक समयमात्र की है, वह त्रिकाल नहीं है — ऐसा जानकर पर्यायबुद्धि छोड़कर त्रिकाली द्रव्यबुद्धि होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार वस्तु का स्वभाव कथञ्चित् भेद-अभेदरूप है। यह बात सर्वज्ञ के शासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती है। ●●

गाथा २४७

अब, जो विज्ञान को ही अद्वैत कहते हैं और बाह्य पदार्थ को नहीं मानते हैं, उनका दोष बताते हैं —

जदि सव्वमेव णाणं, णाणारूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं, णेयेण विणा कहं णाणं॥

यदि ज्ञान ही सब वस्तुओं के, विविध रूपों में रहे।
तो ज्ञेय कुछ नहिं सिद्ध हो, बिन ज्ञेय ज्ञान नहीं रहे॥

अन्वयार्थ : [जदि सव्वमेव एक्कं णाणं] यदि सब वस्तुएँ, एक ज्ञान ही हैं, **[णाणारूवेहि संठिदं]** वह ही अनेक रूपों से स्थित है; **[तो ण वि किं पि विणेयं]** यदि ऐसा माना जाए तो ज्ञेय कुछ भी सिद्ध नहीं होता है **[णेयेण विणा कहं णाणं]** और ज्ञेय के बिना ज्ञान कैसे सिद्ध होवे ?

भावार्थ : विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धमती कहते हैं कि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, वह ही अनेकरूप स्थित है। उसको कहते हैं कि यदि ज्ञानमात्र ही है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं है और ज्ञेय नहीं है, तब ज्ञान कैसे कहा जावे ? जो ज्ञेय को जानता है, वह ज्ञान कहलाता है। ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं होता है।

गाथा २४७ पर प्रवचन

ज्ञान, अपनी आत्मा से भिन्न नहीं है, अपितु पर से भिन्न है। जो जीव, ज्ञान को पर से भिन्न नहीं मानता और सर्वथा अद्वैतरूप मानते हैं अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ हैं, उन्हें मानते ही नहीं, उन जीवों की मान्यता में दोष बतलाते हैं।

बाह्य पदार्थ दिखते हैं, वह भ्रम नहीं, अपितु सत् है। ज्ञान, सत् है और उसके ज्ञेयरूप परपदार्थ भी सत् हैं। ज्ञान है तो उसका ज्ञेय भी है। यद्यपि ज्ञान के कारण ज्ञेय नहीं है और ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है, तथापि ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ज्ञेयपदार्थ तो जगत् में सत् हैं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों अपने-अपने कारण से सत् हैं। ज्ञान में परज्ञेय नहीं है और परज्ञेयों में ज्ञान नहीं है; दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। देखो, ज्ञानपर्याय को अपने आत्मा से तो कथञ्चित् भिन्न-अभिन्नपना है परन्तु पर से तो उसे सर्वथा भिन्नपना ही है। समस्त अद्वैत ही ज्ञान है — ऐसा नहीं है। यदि समस्त अद्वैत ज्ञान ही हो तो ज्ञान से भिन्न कोई ज्ञेय तो रहा नहीं, तब ज्ञेय के बिना ज्ञान किस प्रकार सिद्ध होगा? इसलिए ज्ञेय, ज्ञान से भिन्न है।

कोई कहता है कि ज्ञेयों का ज्ञान होता है, इसलिए उनमें भी ज्ञान है। ज्ञान में वस्त्र ज्ञात हुआ, इसलिए वस्त्र में भी ज्ञान है किन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। जड़ वस्तु में ज्ञान नहीं है किन्तु उसमें ज्ञान में ज्ञेय होने का स्वभाव है। उसमें ज्ञान हो, तभी वह ज्ञान का ज्ञेय हो — ऐसा नहीं है। ज्ञान तो जीव का ही स्वभाव है और ज्ञेय तो समस्त पदार्थ हैं।

देखो, यह सर्वज्ञ भगवान द्वारा जाने हुए लोक के पदार्थों का स्वरूप कहा जा रहा है। इस वस्तुस्वरूप को जाने बिना सच्ची भावना नहीं हो सकती है। ●●

वीतरागी दिगम्बर सन्तों का महा उपकार

सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी झेलकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उसका रहस्य इन परमागमों में उतारा है। 'जिनदेव ऐसा कहते हैं' - ऐसा कहकर भगवान की साक्षीपूर्वक उन्होंने आत्मस्वभाव को प्रसिद्ध किया है और उनके एक हजार वर्ष पश्चात् श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए, उन्होंने भी 'जिनके भवसमुद्र का किनारा निकट है, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं' — ऐसा कहकर उनके हृदय का रहस्य टीका में स्पष्ट किया है। **अहा! इन वीतरागी दिगम्बर सन्तों का मुमुक्षु जीवों पर महा उपकार है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मवैभव (गुजराती), पृष्ठ ३६१

गाथा २४८-२४९

घड़पड़जड़दव्वाणि हि, णेयसरुवाणि सुप्पसिद्धाणि।
णाणं जाणेदि जदो, अप्पादो भिण्णरुवाणि॥

घट-पटादिक द्रव्य जड़, सब ज्ञेयरुप प्रसिद्ध हैं।
क्योंकि उनको ज्ञान जाने, ज्ञान से वे भिन्न हैं॥

अन्वयार्थ : [**घड़पड़जड़दव्वाणि हि**] घट पट आदि समस्त जड़द्रव्य [**णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि**] ज्ञेयस्वरूप से भले प्रकार प्रसिद्ध हैं [**जदो णाणं जाणेदि**] क्योंकि ज्ञान उनको जानता है, [**अप्पादो भिण्णरूवाणि**] इसलिए वे आत्मा से-ज्ञान से भिन्नरूप रहते हैं।

भावार्थ : ज्ञेयपदार्थ-जड़द्रव्य, भिन्न-भिन्न, आत्मा से भिन्नरूप प्रसिद्ध हैं। उनका लोप कैसे किया जाए? यदि न मानें तो ज्ञान भी सिद्ध नहीं होवे, जाने बिना ज्ञान किसका?

जं सव्वलोयसिद्धं, देहं गेहादिबाहिरं अत्थं।
जो तं पि णाण मण्णदि, ण मुणदि सो णाणणामं पि॥

यदि सर्व लोक प्रसिद्ध तन घर, आदि बाह्य पदार्थ को।
तू ज्ञान ही माने न जाने, नाम भी तू ज्ञान का॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**देहं गेहादिबाहिरं अत्थं**] देह, गेह आदि बाह्य पदार्थ [**सव्वलोयसिद्धं**] सर्व लोक प्रसिद्ध हैं, [**जो तं पि णाण मण्णदि**] उनको भी यदि ज्ञान ही माने तो [**सो णाणणामं पि**] वह वादी, ज्ञान का नाम भी [**ण मुणदि**] नहीं जानता है।

भावार्थ : बाह्य पदार्थ को भी ज्ञान ही माननेवाला, ज्ञान के स्वरूप को नहीं जानता है,

सो तो दूर ही रहो, वह तो ज्ञान का नाम भी नहीं जानता है।

गाथा २४८-२४९ पर प्रवचन

अब, ज्ञान और ज्ञेय का भिन्नपना सिद्ध करते हैं।

शरीर, जड़ है किन्तु वह ज्ञान में ज्ञात होता है, इसलिए ज्ञान का ज्ञेय है परन्तु वह ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान में शरीर ज्ञात हुआ, इसलिए कहीं ज्ञान और शरीर एकमेक नहीं हो जाते हैं। जो ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता को नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और घड़ा, वस्त्र, शरीर इत्यादि समस्त जड़ पदार्थ, ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे ज्ञेय हैं। वे जड़ पदार्थ, ज्ञानस्वरूप आत्मा से भिन्न हैं, यह बात भलीभाँति सिद्ध है। शक्कर का मीठा स्वाद, जड़ है और उसका ज्ञान, चेतन है, वे दोनों भिन्न हैं। हीरा की चमक अलग है और उस चमक को जाननेवाला ज्ञान उससे भिन्न है क्योंकि हीरा की चमक तो जड़ है और उसे जाननेवाला ज्ञान, आत्मा का है। इस प्रकार भिन्नता जानने से अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा आकर, पर की महिमा मिटती है।

स्व-पर दोनों पदार्थ भिन्न हैं, उन्हें भिन्न जानकर-भिन्न मानकर, पर से भिन्न अपनी आत्मा में आचरण करना ही धर्म है।

यदि कोई जैनमतावलम्बी जीव भी यह मानता है कि पर के कारण ज्ञान होता है अथवा ज्ञान, पर को करता है तो वह भी पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता; इसलिए वह भी वेदान्त और बौद्धवत् मिथ्यादृष्टि है।

मैं ज्ञान हूँ, पर मेरा ज्ञेय है; उस परज्ञेय से मेरा ज्ञान भिन्न है; मेरे ज्ञान में एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानने की सामर्थ्य है — ऐसे ज्ञानस्वभाव को नहीं जाननेवाला जीव तो अज्ञानी है ही परन्तु समस्त देहादि परपदार्थ भी ज्ञान हैं — ऐसा माननेवाला तो ज्ञान का नाम भी नहीं जानता है। ज्ञान, पर से भिन्न है और उस ज्ञानस्वभाव की अचिन्त्य सामर्थ्य है, उसे पहचानने से ही धर्म होता है। अभी पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव को पहचाने भी नहीं तो उसे धर्म किस प्रकार हो सकता है? अहो! मेरा ज्ञानस्वभाव और पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव, दोनों का स्वभाव त्रिकाल भिन्न है — ऐसी भिन्नता को नहीं जाननेवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है। ●●

गाथा २५०

अब, नास्तित्त्ववादी के प्रति कहते हैं —

अच्छीहिं पिच्छमाणो, जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
जो भणदि णत्थि किंचि वि, सो भुट्ठाणं महाझुट्ठो॥

प्रत्यक्ष दिखते हुए भी, जीवादि बाह्य पदार्थ की।
है नास्ति जिनकी जो कहे, सरदार झूठों का वही॥

अन्वयार्थ : [जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं] नास्तिकवादी, जीव-अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थों को **[अच्छीहिं पिच्चमाणो]** प्रत्यक्ष नेत्रों से देखता हुआ भी **[जो भणदि]** जो कहता है कि **[किंचि वि णत्थि]** कुछ भी नहीं है, **[सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो]** वह असत्यवादियों में महा-असत्यवादी है।

भावार्थ : दीखती हुई वस्तु को भी नहीं बताता है, वह महा-झूठा है।

गाथा २५० पर प्रवचन

जगत् में पदार्थ हैं, यह प्रत्यक्ष दिखने पर भी जो अज्ञानी जीव उनकी सत्ता को नहीं मानता, वह नास्तिक, महा-असत्यवादी है। परवस्तु के कार्य उससे स्वयं से होते हैं, फिर भी जो यह मानता है कि मुझसे वे कार्य होते हैं, मेरे बिना पर के कार्य नहीं होते तो वह जीव पर के कार्य को होता देखने पर भी उन्हें स्वतन्त्र नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। परवस्तु है — ऐसा तो मानता है परन्तु उस वस्तु को स्वतन्त्र नहीं मानता; मेरे कारण परवस्तु के कार्य होते हैं — ऐसा मानता है, वह झूठा है और परवस्तुओं को बिल्कुल ही नहीं मानता अर्थात् वस्तु है ही नहीं — ऐसा सर्वथा अभाव कहता है, वह तो महा-झूठा है; इसलिए जगत् में स्व-पर वस्तुएँ जैसी हैं, वैसी जानकर, पर से भिन्न निज ज्ञायकस्वभाव की पहचान करना ही धर्म है। ●●

गाथा २५१

जं सव्वं पि य संतं, तासो वि असंतओ कहं होदि।
णत्थित्ति किंचि तत्तो, अहवा सुण्णं कहं मुणदि॥

सब वस्तुएँ सत्‌रूप हैं, कैसे असत् वे हो सकें।
कुछ भी नहीं यदि जगत में तो, 'शून्य है' क्यों मानते॥

अन्वयार्थ : [जं सव्वं पि य संतं] जो सब वस्तुएँ सत्‌रूप हैं — विद्यमान हैं, **[तासो वि असंतओं कहं होदि]** वे वस्तुएँ असत्‌रूप-अविद्यमान कैसे हो सकती हैं? **[णत्थित्ति किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि]** अथवा कुछ भी नहीं है, तो शून्य है — ऐसा भी किस प्रकार मान सकते हैं?

भावार्थ : विद्यमान वस्तु, अविद्यमान कैसे हो सकती है? तथा कुछ भी नहीं है (यदि ऐसा कहा जाए) तो ऐसा कहनेवाला/जाननेवाला भी सिद्ध नहीं होता है, तब शून्य है — ऐसा भी कौन जानेगा?

अब, इसी गाथा का पाठान्तर है, वह इस प्रकार है —

जदि सव्वं पि असंतं, ता सो वि य संतओ कहं भणदि।
णत्थित्ति किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि॥

सब वस्तुओं को असत् जो, कहता स्वयं वह भी असत्।
वह असत् रहता हुआ सबको, शून्य कैसे जानता॥

अन्वयार्थ : [जदि सव्वं पि असंतं ता सो वि य संतओ कहं भणदि] जो सब ही

वस्तुएँ असत् हैं तो वह ऐसा कहनेवाला नास्तिकवादी भी असत्‌रूप सिद्ध हुआ, **[णत्थित्ति किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि]** तब कुछ भी तत्त्व नहीं है; इस प्रकार वह कैसे कहता है, अथवा नहीं भी कहता, वह शून्य है — ऐसा कैसे जानता है?

भावार्थ : आप उपस्थित है और कहता है कि कुछ भी नहीं है, सो यह कहना तो बड़ा अज्ञानयुक्त है तथा शून्यतत्त्व कहना तो प्रलाप ही है। कहनेवाला ही नहीं, तब कहे कौन? अत: नास्तित्ववादी प्रलापी है।

गाथा २५१ पर प्रवचन

देखो! लोकभावना, संवर में गिनी गयी है। ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता होना संवर है। आत्मा सदा अरूपी ज्ञानस्वभावी है, वह परवस्तु को जानता है परन्तु पर का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा की इच्छा से अथवा ज्ञान से पर में कुछ नहीं कर सकता। ज्ञानी मानता है कि में पर का जाननेवाला हूँ — यह कथन भी व्यवहार से है क्योंकि वस्तुत: तो वह स्व को जानता है और स्व को जानते हुए, पर जानने में आ जाता है।

जगत् में सब विद्यमान है — विकार, अविकार, चार गति, सिद्ध, लोकस्वरूप है। शरीर है, उसकी अवस्था वर्तमान, उसके स्वकाल से सत् है। जो है, वह नहीं कैसे हो? अर्थात् जो नहीं हो (अर्थात् सर्वथा असत्‌रूप हो) और वह किसी के कारण उत्पन्न हों — ऐसा कैसे हो सकता है? जो है, वह किसी के कारण हो अथवा किसी के द्वारा परिवर्तित हो — ऐसा कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है।

प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की विचित्रता उसका अपना स्वभाव है। ऐसा क्यों? ज्ञान में ऐसा विस्मय नहीं, पदार्थ में भी नहीं है और वाणी में भी पदार्थ ऐसा है — यह बताते हैं। वस्तुतः किसी के कारण कोई है — ऐसा नहीं है।

जानने योग्य/ज्ञेय विद्यमान है। जो 'है', उससे इन्कार कैसे किया जा सकता है? यह नहीं तो मैं नहीं — ऐसा अज्ञान होता है। मैं नहीं — ऐसा जाना किसने? धर्मात्मा ज्ञानी, जगत् के विद्यमान पदार्थों को जैसे हैं, वैसा जानता है। कोई किसी का करे, कुछ सुधार दे, कुछ बिगाड़ दे — ऐसा वह नहीं मानता। चारित्र की कमजोरीवश अस्थिरता का राग हो जाए, वह

मुख्य नहीं है; जानना ही उस प्रमाणज्ञान की मुख्यता है। यह ऐसा नहीं होना चाहिए अर्थात् ऐसे ज्ञान का विकास है, वह न हो, इस प्रकार (उस विकास का) उसका तिरस्कार करता है। यह संयोग नहीं चाहिए — ऐसी विद्यमान वस्तु का और उसके ज्ञान का निषेध करनेवाला, नास्तिक हो जाता है। निन्दा, मल -मूत्र, अग्नि इत्यादि सब जगत् में हैं; जो है, उससे इन्कार करने से ज्ञान का निषेध होकर निगोद में महामूढ़ होने का काल आता है। ज्ञान है, ज्ञेय भी है परन्तु कोई किसी के कारण नहीं है। वर्तमान ज्ञान, सामान्य ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर जानता है; उसमें 'यह नहीं' — ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। किसी वस्तु में इष्ट-अनिष्ट करके अटकना, ज्ञान का कार्य नहीं है।

प्रश्न - राग नहीं चाहिए — ऐसा विचार ज्ञानी को होता है या नहीं ?

उत्तर - वह ज्ञान में ज्ञेय है। उसका अभाव करूँ - ऐसी श्रद्धा/मान्यता नहीं है। अस्थिरता का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु 'है', वह 'है' — ऐसा निश्चित रखकर बात है।

ज्ञानस्वभाव की ओर जितना जानने में जागृत है, उतना संवर है। ज्ञान, विकल्प को भी ज्ञेयरूप जानता है, यह न हो अथवा यह नहीं चाहिए — ऐसा ज्ञान को चूककर माने तो मिथ्यात्व होता है।

यह राग दु:खदायक है और सुखदायक नित्यस्वरूप अन्य है — ऐसा जाने तो उसके लक्ष्य से विभाव दु:खरूप है — ऐसा जानना, वह व्यवहार से सत्य कहलाता है। ज्ञानी, निश्चय से अन्दर में ज्ञानभावनारूप से वर्तता हुआ अपने को देखता है।

प्रश्न - यह प्रयोग चौबीस घण्टों में कितनी बार हो सकता है ?

उत्तर - ज्ञान नित्य है, अनादि से ज्ञायक ही रहा है; तथापि अज्ञान से मिथ्यारूप भासित होता है। मिथ्यादृष्टि मानता है कि मैं देह, रागरूप हूँ, मेरी इच्छा से पर का कार्य किया जा सकता है, मुझमें पर से कुछ फेरफार हो सकता है — ऐसा अज्ञान से मिथ्यारूप प्रतिभासित होता है। उस भूल को जानकर, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे स्व में ढलने से ज्ञान में एकता की दृष्टि की, वह चौबीसों घण्टे का प्रयोग है। आत्मस्वभाव स्वतन्त्र है — ऐसा जिसने माना अर्थात् सर्वज्ञ जैसे जाननस्वरूप हैं — ऐसे ही मैं भी जाननस्वरूप हूँ; राग के कारण ज्ञान का

कार्य नहीं है। राग क्षणिक है, मैं नित्य हूँ — ऐसा जाननेवाला रहे, इसका नाम ज्ञानभावना है। ज्ञानमात्रभाव की अस्तिवाला, ज्ञातादृष्टि का प्रयोग चौबीसों घण्टे कर सकता है।

यह है, मैं हूँ, मैं पररूप नहीं, पर से नहीं, पर मुझसे नहीं — ऐसा जानना, वह ज्ञान, ज्ञान का काम निरन्तर करता है। है... है... है ऐसी महासत्ता में सम्पूर्ण विश्व है। अवान्तरसत्ता में प्रत्येक की स्वरूपसत्ता, विशेषसत्ता, भिन्न-भिन्न है। किसी से कोई नहीं है; इसलिए सभी वस्तुएँ सत् हैं।

यदि सभी वस्तुएँ असत् हैं तो 'असत् हैं' — ऐसा कहनेवाला नास्तिकवादी भी असत्रूप सिद्ध हुआ तो फिर 'कोई भी तत्त्व नहीं है' — ऐसा वह किस प्रकार कहता है अथवा 'कहनेवाला भी नहीं है' तो शून्य है — ऐसा किस प्रकार जाना जा सकता है?

●●

आकुलतारहित इन्द्रियविजेता मुनिराज

मुनिराज पाँचों इन्द्रियों के शुभ या अशुभ विषय अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध -वर्ण और शब्दों में राग-द्वेष नहीं करते, इसलिए वे पाँचों इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं। जहाँ अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का अतिशय वेदन वर्तता हो, वहाँ इन्द्रिय-विषयों की अधीनता कैसे हो सकती है? कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, कोई बाण मारे या पूजा करे, नीरस आहार मिले या सरस आहार मिले - इत्यादि अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में आकुलता नहीं होती। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होने पर ही ऐसी दशा हो सकती है। जिसे चैतन्य के आनन्द का वेदन नहीं होता, वही इन्द्रिय-विषयों में सुख मानता है। धर्मी ने तो सिद्धसमान चैतन्यसुख का स्वाद चखा है, उस सुख में लीनता के बल से वे पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २२

गाथा २५२

किं बहुणा उत्तेण य, जेत्तियमेत्ताणि संति णामाणि।
तित्तियमेत्ता अत्था, संति हि णियमेण परमत्था॥

बहु कथन से क्या लाभ है, हैं नाम जितने जगत में।
हैं नियम से परमार्थ रूप, पदार्थ उतने जगत में॥

अन्वयार्थ : [किं बहुणा उत्तेण य] बहुत कहने से क्या? **[जेत्तियमेत्ताणि णामाणि संति]** जितने नाम हैं, **[तित्तियमेत्ता]** उतने **[हि]** ही **[णियमेण]** नियम से **[अत्था]** पदार्थ **[परमत्था]** परमार्थरूप **[संति]** हैं।

भावार्थ : जितने नाम है, उतने ही सत्यार्थ पदार्थ हैं, बहुत करने से क्या? — ऐसे पदार्थों के स्वरूप का वर्णन किया।

गाथा २५२ पर प्रवचन

अधिक क्या कहना? जितने नाम हैं, उतने ही नियम से पदार्थ वास्तव में हैं। ज्ञान-अज्ञान, मूढ़पना-अमूढ़पना, सच्ची दृष्टि-मिथ्या दृष्टि सब हैं। जो वस्तुस्थिति, जिस काल में, जिस रूप से है, वह स्व से सत् है और पर से असत् है अर्थात् शून्य है किन्तु गधे के सींग समान असत् नहीं है।

आचार्यदेव ने अस्तित्व में सब कह दिया है। धवला में कहा है कि सत्पद प्ररूपणा में विश्व में जितना है, उसका कथन है।

अपने को मिथ्यारूप मानना, जगत् को मिथ्यारूप मानना — यह भी है। मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान, नास्तिकता-आस्तिकता — यह भी सत् पारमार्थिकरूप से है। यदि सर्वथा न हो

तो ज्ञान उसे नहीं जान सकता। व्यवहार का विषय भी वास्तव में परमार्थ है। पर्याय क्षणिक है, उसका आश्रय छुड़ाने के लिए व्यवहार को अभूतार्थ-अपरमार्थ कहा गया है परन्तु इससे उसका सर्वथा अभाव नहीं है। सत्यार्थ ध्रुव वस्तु की अपेक्षा से वह असत्यार्थ है परन्तु यहाँ प्रमाणज्ञान का विषय करने के लिए सब है — समय-समय की विकारी पर्याय भी भूतार्थ है — ऐसा कहा है। एक अंश अर्थात् एक पर्याय नहीं है — यदि ऐसा कहो तो लोकालोक शून्य अर्थात् अभावरूप हो जाता है क्योंकि अंश भी किसी अंशी पदार्थ की सत्ता का भाग है; अंश का निषेध मानने से कोई सत् नहीं माना जा सकेगा, नास्तिकता हो जाएगी।

जो है, उसे जानना परन्तु उसे इष्ट-अनिष्ट नहीं मानना, ज्ञान का धर्म है। ज्ञानी कहता है कि ज्ञान से/आत्मा से पर का कुछ नहीं किया जा सकता और अज्ञानी उसे पागल कहता है परन्तु उससे क्या ? ज्ञान तो जाननेवाला ही रहता है।

समयसार में कहते हैं कि राग, व्यवहार, पर्याय; गुण-गुणी का भेद असत्यार्थ है। वस्तुतः यह कथन अखण्डद्रव्य की दृष्टि से है। यहाँ जितने प्रकार हैं, उन्हें ज्ञान उसरूप जानता है, यह प्रमाणज्ञान की बात है। ●●

मुनिराज अकेले नहीं, उन्हें अनन्त गुणों का साथ!

मुनियों को वन में अकेले-अकेले कैसे रुचता होगा? तो कहते हैं अहो! वे अकेले नहीं हैं, उन्हें अन्दर में अनन्त गुणों का साथ है। बाहर का सङ्ग छोड़कर अन्दर में आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी करने से उसमें अपूर्व आनन्द है, वहाँ कैसे नहीं रुचेगा? आनन्द में किसे नहीं रुचेगा? आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी में अनन्त आनन्द है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मवैभव (गुजराती), पृष्ठ ३२७

गाथा २५३

अब, उन पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान है, उसका स्वरूप कहते हैं —

णाणाधम्मेहिं जुदं, अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो।
जं जाणेदि सजोगं, तं णाणं भण्णदे समये॥

विविध धर्मों सहित जो, निज को तथा परद्रव्य को।
निज योग्यता से जानता, वह ज्ञान है सिद्धान्त में॥

अन्वयार्थ : [जं] जो **[णाणाधम्मेहिं जुदं अप्पाणं तह परं पि]** अनेक धर्मयुक्त आत्मा तथा परद्रव्यों को **[सजोगं जाणेदि]** अपनी योग्यता से जानता है, **[तं]** उसको **[णिच्छयदो]** निश्चय से **[समये]** सिद्धान्त में **[णाणं भण्णदे]** ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ : जो आपको तथा पर को, अपने आवरण के क्षयोपशम तथा क्षय के अनुसार, जानने योग्य पदार्थ को जानता है, वह ज्ञान है। यह सामान्यज्ञान का स्वरूप कहा गया है।

गाथा २५३ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान है।

जो अनेक धर्मोंसहित आत्मा को तथा पर को, अपनी योग्यतानुसार निर्मलज्ञान से जानता है, स्वसन्मुख विकसित ज्ञान के अनुसार जानता है, उसे सिद्धान्त में निश्चय से ज्ञान कहते हैं और वह मोक्षमार्ग है।

यहाँ जाननेरूप योग्यता पर वजन है। ज्ञान, सबको जानता है, यह स्वभाव है। बीच में पुण्य-पाप के विकल्प आते हैं, वे उपादेय नहीं हैं परन्तु हैं — ऐसा जानना ज्ञान का कार्य है। जानना कोई उपाधि नहीं है, यह सामान्यज्ञान का स्वरूप है। ●●

गाथा २५४

अब, सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान का स्वरूप कहते हैं —

जं सव्वं पि पयासदि, दव्वपज्जायसंजुदं लोयं।
तह य अलोयं सव्वं, तं णाणं सव्वपच्चक्खं॥

जो द्रव्य अरु पर्याय संयुत, लोक और अलोक को।
करता प्रकाशित ज्ञान, सकल प्रत्यक्ष जिन कहते अहो॥

अन्वयार्थ : [जं] जो ज्ञान, **[दव्वपज्जायसंजुदं]** द्रव्यपर्यायसंयुक्त **[सव्वं पि]** सब ही **[लोयं]** लोक को **[तह य सव्वं अलोयं]** तथा सब अलोक को **[पयासदि]** प्रकाशित करता है/जानता है, **[तं सव्वपच्चक्खं णाणं]** वह सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान है।

गाथा २५४ पर प्रवचन

सामान्यज्ञान में से पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञान होता है — ऐसा उसका स्वभाव है। जो ज्ञान, एक समय में द्रव्य-पर्यायसहित सर्व लोकालोक को जानता है, वह सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। अभी महाविदेहक्षेत्र में लाखों केवलज्ञानी भगवान देहसहित अर्थात् अरहन्तदशा में विराजमान हैं। अनन्त सिद्धभगवान भी तीनों काल लोक में ही है। ज्ञानी जीव, लोक के इस स्वरूप को जानता है। लोक के इस स्वरूप को नहीं माननेवाला नास्तिक है। देखो, बिना समझ, स्वतन्त्र वस्तुस्थिति की प्रतीति नहीं हो सकती। ●●

गाथा २५५

अब, ज्ञान को सर्वगत कहते हैं —

सव्वं जाणदि जम्हा, सव्वगयं तं पि वुच्चदे तम्हा।
ण य पुण विसरदि णाणं, जीवं चइऊण आण्णत्थ॥

सर्वगत है ज्ञान क्योंकि, सर्व को जाने अहो।
जाता न ज्ञेय पदार्थ में, छोड़े नहीं निज आत्म को॥

अन्वयार्थ : [जम्हा सव्वं जाणदि] क्योंकि ज्ञान, सब लोकालोक को जानता है, **[तम्हा तं पि सव्वगयं वुच्चदे]** इसलिए ज्ञान को सर्वगत भी कहते हैं **[पुण]** और **[णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ]** ज्ञान, जीव को छोड़कर अन्य ज्ञेयपदार्थों में **[ण य विसरदि]** नहीं जाता है।

भावार्थ : ज्ञान, सब लोकालोक को जानता है, इस अपेक्षा ज्ञान सर्वगत तथा सर्वव्यापक कहलाता है परन्तु ज्ञान तो जीवद्रव्य का गुण है; इसलिए जीव को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं जाता है।

गाथा २५५ पर प्रवचन

अब, ज्ञान का सर्वगतपना कहते हैं।

ज्ञान, समस्त लोकालोक को जानता है; इसलिए उसे सर्वगत भी कहा जाता है किन्तु वह ज्ञान उस जीव को छोड़कर कर्म, शरीर, आकाश इत्यादि अन्य पदार्थों में नहीं जाता है। कोई सर्व में अखण्ड व्यापक विभु मानता है, वह मान्यता मिथ्या है।

एक केवली की, एक ज्ञान पर्याय में अनन्त केवली ज्ञात होते हैं; इसलिए किसी का केवलज्ञान बड़ा है — ऐसा नहीं है। केवलज्ञान पूर्ण विकासरूप हुआ है, वह अपने असंख्य प्रदेशों में ही व्यापक है। अनन्त केवली सिद्ध हुए तो वहाँ किसी की सत्ता किसी भी प्रकार से अन्य में मिल नहीं जाती — ऐसा लोकस्वभाव है। यह जानकर स्वसन्मुख ज्ञाता रहनेवाला ही सच्ची भावना/अनुप्रेक्षा कर सकता है।

आत्मा, लोकालोक के समस्त तत्त्वों को जाननेवाला है, उन्हें जाने तब ही यथार्थ लोकभावना होती है। लोक को जाननेवाला स्वयं कैसा है ? यह जाने बिना लोक का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव की ऐसी महिमा है कि स्वयं अपने असंख्य आत्मप्रदेशों में रहकर लोकालोक को बिना विकल्प जान लेता है। जैसे, जीव को किसी ने बनाया नहीं है; इसी प्रकार लोकालोक को भी किसी ने नहीं बनाया है। सब स्वतः सत् है, तब 'ऐसा क्यों ?' — यह प्रश्न में ही ज्ञान में नहीं है। पदार्थ सत् हैं, वे ज्ञेय हैं और ज्ञान का स्वभाव जानने का है। ●●

बस! केवलज्ञान लिया.... लेंगे – ऐसी दशा

मुनिवरों को अन्तरस्वभाव के आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय की ही भक्ति होती है। मुनियों की दशा महा अलौकिक होती है। श्रावक की अपेक्षा उन्हें रत्नत्रय की विशेष उग्र आराधना होती है। वे प्रतिक्षण विकल्प से छूटकर चैतन्य-बिम्ब में जम जाते हैं, **बस! केवलज्ञान लिया.... या लेंगे.... ऐसी उनकी दशा है।**

अहो! सन्त मुनि आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दकुण्ड में स्नान करते हैं। उनकी परिणति में वीतरागता बढ़ गयी है और राग अत्यन्त अल्प रह गया है। बाह्य में वस्त्रादि भी स्वयं छूट गये हैं और शरीर की सहज दिगम्बर निर्विकारदशा हो गयी है। ऐसे भवभयभीरु परम निष्कर्म परिणतिवाले परम तपोधन शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। *– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४३*

गाथा २५६

अब, ज्ञान, जीव के प्रदेशों में रहता हुआ ही सबको जानता है — ऐसा कहते हैं —

णाणं ण जादि णेयं, णेयं पि ण जादि णाणदेसम्मि।
णियणियदेसठियाणं, ववहारो णाणणेयाणं॥

जाता न ज्ञान पदार्थ में, नहिं ज्ञेय आते ज्ञान में।
निज-निज प्रदेशों में रहें, व्यवहार ज्ञायक-ज्ञेय का॥

अन्वयार्थ : [णाणं णेयं ण जादि] ज्ञान, ज्ञेय में नहीं जाता है **[णेयं पि णाणदेसम्मि ण जादि]** और ज्ञेय भी ज्ञान के प्रदेशों में नहीं जाता है। **[णियणियदेसठियाणं]** अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं **[ववहारो णाण णाणणेयाणं]** तो भी ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञेय-ज्ञायक व्यवहार है।

भावार्थ : जैसे, दर्पण अपने स्थान पर है, घटादिक वस्तुएँ अपने स्थान पर हैं तो भी दर्पण की स्वच्छता ऐसी है, मानों कि दर्पण में घट आकर ही बैठा है — ऐसे ही ज्ञान-ज्ञेय का व्यवहार जानना चाहिए।

गाथा २५६ पर प्रवचन

ज्ञान, जीव के प्रदेशों में रहकर ही सब कुछ जानता है — ऐसा अब कहते हैं।

देखो, इसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, चारों बोल समाहित कर दिये हैं।

१. जीव, वह **द्रव्य** है,

२. ज्ञान, वह उसका **स्वभाव** है,

३. उसके असंख्यात प्रदेश, **क्षेत्र** हैं और

४. समस्त पदार्थों को जानने का कार्य पर्याय में होता है, वह उसका **काल** है।

तात्पर्य यह है कि जीव अपने ही स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहकर जानने का कार्य करता है। ज्ञान, समस्त ज्ञेयों को जानता है परन्तु स्वयं ज्ञेयों में नहीं जाता; स्वयं अपने में रहकर ही समस्त ज्ञेयों को जानता है — ऐसे आत्मा में एकाग्र होने से केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान, अपना स्वभाव है। उस केवलज्ञान के लिये कहीं बाह्य में एकाग्र नहीं होना पड़ता किन्तु अपने असंख्यात प्रदेशी स्वद्रव्य में एकाग्रता से ही केवलज्ञान होता है। अनन्त जीव, आत्मा में एकाग्र होकर केवलज्ञानी हो गये हैं। केवलज्ञानी समस्त स्व-पर को जानते हैं। पर को जाननेवाला ज्ञान भी निश्चय से तो अपना है परन्तु पर को जानता है — ऐसा कहना व्यवहार है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि ज्ञान, पर को नहीं जानता। वस्तुतः ज्ञान का स्वभाव, निश्चय से स्व-पर प्रकाशक है; स्व-पर प्रकाशकपना कहीं व्यवहार नहीं है।

केवलज्ञान कैसा है ? स्वक्षेत्र की विस्तार प्रमाण केवलज्ञान है। केवलज्ञान कहीं स्व-क्षेत्र से बाहर निकलकर नहीं जानता है। केवलज्ञान की सामर्थ्य कितनी ? लोकालोक को जाने इतनी, परन्तु उसका क्षेत्र तो स्वद्रव्य प्रमाण ही है। काल, एक समय का ही है। द्रव्य का काल त्रिकाल अनादि-अनन्त है और केवलज्ञान पर्याय का काल एक समयमात्र है। अहो! केवलज्ञान अनन्त-अनन्त अलोकक्षेत्र को भी जाने बिना नहीं रहता, तथापि स्वक्षेत्र को नहीं छोड़ता। भाई! केवलज्ञान की अचिन्त्य महिमा है, वाणी और विकल्प से उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता; इसलिए वह अलख है। ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता से ही उसका पार पाया जा सकता है।

देखो, यह ज्ञानस्वभाव! जिसे ऐसे ज्ञान की महिमा आती है, वह राग और परपदार्थों की एकाग्रता से छूटकर स्वभाव में एकाग्र होता है, इसी का नाम धर्म है। देखो, कोई यह कहता है कि आत्मा की अधिक महिमा करने के लिए उसे असंख्यात प्रदेशी के बदले अनन्त प्रदेशी कहें तो क्या आपत्ति है ? तो यह बात मिथ्या है। क्षेत्र की विशालता से आत्मा की महिमा माननेवाला स्थूलदृष्टि है, उसे स्वभाव की महिमा का पता नहीं है। आत्मा का क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी होने पर भी अनन्त स्वभावसामर्थ्य से भरपूर है। असंख्य प्रदेशी होने पर भी अनन्त अलोक को पार पा लेता है अर्थात् जान लेता है — ऐसा उसका बेहद स्वभाव है। उस स्वभाव

के माहात्म्य से आत्मा की महिमा है। जैसे, सेक्रिन का क्षेत्र अल्प होने पर भी, उसमें शक्कर से अधिक मिठास है; वहाँ लोग भी क्षेत्र को नहीं किन्तु स्वभाव को देखते हैं; इसी प्रकार आत्मा का क्षेत्र मर्यादित होने पर भी उसका ज्ञानस्वभाव अचिन्त्य अमर्यादित सामर्थ्यवाला है, इससे उसकी महिमा है। क्षेत्रस्वभाव आकाश का है, आकाश अनन्त प्रदेशी हैं और परमाणु एक प्रदेशी है। दोनों के क्षेत्र में अनन्तगुना अन्तर होने पर भी दोनों अपने-अपने अस्तित्व से परिपूर्ण हैं। जैसा अस्तित्व आकाश में है, वैसा ही परिपूर्ण अस्तित्व परमाणु में है — ऐसा उसका स्वभाव है। जितने गुण आकाश में हैं, उतने ही गुण परमाणु में हैं। तात्पर्य यह है कि अनन्त स्वभाव के लिए अनन्त क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। परमाणु का भी अचिन्त्य स्वभाव है।

देखो, आत्मा को अनन्त-अनन्त काल का जानने में अल्पकाल लगता है और अल्प क्षेत्र में रहकर अनन्त क्षेत्र को जान लेता है। क्षेत्र की अधिकता से ज्ञानस्वभाव की महिमा नहीं है। जैसे, हाथी विशाल होने पर भी अल्पज्ञानी होता है और मनुष्य, साढ़े तीन हाथ का होने पर भी उसमें अधिक ज्ञान होता है, वह असंख्य भवों तक को जान लेता है; इसलिए क्षेत्र की विशालता से ज्ञान की महिमा नहीं है। अहो! ऐसे अचिन्त्य ज्ञानस्वभाव को पहचाने तो स्वभावसन्मुख एकाग्रता से केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता अर्थात् अवश्य केवलज्ञान प्रगट होता है।

देखो; ज्ञान, कर्ता होकर पर का कार्य करे — ऐसा व्यवहार नहीं है परन्तु ज्ञान पर को जाने, यह व्यवहार है। परज्ञेय की उपस्थिति होने पर भी, ज्ञान उनमें प्रविष्ट होकर नहीं जानता और वे पदार्थ भी ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाते, भिन्न रहकर ही ज्ञान उन्हें जानता है। जैसे, ज्ञान, अग्नि को जानता है परन्तु ज्ञान में उष्णता नहीं हो जाती। आत्मा, लड्डुओं को जानता है परन्तु लड्डुओं का रस आत्मा में नहीं आ जाता और लड्डुओं के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अपना स्वभाव जानने का है — ऐसे ज्ञान की प्रतीति करे तो परज्ञेय के आश्रय की बुद्धि झूठ जाती है और ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होकर उसमें एकाग्रता होती है — यही धर्म है। ज्ञानस्वभाव को जानकर, उसमें एकाग्रता होती जाए — यही भावना/अनुप्रेक्षा है।

देखो, ज्ञान का ज्ञेयों के साथ जानने का सम्बन्ध है परन्तु उन्हें ग्रहण-त्याग करने का

सम्बन्ध नहीं है। जैसे, किसी अनार्य के यहाँ माँस बनाया हो तो आर्य मनुष्य उसे जानता है, इतना सम्बन्ध है परन्तु उसे ग्रहण करे — ऐसा सम्बन्ध कदापि नहीं है; इसी प्रकार जगत् के ज्ञेयपदार्थ जैसे हैं, वैसे जानने का ज्ञान का स्वभाव है — ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु पर का ग्रहण-त्याग करने का सम्बन्ध नहीं है। यदि जीव को ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो तो पर को ग्रहण-त्याग करने का अभिमान छूटकर ज्ञान में एकाग्रता होती है और वीतरागभाव प्रगट होता है, जो कि धर्म है।

इस प्रकार केवलज्ञान परिपूर्ण जानने के स्वभाववाला है, उसकी अचिन्त्य सामर्थ्य है — यह बतलाया गया है। ●●

शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति अर्थात् मोक्ष की भक्ति

मुनि हों अथवा श्रावक हों, उन्हें स्वभाव के आश्रय से रत्नत्रय की जितनी आराधना है, उतनी ही वीतरागी भक्ति है और वही मुक्ति का कारण है। मुनि क्या करते हैं? चैतन्य परमात्मा में अन्दर उतरकर शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं? 'पञ्च परमेष्ठी' पद में समाहित और भवभयभीरु वीतरागी मुनियों को स्वर्ग का भव करना पड़े - ऐसी भावना नहीं है।

मैं तो चिदानन्द चैतन्यबिम्ब ज्ञायकमूर्ति हूँ, राग मेरा कार्य नहीं है - ऐसे भानसहित उसमें विशेष लीनता हो गयी है। भावलिङ्गी सन्तों की ऐसी दशा है, उसमें हठ नहीं, परन्तु स्वभाव के आश्रय से वैसी सहजदशा हो गयी है। वे परम नैष्कर्म्यवृत्तिवाले हैं अर्थात् स्वरूप के आनन्द में इतने अधिक तल्लीन हैं कि शुभ अथवा अशुभकर्म से उदासीन हो गये हैं। राग से हटकर उनकी परिणति अन्दर में ढल गयी है। वे परमवीतरागी सन्त भी **शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति** करते हैं, उसे भगवान **मोक्ष की भक्ति** कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४४

गाथा २५७

अब, मन:पर्यायज्ञान, अवधिज्ञान, तथा मति और श्रुतज्ञान की सामर्थ्य कहते हैं —

मणपज्जयविण्णाणं, ओहीणाणं च देसपच्चक्खं।
मइसुयणाणं कमसो, विसदपरोक्खं परोक्खं च॥

मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान, देश प्रत्यक्ष हैं।
क्रमशः मतिश्रुतज्ञान विशद, परोक्ष[1] और परोक्ष हैं॥

अन्वयार्थ : [मणपज्जयविण्णाणं ओहीणाणं च देसपच्चक्खं] मन:पर्ययज्ञान और अवधिज्ञान — ये दोनों तो देशप्रत्यक्ष है, **[मइसुयणाणं कमसो विसदपरोक्खं परोक्खं च]** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्रम से प्रत्यक्षपरोक्ष और परोक्ष हैं।

भावार्थ : मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं क्योंकि जितना इनका विषय है, उतना विशद (स्पष्ट) जानते हैं, सबको नहीं जानते हैं; इसलिए एकदेश कहलाते हैं। मतिज्ञान, इन्द्रिय व मन से उत्पन्न होता है, इसलिए व्यवहार से (इन्द्रियों के सम्बन्ध से)विशद भी कहा जाता है, इस कारण से प्रत्यक्ष भी है; परमार्थ से (निश्चय से) परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान परोक्ष ही है क्योंकि यह विशद (स्पष्ट) नहीं जानता है।

गाथा २५७ पर प्रवचन

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान इन्द्रियों के अवलम्बन से रहित हैं, सीधे आत्मा से जानते हैं; इसलिए वे आंशिक प्रत्यक्ष हैं। मति-श्रुतज्ञान में इन्द्रियाँ तथा मन का अवलम्बन है; इसलिए वे परोक्ष हैं। इन ज्ञानों को पर को जानने की अपेक्षा व्यवहार से प्रत्यक्ष कहते हैं।

---

१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूप प्रत्यक्ष

आत्मा के स्वसंवेदन की अपेक्षा तो मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं।

देखो, कोई बैल किसी के मन की बात जान ले तो अज्ञानी को उसकी महिमा आ जाती है। एक बैल, दूसरे की कल्पना से मन की बात जान लेता था, वहाँ कोई कहता था कि इसे मन:पर्ययज्ञान है परन्तु अरे भाई! मन:पर्ययज्ञान क्या है? इसकी भी उसे खबर नहीं है। मन:पर्ययज्ञान तो वीतरागी चारित्रदशा में झूलते हुए छटवें-सातवें गुणस्थानवर्ती किन्हीं भावलिङ्गी सन्त को ही होता है; तिर्यञ्चपर्याय में मन:पर्ययज्ञान कभी होता ही नहीं है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, उसकी यह पाँच पर्यायें हैं। पाँचों ही ज्ञान आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव की विशेष पर्यायें हैं। मतिज्ञानादि चार ज्ञानों का क्षयोपशम एक जीव को एक साथ हो सकता है परन्तु एक जीव को पाँचों ही ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते क्योंकि केवलज्ञान होने पर चार अल्पज्ञानों का अभाव हो जाता है।

देखो, जीव का ज्ञानस्वभाव और उसकी समय-समय की पर्याय का जैसा स्वभाव है, उसे जानने से सम्यग्ज्ञान होता है। ●●

सिद्ध का साधर्मी या सिद्ध का मित्र कैसा?

मानो सिद्धभगवन्त और सन्त कहते हैं कि 'हे जीव! तू हमारा मित्र हो! हम चैतन्य स्वभाव के कारण एक जाति के हैं। राग की जाति, हमारी जाति नहीं है; इसीलिए राग से मित्रता छोड़ और हमसे मित्रता कर। शुद्धता को प्राप्त शुद्धात्मा की मित्रता करने से तू भी उस जैसा शुद्ध होगा।'

अहो! जब सिद्धभगवन्त और सन्त हमें मित्र कहकर बुलावें तो ऐसे सिद्धों की मित्रता किसे नहीं रुचेगी? ऐसे सन्तों की मित्रता किसे नहीं रुचेगी? - 'वाह! हे सिद्धभगवन्तों! हे सन्तों!! आपके जैसे उत्तम साधर्मी मित्र को पाकर मैं निहाल हुआ, प्रसन्न हुआ। प्रभो! आपने मुझे साधर्मी और मित्र कहकर बुलाया तो मैं भी आपका साधर्मी होकर, आपके जैसा होकर आपके पास आ रहा हूँ।'

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मधर्म (गुजराती), अङ्क ३०३, पृष्ठ १

गाथा २५८

अब, इन्द्रियज्ञान, योग्य विषय को जानता है — ऐसा कहते हैं —

इन्दियजं मदिणाणं, जोग्गं जाणेदि पुग्गलं दव्वं।
माणसणाणं च पुणो, सुयविसयं अक्खविसयं च॥

मतिज्ञान इन्द्रियजनित जाने, योग्य पुद्‌गल द्रव्य को।
अरु ज्ञान-मानस जानता श्रुत विषय, इन्द्रिय विषय को॥

अन्वयार्थ : [इंदियजं मदिणाणं] इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान, **[जोग्गं पुग्गलं दव्वं जाणेदि]** अपना योग्य विषय जो पुद्‌गलद्रव्य, उसको जानता है। जिस इन्द्रिय का जैसा विषय है, वैसा ही जानता है। **[माणसणाणं च पुणो]** और मनसम्बन्धी ज्ञान **[सुयविसयं अक्खविसयं च]** श्रुतविषय (शास्त्र का वचन सुनकर, उसके अर्थ को जानता है) और इन्द्रियों से जानने योग्य विषय को भी जानता है।

गाथा २५८ पर प्रवचन

इन्द्रियज्ञान है, वह ज्ञान भी अपने से हुआ है, किन्हीं इन्द्रियों से वह नहीं हुआ है किन्तु वह ज्ञान, स्थूल इन्द्रियों के अवलम्बनवाला है, वह स्थूल परद्रव्यों को ही जानता है; अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव को तथा सूक्ष्म परमाणु इत्यादि को वह ज्ञान नहीं जान सकता है। इन्द्रियज्ञान अपने योग्य मूर्तपदार्थों को ही क्रम-क्रम से जानता है। आँख द्वारा रूप/रङ्ग ज्ञात होता है परन्तु आँख द्वारा गन्ध इत्यादि नहीं जाने जाते। यद्यपि जानता तो ज्ञान है, कोई इन्द्रियाँ नहीं जानती; तथापि ज्ञान की पर्याय अपूर्ण है, इसलिए इन्द्रियों का निमित्त है। ज्ञान का विकास एक साथ

पाँच इन्द्रियों का हो परन्तु परिणमनरूप उपयोग एक समय में एक इन्द्रिय के विषय को ही जानता है।

आत्मा, इन्द्रियज्ञान से तो ज्ञात होता ही नहीं, आत्मा तो अतीन्द्रियज्ञान का ही विषय है; इसलिए वास्तव में इन्द्रियज्ञान, आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो पर के अवलम्बन बिना ही जानने का है।

आत्मा का ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी प्रति समय की भिन्न-भिन्न योग्यता स्वतन्त्र है। उसके योग्य निमित्त और उसके विषयभूत पदार्थ, इन सबका यथार्थ वर्णन सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य मार्ग में नहीं हो सकता है। ●●

भव्यजीवों को सन्तों का आमन्त्रण

अपने अन्तर में अपूर्व, अतीन्द्रिय, शान्तरस का अनुभव करके, सन्त धर्मात्मा सम्पूर्ण जगत को शान्तरस के स्वाद लेने का आमन्त्रण देते हैं। उनके स्वयं के अन्तरङ्ग में शान्तरस का समुद्र उल्लसित हो रहा है। उस अनुभवपूर्वक धर्मात्मा सन्त जगत के समस्त जीवों को आमन्त्रण देते हैं कि **हे जगत के जीवों! आओ... आओ... यहाँ भगवान ज्ञान-समुद्र में शान्तरस उछल रहा है... उसमें मग्न होकर उसका अनुभव करो।**

भाई! दूधपाक, गुलाबजामुन इत्यादि का रस तो जड़ है, उसके अनुभव में तो अशान्ति है और वह तो अनन्तबार भोग ली गयी जूठन है; इसलिए उस जड़ के स्वाद की रुचि छोड़ो और इस चैतन्य के शान्तरस का आस्वाद लो। यह शान्तरस का समुद्र इतना अधिक उछला है कि सम्पूर्ण लोक को अपने में समा ले अर्थात् जान ले। इसलिए जगत के सभी जीव एक साथ आकर इस शान्तरस में निमग्न होओ... सभी जीव आओ... कोई बाकी न रहो...। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत को आमन्त्रण देकर वास्तव में तो धर्मात्मा सन्त शान्तरस में लीन होने की अपनी भावना को ही भाते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग ३, पृष्ठ १९०*

गाथा २५९

अब, इन्द्रियज्ञान के उपयोग की प्रवृत्ति अनुक्रम से है — ऐसा कहते है —

पंचेदियणाणाणं, मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं।
मणणाणे उवजुत्ते, इंदियणाणं ण जाणेदि॥

पञ्चेन्द्रियों से ज्ञान हो, एकेन्द्रि से इक काल में।
मन ज्ञान का उपयोग हो, तब इन्द्रियों से हो नहीं॥

अन्वयार्थ : [पंचेदियणाणाणं मज्झे एगं च उवजुत्तं होदि] पाँचो ही इन्द्रियों से ज्ञान होता है लेकिन एक काल एकेन्द्रिय द्वार से ज्ञान उपयुक्त होता है। पाँचों ही एक काल उपयुक्त नहीं होते हैं। **[मणणाणे उवजुत्ते]** और जब मन, ज्ञान से उपयुक्त हो, **[इंदियणाणं ण जाणेदि]** तब इन्द्रियज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

भावार्थ : इन्द्रिय, मन सम्बन्धी ज्ञानों की प्रवृत्ति युगपत् (एकसाथ) नहीं होती है, एक समय में एक से ही ज्ञान उपयुक्त होता है। जब यह जीव, घट को जानता है, उस समय पट (वस्त्र) को नहीं जानता है, इस तरह (इन्द्रियज्ञान) ज्ञान क्रमपूर्वक है।

गाथा २५९ पर प्रवचन

अब, यह बतलाते हैं कि इन्द्रियज्ञान के उपयोग की प्रवृत्ति क्रम से होती है।

देखो, यहाँ 'इन्द्रिय द्वार' शब्द कहा गया है, वह निमित्त का कथन है; वस्तुतः इन्द्रियों में दरवाजों की तरह छिद्र नहीं होते कि उन छिद्रों से ज्ञान देखे/जाने। पाँच इन्द्रियों के ज्ञान का विकास एक साथ होता है परन्तु उनका उपयोग एक साथ नहीं होता। उपयोग तो एक समय में एक इन्द्रिय के विषय की ओर ही होता है।

ज्ञान का विकास होने पर भी सारा विकास एकसाथ कार्य करता ही नहीं — ऐसा इन्द्रियज्ञान का स्वभाव है, तथापि वह ज्ञान भी स्वतन्त्र है। किसी पर के कारण वह बाधित नहीं होता है। कोई शतावधानी हो या सहस्रावधानी हो तो वह भी एक समय में तो एक ही विषय को जानता है, समस्त विषयों को एकसाथ नहीं जानता। वह भी क्रम-क्रम से जानकर धारणा करता है। भाई! उस शतावधान की अथवा सहस्रावधान की महिमा नहीं है; जिस ज्ञान ने आत्मस्वभाव को पकड़कर उसमें एकाग्रता की है, उस ज्ञान की ही महिमा है। अपूर्णज्ञान का ऐसा ही खण्ड-खण्डरूप स्वभाव है कि जितना विकास हो, उतना भी पूरा-पूरा उपयोग कभी नहीं हो सकता। केवलज्ञान परिपूर्ण है, उसमें लब्ध और उपयोग — ऐसे भेद नहीं हैं। ज्ञान के जितने भेद हैं, वे सभी अपनी पर्याय का स्वभाव है। पर के कारण ज्ञान होना माननेवाले ने ज्ञानस्वभाव को नहीं जाना है। ●●

भ्रम-रोग-हर जिनके वचन, मुखचन्द्र तें अमृत झरें

अहो! मुनिराज के वचन भी जिनवचन हैं, वे आत्मा को जगाकर परम शान्तरस का अनुभव करानेवाले हैं और भवरोग दूर करनेवाली औषधि है। यहाँ छहढाला में मुनिराज के वचनों को **भ्रमरोग का हरण करनेवाले** कहा है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी उन्हें **भवरोग की औषधि** कहा है। जिनवचन आत्मभ्रान्तिरूपी महारोग को दूर करनेवाली अमोघ औषधि हैं।

अन्तर में वीतरागी आनन्द में झूलनेवाले मुनिराज जब बोलते हैं तो ऐसा लगता है कि उनके मुख से आनन्द झर रहा हो। मुनियों की वाणी मीठी होती है, उसमें कटुता नहीं होती। मुनिराज चाहे जैसी, तुच्छ भाषा नहीं बोलते; उनकी भाषा तो शान्तरसमयी, गम्भीर प्रयोजनगर्भित होती है। उसे सुनते ही संशय मिट जाता है, विषयों का रस छूट जाता है और जीव चैतन्यरस का अमृतपान करके तृप्त हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा में से शीतल अमृत झरता है, उसी प्रकार मुनिराज के मुखरूपी चन्द्रमा में से परम शान्तरस का अमृत झरता है, जिससे भव का क्लेश मिट जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १२-१३

गाथा २६०

पूर्व में इन्द्रिय–मन सम्बन्धी ज्ञान की प्रवृत्ति कही है, यहाँ आशङ्का उत्पन्न होती है कि इन्द्रियों का ज्ञान एक काल है या नहीं? इस आशङ्का को दूर करने को कहते है —

एक्के काले एगं, णाणं जीवस्स, होदि उवजुत्तं।
णाणाणाणाणि पुणो, लद्धि-सहावेण वुच्चंति॥

इक काल में इक ज्ञान ही, उपयुक्त होता जीव का।
किन्तु लब्धि स्वभाव से, बहुज्ञान हों इक काल में॥

अन्वयार्थ : [जीवस्स एक्के काले एगं णाणं उवजत्तुं होदि] जीव के एक काल में एक ही ज्ञान उपयुक्त अर्थात् उपयोग की वृत्तिरूप होता है **[पुणो लद्धि–सहावेण णाणाणाणाणि वुच्चंति]** और लब्धिस्वभाव से एक काल में अनेक ज्ञान कहे गये है।

भावार्थ – भावेन्द्रिय दो प्रकार की कही गई है, १. लब्धिरूप, २. उपयोगरूप। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से आत्मा के जानने की शक्ति होती है, वह लब्धि कहलाती है; वह तो पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा जानने की शक्ति एक काल ही रहती है और उनकी व्यक्तिरूप उपयोग की प्रवृत्ति ज्ञेय से उपयुक्त होती है, तब एक काल एक ही से होती है — ऐसी ही क्षयोपशम की योग्यता है।

गाथा २६० पर प्रवचन

इन्द्रिय और मन सम्बन्धी ज्ञान की प्रवृत्ति क्रम से कही गयी है तो यहाँ आशङ्का यह है कि इन्द्रियों का ज्ञान एक काल में है अथवा नहीं? इस आशङ्का के समाधानरूप यह गाथा है।

द्रव्य, त्रिकाल है; ज्ञानगुण त्रिकाल है और उसकी पर्याय में छद्मस्थदशा में लब्ध और उपयोग — ऐसे दो प्रकार होते हैं। वहाँ लब्ध में तो एक साथ पाँच इन्द्रियों तथा मनसम्बन्धी ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान का उपयोग एक काल में एक ही इन्द्रिय अथवा मनसम्बन्धी होता है क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है।

क्षायोपशमिक ज्ञान की योग्यता ही ऐसी है कि लब्ध बहुत होने पर भी उपयोग एक काल में एक ही विषय का होता है। किसी आवरण के कारण अथवा इन्द्रियों के कारण वैसी पर्याय हुई है — ऐसा नहीं है, जीव स्वयं विद्यमान है, उसकी पर्याय की वैसी ही योग्यता है। वह प्रति समय की ज्ञान की योग्यता के अनुसार जानने का कार्य करता है। जैसे, अन्धे मनुष्य को आँख नहीं होने से उसे उस सम्बन्धी ज्ञान नहीं होता — ऐसा नहीं है परन्तु जीव के ज्ञान की उस समय की योग्यता ही वैसी है। जीव की योग्यताप्रमाण ही ज्ञान होता है — ऐसी स्वतन्त्रता जानने से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो जाती है।

देखो, तत्त्वों में जीवतत्त्व क्या है? उसका ज्ञानस्वभाव क्या है? उसकी समय-समय की स्वाधीन पर्याय कैसी होती है? इसका जिसे भान नहीं है, उसे धर्म नहीं होता। ज्ञान का विकास बहुत होने पर भी व्यापार/उपयोग थोड़ा हो — ऐसा ही क्षायोपशमिक ज्ञान का स्वभाव है। क्षायोपशमिक ज्ञान में जितना विकास हो, उतना समस्त उपयोग कभी होता ही नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के ज्ञान में जितनी-जितनी योग्यता है, उतना ही उपयोग होता है, उसमें पर्याय की स्वतन्त्रता है — ऐसी स्वतन्त्रता को समझकर, परावलम्बन त्यागकर, ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करना ही धर्म है। ●●

गाथा २६१

अब, वस्तु के अनेकात्मता है तो भी अपेक्षा से एकात्मता भी है, ऐसा दिखाते हैं —

जं वत्थु अणयंतं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णयेहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव॥

अनेकान्त पदार्थ भी, सापेक्ष से एकान्त है।
श्रुतज्ञान से नयरूप है, निरपेक्ष नय होता नहीं॥

अन्वयार्थ : [जं वत्थु अणेयंतं] जो वस्तु अनेकान्त है, **[तं सविपेक्खं एयंतं पि होदि]** वह अपेक्षासहित एकान्त भी है। **[सुयणाणेण णयेहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव]** श्रुतज्ञान प्रमाण से सिद्ध किया जाए तो अनेकान्त ही है और श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश नयों से सिद्ध किया जाए तब एकान्त भी है। वह अपेक्षारहित नहीं है क्योंकि निरपेक्षनय मिथ्या हैं, निरपेक्षा से वस्तु का रूप नहीं देखा जाता है।

भावार्थ : प्रमाण तो वस्तु के सब धर्मों को एक काल सिद्ध करता है और नय, एक –एक धर्म ही को ग्रहण करते हैं; इसलिए एक नय के दूसरे नय की सापेक्षा होवे तो वस्तु सिद्ध होती है और अपेक्षारहित नय वस्तु को सिद्ध नहीं करता है; इसलिए अपेक्षा से वस्तु अनेकान्त भी है — ऐसा जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

गाथा २६१ पर प्रवचन

देखो, यह लोकभावना का अधिकार चल रहा है। सम्यग्दृष्टि को ही यथार्थ भावनाएँ होती हैं। मैं त्रिकाल शुद्धज्ञानानन्दस्वभावी हूँ; वर्तमान पर्याय में मलिनता का अंश जितना ही मैं नहीं हूँ — ऐसे ध्रुवस्वभाव की दृष्टिपूर्वक, इन वैराग्य भावनाओं को भाने से

संवर–निर्जरारूप धर्म होता है। धर्मी जीव, लोक के स्वरूप का चिन्तवन करते हुए कैसा विचार करता है ? वह यहाँ कहते हैं।

जिसने प्रमाणज्ञान से अनेकान्तरूप आत्मा को जाना है, यह उसकी बात है। त्रिकाल शुद्ध और वर्तमान अशुद्धता; इस प्रकार दोनों पहलुओं को जानना अनेकान्त है। जगत के समस्त पदार्थों को प्रमाण से देखने पर वे अनेकान्तरूप हैं अर्थात् नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं और वे ही पदार्थ एक नय से देखने पर सम्यक एकान्तरूप भी दिखते हैं। जैसे कि ध्रुव की अपेक्षा से तो नित्यता ही है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता ही है। वस्तु में द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही साथ हैं, नित्यता और अनित्यता एक ही साथ हैं; उसमें नित्यता अथवा अनित्यता इत्यादि को किसी एक नय से देखने पर वस्तु उस एक धर्मस्वरूप लक्ष्य में आती है। उस अपेक्षा से वस्तु एकान्तस्वरूप भी है। प्रमाण का विषय तो अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु है और नय का विषय एक–एक धर्म है।

वस्तु के स्वरूप को जैसा है, वैसा जानना, सच्चा ज्ञान है; इसलिए वह सत्य है और सत्य सुखदायक होता है। वस्तु के स्वरूप को विपरीत मानना असत्य है और वह दुःखदायक है।

नित्यपना और अनित्यपना; एकपना और अनेकपना — ऐसे धर्म, वस्तु में एक साथ हैं। अनित्य पर्यायें होती हैं, वे किसी पर के कारण नहीं किन्तु वस्तु में ही अनित्यधर्म है। शरीर में रोग हुआ, वह परमाणुओं की पर्याय का धर्म है, दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है। नित्यता धर्म की अपेक्षा से देखने पर वस्तु नित्य भासित होती है और अनित्यता धर्म की अपेक्षा से देखने पर वस्तु अनित्य भासित होती है परन्तु किसी भी नय से एक धर्म को देखते समय भी अन्य अनन्त धर्मों की प्रतीति साथ ही है क्योंकि प्रमाणपूर्वक ही नय होते हैं।

प्रमाण से सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना, एक धर्म का ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता। यदि दूसरे धर्मों की अपेक्षा बिना एकान्त से एक ही धर्म को माना जाए तो वह मिथ्याएकान्त है। आत्मा, पर्याय अपेक्षा से अनित्य है परन्तु आत्मा सर्वथा अनित्य ही है — ऐसा नहीं है। अपेक्षारहित नय सच्चे नहीं हैं। जैसे कि आत्मा नित्य है तो किस अपेक्षा से ? अपनी ध्रुवता की अपेक्षा नित्यपना है। अपने किसी धर्म की अपेक्षा से नित्यपना है और किसी धर्म की

अपेक्षा अनित्यपना है परन्तु अपेक्षारहित सर्वथा नित्य ही कह देना अथवा अनित्य ही कह देना मिथ्यानय है।

देखो, अनेकान्त है, वह भी कथञ्चित् अनेकान्त है और कथञ्चित् एकान्त भी है। प्रमाण की अपेक्षा से तो वह अनेकान्त है और नय की अपेक्षा से वही एकान्त भी है। सम्यक् एकान्त की अपेक्षा बिना अनेकान्त नहीं होता अर्थात् अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। अनेकान्त, वह अनेकान्त भी है और एकान्त भी है।

आत्मा की निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह किसी पर की अपेक्षा नहीं रखती; अपितु अपने ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा रखती है। ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा बिना निर्मलपर्याय प्रगटेगी कहाँ से ? यदि ध्रुव को नहीं माने तो धर्म किसके आश्रय से करेगा ? जहाँ ज्ञान, राग की रुचि छोड़कर स्वभाव सन्मुख हुआ, वहाँ धर्म हुआ। ध्रुवद्रव्य के आश्रय से निर्मलपर्याय प्रगट हुई; इसलिए नित्यपना और अनित्यपना दोनों धर्म वस्तु में आ गये। प्रमाणज्ञान से सिद्ध हुई वस्तु में नयों की अपेक्षा लागू पड़ती है परन्तु किसी असत् वस्तु में नयों की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती। गधे के सींग के समान सर्वथा अभावरूप वस्तु में नय विवक्षा लागू नहीं होती।

प्रमाणज्ञान भी सम्यक् एकान्त की अपेक्षा रखता है। किस प्रकार ? — द्रव्य और पर्याय दोनों को अनेकान्त से जानकर, अभेद वस्तु की मुख्यता की ओर ढलकर सम्यक् एकान्त करने से ही प्रमाणज्ञान होता है; अतः अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त की अपेक्षा रखता है। सम्यक् एकान्त अर्थात् क्या ? अभेद की ओर ढला, तभी सम्यक् एकान्त हुआ। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर सामान्यस्वभाव की ओर ढलकर, विशेष को उसमें अभेद करे तो प्रमाणज्ञान होता है। अभेद की मुख्यता होने पर भी उसमें सन्मुख हुई/अभेद हुई पर्याय भी है तो अवश्य; इसलिए अभेद की मुख्यता की अपेक्षा तो सम्यक् एकान्त है और द्रव्यसन्मुख झुकी हुई पर्याय भी है, यह द्रव्य और पर्याय दोनों अपेक्षा से अनेकान्त भी है।

देखो ! यह साधक जीव के स्वभाव की ओर ढलने की बात है। अनेकान्त अर्थात् स्व से है और पर से नहीं — ऐसी पर से भिन्नता तो जानी और अपने में भी भेद और अभेद ऐसा अनेकान्त है, उसमें अभेद के सन्मुख ढलने से ही भेद-अभेद का यथार्थ ज्ञान होता है; इसलिए

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त के बिना नहीं होता अर्थात् अभेद की दृष्टि के बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता तथा अभेदता है, वह भेद की भी अपेक्षा रखती है अर्थात् अभेद द्रव्य की सन्मुखता होने पर ही पर्याय की शुद्धता बढ़ती जाती है; इसलिए पर्याय में अनेक भेद पड़ते हैं। उन भेदों को स्वीकार न करे तो भी मिथ्या एकान्त है। साधक जीव, द्रव्य और पर्याय दोनों को जानकर, अभेद द्रव्य की ओर झुकता है, वहाँ उसे द्रव्य-पर्याय की एकता बढ़ती जाती है — ऐसे साधक जीव के लिए यह बात है। जिसे पूर्णता हो गयी है, उन्हें तो अब कोई नय होते ही नहीं हैं। शक्तिरूप से पूर्णता है, पर्याय में अल्पता है; ध्रुव अपेक्षा से वस्तु नित्य है, पर्याय अपेक्षा से अनित्य है; साधकभाव हो, वहाँ बाधकभाव का अंश भी साथ में होता है — इत्यादि अनेक धर्म, वस्तु में हैं; उन्हें ज्यों का त्यों नहीं जाने तो सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

निरपेक्षनय मिथ्या हैं — उनमें पर की अपेक्षा की बात नहीं किन्तु अपने धर्म की अपेक्षा की बात है। वस्तु के अपने एक धर्म को माने और दूसरे धर्मों को सर्वथा न माने, उसका नाम निरपेक्षनय है और वह मिथ्यानय है।

देखो, जिसे चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान हुआ हो - ऐसे धर्मी जीव को ही चक्रवर्ती पद इत्यादि का उत्कृष्ट पुण्य बँधता है परन्तु उस धर्मी को चैतन्यमूर्ति आत्मा की ही अपेक्षा है; उसे पुण्य की अपेक्षा नहीं है, पुण्य का आदर नहीं है।

वस्तु के अनेक धर्मों के ज्ञान बिना वस्तु का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। वस्तु के समस्त धर्मों को एक काल में साधनेवाला प्रमाण है तथा उसके एक-एक धर्म को ग्रहण करनेवाला नय है; इसलिए एक नय को दूसरे नय की सापेक्षता होने पर ही वस्तु की सिद्धि होती है किन्तु अपेक्षारहित नय अर्थात् निरपेक्षनय वस्तु को नहीं साध सकता है; इसीलिए वस्तु, अपेक्षा से अनेकान्त भी है — यह जानना ही सम्यक्ज्ञान है। ●●

गाथा २६२

अब, श्रुतज्ञान परोक्षरूप से सबको प्रकाशित करता है, यह कहते हैं —

सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि, संसयपहुदीहि परिचित्तं॥

अनेकान्त स्वरूप सबको, जानता अप्रत्यक्ष से।
संशय विपर्यय मोह बिन, श्रुतज्ञान कहते हैं उसे॥

अन्वयार्थ : [जं सव्वं पि अणेयंतं परोक्खरूवेण पयासेदि] जो ज्ञान सब वस्तुओं को अनेकान्त, परोक्षरूप से प्रकाशित करता है – जानता है – कहता है और जो **[संसयपहुदीहि परिचित्तं]** संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित है, **[तं सुयणाणं भण्णदि]** उसको श्रुतज्ञान कहते हैं — ऐसा सिद्धान्त में कथन है।

भावार्थ : जो सब वस्तुओं को परोक्षरूप से 'अनेकान्त' प्रकाशित करता है, वह श्रुतज्ञान है। शास्त्र के वचन को सुनकर अर्थ को जानता है, वह परोक्ष ही जानता है और शास्त्र में सब ही वस्तुओं का स्वरूप अनेकान्तात्मकरूप कहा गया है, सो सब ही वस्तुओं को जानता है तथा गुरुओं के उपदेशपूर्वक जानता है, तब संशयादिक भी नहीं रहते हैं।

गाथा २६२ पर प्रवचन

अब, श्रुतज्ञान की सामर्थ्य बतलाते हैं। जैसे, केवलज्ञान समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है; उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी परोक्षरूप से सर्व वस्तुओं को प्रकाशित करता है — ऐसा अब कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु, वस्तुपने एक, गुण-पर्यायपने अनेक सामान्य-विशेष स्वरूप है। उस

सम्पूर्ण वस्तु को परोक्षरूप से अनेकान्तरूप जानता है, वह सम्यक्‌श्रुतज्ञान है। वह श्रुतज्ञान संशय, विपरीतता और अनध्यवसायरहित है — ऐसा शास्त्र में कहा है। शास्त्र में जो कहा है, स्वयं उसे समझने की गरज करे तो नय-प्रमाणरूप युक्ति और स्वानुभव से सब निश्चित हो सकता है।

शास्त्र में बहुत अपेक्षाओं से कथन होता है, क्या वह सब सच्चा होगा? व्यवहार से, शुभराग से भी धर्म होता होगा? देवादि तथा छह द्रव्यों का स्वरूप ऐसा होगा या दूसरे कहते हैं, वह भी सत्य होगा? — इत्यादि प्रकार से शङ्कादि दोष सम्यग्ज्ञान में नहीं होते।

आशय यह है कि श्रुतज्ञान में स्व-सन्मुख होकर अभेदस्वरूप का निर्णय किया, वह स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वानुभव प्रत्यक्ष है। सर्वज्ञ कथित शास्त्र में समस्त वस्तुओं का स्वरूप अनेकान्तमय है तथा ज्ञान द्वारा यथार्थ ज्ञात होता है; इस प्रकार सर्व वस्तुओं को युक्ति-आगम के बल से जानें तथा गुरुजनों के उपदेशपूर्वक जानें तो संशय आदि नहीं रहते हैं। ●●

मुनिदशा : वीरों का मार्ग, कायरों का नहीं

देखो, यह जैन साधुओं का आचरण! मोक्षमार्गी मुनिवरों की क्रिया! गृहस्थ श्रावक द्वारा अपने लिए बनाये गये आहार में से ही मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं। यदि उनके लिए आहार बनाया गया हो या आहार बनाने में कोई हिंसारूप आरम्भ-समारम्भ किया हो तो ऐसा उद्दिष्ट या अधःकर्मी आहार मुनिराज कदापि नहीं लेते। यदि शिथिल होकर ऐसा आहार ग्रहण करें तो एषणा समिति या अहिंसा महाव्रत नहीं रहता अर्थात् मुनिपना ही नहीं रहता। **भाई! जैन मुनियों का आचरण बहुत ऊँचा होता है।** यह तो बाह्य स्थूल आचरण है, उनके अन्तरङ्ग स्वानुभवरूप वीतरागी आचरण की तो बात ही क्या कहना? **मुनिदशा तो पञ्च परमेष्ठी पद में हैं – उनके आचरण में ढीलापन नहीं होता। यह तो वीरों का मार्ग है, यहाँ कायरों का काम नहीं है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १८-१९

गाथा २६३

अब, श्रुतज्ञान के विकल्प अर्थात् भेद, वे नय हैं, उनका स्वरूप कहते हैं —

लोयाणां ववहारं, धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।

सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो॥

विवक्षा से धर्म की, साधे जगत – व्यवहार को।

श्रुतज्ञान का वह भेद नय है, हेतु से उत्पन्न हो॥

अन्वयार्थ : [**जो लोयाणं ववहारं**] जो लोकव्यवहार को [**धम्मविवक्खाई पसाहेदि**] वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से सिद्ध करता है, [**सुयणाणस्स वियप्पो**] श्रुतज्ञान का विकल्प है, [**लिंगसंभूदो**] लिङ्ग से उत्पन्न हुआ है, [**सो वि णओ**] वह नय है।

भावार्थ : वस्तु के एक धर्म की विवक्षा लेकर लोकव्यवहार को साधता है, वह श्रुतज्ञान का अंश नय है। वह साध्यधर्म को हेतु से सिद्ध करता है, जैसे वस्तु के सत्धर्म को ग्रहणकर इसको हेतु से सिद्ध करता है कि 'अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वस्तु सत्रूप है' — ऐसे नय, हेतु से उत्पन्न होता है।

गाथा २६३ पर प्रवचन

अब, श्रुतज्ञान के भेद/अंश जो नय हैं, उनका स्वरूप कहते हैं।

वस्तु के एक धर्म की मुख्यता से जो लोकव्यवहार को साधता है, वह नय है। जैसे, ज्ञानी कहता है कि लड़का अच्छा है, सम्पत्ति को सुरक्षित रखेगा परन्तु अभिप्राय में है कि इसकी आयु और पुण्य होगा तो सम्पत्ति रहेगी; अत: उक्त बात लौकिक अपेक्षा की है। वस्तु

अनन्त धर्मस्वरूप है, वह प्रमाण का विषय है, उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान प्रमाण है, उस श्रुतज्ञान का विकल्प/भेद, वह नय है।

सम्यग्दृष्टि नौकर, सेठ से कहता है कि आपकी कृपा से धन प्राप्त हुआ परन्तु अभिप्राय में ख्याल है कि पुण्य की योग्यता से पैसा उसके स्वकाल में आता है परन्तु एक हेतु को सिद्ध करने के लिए एक पहलू से बात को गौण करके, दूसरे को मुख्य करते हैं; इस प्रकार लोकव्यवहार में भी प्रयोजन साधता है।

जीव के ज्ञानगुण की पाँच पर्यायें हैं, उनमें से श्रुतज्ञान में नय होते हैं। नय का यथार्थस्वरूप जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, उसका यथार्थ ज्ञान करना, वह भावश्रुतप्रमाण है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, श्रुतज्ञान उसकी एक समय की पर्याय है, उस श्रुतज्ञान में नय पड़ते हैं। नय अर्थात् वस्तु के एक अंश को जाननेवाला श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान का अंश, नय है। आत्मा के अतिरिक्त शरीरादि तो पर हैं, उन परद्रव्यों से भिन्न अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा एक वस्तु है, उस अनन्त धर्मवाली वस्तु के प्रमाणज्ञानपूर्वक उसके एक-एक अंश को जाननेवाला नय है। नय, ज्ञान का उपयोग है, वह एक धर्म को मुख्य करके वस्तु को जानते समय अन्य धर्मों को गौण रखता है; अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध नहीं करता है।

वस्तु त्रिकाल शुद्ध होने पर भी पर्याय में अशुद्धता भी है, इसे जानना चाहिए। पर्याय में कितनी शुद्धता है और कितना राग है तथा निमित्त कैसे हैं? उनका ज्ञान करना चाहिए। आत्मा की कैसी दशा के समय, कैसे निमित्त होते हैं और कैसे निमित्तों का सङ्ग छूट जाता है? यह सब जाने बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता। राग भी अपनी पर्याय में होता है, वह भी वस्तु का एक अंश है; उस अंश को भी (प्रमाणज्ञान) अपने अस्तित्व में जानता है। यदि वह अंश पर के कारण माना जाए तो ज्ञान, प्रमाण नहीं होता।

मैं स्व रूप से हूँ और पर रूप से नहीं। मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से मैं सत् हूँ और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से मैं असत् हूँ - ऐसा जानना प्रमाणज्ञान है और वहाँ अस्ति को मुख्य करके जानने पर नास्तित्व गौण रहता है। 'आत्मा है' — ऐसा कहा, तब 'पर रूप नहीं है' ऐसी नास्ति की बात गौण रह जाती है; इसलिए वह नय का विषय है।

यहाँ आगम की शैली से सात नयों का वर्णन करेंगे। अध्यात्मदृष्टि से तो ये सातों नय, व्यवहार हैं। अध्यात्मदृष्टि में तो शुद्ध, अभेद, त्रिकालीद्रव्य ही निश्चयनय का विषय है। उसमें स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का भेद करना भी व्यवहार है। आगम में छह द्रव्यों का वर्णन है, वहाँ अपना द्रव्य-गुण-पर्याय निश्चय का विषय है। आत्मा है तो उसमें स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है — ऐसा हेतु है। अपनी अपेक्षा से आत्मा सत् है परन्तु पर की अपेक्षा से आत्मा असत् है।

कोई पूछता है — आत्मा है ? तो कहते हैं कि हाँ, आत्मा सत् है।

किस हेतु से ? — स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से आत्मा सत् है।

कोई पूछता है — आत्मा नहीं है ? तो कहते हैं हाँ, आत्मा असत् है।

किस हेतु से ? — परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से आत्मा असत् है।

इस प्रकार नयज्ञान द्वारा वस्तु के धर्म सिद्ध होते हैं।

देखो, इन भावनाओं में उलझन नहीं किन्तु आनन्द है — ये बारह भावनाएँ भविकजन को आनन्दजननी हैं क्योंकि अन्तरङ्ग में अखण्ड चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि पड़ी है, उसके जोर से धर्मी को प्रतिक्षण वीतरागता और आनन्द बढ़ते जाते हैं। वस्तुस्वरूप के अनुसार ये भावनाएँ भाने से ज्ञान की एकाग्रता होती जाती है, खेद मिटता जाता है, आनन्द बढ़ता जाता है।

जिसे देव-शास्त्र-गुरु का भान है, आत्मा का भान है और फिर ज्ञान की विशालता में बारह भावनाओं का चिन्तन करता है, वहाँ शुद्धता बढ़ती है परन्तु बारह भावनाओं में एकरूप चिदानन्दस्वभाव का अवलम्बन है; अनेकता का ज्ञान है परन्तु एकता का अवलम्बन है। अभेद चैतन्यस्वभाव की दृष्टि रखकर ज्ञानीजन बारह भावनाएँ भाते हैं। यदि अभेद आत्मा की दृष्टि छोड़कर अकेले भेद की भावनाएँ भावे तो वह अज्ञानी है, उसे यथार्थ भावनाएँ नहीं होती हैं।

अनेकपने का ज्ञान करना कोई दोष नहीं है परन्तु स्वभाव की एकता चूककर एकान्त भेद का आश्रय करना, मिथ्यात्व है। व्यवहारनय ज्ञान करने के लिए है किन्तु आश्रय करने के लिए नहीं है। यदि व्यवहार के आश्रय से लाभ माना जाए तो शुद्ध आत्मा की दृष्टि भी नहीं

रहती अर्थात् जैनदर्शन ही नहीं रहता और यदि व्यवहार है, उसे जाने ही नहीं तो एकान्त मिथ्याज्ञान हो जाता है। वस्तुस्वभाव की भानपूर्वक ज्ञान में ऐसी अनुप्रेक्षा करने से वीतरागता बढ़ती जाती है।

यथार्थ ज्ञानसहित वैराग्य कैसे होता है? यह जानना चाहिए। अकेला ज्ञान-ज्ञान करके वैराग्य का ठिकाना न हो तो वह एकान्त निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। जैसे, अकेले क्रियाकाण्डी मिथ्यादृष्टि है, वैसे ही अकेले निश्चय ज्ञान की बात करे परन्तु पर्याय में प्रतिक्षण स्वभाव की दृष्टि से राग घटना चाहिए, उसे नहीं माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। वस्तु के स्वभाव को ज्यों का त्यों जानने से पर्याय में बहुत राग घट जाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों को यथार्थ ज्यों का त्यों जानना चाहिए। साधकदशा में व्यवहार है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता और निश्चय का आश्रय भी नहीं छोड़ा जा सकता; इसीलिए यहाँ नयों का वर्णन किया जा रहा है। ●●

सन्तों का आत्मवैभव

आत्मा ऐसा है कि जिसमें अपार चेतन-निधान भरे हैं। जो विदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा के पास जाकर चैतन्य का माल लाये हैं, वैभव लाये हैं; वह वैभव श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार द्वारा भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को प्रदान किया है। अपने स्वानुभव में तो आत्मा का वैभव था ही, तदुपरान्त सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनकर, श्रुतकेवलियों से सीधा परिचय करके और शुद्धात्मानुभवी गुरुओं की परम्परा से प्राप्त हुआ जो समस्त आत्मवैभव, वह कुन्दकुन्दाचार्यदेव को प्रगट हुआ था। उस समस्त वैभव के बल से उन्होंने समयसार में एकत्व-विभक्त शुद्धात्मद्रव्य दिखाया है और उनका हृदय जाननेवाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने आत्मख्याति टीका द्वारा उसे प्रसिद्ध किया है। अहो! चैतन्य का सहज अद्भुत वैभव है। भाई, ऐसा वैभव तुझमें भरा है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मवैभव (गुजराती), पृष्ठ ३१०

गाथा २६४

अब, एक धर्म को नय कैसे ग्रहण करता है, सो कहते हैं —

णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविविक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं॥

बहु धर्म युक्त पदार्थ है, पर एक धर्ममयी कहे।
उसकी विवक्षा में नहीं, होती विवक्षा अन्य की॥

अन्वयार्थ : [णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं] अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ हैं तो भी एक धर्मरूप पदार्थ को कहता है, **[तस्सेयविवक्खादो हु सेसाणं विवक्खा णत्थि]** क्योंकि जहाँ एक धर्मकी विवक्षा करते हैं, वहाँ उस ही धर्म को कहते है, अवशेष (बाकी) सब धर्मों की विवक्षा नहीं करते हैं।

भावार्थ : जैसे जीववस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्त्व आदि अनेक धर्म हैं, उनमें एक धर्म की विवक्षा से कहता है कि जीव चेतनस्वरूप ही है इत्यादि, वहाँ अन्य धर्म की विवक्षा नहीं करता है; इसलिए ऐसा नहीं जानना कि अन्य धर्मों का अभाव है किन्तु प्रयोजन के आश्रय से एक धर्म को मुख्य करके कहता है; अतः विवक्षित को मुख्य कहा है, अन्य की विवक्षा नहीं है।

गाथा २६४ पर प्रवचन

वस्तु में तो सत्पना और असत्पना दोनों धर्म एक साथ हैं परन्तु नय उनमें से एक धर्म की मुख्यता करके वस्तु को जानता है। जैसे, वस्तु सत् है, ऐसा कहा, तब अपने द्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव की विवक्षा की जाती है और उस समय पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्पना है, इस धर्म की गौणता है।

जैसे, जीववस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, चेतनत्व -अमूर्तत्व आदि अनेक धर्म हैं, उन सब धर्मों में से किसी एक धर्म की विवक्षा से कहा जाए तो जीव चेतनत्वरूप ही है इत्यादि कहा जाता है। यद्यपि वहाँ अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं की गयी है तो भी यह नहीं जानना चाहिए कि अन्य धर्मों का अभाव है परन्तु वहाँ तो प्रयोजनवश उसके किसी एक धर्म को मुख्य करके कहा जाता है; अन्य की विवक्षा वहाँ नहीं है — ऐसा समझना चाहिए।

भाई! ये बारह भावनाएँ वस्तुस्वरूप के भानपूर्वक की है। संवर के प्रकारों में ये आती हैं, इन भावनाओं को भाने से स्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है और राग मिट जाता है तथा शुद्धता की वृद्धि होती है, इसी का नाम संवर-निर्जरा है।

जीववस्तु में तथा प्रत्येक वस्तु में स्व से अस्तित्व धर्म है और पर से नास्तित्व है। द्रव्य की अपेक्षा से एकपना है और गुण-पर्याय इत्यादि भेद की अपेक्षा अनेकपना है। जीव में चैतन्यपना है; अन्य पाँच द्रव्यों में अचेतनपना है। जीव में अमूर्तत्त्वपना है — इत्यादि अनेक धर्म, प्रत्येक वस्तु में है। जीव में चेतनपना इत्यादि अनेक धर्म एकसाथ होने पर भी प्रयोजनवश एक चेतनत्व धर्म को मुख्य करके यह कहना कि जीव चेतनस्वरूप ही है, यह नय का कथन है। इसमें चेतन धर्म की मुख्यता की गयी और अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं की गयी; इसलिए दूसरे धर्मों का सर्वथा अभाव नहीं समझना चाहिए परन्तु प्रयोजनवश किसी एक धर्म को मुख्य करके कथन किया जाता है; इसलिए नयों के कथन में भी प्रयोजन है। ●●

वीतरागी सन्तों की गर्जना!

वीतरागी मोक्षमार्ग की गर्जना करते हुए सन्त कहते हैं कि अरे राग को धर्म माननेवाले कायरों! तुम चैतन्य के वीतरागमार्ग में नहीं चढ़ सकते... तुम चैतन्य को साधने का स्वाधीन पुरुषार्थ नहीं प्रगटा सकते। स्वाधीन चैतन्य का तुम्हारा पुरुषार्थ कहाँ गया? तुम धर्म करने निकले हो तो चैतन्य शक्ति की वीरता प्रगट करो। इस वीतरागी वीरता द्वारा ही मोक्षमार्ग सधेगा। **अरे! वीतरागी सन्तों की ऐसी गर्जना सुनकर कौन नहीं जागेगा?**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, सम्यग्दर्शन, भाग ६, पृष्ठ ७४

गाथा २६५

अब, वस्तु के धर्म को, उसके वाचक शब्द को और उसके ज्ञान को नय कहते हैं —

सो चिय इक्को धम्मो, वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य॥

वस्तु का इक धर्म एवं, शब्द जो उसको कहे।
अरु ज्ञान जो जाने उन्हें, ये तीन नय के भेद हैं॥

अन्वयार्थ : [सो चिय इक्को धम्मो] जो वस्तु का एक धर्म, **[तस्स धम्मस्स वाचयसद्दो वि]** उस धर्म का वाचक शब्द **[तं जाणदि तं णाणं]** और उस धर्म को जाननेवाला ज्ञान, **[ते तिण्णि वि णयविसेसा य]** ये तीनों ही नय के विशेष हैं।

भावार्थ : वस्तु का ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु, इनको जैसे प्रमाणवस्तु कहते हैं, वैसे ही नय भी कहते हैं।

गाथा २६५ पर प्रवचन

अहो! यह अध्यात्मिक सन्तों की वाणी है। नय और नय के विषय की अभेदता को अनुभव करके, वस्तु के धर्म को भी नय कह दिया। चौदह वर्ष पूर्व जब यह गाथा स्वाध्याय में ली थी, तब ऐसा लगा था कि अहो! यह अन्दर की अध्यात्म की अलौकिक बात सन्तों ने की है! नय और नय के विषय को अभेदरूप से वर्णन करना, अध्यात्म की अपूर्व बात है। समयसार में भी अभेद के अनुभव की अपेक्षा नय और नय के विषय को अभेद करके कहा है कि —

निश्चयनयाश्रित मुनिवरों, प्राप्ति करें निर्वाण की।

देखो, यद्यपि निश्चयनय तो ज्ञान का एक अंश है, वह तो पर्याय है, उस पर्याय के आश्रय से मुक्ति नहीं है परन्तु निश्चयनय और उसके विषयरूप जो त्रिकाल अभेदस्वभाव है, उस अभेदस्वभाव के अनुभव में नय और नय के विषय का भेद नहीं रहता; इसलिए अभेद अपेक्षा से कह दिया है कि 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरों, प्राप्ति करें निर्वाण की।'

अहो! सन्तों की वाणी अन्दर के गहरे अनुभव में से निकली है! ज्ञान के अंश को तो नय कहते हैं परन्तु उस नय के विषयरूप धर्म को भी नय कहने में रहस्य है।

शब्द, अर्थ और ज्ञान — ऐसे तीन प्रकार के नय कहे गये हैं। जैसे, प्रमाण तीन प्रकार का है, वैसे ही नय भी तीन प्रकार के हैं। जो वाक्य कहने से प्रमाणवस्तु ख्याल में आ जाए, उस वाक्य को प्रमाणवाक्य कहते हैं और जिस वाक्य में एक धर्म को कहने का प्रयोजन हो, उसे नयवाक्य कहा जाता है।

जैसी वस्तु, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी — ऐसे तीनों का मेल है। वस्तुस्वरूप को समझने के लिए यह सब जानना चाहिए। त्रिकाली वस्तु क्या है? पर्याय क्या है? पर्याय में शुद्धता और अशुद्धता के कैसे-कैसे प्रकार हैं तथा उनके कैसे-कैसे निमित्त हैं? उन सबको जानना चाहिए, तभी प्रमाणज्ञान होता है और प्रमाणज्ञानवाले को ही नय होते हैं। द्रव्यदृष्टि हो वहाँ भी सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान साथ ही होता है। जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है और अरागी मुनिदशा प्रगट हुई है, उसे तो मुनिदशा में वस्त्रादि तो होते ही नहीं परन्तु अध:कर्मी और उद्देशिक आहार का विकल्प भी नहीं होता और निमित्तरूप में वैसा आहार भी छूट गया होता है। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि है, उसे मिथ्यात्व के निमित्तरूप कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का त्याग हो गया है। जिसे जिस जाति के राग का अभाव हुआ है, उसे उस जाति के निमित्त भी छूट जाते हैं। इस प्रकार पर्याय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को भी भलीभाँति जानना चाहिए।

●●

गाथा २६६

अब पूछते हैं कि वस्तु का एक धर्म ही ग्रहण करता है — ऐसा जो एक नय, उसको मिथ्यात्व कैसे कहा है, उसका उत्तर कहते हैं —

ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयलववहारसिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण॥

सापेक्ष नय ही सुनय हैं, निरपेक्ष नय दुर्नय कहे।
सुनय से ही नियम से, व्यवहार सिद्धि सभी कही॥

अन्वयार्थ : [ते सावेक्ख सुणया] वे पहले कहे हुए तीन प्रकार के नय, परस्पर में अपेक्षासहित होते हैं, तब तो सुनय हैं **[णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति]** और वे ही जब अपेक्षारहित सर्वथा एक-एक ग्रहण किये जाते हैं, तब दुर्नय हैं **[सुणयादो सयलववहारसिद्धी णियमेण होदि]** और सुनयों से सर्व व्यवहार वस्तु के स्वरूप की सिद्धि नियम से होती है।

भावार्थ : नय सब ही, सापेक्ष तो सुनय और निरपेक्ष कुनय हैं। सापेक्ष से सर्व वस्तु व्यवहार की सिद्धि है, सम्यग्ज्ञानस्वरूप है और कुनयों से सर्व लोक व्यवहार का लोप होता है, मिथ्याज्ञानरूप है।

गाथा २६६ पर प्रवचन

यदि वस्तु के समस्त पहलुओं को नहीं जाने और एकान्त एक ही पहलू पकड़ कर बैठ जाए तो वह मिथ्यादृष्टि है — ऐसा अब कहते हैं।

यदि सामान्य को जाने किन्तु विशेष अर्थात् पर्याय को जैसा है, वैसा न जाने तो वह मिथ्यानय है। देखो, जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ कुदेवादि का आदर तो होता ही नहीं; इस

प्रकार उस पर्याय को भी जानना चाहिए। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ हो, वहाँ कुदेवादि का सेवन अथवा माँसादिक का भोजन नहीं होता है — यदि ऐसा न जाने तो उसे व्यवहार का भान नहीं है, उसे एकान्त निश्चयाभास हो जाता है।

किसी भी नय का ज्ञान, दूसरे पहलू की अपेक्षासहित होता है। जिय समय वाणी में एक धर्म कहा गया, उसी समय दूसरे धर्म की अपेक्षासहित का वह कथन है। जैसे, आत्मा शुद्ध भगवान समान है — ऐसा कहा, यह द्रव्यदृष्टि के प्रयोजन से कहा है परन्तु उसी समय पर्याय में अशुद्धता है, उसकी अपेक्षासहित यह कथन है। यदि पर्याय की अपेक्षा छोड़कर सर्वथा एकान्त कथन को पकड़ ले तो उसे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान नहीं है; अतः उसका निश्चय भी मिथ्या है और व्यवहार भी मिथ्या है। व्यवहार की अपेक्षा बिना निश्चय नहीं होता और निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता। वीतरागमार्ग में दोनों को ज्यों का त्यों जानना चाहिए, तभी ज्ञान, प्रमाण होता है; इसके बिना धर्म नहीं होता।

ज्ञान से आत्मा को जानकर, सुखदशा प्रगट होना धर्म है। उस ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ हैं — मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। उनमें से श्रुतज्ञान में नय होते हैं। नय, जैनदर्शन की विशिष्ट वस्तु है। लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप — ये पदार्थों को जानने का उपाय हैं। वस्तु का लक्षण क्या है? उसे जाननेवाला ज्ञान क्या है? उस ज्ञान के पहलू कैसे होते हैं? और वस्तु में जो भाव कहा गया है, वह उसका त्रिकालीभाव है या पर्याय है या भूत-भविष्य की पर्याय की अपेक्षा कथन है? — यह सब समझना चाहिए। पहले छहों द्रव्यों के भिन्न-भिन्न लक्षण कह दिये गये हैं, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को यथार्थ जानना, वह प्रमाण है और वस्तु के एक धर्म को मुख्यरूप से ग्रहण करनेवाले श्रुतज्ञान के अंश को नय कहते हैं। वह नय दूसरे नयों की अपेक्षासहित होने पर ही सुनय है। यदि अन्य नयों से सर्वथा निरपेक्ष हों तो कुनय है। कोई अकेले व्यवहार के आश्रय से धर्म माने और निश्चयस्वभाव को नहीं जाने तो वह भी कुनय अर्थात् मिथ्यात्व है।

देखो, एक ओर यह कहा जाता है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता और फिर नैगमनय से यह भी कहते हैं कि शरीर, जीव की इच्छा से चलता है अथवा क्रोध के निमित्तरूप जड़वस्तु को भी नैगमनय से क्रोध कहते हैं; इस प्रकार नय के कथन को ज्यों

का त्यों समझना चाहिए। देखो, शरीर चलता है, तब जीव की इच्छा निमित्त है; इसलिए सङ्कल्प करके नैगमनय से यह कहा है कि इच्छा के कारण शरीर का गमन हुआ परन्तु उसी समय निश्चय की अपेक्षा का भान साथ ही है कि वास्तव में जीव की इच्छा से शरीर नहीं चलता — ऐसे निश्चय की अपेक्षा के बिना अकेला नैगमनय हो तो वह मिथ्या है और निश्चय के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवाला ज्ञान भी न हो तो वह भी एकान्त होने से मिथ्या है; इसलिए सभी नय, सापेक्ष होते हैं।

जिनागम में कभी व्यवहार से कथन होता है और कभी निश्चय से कथन होता है परन्तु वहाँ वस्तुस्थिति का लक्ष्य रखकर जो अपेक्षा हो, वह जानना चाहिए। नयज्ञान तो यथार्थ वस्तुस्वरूप के निर्णय का कारण है। नयों का ज्ञान नहीं करे और सर्वथा एक ही पक्ष पकड़कर बैठ जाए तो वह मिथ्याज्ञान है।

एक ओर यह कहना कि पर से कुछ लाभ नहीं है और फिर भगवान की प्रतिमा के दर्शन-पूजन का उपदेश आये तो दोनों में जहाँ जिस नय की अपेक्षा है, वह समझना चाहिए। आत्मा, शरीर की क्रिया नहीं कर सकता — ऐसा निश्चयनय कहता है और फिर यह कथन भी आता है कि देखकर चलना चाहिए। वहाँ आत्मा, शरीर की क्रिया करता है, यह नहीं बतलाना है परन्तु वहाँ प्रमादभाव नहीं होने देने के लिए यह कथन है। इस प्रकार नय विवक्षाओं को बराबर समझना चाहिए।

जयधवल में कहते हैं कि क्रोधादि कषाएँ, कर्म से ही होती हैं तो वहाँ नैगमनय के आरोप से कथन है। फिर वहाँ ऋजुसूत्रनय से कहते हैं कि कषाय, पारिणामिकभाव है। अत: एक नय का कथन पकड़कर बैठ जाए और दूसरे नयों की अपेक्षा सर्वथा ही छोड़ दे तो वह अज्ञान है।

देखो, कोई शास्त्र, मिथ्यादृष्टि के दया के शुभपरिणाम से संसार परिमित होना माने तो वह नय ही नहीं किन्तु मिथ्यात्व है। चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि से संसार का नाश होता है, उसके बदले स्वभाव के भान बिना अकेले शुभराग से अथवा दानादिक के भाव से संसार परिमित होना कहते हों तो वह मिथ्यादृष्टि का कथन है, उसके कथन में नय लागू नहीं पड़ते है।

अहो! आत्मा के अभेदस्वभाव की दृष्टि से ही संसार का अभाव होता है। उसके बदले अज्ञानी के शुभराग से संसार का नाश होना मानना महा-विपरीत कथन है। शुभराग तो उदयभाव है; क्या उदयभाव से संसार का नाश होता है? नहीं होता। देखो, ज्ञानी भी निमित्त अपेक्षा ऐसा कहता है कि हे नाथ! हे जिनेन्द्र! आपकी भक्ति से हमने संसार का पार पाया। हे गुरुदेव! आपके चरणकमल के प्रसाद से हम भवसमुद्र से तिर गये हैं। यद्यपि ज्ञानी को अन्तरङ्ग में भान है कि हम अपने स्वभाव के आश्रय से ही संसार से तिरे हैं, उसमें देव-गुरु निमित्त हैं; इसलिए विनय से निमित्त में आरोप किया है। जिसे अन्दर में अनारोपदृष्टि प्रगट हुई है, वह आरोप करके कहता है परन्तु जिसे अभी अनरोपदृष्टि प्रगट नहीं हुई, स्वभाव का भान नहीं हुआ, सम्यग्दर्शन नहीं हुआ और अकेले राग से ही संसार का अन्त होना मानता है, उसके तो आरोप/उपचार भी नहीं कहा जाता, वह तो मिथ्यादृष्टि का कथन है। अनारोप के बिना आरोप किसका? ज्ञानी को तो अपने स्वभाव की दृष्टि से संसार का अभाव हुआ है; इसलिए अनारोपभाव प्रगट हुआ है, वहाँ आरोप से यह कहता है कि हे नाथ! तेरी भक्ति से हम तिर गये। वस्तुतः वह निमित्त का कथन है और उसमें नय लागू होते हैं; अज्ञानी को तो नय होते ही नहीं हैं। ●●

अहा! कैसे होंगे मुनियों के वचन?

देखो! भगवान महावीर का जीव जब सिंहपर्याय में था, तब दो मुनिराजों ने आकाश से उतरकर उपदेश दिया था। उनकी शान्त चेष्टा देखकर सिंह मुग्ध हो जाता है और उनकी भाषा भी समझ जाता है। उसे लगता है कि **अहो! मुनिराज मुझे वीतरागी चैतन्यतत्त्व सुना रहे हैं, यह मेरे हित की कोई अपूर्व बात है। ये मुनिराज मेरे परम हितैषी हैं।** वह सिंह मुनिराज की भाषा समझ जाता है और उनका शान्तभाव भी समझ जाता है और उसी समय भ्रम दूर करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। **अहा! मुनिराज के वचन कैसे होंगे? वे वचन अन्तर में शान्तरस के अनुभव में से आते हैं; इसलिए उनमें से भी शान्तरस झरता है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ १२

गाथा २६७

अब, परोक्षज्ञान में अनुमानप्रमाण भी है, उसका उदाहरणपूर्वक स्वरूप कहते हैं —

जं जाणिज्जइ जीवो, इन्दियवावारकायचिट्ठाहिं।
तं अणुमाणं भण्णदि, तं पि णयं बहुविहं जाण॥

व्यापार इन्द्रिय का तथा, तन चेष्टा से जीव का।
जो ज्ञान वह अनुमान बहुविध, उसे भी नय जानना॥

अन्वयार्थ : [जं इंदियवावारकायचिट्ठाहिं जीवो जाणिज्जइ] जो इन्द्रियों के व्यापार और काय की चेष्टाओं से शरीर में जीव को जानते हैं, **[तं अणुमाणं भण्णदि]** उसको अनुमानप्रमाण कहते हैं। **[तं पि णयं बहुविहं जाण]** वह अनुमानज्ञान भी नय है और अनेक प्रकार का है।

भावार्थ : पहले श्रुतज्ञान के विकल्प, नय कहे थे, यहाँ अनुमान का स्वरूप कहा कि शरीर में रहता हुआ जीव, प्रत्यक्ष ग्रहण में नही आता है, इसलिए इन्द्रियों का व्यापार–स्पर्श करना, स्वाद लेना, बोलना, सूँघना, सुनना, देखना, चेष्टा तथा गमन आदिक चिह्नों से जाना जाता है कि शरीर में जीव है, सो यह अनुमान है क्योंकि साधन से साध्य का ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। यह भी नय ही है। परोक्ष–प्रमाण के भेदों में कहा है, सो परमार्थ से नय ही है। वह स्वार्थ तथा परार्थ के भेद से और हेतु तथा चिह्नों के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है।

गाथा २६७ पर प्रवचन

इन्द्रियाँ और वाणी तो जड़ हैं किन्तु अन्दर ज्ञान के ख्यालपूर्वक भाषा निकली, उससे

जीव का अनुमान होता है। जैसे, कोई खाना खा रहा हो तो वहाँ ग्रास मुँह में जाता है, सिर पर ग्रास नहीं जाता, इससे अनुमान होता है कि अन्दर जाननहार तत्त्व है। इस प्रकार देह की क्रिया से जीव का अनुमान होता है। देखो, यह अनुमान यथार्थ कब कहलाता है? जब प्रमाणज्ञान हुआ हो, तब। पहले अतीन्द्रिय सम्यग्ज्ञान से जिसने आत्मा को जाना है, उसे फिर ऐसा अनुमान होता है। पदार्थ को जाने बिना अनुमान किसका? अनुमान, परोक्षज्ञान है, वह भी यथार्थ है। जैसे, किसी घर में कोई सितार बजती हो तो वहाँ सितार की आवाज से उसके बजानेवाली की चतुराई इत्यादि का अनुमान जाननेवाले को हो जाता है; इसी प्रकार दिव्यध्वनि से सर्वज्ञ का अनुमान होता है और देह-वाणी की क्रिया से ज्ञानी जीव का अनुमान हो जाता है। जैसे, रसोई के आधार से रसोई बनानेवाली बाई का अनुमान हो जाता है; इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से अनुमान कर लेना ज्ञान का सामर्थ्य है।

नयों के विस्तार का ज्ञान, वह पण्डिताई नहीं किन्तु वीतरागता है। अहो! सन्तों ने नयों का आगाध विस्तार किया है। मानो ज्ञान का समुद्र ही फट पड़ा हो! भाई, वहाँ तक तेरी बुद्धि न पहुँचे तो तू महिमा लाकर उसका विश्वास कर। तुझे समझ में न आवे तो निरुत्साहित मत हो। अहो! जैनदर्शन को किसी अन्यमत के साथ अंशमात्र भी मेल नहीं है क्योंकि दोनों में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है। अज्ञानी को स्थूलदृष्टि से सब समान लगता है किन्तु अन्दर की गहराई में बहुत अन्तर है; इसलिए यथार्थ वस्तुस्वरूप का सभी पहलुओं से निर्णय करना चाहिए।

देखो! यहाँ कहते हैं कि आत्मा, देहादि की क्रिया के आधार से अनुमान से ज्ञात होता है और प्रवचनसार में १७२ वीं गाथा में कहते हैं कि आत्मा अलिङ्गग्रहण है, वह अनुमान का विषय नहीं है। आत्मा, स्वयं अनुमान से नहीं जानता और स्वयं अनुमान द्वारा जानने में नहीं आता। वहाँ अकेले अनुमान से नहीं जानता किन्तु प्रत्यक्ष होने के पश्चात् अनुमान होता है, प्रत्यक्ष स्व-संवेदन के बिना अकेले परोक्ष अनुमान से आत्मा ज्ञात नहीं होता; इसलिए प्रवचनसार में यह कहा है कि आत्मा, अनुमान का विषय नहीं है और प्रत्यक्षसहित परोक्षज्ञान द्वारा आत्मा का अनुमान हो सकता है; इसलिए यहाँ कहा है कि देहादिक की क्रिया से आत्मा का अनुमान होता है। इस प्रकार परोक्षज्ञान, प्रत्यक्ष की अपेक्षासहित है; प्रत्यक्ष के बिना एकान्त परोक्षज्ञान से यथार्थ अनुमान नहीं होता।

निमित्त से कार्य होता है — ऐसा अज्ञानी को दिखता है और वह यह भी कहता है कि हमें प्रत्यक्ष दिखता है परन्तु वह वस्तुतः प्रत्यक्षज्ञान नहीं है और उसका परोक्षज्ञान भी सच्चा नहीं है। प्रत्यक्षज्ञान तो आत्मा का है, उस आत्मा को स्व-संवेदन से प्रत्यक्ष किये बिना पर का ज्ञान, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सच्चा नहीं होता। यदि निमित्त से कार्य होता हो तो निमित्त के अभाव में वह कार्य नहीं रह सकता। जैसे, यदि कारीगर से मकान होता हो तो कारीगर के अभाव में मकान नहीं रहना चाहिए परन्तु मकान तो कारीगर के अभाव में भी टिक रहा है; इसलिए कारीगर के कारण मकान नहीं होता — ऐसा यथार्थ ज्ञान कब होता है ? जिसका प्रत्यक्षज्ञान है, ऐसे आत्मा को स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष किया हो, तब ही परोक्ष अनुमान यथार्थ होता है।

देखो, कथनपद्धति के आधार से उस कथन करनेवाले के ज्ञान का माप सम्यग्ज्ञानी कर लेता है, वह परोक्ष अनुमानज्ञान है, वह भी एक प्रकार का नय है।

पहले श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहा था। यहाँ अनुमान का स्वरूप कहा है। अन्य के शरीर में रहनेवाला जीव, छद्मस्थ को प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं होता/ज्ञात नहीं होता परन्तु जिसे आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान हुआ हो, वह जीव स्पर्श, रस, वाणी, श्रवण, गमनागमन आदि के आधार पर आत्मा को जान लेता है — इसका नाम अनुमान है। सभी नय तो परोक्ष ही हैं और अनुमान भी परोक्ष है, ये सभी श्रुतज्ञान के प्रकार हैं। देखो, परोक्ष होने पर भी ये यथार्थ हैं। साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है और वह भी नय है। वह भी परोक्ष-प्रमाण का भेद है। नय, स्वार्थ और परार्थ के भेद से तथा हेतु चिह्न इत्यादि के भेदों से अनेक प्रकार के हैं।

विशेष-विशेष प्रकार से वस्तु का ज्ञान करने में निर्मलता और स्वाश्रयभाव बढ़ता जाता है; इसलिए सामान्यज्ञान से विशेषज्ञान बलवान है। सामान्यस्वभाव का आश्रय अलग बात है। यहाँ सामान्य का अर्थ संक्षिप्त ज्ञान है। उस संक्षिप्त ज्ञान से विशेष-विशेष प्रकार का ज्ञान करने में अधिक दृढ़ता है परन्तु सामान्य अर्थात् त्रिकालीस्वभाव और विशेष अर्थात् पर्याय में तो सामान्य का ही आश्रय करना है। सामान्यद्रव्य का आश्रय करने से, पर्याय का आश्रय बलवान है — ऐसा नहीं कहा गया है। जिस जीव को ज्ञान अर्थात् विशेष जानना उलझन लगती हो और अकेले सामान्यज्ञान अर्थात् संक्षिप्त जानकारी में ही सन्तुष्ट हो गया हो, उससे कहते हैं कि सामान्यज्ञान की अपेक्षा विशेष-विशेष प्रकार से ज्ञान करना बलवान है; इसीलिए यहाँ नयों के भेदों का कथन है।

●●

गाथा २६८

अब, नय के भेदों को कहते हैं —

सो संगहेण एक्को, दुविहो वि य दव्वपज्जएहिंतो।
तेसिं च विसेसादो, णइगमपहुदी हवे णाणं॥

सामान्य से नय एक हैं, दो द्रव्य-पर्यायार्थिक।
इनके अनेक विशेष नैगम, आदि नय सब ज्ञान हैं॥

अन्वयार्थ : [सो संगहेण एक्को] वह नय संग्रह करके कहिये तो (सामान्यतया) एक है **[य दव्वपज्जएहिंतो दुविहो वि]** और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का है **[तेसिं च विसेसादो णइगमपहुदी णाणं हवे]** और विशेषकर उन दोनों की विशेषता से नैगमनय को आदि देकर हैं, सो नय हैं और वे ज्ञान ही हैं।

गाथा २६८ पर प्रवचन

देखो, ज्ञान की अनन्त-अनन्त विशालता है। ज्ञान में अनन्त पहलू पड़ते हैं अर्थात् अनन्त प्रकार के नय हैं परन्तु उनमें संग्रहरूप से नय एक हैं और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक — ऐसे भेद से दो प्रकार के नय हैं तथा विशेषरूप से नयों के नैगमनय इत्यादि अनेक प्रकार हैं — ये सब नय, ज्ञान ही हैं।

देखो, यहाँ द्रव्यार्थिकनय कहा है, वह समयसार से अलग शैली का है। यह सब आगम के नय हैं। यहाँ कहा गया द्रव्यार्थिकनय भी द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो व्यवहारनय ही है। समयसार में तो जो द्रव्य, दृष्टि का विषय है, वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है परन्तु यहाँ वैसा नहीं है। ●●

गाथा २६९-२७०

अब, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं —

जो साहदि सामण्णं, अविणाभूदं विसेसरूवेहिं।
णाणाजुत्तिबलादो, दव्वत्थो, सो णओ होदि॥
जो साहेदि विसेसे, बहुविह-सामण्ण संजुदे सव्वे।
साहणलिंगवसादो, पज्जयविसयो णओ होदि॥

साधता सामान्य, अविनाभूतरूप विशेष का।
बहुभाँति युक्ति द्वार से, द्रव्यार्थिक नय जानना॥
बहुभाँतिमय सामान्य सहित, विशेष को जो जानता।
लिङ्ग द्वारा साधना, पर्याय – अर्थी नय कहा॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो नय वस्तु को [**विसेसरूवेहिं**] विशेषरूप से [**अविणाभूदं**] अविनाभूत [**सामण्णं**] सामान्यस्वरूप को [**णाणाजुत्तिबलादो**] अनेक प्रकार की युक्ति के बल से [**साहदि**] सिद्ध करता है, [**सो दव्वत्थो णओ होदि**] वह द्रव्यार्थिकनय है।

[**जो**] जो नय [**बहुविहसामण्ण संजुदे सव्वे विसेसे**] अनेक प्रकार सामान्यसहित सर्व विशेष को, [**साहणलिंगवसादो साहेदि**] उनके साधन के लिङ्ग के वश से सिद्ध करता है, [**पज्जयविसयो णओ होदि**] वह पर्यायार्थिकनय है।

भावार्थ : वस्तु का स्वरूप, सामान्य-विशेषात्मक है। विशेष के बिना सामान्य नहीं होता; इस प्रकार युक्ति के बल से सामान्य को साधनेवाला, द्रव्यार्थिकनय है।

जो सामान्यसहित विशेषों को हेतु से सिद्ध करता है, वह पर्यायार्थिकनय है; जैसे, सत् सामान्यसहित चेतन-अचेतनत्व विशेष है, चित् सामान्य से संसारी-सिद्ध जीवत्व विशेष है, संसारीत्व सामान्यसहित त्रस-स्थावर जीवत्व विशेष है, इत्यादि। अचेतन सामान्यसहित पुद्गल आदि पाँच द्रव्य, विशेष हैं। पुद्गल सामान्यसहित अणु-स्कन्ध, घट-पट आदि विशेष हैं — इत्यादि पर्यायार्थिकनय हेतु से सिद्ध करता है।

गाथा २६९-२७० पर प्रवचन

नैगमनय में बहुत सूक्ष्मता है। कई बार दो पर्यायों को संग्रह करके उसे द्रव्य कह दे, वह भी नैगमनय का विषय है। सामान्य-विशेषरूप वस्तु के भानपूर्वक युक्ति के बल से सामान्य वस्तुस्वरूप को जाननेवाला द्रव्यार्थिकनय है। उसके भी अनेक प्रकार हैं, वे आगे कहे जायेंगे। नैगम, संग्रह और व्यवहार, ये तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के हैं।

देव कैसे होते हैं ? गुरु कैसे होते हैं ? शास्त्र कैसे होते हैं ? — ऐसा निर्णय करना हो, वहाँ उसे व्यवहार कहकर निकाल दे और देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ निर्णय किये बिना एकान्त निश्चय की बात करे तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। उसे निश्चय अथवा व्यवहार एक का भी भान नहीं है।

यहाँ नयों का वर्णन चल रहा है। वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित आगम में प्रत्येक पदार्थ के सामान्य-विशेषस्वरूप का ज्ञान कराते हैं, उसे जानकर, अपने शुद्ध ज्ञानानन्द ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन लेना ही धर्म है। सामान्यरूप से छह द्रव्य हैं और उनके गुण-पर्यायों को जानकर, अपने स्वभाव की दृष्टि करने से वह ज्ञान सम्यक्‌रूप परिणमित हो जाता है। देखो, इसमें सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। यह समझने में प्रमाद नहीं आना चाहिए किन्तु इस बात को समझने में तो ज्ञान की विशालता है। यह सब जानने का प्रयोजन तो चिदानन्दस्वभाव की ओर झुकना ही है।

अब, पर्यायार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं।

यहाँ सामान्य में भेद करने को पर्यायार्थिकनय कहा है और आगे सात नयों में ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत — इन चार नयों का पर्यायार्थिकनय के रूप में वर्णन करेंगे और

सत् इत्यादि को द्रव्यार्थिकनय में लेंगे। जिसमें कालभेद नहीं पड़ता, वह सब द्रव्यार्थिकनय का विषय लेंगे और जिसमें एक समय के काल का भेद पड़ता है, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

सत् की अपेक्षा से सभी द्रव्य, सत् हैं; इसलिए वे सामान्य हैं और उनमें चेतन-अचेतन — ऐसे दो भेद करना, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। सामान्य में भेद किया, इसलिए पर्यायार्थिकनय हुआ। आगे उसे द्रव्यार्थिकनय के विषय में गिनकर संग्रहनय में गिनेंगे तथा सामान्य चेतनस्वभाव की अपेक्षा से सभी जीव, चेतन हैं, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है और उसमें कोई सिद्ध तथा कोई संसारी — ऐसे दो भेद हैं, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है।

देखो, यह शास्त्र बहुत पुराना है। इतिहासकार तो कहते हैं कि यह शास्त्र समयसार से भी लगभग दो सौ वर्ष पुराना है अर्थात् लगभग २२०० वर्ष पुराना शास्त्र है। इसमें सन्तों ने सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित रहस्य भर दिया है।

सात नयों के वर्णन में तो सामान्य संग्रह करके सत् को संग्रहनय का विषय कहेंगे और उसमें जीव-अजीव, ऐसे भेद करने को व्यवहारनय का विषय कहेंगे; इसलिए ये दोनों द्रव्यार्थिकनय में समाहित होते हैं परन्तु यहाँ दूसरी विवक्षा से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों का वर्णन किया है। सामान्य वर्णन, वह द्रव्यार्थिकनय और उस सामान्य के विशेष भेद करना, वह पर्यायार्थिकनय है। संसारी जीव अपेक्षा से त्रस-स्थावर सभी जीव उसमें समाहित हो जाते हैं, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है और उस सामान्य को लक्ष्य में रखकर उसके त्रस-स्थावर इत्यादि भेद करना, वह विशेष है और वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। कोई सामान्य सत् को मानता है परन्तु उसमें छह द्रव्यों में विशेष भेद हैं, उन्हें नहीं मानता अर्थात् एक भी द्रव्य को कम मानता है तो वह सर्वज्ञ का मार्ग नहीं है।

अचेतन सामान्यपने की अपेक्षा से पाँच द्रव्य आ जाते हैं और उसमें पुद्गल इत्यादि विशेष भेद हैं तथा पुद्गल सामान्य है, उसमें परमाणु और स्कन्ध के भेद करना विशेष है। इस प्रकार विशेष अर्थात् भेद वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। ●●

गाथा २७१

अब, द्रव्यार्थिकनय के भेदों को कहेंगे। उनमें पहिले नैगमनय का स्वरूप कहते हैं —

जो साहेदि अदीदं, वियप्परुवं भविस्समट्ठं च।
संपडिकालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेयो॥

जो साधता है भूत-भावी, और सम्प्रतिकाल को।
सङ्कल्पग्राही मात्र नैगम नय, उसे तुम जान लो॥

अन्वयार्थ : [जो] जो नय **[अदीदं]** अतीत **[भविस्समट्ठं च]** भविष्यत **[संपडिकालाविट्ठं]** तथा वर्तमान को **[वियप्परूवं साहेदि]** सङ्कल्पमात्र सिद्ध करता है, **[सो हु णआ णेगमो णेयो]** वह नैगमनय है।

भावार्थ : द्रव्य, तीन काल की पर्यायों से अन्वयरूप है, उसको अपना विषयकर अतीतकाल पर्याय को भी वर्तमानवत् सङ्कल्प में ले; आगामी पर्याय को भी वर्तमानवत् सङ्कल्प में लें; वर्तमान में निष्पन्न को तथा अनिष्पन्न को निष्पन्नरूप सङ्कल्प में लें, ऐसे ज्ञान तथा वचन को नैगमनय कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं।

सब नयों के विषयों को मुख्य–गौण कर अपना सङ्कल्परूप विषय करता है। उदाहरण – जैसे, इस मनुष्य नामक जीवद्रव्य के संसारपर्याय है, सिद्धपर्याय है, और यह मनुष्यपर्याय है, ऐसा कहें तो संसार अतीत, अनागत, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी भी है, सिद्धत्व अनागत ही है, मनुष्यत्व वर्तमान ही है परन्तु इस नय के अभिप्राय में विद्यमान सङ्कल्प करके परोक्ष अनुभव में लेकर कहते हैं कि इस द्रव्य में मेरे ज्ञान में अभी यह पर्याय भासती है — ऐसे सङ्कल्प को नैगमनय का विषय कहते हैं। इनमें से मुख्य–गौण किसी को कहते हैं।

गाथा २७१ पर प्रवचन

अब, द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद — नैगम, संग्रह और व्यवहार का वर्णन करते हैं। उनमें नैगमनय का स्वरूप इस प्रकार है।

अहो! मानो अभी ही साक्षात् भगवान समीप विराजमान हों और दिव्यध्वनि सुनाते हों — ऐसे पूर्वकाल को वर्तमानरूप ही लक्ष्य में लेना नैगमनय है।

भूतकाल में भगवान का साक्षात् उपदेश सुना हो, उसे ज्ञान के बल से वर्तमान में जोड़ देना कि अहो! हम अभी ही भगवान के सन्मुख बैठे हैं और भगवान की वाणी सुन रहे हैं; इस प्रकार काल के भेद तोड़कर, भूतकाल की पर्याय को वर्तमानपने साधना, वह नैगमनय है। भूतकाल में भगवान के समीप साक्षात् दिव्यध्वनि सुनी हो, वहाँ उसे मुख्य करके वर्तमान में यह कहना कि अहो! हम भगवान के पास बैठे हैं और भगवान की वाणी सुन रहे हैं, गणधर सन्त विराजमान हैं; इस प्रकार भूतकाल को वर्तमानरूप जानना, वह नैगमनय है। इसमें ज्ञान का पुरुषार्थ है। ज्ञानी को ही ऐसे नय होते हैं।

इसी प्रकार भूतकाल में गिरनारपर्वत से नेमिनाथ भगवान मोक्ष पधारे, उसे वर्तमान में ही स्मरण करके कहना कि अहो! भगवान यहीं से मोक्ष पधारे हैं। यह नय, ज्ञान के बल से भूतकाल को वर्तमानरूप जानता है। अहो! मानो मेरे सन्मुख ही नेमिनाथ भगवान, गिरनारपर्वत से ऊर्ध्वगमन कर रहे हों, इस प्रकार अपने ज्ञान में कालभेद निकालकर जानना, नैगमनय है।

संसारपर्याय है, सिद्धपर्याय है तथा यह मनुष्यपर्याय है — ऐसा कहें तो वहाँ संसार पर्याय तो अतीत, अनागत, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी भी है। सिद्धपना अनागत ही है और मनुष्यपना वर्तमान ही है, फिर भी इस नय के वचन के अभिप्राय में वर्तमान विद्यमानवत् सङ्कल्प से परोक्षरूप अनुभव में लेकर कहते हैं कि इस द्रव्य में मेरे ज्ञान में अभी यह पर्याय भासित होती है — ऐसे सङ्कल्प को नैगमनय का विषय कहते हैं। इसमें से किसी को मुख्य तथा किसी को गौणरूप कहते हैं।

तीर्थङ्करों की प्रतिमा के समक्ष स्तुति करते हुए पूर्व में देखे हुए साक्षात् तीर्थङ्कर का वर्तमान में आरोप करके, उनकी साक्षात् तीर्थङ्कररूप में वर्तमान में स्तुति करते हैं कि हे नाथ!

आपके पास अनन्त केवलज्ञान का खजाना है, उसमें से मुझे दो। हे नाथ! कृपा करो! हे प्रभु! एक बार तो दिव्यध्वनि सुनाओ। इस प्रकार भगवान के समक्ष प्रार्थना करते हैं। जिसे स्वभाव का भान हुआ है, उसे भगवान के प्रति भक्ति का उल्लास आ जाता है और वह भगवान की स्तुति करते हुए कहता है कि हे नाथ! हम दोनों साथ ही संसार में परिभ्रमण करते थे और आप मोक्ष में पधार गये हैं, मैं संसार में ही परिभ्रमण कर रहा हूँ — यह नहीं चलेगा। मुझे भी मोक्षदशा प्रदान करो। ज्ञानी, जिन प्रतिमा को जिनेन्द्र के समान ही देखता है, उसमें सन्देह करनेवाला मूर्ख है। अपने ज्ञान में भगवान को वर्तमानरूप लक्ष्य में लेकर स्वयं पुरुषार्थ करता है।

जिसकी अल्प भवस्थिति रही हो, वही जीव जिनप्रतिमा को जिनेन्द्र के समान जानता है। जिसे स्वयं को अपने स्वभाव की उग्रता हुई है, तब सामने भगवान को भी साक्षात् जानता है। पूर्व में भगवान देखे हों और वर्तमान में विरह हो परन्तु नैगमनय के बल से मानो वर्तमान में ही भगवान साक्षात् हों — ऐसा सङ्कल्प करके ज्ञानी उस विरह को तोड़ देता है।

भविष्य में सिद्ध होनेवाले जीव को देखे तो ज्ञानी/सम्यग्ज्ञानी कहता है कि अहो! मेरे ज्ञान में इस द्रव्य की सिद्धपर्याय वर्तमान में भासित होती है। तीर्थङ्कर का आत्मा जन्म ले, वहाँ 'यह तीर्थङ्कर है' — ऐसा भावी नैगमनय से जानकर, इन्द्र-इन्द्राणी उनकी भक्ति करते हैं और इन्द्र एक हजार नेत्र बनाकर उनके दिव्यरूप को निहारता है। **अहो! अन्दर में चेतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को निहारनेवाले इन्द्र को भी जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्ति उल्लसित होने पर, वह एक हजार नेत्र बनाकर भगवान के दिव्यरूप को निहारता है** और कहता है, हे नाथ! जगत् में जितने शान्त-शान्त-शीतल सुन्दर परमाणु थे, वे सब आपकी देहरूप परिणमित हो गये हैं। यद्यपि जन्म से ही वह जीव तीर्थङ्कर नहीं हैं; तीर्थङ्करप्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में आयेगा, तथापि उनको वर्तमान में ही तीर्थङ्कररूप से निहारकर उनकी भक्ति करते हैं, इसमें भी नैगमनय है।

भाई! जहाँ ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति हुई है, वहाँ यथार्थ वीतरागी देव-गुरु के प्रति प्रेम और भक्ति उल्लसित होती है। वहाँ भक्ति करते हुए भक्त कहता है कि हे नाथ! आपके

चरणकमल के प्रसाद से मैं संसार से पार हो गया हूँ। इस प्रकार अपने भाव का उन पर आरोप करके कहता है। इस प्रकार नैगमनय के बहुत-बहुत प्रकार होते हैं।

देखो, जहाँ तीर्थङ्कर का जन्म होता है, वहाँ इन्द्र-इन्द्राणी आकर ताण्डव नृत्य करते हैं। शरीर को लचीला करके भक्ति से नाचते हैं। इन्द्र, क्षायिकसम्यग्दृष्टि है। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों एकावतारी हैं परन्तु उन्हें भी तीर्थङ्कर भगवान के प्रति ऐसा भक्ति का भाव उल्लसित होता है। जब से बालक का जन्म हुआ, तभी से उन्हें तीर्थङ्कररूप में देखते हैं। सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान में ऐसा नैगमनय होता है। भक्ति का उल्लास आने पर भावी तीर्थङ्कर को वर्तमानरूप देखते हैं। अहो नाथ! आप तीर्थङ्कर हो — ऐसा नैगमनय से ज्ञान को विस्तरित करके कालभेद को तोड़ देते हैं — इत्यादि अनेक प्रकार के नैगमनय जानना चाहिए। नैगमनय, द्रव्यार्थिकनय का एक प्रकार है। ●●

धर्मात्मा को सग्रन्थदशा और निर्ग्रन्थदशा का विवेक

जिस प्रकार सज्जन पुरुष, रोटी और माँस में अथवा पत्नी और माता में विवेक करते हैं; उसी प्रकार धर्मात्मा को परिग्रहसहित सग्रन्थदशा और परिग्रहरहित निर्ग्रन्थदशा में भेद का विवेक होता है।

हे जीव! यदि तुझसे कदाचित् उत्तम मुनिदशा का पालन न हो सके तो भी उसका स्वरूप तो जैसा है, वैसा समझना, विपरीत नहीं मानना। जो वस्त्रसहित मुनिदशा मानता है, वह जैनधर्म के साधु को नहीं पहचानता, उसे जैनधर्म के गुरुतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। **बापू! जैन मुनियों की दशा कोई अलौकिक है। जिनके रोम-रोम में से वीतरागता छलकती है – ऐसे मुनिराज कायर हैं क्या, जो ठण्ड या गरमी से बचने के लिए वस्त्र ओढ़ें? वे तो उपसर्ग और परीषह को समभाव से सहज स्वीकार करनेवाले वीर हैं।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २८

गाथा २७२

अब, संग्रहनय का स्वरूप कहते हैं —

जो संगहेदि सव्वं, देसं वा विविहदव्वपज्जायं।
अणुगमलिंगविसिट्ठं, सो वि णयो संगहो होदि॥

संग्रह करे जो द्रव्य पर्यायों, सहित सब भेद का।
विशिष्ट अन्वय लिङ्ग से जो, उसे संग्रहनय कहा॥

अन्वयार्थ : [जो] जो नय, **[सव्वं]** सब वस्तुओं को **[वा]** तथा **[देसं]** देश अर्थात् एक वस्तु के भेदों को **[विविहदव्वपज्जायं]** अनेक प्रकार द्रव्यपर्यायसहित **[अणुगमलिंगविसिट्ठं]** अन्वय लिङ्ग से विशिष्ट **[संगहेदि]** संग्रह करता है — एक स्वरूप कहता है, **[सो वि णयो संगहो होदि]** वह संग्रहनय है।

भावार्थ : सब वस्तुएँ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षण सत् के द्वारा द्रव्य-पर्यायों से अन्वयरूप एक सत्मात्र हैं। सामान्य सत्स्वरूप द्रव्यमात्र है, विशेष सत्रूप पर्यायमात्र है; जीववस्तु (द्रव्य) चित् सामान्य से एक है , सिद्धत्व सामान्य से सब सिद्ध एक हैं, संसारित्त्व सामान्य से सब संसारी जीव एक हैं, इत्यादि। अजीव सामान्य से पुद्गलादि पाँच द्रव्य एक अजीव द्रव्य हैं, पुद्गलत्व सामान्य से अणु-स्कन्ध-घटपटादि एक द्रव्य हैं इत्यादि संग्रहरूप कहता है, वह संग्रहनय है।

गाथा २७२ पर प्रवचन

अब, संग्रहनय का स्वरूप कहते हैं।

सामान्य-विशेष अनेक प्रकार होते हैं, उनमें भेद किये बिना सामान्य संग्रह से सबका एकरूप कथन करना, वह संग्रहनय है।

आशय यह है कि सिद्ध और संसारी इत्यादि भेदों का संग्रह करके 'जीव हैं' — यह कहना संग्रहनय का विषय है, यह भी द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

देखो, यहाँ नयों के बहुत-बहुत पहलू हैं, यदि यह समझ में न आवे तो ऐसा बहुमान आना चाहिए कि सन्त तो ज्ञान के समुद्र हैं, उन्होंने ऐसी अलौकिक बातें की हैं परन्तु मैं अपनी मन्दबुद्धि के कारण नहीं समझ सकता हूँ। ●●

हे माता! हमें संयम धारण करने की अनुमति प्रदान करो!!

आठ वर्ष के बालक को भी सम्यग्दर्शन तथा आत्मज्ञान होता है। चक्रवर्ती के राजकुमार मानों पुण्य की मूर्ति - उन्हें अन्तर में आत्मज्ञान होता है और अन्तर से दीक्षा ग्रहण करने की भावना जागृत होती है, तब वे माता के पास आज्ञा लेने जाते हैं और कहते हैं – 'हे माता! हमें संयम धारण करने की अनुमति दो! हमें अन्तर में आनन्द का स्वाद तो आया है, परन्तु उस अतीन्द्रिय आनन्द की उग्रसाधना करने के लिए दीक्षा लेना है, हमें वन में जाना है। वे माता से कहते हैं –

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवण्णा ण पुणब्भवामो।
अणागयं णेव य अत्थि किंची, सद्धा खमं णे विणहत्तु रागं॥

हे माता! हम आज ही भगवती दीक्षा अङ्गीकार करेंगे।' माता रोती है, आज्ञा नहीं दे सकती। पुत्र कहते हैं – **'माता! एक बार रोना हो तो रो ले, परन्तु अब हम अपने आनन्दस्वरूप की साधना हेतु जा रहे हैं। हम शपथ लेते हैं कि अब हम दूसरी माता नहीं करेंगे। अब हमें भव नहीं हैं, इसी भव में मुक्तिरमा का वरण करेंगे।'**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, भाग २, पृष्ठ २१०

गाथा २७३

अब, व्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं —

जो संगहेण गहिदं, विसेसरहिदं पि भेददे सददं।

परमाणूपज्जंतं, ववहारणओ हवे सो हु॥

संग्रह ग्रहीत विशेष विरहित, वस्तु को जो नय सदा।

है भेदता परमाणु तक, व्यवहारनय वह जानना॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जिस नय ने [**संगहेण**] संग्रहनय से [**विसेसरहिदं पि**] विशेषरहित वस्तु को [**गहिदं**] ग्रहण किया था, उसको [**परमाणूपज्जंतं**] परमाणु पर्यन्त [**सददं**] निरन्तर [**भेददे**] भेदता है, [**सो हु ववहारणओ हवे**] वह व्यवहारनय है।

भावार्थ : संग्रहनय, सर्व सत् सबको कहा है, वहाँ व्यवहार भेद करता है, सो सत्द्रव्यपर्याय है। संग्रहनय, द्रव्यसामान्य को ग्रहण करे, उसमें व्यवहारनय भेद करता है। द्रव्य, जीव-अजीव दो भेदरूप हैं। संग्रहनय, जीवसामान्य को ग्रहण करता है, उसमें व्यवहार भेद करता है। जीव, संसारी-सिद्ध दो भेदरूप है इत्यादि। संग्रहनय, पर्यायसामान्य को संग्रहण करता है, उसमें व्यवहार भेद करता है। पर्याय, अर्थपर्याय-व्यञ्जनपर्याय दो भेदरूप है, ऐसे ही संग्रहनय, अजीवसामान्य को ग्रहण करे, उसमें व्यवहारनय भेद करके, अजीव पुद्गलादि पाँच द्रव्य भेदरूप कहता है। संग्रहनय, पुद्गलसामान्य को ग्रहण करता है, उसमें व्यवहारनय अणु-स्कन्ध, घट-पट आदि भेदरूप कहता है। इस तरह, जिसको संग्रहनय ग्रहण करे, उसमें जहाँ तक भेद हो सके, करता चला जाए, वहाँ तक संग्रह व्यवहार का विषय है। इस तरह तीन द्रव्यार्थिकनय के भेद में दो का वर्णन किया।

गाथा २७३ पर प्रवचन

संग्रहनय ने सामान्य ग्रहण किया, उसमें व्यवहारनय भेद करता है — यह बात अब कहते हैं।

'सभी जीव हैं' — ऐसा कहा — यह तो संग्रहनय का विषय हुआ और उसमें सिद्ध तथा संसारी इत्यादि भेद करना, व्यवहारनय का विषय है। 'सभी सत् है' — ऐसा संग्रहनय ने जाना, उस सत् के द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत् — ऐसे भेद करके व्यवहारनय जानता है। सामान्य सत् कहा, वह संग्रहनय का विषय है और उसमें द्रव्यसत्, पर्यायसत् इत्यादि भेद करना, व्यवहारनय का विषय है। यह नय भी द्रव्यार्थिकनय में समाहित होता है।

द्रव्यार्थिकनय के नैगम, संग्रह और व्यवहार — ऐसे तीन प्रकार हैं, उनमें से यहाँ व्यवहारनय का वर्णन चल रहा है।

संग्रहनय ने सामान्यरूप से समस्त पदार्थों का ग्रहण किया, उसमें से विशेष भेद करके ग्रहण करना व्यवहारनय है। समानरूप से सब सत् होने पर भी उसमें सामान्य-विशेष, द्रव्य-गुण-पर्याय, जीव-अजीव — ऐसे भेद भी हैं। जो सर्वथा सामान्य को ही मानता है किन्तु विशेष को न मानता है तो उसे सच्चे नय नहीं होते। सम्यग्ज्ञान से यथार्थ वस्तु को जानने के पश्चात्, ज्ञानी जीव ऐसे नयों से वस्तु का चिन्तवन करता है। कोई पूर्व में राजा हो और अभी राजगद्दी से हट गया हो, फिर भी उसे वर्तमान में राजा कहा जाता है — ऐसा नैगमनय का विषय है। भविष्य की सिद्धपर्याय को वर्तमान में लक्ष्य में लेकर यह जानना कि 'मैं सिद्ध हूँ' — ऐसा भी नैगमनय है।

संग्रहनय, समस्त पदार्थों को सामान्यरूप से ग्रहण करता है और व्यवहारनय, उनमें भेद करता है। जीव-अजीव इत्यादि सभी द्रव्य हैं; इस प्रकार सामान्य द्रव्यरूप से सब को ग्रहण करना संग्रहनय है और उसमें यह जीव है, यह अजीव है — ऐसे भेद करना, वह व्यवहारनय है। जैसे, 'जीव हैं' — ऐसा संग्रहनय से ग्रहण किया और उनमें संसारी और सिद्ध — ऐसे भेद करना, वह व्यवहारनय है।

'पर्यायें हैं' — ऐसा ग्रहण किया, वह सामान्य संग्रहनय का विषय हुआ। देखो, इसमें

अनन्त पर्यायों को इकट्ठे ग्रहण की होने से वह द्रव्यार्थिकनय का विषय हो जाता है और उसमें अर्थपर्यायों और व्यञ्जनपर्यायों का भेद करना व्यवहारनय है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भेद करना व्यवहारनय का विषय है। तात्पर्य यह है कि संग्रहनय से ग्रहण किये हुए विषय में भेद करना व्यवहारनय है।

देखो, यह आगमशैली के नय हैं। यहाँ छहों द्रव्य, द्रव्यार्थिकनय का विषय हैं क्योंकि यह तो लोक के पदार्थों की भावना अर्थात् लोकभावना का वर्णन है और समयसार में तो शुद्ध अभेद आत्मा को ही द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है क्योंकि वहाँ आध्यात्मिकशैली के नय हैं। यहाँ कहे गये सातों नय, अध्यात्मदृष्टि में तो व्यवहार हैं।

संग्रहनय में अजीव पदार्थ हैं — ऐसा ग्रहण किया, उनमें पुद्‍गल आदि पाँच द्रव्यों का भेद डालकर व्यवहारनय जानता है; फिर पुद्‍गलद्रव्य को सामान्यरूप से संग्रहनय ग्रहण करता है, तब व्यवहारनय उसमें स्कन्ध और परमाणु, घट-पट इत्यादि भेद करके जानता है। इस प्रकार भेद करते-करते ठेठ एक परमाणु तक भेद करके व्यवहारनय ग्रहण करता है। जहाँ तक सूक्ष्म भेद पड़ते हैं, वहाँ तक व्यवहारनय है।

देखो, एक ओर सम्पूर्ण जगत् सत् है — ऐसा संग्रहनय में ग्रहण किया और उसमें प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न है, इस प्रकार भेद करके व्यवहारनय ने जाना; इसलिए सम्पूर्ण जगत् से लेकर एक परमाणु तक के पदार्थ नय के विषय में आ गये।

देखो, यह ज्ञान की सामर्थ्य! सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। ज्ञानी जीव, सर्वज्ञदेव द्वारा कथित वस्तुस्वरूप के ज्ञानसहित इसका विशेष स्पष्ट चिन्तवन करता है। जो जीव इस वस्तुस्वरूप को नहीं जानता, वह चौरासी के जन्म-मरण में परिभ्रमण करता है। ***अहो! जो भाग्यशाली हो, उसे ही यह बात कान में पड़ती है और पुरुषार्थशाली को अन्दर में परिणमित हो जाती है। इस बात को समझकर अन्दर में परिणमित करानेवाले का सच्चा कल्याण होता है।***

देखो, अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय — ऐसी दोनों पर्यायें, छहों द्रव्यों में हैं, यह सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष देखा है। आकाश की व्यञ्जनपर्याय विशाल है और कालाणु की व्यञ्जनपर्याय छोटी

है, तथापि दोनों में अपने-अपने अनन्त गुण समान हैं। दो जीवों को केवलज्ञान हुआ हो, वहाँ दोनों की अर्थपर्याय समान है, तथापि एक की व्यञ्जनपर्याय सात हाथ की होती है और दूसरे की व्यञ्जनपर्याय (समुद्घात के समय) लोक जितनी होती है। व्यञ्जनपर्याय में इतना अधिक अन्तर होने पर भी दोनों की अर्थपर्याय की सामर्थ्य एक समान है अर्थात् दोनों का केवलज्ञान एक समान है।

देखो, केवलज्ञान हुआ हो, तब सात हाथ की व्यञ्जनपर्याय हो; तत्पश्चात् समुद्घात करे तो वहाँ व्यञ्जनपर्याय पलटकर दण्ड-कपाट-प्रतर और लोकपूरणरूप होती है और फिर वापस सात हाथ की व्यञ्जनपर्याय हो जाती है; इस प्रकार व्यञ्जनपर्याय में परिवर्तन होने पर भी केवलज्ञानादि अर्थपर्यायें तो ऐसी की ऐसी रहती हैं। वस्तु में अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय — ऐसी दोनों प्रकार की पर्यायें हैं। केवलज्ञान अर्थपर्याय है। किस समय, कैसी व्यञ्जनपर्याय होगी? वह केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है। आकाश में जितने गुण हैं, उतने ही गुण एक परमाणु में हैं और व्यञ्जनपर्याय की अपेक्षा से परमाणु से आकाश की पर्याय अनन्तगुनी विस्तृत है। 'पर्याय है' — ऐसा सामान्यरूप से ग्रहण करना, वह संग्रहनय है और उसमें अर्थपर्याय, व्यञ्जनपर्याय के भेद करना, वह व्यवहारनय है।

अजीवद्रव्य हैं — ऐसा सामान्य ग्रहण किया, वह संग्रहनय है और उसमें पाँच भेद डालकर, पाँचों अजीव द्रव्यों को भिन्न-भिन्न जानना, वह व्यवहारनय है।

देखो, अजीव के पाँच भेद हैं, उन्हें सम्पूर्णतः न माने अर्थात् एक भी द्रव्य कम माने तो व्यवहारनय का विषय भी पूरा नहीं होता है। ●●

गाथा २७४

अब, पर्यायार्थिकनय के भेद कहेंगे, उनमें पहले ही ऋजुसूत्रनय का स्वरूप कहते हैं —

जो वट्टमाणकाले, अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं।
संतं साहदि सव्वं, तं वि णयं रिजुणयं जाण॥

जो वस्तु अर्थपर्यायमय, परिणमित है वर्तमान में।
सत्‌रूप को जो साधता, ऋजुसूत्रनय वह जानिये॥

अन्वयार्थ : [जो वट्टमाणकाले] जो नय, वर्तमानकाल में **[अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं]** अर्थपर्यायरूप परिणत पदार्थ को **[सव्वं संतं साहदि]** सबको सत्‌रूप सिद्ध करता है, **[तं वि णयं रिजुणयं जाण]** वह ऋजुसूत्रनय है।

भावार्थ : वस्तु, समय समय परिणमन करती है; अतः एक समय की वर्तमानपर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं, यह इस ऋजुसूत्रनय का विषय है। यह नय, इतनीमात्र ही वस्तु को कहता है। घड़ी मुहूर्त आदि काल को भी व्यवहार में वर्तमान कहते हैं, वह उस वर्तमान कालस्थायी पर्याय को भी सिद्ध करता है; इसलिए स्थूल ऋजुसूत्र संज्ञा है।

इस प्रकार तीन तो पूर्वोक्त और एक ऋजुसूत्रनय — यह चार नय तो अर्थनय कहलाते हैं।

गाथा २७४ पर प्रवचन

अब, पर्यायार्थिकनय के भेदों में प्रथम ऋजुसूत्रनय का स्वरूप कहते हैं।

वर्तमानपर्याय से ही वर्तमानपर्याय सत् है। जो भूत-भविष्य पर्याय को ग्रहण नहीं करके वर्तमानमात्र अर्थपर्याय को जानता है, वह ऋजुसूत्रनय है। 'कौआ काला' ऋजुसूत्रनय कहता है कि नहीं, क्योंकि कौआ में हड्डियाँ, खून इत्यादि के अनेक रङ्ग होते हैं। ऋजुसूत्रनय तो कहता

है कि जो काला है, वह काला है; जो सफेद है, वह सफेद है। वर्तमान एक समय की पर्याय जिसरूप हो, उसरूप ही ऋजुसूत्रनय कहता है। जो एक समयमात्र की पर्याय को जानता है, वह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और ऐसी की ऐसी एक समान बहुत काल स्थायी पर्याय को जानता है, वह स्थूल ऋजुसूत्रनय है; जैसे कि मनुष्यपर्याय। सिद्धदशा में भी प्रतिसमय का परिणमन है, उसे जो जानता है, वह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय है और सिद्धदशा सादि अनन्त रहती है, उसे जो जानता है, वह स्थूल ऋजुसूत्रनय है।

नैगम, संग्रह, व्यवहार — ये तीन द्रव्यार्थिकनय के भेद और एक यह ऋजुसूत्रनय मिलकर चारों नयों को अर्थनय कहते हैं। ●●

चैतन्य-सम्पत्ति के साधक मुनिराज

चैतन्य के साधक मुनिराज, निजानन्द वस्तु में झूलते हुए विचरण करते हैं। चक्रवर्ती जैसे राजा-महाराजा आकर भक्ति से उनकी सेवा करें, तो भी उससे मुनिराज अपनी महत्ता नहीं मानते। अरे! हमारे चैतन्य की अनन्त गुण सम्पत्ति, उसके सामने इन्द्र अथवा चक्रवर्ती की सम्पत्ति की क्या कीमत है? बाह्य की यह सम्पत्ति तो गुण की विकृति के एक विकल्प का अर्थात् शुभराग का फल है। निर्विकार अनन्त गुणों की अचिन्त्य महिमा तो अन्दर में समाहित है। उसका फल बाहर में नहीं आता। हमारा आत्मा इस अपार अतीन्द्रिय आनन्द के वैभव से परिपूर्ण है। इसके अनुभव से ही हमारी महत्ता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मवैभव (गुजराती), पृष्ठ ३४७

गाथा २७५

अब, तीन शब्दनय कहेंगे, उनमें पहले शब्दनय का स्वरूप कहते हैं —

सव्वेसिं वत्थुणं, संखालिंगादि वहुपयारेहिं।
जो साहदि णाणत्तं, सद्दणयं तं वियाणेह॥

सब वस्तुओं के लिङ्ग संख्या, आदि विविध प्रकार को।
जो सिद्ध करता है उसे, तुम शब्दनय पहचान लो॥

अन्वयार्थ : [जो सव्वेसिं वत्थुणं] जो नय, सब वस्तुओं के **[संखालिंगादि बहुपयारेहिं]** संख्या, लिङ्ग आदि अनेक प्रकार से **[णाणत्तं]** अनेकत्व को **[साहदि]** सिद्ध करता है, **[तं सद्दणयं वियाणेह]** उसको शब्दनय जानना चाहिए।

भावार्थ : संख्या अर्थात् एकवचन-द्विवचन-बहुवचन; लिङ्ग अर्थात् स्त्री-पुरुष-नंपुसक; तथा आदि शब्द से काल, कारण, पुरुष, उपसर्ग लेने चाहिए। इनके द्वारा जो व्याकरण के प्रयोग पदार्थ को भेदरूप से कहते हैं, वह शब्दनय हैं। जैसे - पुष्प, तारका, नक्षत्र — एक ज्योतिषी विमान के तीनों लिङ्ग कहे लेकिन वहाँ व्यवहार में विरोध दिखाई देता है क्योंकि वही पुरुष लिङ्ग और वही स्त्री, नपुंसकलिङ्ग किस प्रकार होता है ? तथापि शब्दनय का यही विषय है, जो जैसा शब्द कहता है, वैसे ही अर्थ को भेदरूप मानना।

गाथा २७५ पर प्रवचन

अब, तीन प्रकार के शब्दनयों के पहले भेद शब्दनय का स्वरूप कहते हैं।

जो नय, व्याकरण के प्रयोग में एक वचनादि संख्या; स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिङ्ग आदि बहुत प्रकार से साधता है अर्थात् व्याकरण दोष दूर कर, जैसा शब्द है, वैसे ही अर्थ को

जानता है, वह शब्दनय है। शब्द द्वारा कथित भिन्न-भिन्न वाच्य को जानना, शब्दनय का कार्य है। कर्ता दूसरा और कर्म दूसरे में हो अर्थात् इच्छा कर्ता और शरीरादि की पर्याय कार्य — ऐसा नहीं है। परमार्थ से कर्ता-कर्म अलग नहीं हैं। शब्दनय, कर्ता अर्थ को कर्तारूप ही भेदरूप मानता है।

अध्यात्मदृष्टि में शब्दनय यह है कि ज्ञानी की निर्मलता प्रतिसमय बढ़ती जाती है। वाणी-विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु सूक्ष्मता से विकल्प को तोड़कर, अन्दर ज्ञान में एकाग्रता बढ़ती जाती है। ●●

अहो! मुनिदशा का वचनातीत अतीन्द्रिय आनन्द

मुनियों का उपयोग क्षण-क्षण में अन्तर्मुख होता है अर्थात् उन्हें निर्विकल्प ध्यान होता है। ध्यान के समय वे शान्ति के वेदन में ऐसे लीन हो जाते हैं, जैसे कोई मूर्ति बैठी हो। हिरण अपना शरीर उनके शरीर से घिसे; सिंह गर्जना करे या ढोल बजते हों तो भी उस तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता। उनका उपयोग तो मात्र स्वज्ञेय में ही ठहर गया है। उस समय के अतीन्द्रिय महा-आनन्द की क्या बात कहें? जब स्वरूप में से उपयोग बाहर आता है, तब सविकल्पदशा में पाँच समिति होती हैं और जब उपयोग अन्दर (स्वरूप में) जाता है, तब निर्विकल्पदशा में गुप्ति होती है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २१*

गाथा २७६

अब, समभिरूढ़नय का स्वरूप कहते हैं —

जो एगेगं अत्थं, परिणदिभेदेण साहदे णाणं।
मुक्खत्थं वा भासदि, अहिरूढं तं णयं जाण॥

बहुभाँति परिणति भेद से, वस्तु को जो जाने पृथक्।
या मुख्य अर्थ करे ग्रहण, वह समभिरूढ़ सुजानिये॥

अन्वयार्थ : [जो अत्थं] जो नय, वस्तु को **[परिणदिभेदेण एगेगं साहदे]** परिणाम के भेद से एक-एक भिन्न-भिन्न भेदरूप सिद्ध करता है **[वा मुक्खत्थं भासदि]** अथवा उनमें मुख्य अर्थ ग्रहण कर सिद्ध करता है, **[तं अहिरूढं णयं जाण]** उसको समभिरूढ़नय जानना चाहिए।

भावार्थ : शब्दनय, वस्तु के पर्याय नाम से भेद नहीं करता है और यह समभिरूढ़नय, एक वस्तु के पर्याय नाम हैं, उनके भेदरूप भिन्न-भिन्न पदार्थ ग्रहण करता है; जिसको मुख्यकर ग्रहण करता है, उसको सदा वैसा ही कहता है; जैसे, गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा गौ पदार्थ के अनेक नाम हैं; उन सबको यह नय, भिन्न-भिन्न पदार्थ मानता है, उसमें से मुख्यकर गौ को ग्रहण करता है, उसको चलते, बैठते और सोते समय गौ ही कहा करता है — ऐसा समभिरूढ़नय है।

गाथा २७६ पर प्रवचन

अब, समभिरूढ़नय का स्वरूप कहते हैं।

जो नय, वस्तु के रूढ़ अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण करता है, वह समभिरूढ़नय है।

यह नय, बैठी हो तो भी गाय को गाय कहता है। एवंभूतनय तो जब चले, तभी गाय को गाय कहता है और शब्दनय तो गौ शब्द के बहुत अर्थ मानता है, उनमें से समभिरूढ़नय विशेष रूढ़ अर्थ को मानता है अर्थात् ग्रहण करता है। ●●

मुनिराज को विकल्प में आना बोझरूप लगता है!

मुनिराज को उस शान्तस्वरूप में से बाहर आना प्रवृत्तिरूप लगता है। वे तो भीतर आनन्द के सागर में समा गये हैं। व्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उन्हें ऐसा लगता है कि – 'अरे! हम यहाँ विभावरूप परदेश में कहाँ आ पहुँचे? हमारा ज्ञानानन्द की अनुभूतिस्वरूप स्वदेश तो अन्तर में है।'

जिससे तीर्थङ्कर नामकर्म बँधे, वह ऊँचे से ऊँचा शुभभाव भी उन्हें बोझरूप लगता है, क्योंकि वह भाव भी राग है। निवृत्तस्वरूप भगवान आत्मा को पर्याय में जो राग आता है, वह बोझरूप लगता है, भाररूप लगता है। 'राग से भिन्न हूँ' – ऐसी प्रतीति जिसे हुई, वह सम्यक्त्वी है और प्रतीति होने के पश्चात् अन्तर में विशेष स्थिरता होने पर व्रतादि का शुभराग भी बोझ लगे, वह मुनिदशा है।

मुनिराज को बाहर विकल्प में आना पड़े वह बोझरूप लगता है, मानों बड़ा पर्वत उठाना हो – ऐसा भार लगता है। समयसार के मोक्ष अधिकार में प्रतिक्रमणादि शुभभावों को विषकुम्भ कहा है, यहाँ उन्हें बोझरूप कहा है। मुनिराज को व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प उठें, वे भी भाररूप लगते हैं, मानों बड़ा पर्वत उठाना हो। भगवान ज्ञायक आत्मा तो विकल्प के बोझरहित, निर्भार, निवृत्त, शान्त और परम अमृतस्वरूप है। *– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, भाग २, पृष्ठ २१८*

गाथा २७७

अब, एवंभूतनय का स्वरूप कहते हैं —

जेण सहावेण जदा, परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो।
तप्परिणामं साहदि, जो वि णओ सो हु परमत्थो॥

जिस भावमय परिणमित हो, उस भाव से तन्मय रहे।
साधता वह भाव, एवंभूतनय परमार्थ है॥

अन्वयार्थ : [जदा जेण सहावेण] वस्तु, जिस समय, जिस स्वभाव से **[परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो]** परिणमनरूप होती है, उस समय, उस परिणाम से तन्मय होती है; **[तप्परिणामं साहदि]** इसलिए उस ही परिणामरूप सिद्ध करता है - कहता है, **[जो वि णओ]** वह एवं भूतनय है, **[सो हु परमत्थो]** यह नय, परमार्थरूप है।

भावार्थ : वस्तु का जिस धर्म की मुख्यता से नाम होता है, उस ही अर्थ के परिणमनरूप जिस समय परिणमन करती है, उसको उस नाम से कहना, वह एवंभूतनय है; इसको निश्चय भी कहते हैं; जैसे, गौ को चलते समय गौ कहना अन्य समय कुछ नहीं कहना।

गाथा २७७ पर प्रवचन

अब, एवंभूतनय का स्वरूप कहते हैं।

जिस काल में धर्मध्यान में वर्तता है, उसी काल में उसे ध्यानी कहना अथवा जिस काल में भक्ति-पूजा करता हो, तभी उसे भक्त-पूजक कहना अर्थात् जो शब्द कहा हो, उसी पर्याय की यथार्थ क्रिया को पकड़े, सभी अर्थपर्याय को नहीं, यह परमार्थ है।

ऋजुसूत्रनय से शब्दनयादिक में उत्तरोत्तरभाव में सूक्ष्मता आती है। शब्दों में विवाद

मिटाने के लिए यह नय हैं — ऐसा नहीं है परन्तु परमार्थ अर्थात् वास्तविक अर्थ बतलाने के लिए यह नय हैं। ये वाच्यार्थ को निश्चित करते हैं; द्रव्यनयों से शब्दनय सूक्ष्म हैं।

देखो, पर्याय भी सत् है, वह द्रव्य का स्वरूप है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत शुद्धद्रव्य के अवलम्बन की अपेक्षा से पर्यायभेद अभूतार्थ कहा जाता है। ●●

सिंह शरीर को फाड़ खाये - इससे मुनि दुःखी नहीं

सिंह और सियालनी शरीर को खा जाते हों, उस समय भी मुनिराज दुःखी नहीं हैं, उन्हें दुःख का वेदन नहीं है; उन्हें तो ज्ञानभाव का ही वेदन है। ज्ञानभाव में दुःख का प्रवेश ही कहाँ है, जहाँ कभी दुःख प्रवेश नहीं कर सकता – ऐसे ज्ञानस्वभाव में ज्ञानियों का वास है। किञ्चित् हर्ष-शोक की वृत्ति उत्पन्न हो, उस समय भी ज्ञानियों को उसके अभोक्तापने का ज्ञानभाव ही वर्तता है। सिंह शरीर को फाड़ खाये, इससे मुनि को दुःखी माननेवाला मुनि की अन्तरङ्ग दशा को नहीं पहचानता। स्वयं को देहाध्यास है, इसलिए अन्य में भी देह से पार जो ज्ञानदशा है, उसे नहीं देख सकता।

अहा! मुनियों का ज्ञानभाव तो निजानन्द रस के अनुभव में मग्न है। उस ज्ञानभाव को तू नहीं पहिचानता तो तू वास्तव में मुनि के आत्मा को नहीं पहिचानता। भाई! तुझमें अभोक्तापने का भाव प्रगट नहीं हुआ है, इसलिए तू अन्य में भी अभोक्तापने का भाव नहीं देखता। आत्मा निज स्वभावसुख को भोगनेवाला है, परभाव का वेदन आत्मा का स्वरूप नहीं है। धर्मी आत्मा उसका ज्ञाता रहता है, वह परभाव के वेदन को ज्ञान में नहीं मिलाता, अपितु उसे भिन्न रखकर स्वयं ज्ञानमय भावरूप रहता है। जो परभावों से भिन्न ऐसे ज्ञानमय आत्मा को जानता है, अनुभव करता है; उसने आत्मा को जाना कहा जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मवैभव (गुजराती), पृष्ठ ३०२

गाथा २७८

अब, नयों के कथन का सङ्कोच करते हैं —

एवं विविहणएहिं, जो वत्थु ववहरेदि लोयम्मि।
दंसणणाणचरित्तं, सो साहदि सग्गमोक्खं च॥

विविधनय से वस्तु का, व्यवहार करता लोक में।
वह ज्ञान दर्शन चरित पाकर, लहे स्वर्ग विमोक्ष को॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष, [**लोयम्मि**] लोक में [**एवं विविहणएहिं**] इस तरह अनेक नयों से [**वत्थु ववहरेदि**] वस्तु को व्यवहाररूप कहता है, सिद्ध करता है और प्रवृत्ति कराता है, [**सो**] वह पुरुष [**दंसणणाणचरित्तं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र को [**च**] और [**सग्गमोक्खं**] स्वर्ग-मोक्ष को [**साहदि**] सिद्ध करता है — प्राप्त करता है।

भावार्थ : प्रमाण और नयों से वस्तु का स्वरूप यथार्थ सिद्ध होता है। जो पुरुष, प्रमाण और नयों का स्वरूप जानकर वस्तु को यथार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कराता है, उसके सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की और उसके फल स्वर्ग — मोक्ष की सिद्धि होती है।

गाथा २७८ पर प्रवचन

अब, नयों के कथन का उपसंहार करते हैं। वस्तुत: तो शुद्धदृष्टि द्वारा स्वद्रव्य के अवलम्बन से ही मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट होता है परन्तु ज्ञान है, वह निश्चय-व्यवहार के जितने प्रकार हैं, उन्हें जानता है। यहाँ ज्ञान की स्पष्टता, वह मोक्ष का कारण है — ऐसा कह दिया है। कोई कहता है कि अकेला ज्ञान, मोक्ष का कारण कैसे? तो उससे कहते हैं कि मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान आता है और उस ज्ञान में सात नय आते हैं। संयोग, विकार, अविकार,

द्रव्य, गुण, पर्याय को वह ज्ञान, यथार्थरूप से जान लेता है और ऐसा जाननेवाला वह ज्ञान, स्वसन्मुख हो सकता है और उस ज्ञान में आत्मा को पकड़कर स्थिर होने की सामर्थ्य है; इसलिए यहाँ ज्ञान की मुख्यता कही गयी है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि जीव की बारह भावनाओं का वर्णन है। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ — ऐसा यथार्थ निर्णय हुए बिना यह लोकभावना इत्यादि नहीं हो सकती। लोक में छहों द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न–भिन्न हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है। वीतरागी द्वारा कथित इस यथार्थ तत्त्व का श्रवण करनेवाले लोग भी इस लोक में विरले हैं — ऐसा अब कहेंगे। ●●

परीषहजयी मुनिदशा : परीषह का भय कहाँ?

मुनिराज, क्षुधा-तृषा आदि परीषहों को वैराग्य की उग्रभावना से जीतते हैं। आत्मचिन्तन में शान्तरस का भोजन करते हुए क्षुधा-तृषा के परीषह सहज ही जीत लिये जाते हैं। उन्हें चैतन्य के वीर्य का जोर है; इसलिए वे बाईस परीषहों से नहीं डरते, परीषह आने पर वे शिथिल नहीं होते। वे आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप चैतन्यगुफा में बैठे-बैठे परम शान्ति की लहर में तृप्त रहते हैं। चैतन्य गुफा में बाह्य परीषहों का प्रवेश ही कहाँ है? इसलिए उसमें परीषह का भय कहाँ से होगा? उपसर्ग-परीषह आने पर भी मुनिराज समभाव को नहीं छोड़ते। परीषह उन्हें आत्मसाधना से डिगा नहीं सकते। परीषह आने पर भी वे मोक्षमार्ग से अच्युत रहकर बहुत निर्जरा करते हैं। वे वैराग्य की ढाल से अपने रत्नत्रय की रक्षा करते हैं और पञ्च परमेष्ठी पद में झूलते रहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २८-२९

गाथा २७९

अब, कहते हैं कि तत्त्वार्थ को सुनने, जानने, धारणा और भावना करनेवाले विरले हैं —

विरला णिसुणहि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहिं तच्चं, विरलाणं धारण होदि॥

विरले सुने इस तत्त्व को, अरु जानते विरले अहो।
भावना भाते विरल अरु, धारण विरले करें॥

अन्वयार्थ : [विरला तच्चं णिसुणहि] संसार में विरले पुरुष, तत्त्व को सुनते हैं, **[तच्चं तच्चदो विरला जाणंति]** सुनकर भी तत्त्व को यथार्थ विरले ही जानते हैं, **[विरला तच्चं भावहिं]** जानकर भी विरले ही तत्त्व की भावना अर्थात् बारम्बार अभ्यास करते हैं और **[विरलाणं धारण होदि]** अभ्यास करने पर भी तत्त्व की धारणा विरलों के ही होती है।

भावार्थ : तत्त्वार्थ का यथार्थ स्वरूप सुनना, जानना, भावना करना और धारणा करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पञ्चम काल में तत्त्व के यथार्थ कहनेवाले दुर्लभ हैं और धारण करनेवाले भी दुर्लभ हैं।

गाथा २७९ पर प्रवचन

जगत् में यथार्थ वीतरागी तत्त्व का श्रवण करनेवाले जीव बहुत अल्प होते हैं। तीर्थङ्करों के समय में लाखों-करोड़ों जीव, तत्त्व का श्रवण करनेवाले होते हैं, तथापि उस समय भी अज्ञानी जीव बहुत होते हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने दिव्यध्वनि द्वारा जो छह द्रव्यों, देव-शास्त्र-गुरु, कारण-कार्य की स्वतन्त्रता, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इत्यादि का प्रतिपादन किया है, उस वीतरागी तत्त्व को सुननेवाले जीव जगत् में हमेशा अल्प ही होते हैं — ऐसा ही जगत् का स्वभाव है। पूर्वापर विरोधरहित यथार्थ चेतन्यस्वभाव की दृष्टि की बात सुननेवाले

जीव भी जगत् में थोड़े ही हैं। जगत् के सभी जीव सत्य समझ लें — ऐसा नहीं होता है।

अहो! संसार में जीवों को सत्य-श्रवण की भी दुर्लभता है। सत्य का श्रवण प्राप्त हो — ऐसे पूर्व के पुण्य की भी दुर्लभता है और वर्तमान में उस प्रकार की योग्यतावाले जीवों की भी दुर्लभता है। सर्वज्ञदेव द्वारा देखे गये लोक के छह द्रव्य, कारण-कार्यभाव इत्यादि सब वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रकार कहते हैं कि इस सत्य तत्त्व को सुननेवाले जीव, जगत् में बहुत थोड़े हैं।

श्रवण करनेवाले जीवों में से भी तत्त्व को यथार्थरूप से जाननेवाले विरले ही हैं। जिस प्रकार जङ्गल में बकरियों और भेड़ों के झुण्ड तो बहुत होते हैं परन्तु वैसे झुण्ड सिंह अथवा बाघ के नहीं होते। यद्यपि कहीं-कहीं सिंह के झुण्ड भी होते हैं किन्तु वे भेड़-बकरियों जितने नहीं होते; इसी प्रकार प्रथम तो सत्य बात कान में पड़े — ऐसे जीव ही जगत् में बहुत अल्प हैं और उनमें भी यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले जीव विरले ही हैं। लाखों-करोड़ों जीव एक साथ समझ जाएँ — ऐसा यह काल नहीं है। अभी तो हलाहल काल आ गया है; इसमें तत्त्व की बहुत ही विरलता हो गयी है।

देखो, इस तत्त्व के श्रवण की और ज्ञान की दुर्लभता है। इसे सुननेवाले और जाननेवाले विरले हैं — ऐसा कहा है परन्तु कहीं उनका सर्वथा अभाव नहीं है। अभी अध्यात्म के नाम पर कितने ही लोग बातें करते हैं परन्तु उन्हें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का भी भान नहीं हैं। तत्त्व की यथार्थ बात सुनानेवालों की भी दुर्लभता है और सुननेवालों की भी दुर्लभता है तथा सुनकर भी यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले जीव विरले हैं।

तत्त्व को सुनकर तथा जानकर भी विरले ही जीव अन्तरङ्ग में बारम्बार उसका अभ्यास करते हैं तथा उसका अभ्यास करके भी तत्त्व की निर्दोष धारणा तो विरले जीवों को ही होती है।

श्रीमद् योगीन्दुदेव ने योगसार में कहा है कि -

विरलाः जानन्ति तत्त्वं बुधाः विरलाः निशृण्वन्ति तत्त्वम्।
विरलाः ध्यायन्ति तत्त्वं जीव विरलाः धारयन्ति तत्त्वम्॥ ६६॥

दिगम्बर जैन शासन की सनातन सत्य बात सुनना ही जीवों को दुर्लभ है। सुनने के पश्चात् यथार्थ तत्त्व को समझकर, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले जीव भी बहुत विरल हैं। अहो! सभी प्रकार से भूलरहित परम सत्य — ऐसा वस्तुस्वरूप सुननेवाले और समझानेवाले जीव भी जगत् में विरले हैं। वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में लेने के पश्चात् अन्तरङ्ग में बारम्बार उसके अनुभव का अभ्यास करनेवाले जीव भी दुर्लभ हैं। तत्त्व को जानने के पश्चात् भी अन्तरङ्ग में निर्विकल्प होने की दुर्लभता है और अखण्डधारारूप से आराधना को टिकाए रखना तो विरले जीवों को ही होता है।

देखो, आचार्यदेव ने दो हजार वर्ष पहले इस दुर्लभता का वर्णन किया है तो अभी तो उससे भी विशेष दुर्लभता है। तत्त्वार्थ का यथार्थ स्वरूप सुनना, जानना, चिन्तवन करना और धारण करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पञ्चम काल में तत्त्वज्ञान के यथार्थ वक्ता, दुर्लभ हैं तथा उसे धारण करनेवाले भी दुर्लभ हैं।

इस काल में चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक यथार्थ तत्त्व के वक्ता प्राप्त होना बहुत ही दुर्लभ हैं। तीनों काल उनकी दुर्लभता है परन्तु इस काल में तो महादुर्लभता है तथा सुननेवाले जीव भी विरले होते हैं। जगत् में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को पहचाननेवाले जीव भी विरले होते हैं। सच्चे ज्ञानी वक्ता, सत्य सुनानेवाले मिलें तो उन्हें पहचाननेवाले जीव बहुत दुर्लभ हैं। जगत् के जीव अपने-अपने कुल-सम्प्रदाय के गुरु को मान रहे हैं और कुदेव-कुगुरु का पोषण कर रहे हैं।

कुदेव-कुलिङ्ग को वन्दन करना, वह विनय मिथ्यात्व का पोषण है। जिन जीवों ने सर्वज्ञ वीतरागदेव की परम्परा को तोड़कर विपरीत मार्ग चलाया है, वे जीव, जैनशासन के शत्रु हैं और उन्हें माननेवाला जीव भी अनन्त संसार में परिभ्रमण करनेवाला है।

देखो, सत्य तत्त्व की जगत् में दुर्लभता है — यह जानकर स्वयं उसकी महिमा लाकर, प्रयत्न करके सत्य समझने के लिए यह बात है। ●●

गाथा २८०

अब, कहते हैं कि जो कहे हुए तत्त्व को सुनकर निश्चलभावों से भाता है, वह तत्त्व को जानता है —

तच्चं कहिज्जमाणं, णिच्चलभावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया, सो वि य तच्चं वियाणेइ॥

ग्रहण करता जो पुरुष, यह तत्त्व निश्चल भाव से।
भावे यही त्यज अन्य को, जाने वही नर तत्त्व को॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष, **[कहिज्जमाणं तच्चं]** गुरुओं के द्वारा कहे हुए तत्त्वों के स्वरूप को **[णिच्चलभावेण गिण्हदे]** निश्चलभाव से ग्रहण करता है, **[तं चिय भावेदि सया]** अन्य भावनाओं को छोड़कर उसी की निरन्तर भावना करता है, **[सो वि य तच्चं वियाणेइ]** वही पुरुष, तत्त्व को जानता है।

गाथा २८० पर प्रवचन

जैनदर्शन ऐसा अपूर्व और दुर्गम्य है कि यथार्थ गुरुगम से सुने बिना, उसका रहस्य समझ में नहीं आ सकता अर्थात् गुरुगम के बिना अकेले शास्त्रों से सत्य नहीं समझा जा सकता। जहाँ जीव की सत्य समझने की पात्रता होती है, वहाँ निमित्तरूप से गुरुगम होता ही है। अकेले शास्त्र से अपनी कल्पना से समझ में आ जाए — ऐसा जैनदर्शन नहीं है। शास्त्र कहीं अपने भाव नहीं कहते; शास्त्रों का भाव तो ज्ञानी के हृदय में है।

भाई! वीतरागी सन्तों की परम्परा में शास्त्रों का अर्थ चला आ रहा है। शास्त्र का अर्थ करनेवाले सन्तों की परम्परा जैनशासन में अटूट है। यदि अर्थ करनेवाला पुरुष न हो तो

अकेली वाणी अप्रमाण है। पुरुष के बिना वाणी का अर्थ कौन करेगा? इसलिए अकेली वाणी हमें मान्य नहीं है परन्तु वाणी का अर्थ करनेवाले ज्ञानी पुरुष परम्परा से होते आये हैं। उस-उस काल के शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी पुरुष, शास्त्रों का अर्थ करते हैं, वही मान्य है; इसलिए यहाँ भी यह कहा है कि गुरुजनों द्वारा कहा गया तत्त्व का स्वरूप सुनकर जो जीव निश्चलभाव से उसे ग्रहण करता है और अन्य भावना छोड़कर अन्दर में बारम्बार उसकी भावना करता है, वह पुरुष तत्त्व को जानता है। जिसने गुरुगम से यथार्थ श्रवण भी न किया हो, उसे तो समझने की पात्रता भी नहीं है; इसलिए गुरुगम से सुनकर अन्तरङ्ग में उसका निर्णय करके बारम्बार तत्त्वज्ञान की भावना करनी चाहिए। ●●

वस्त्ररहित दिगम्बरदशा में कोई अपवाद नहीं

रत्नत्रयधर्म द्वारा चैतन्य के महान सुख का अनुभव करनेवाले मुनियों को अन्य सभी विषय सर्वथा नीरस लगते हैं। चैतन्य के निधान को साधने में लीन रहनेवाले मुनिराज भवसुख या स्वर्गसुख को नहीं चाहते। ऐसे मुनिराज संघसहित विचरण करते हैं अथवा किन्हीं को ज्ञानवैराग्य की विशेष सामर्थ्य हो तो वे तीर्थङ्करों के समान अकेले विचरण करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि वस्त्ररहित दिगम्बर होकर विचरण करनेवाले मुनिराज जिनकल्पी हैं, वस्त्रसहित विचरण करनेवाले साधु स्थविरकल्पी हैं, परन्तु यह बात सही नहीं है। **भाई! जैन साधुओं में वस्त्रसहित और वस्त्ररहित - ऐसे भेद नहीं हैं। सभी जैन साधु सदाकाल सर्वथा वस्त्ररहित निर्ग्रन्थ ही होते हैं; इसमें कोई अपवाद नहीं है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ ३३-३५

गाथा २८१

अब, कहते हैं कि जो तत्त्व की भावना नहीं करता है, वह स्त्री आदि के वश में कौन नहीं है ? अर्थात् सब लोक है —

को ण वसो इत्थि-जणे, कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इन्दिएहिं ण जिओ, को ण कसाएहिं संतत्तो॥

नर कौन नारी वश नहीं, विचलित न मन हो काम से।
कौन इन्द्रिय वश नहीं, नहिं कौन तप्त कषाय से॥

अन्वयार्थ : [इत्थिजणे वसो को ण] इस लोक में स्त्रीजन के वश कौन नहीं है ? **[कस्स ण मयणेण खंडियं माणं]** काम से जिसका मन खण्डित न हुआ हो — ऐसा कौन है ? **[को इन्दिएहिं ण जिओ]** जो इन्द्रियों से न जीता गया है — ऐसा कौन है ? **[को ण कसाएहिं संतत्तो]** और कषायों से तप्तायमान न हो — ऐसा कौन है ?

भावार्थ : विषय-कषायों के वश में सब लोक हैं और तत्त्वों की भावना करनेवाले विरले ही हैं।

गाथा २८१ पर प्रवचन

देखो, जिसकी भावना अन्तरङ्ग में चैतन्यतत्त्व की तरफ नहीं है, वह बाह्य में स्त्री आदि के वश हो जाता है। जिसे ज्ञायक चेतन्य की भावना नहीं है, उसे विषयों की भावना है। जिसे असंयोगी चैतन्यतत्त्व की दृष्टि और भावना नहीं है, वह जीव संयोग के आधीन हुए बिना नहीं रहता है। धर्मी जीव को अन्तरङ्ग में चैतन्यस्वभाव का भान है, उसे वास्तव में पर की भावना नहीं होती। चैतन्य की दृष्टि करके, उसकी भावना करना ही विषयों को जितने का उपाय है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चक्रवर्ती हो और छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, तथापि उसकी दृष्टि चैतन्य के वश है; वस्तुतः वह विषयों के वश नहीं होता।

जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उल्लास होता है, उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का प्रेम नहीं होता तथा देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उल्लास और प्रेम की अपेक्षा यदि स्त्री इत्यादि के प्रति प्रेम और उल्लास बढ़ जाए तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है और चैतन्यस्वभाव के उल्लास की तुलना में खण्ड-खण्ड रागभाव का उल्लास बढ़ जाए तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। जिसकी परिणति अन्तरङ्ग में स्वसन्मुख नहीं हुई है, उसकी परिणति परविषयों के सन्मुख हुए बिना नहीं रहती अर्थात् वह जीव, विषय-कषायों द्वारा जीता गया है।

धर्मी को अस्थिरता का राग होता है परन्तु धर्म के प्रति प्रेम की अपेक्षा संसार के प्रति प्रेम-उत्साह बढ़ जाए — ऐसा कभी नहीं होता। चारित्र की कमजोरी के कारण राग आता है, उसकी धर्मी को जरा भी रुचि अथवा भावना नहीं है। धर्मी, गृहस्थदशा में भी काम के वश नहीं है।

जो जीव, ज्ञायक, अतीन्द्रिय, असंयोगीस्वभाव के वश नहीं है, वह पाँच इन्द्रियों के विषयों के वश होता ही है। विषय समीप होने पर भी ज्ञानी उन्हें जहर मानता है। ज्ञानी को अखण्ड ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि मुख्य है; इसलिए वह जितेन्द्रिय है।

देखो, यहाँ अकेले विषयों को ही छोड़ने की बात नहीं है किन्तु जिसे अखण्ड स्वविषय, स्व चैतन्य का ध्येय नहीं है, उसे खण्ड-खण्ड इन्द्रिय-विषयों की रुचि-ध्येय-भावना हुए बिना नहीं रहती क्योंकि पर्यायबुद्धि का प्रवाह मिटा नहीं है। जिसे स्त्री के मनोहर वचन मधुर लगते हैं और उसके वश हो जाता है, वह मूढ़ अज्ञानी है। ज्ञानी तो स्व को चूककर राग में नहीं जुड़ता है और कोई निमित्त से, सुन्दर रूप से, अथवा शब्द से राग होना भी ज्ञानी नहीं मानता है। ज्ञानी को अस्थिरता का राग, गौण है; ध्रुव-चिदानन्दस्वभाव ही मुख्य है, इसलिए वह कभी विषयों के वश नहीं होता। नित्य अकषाय शान्त ज्ञायकस्वभाव की अतीन्द्रिय रुचि नहीं हुई है, वह कषायों से तप्तायमान है। देखो, आचार्यदेव ने अतीन्द्रिय ज्ञायकस्वभाव की कैसी महिमा की है!

●●

गाथा २८२

अब, कहते हैं कि जो तत्त्वज्ञानी, सब परिग्रह का त्यागी होता है, वह स्त्री आदि के वश नहीं होता है —

सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इन्दिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं, अब्भंतर बाहिरं सव्वं॥

वह पुरुष नारी वश नहीं, वश नहीं इन्द्रिय मोह से।
जो पुरुष जाने तत्त्व अरु, अन्तर बहिः परिग्रह तजे॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष, तत्त्व का स्वरूप जानकर **[अब्भंतर बाहिरं सव्वं गंथं ण य गिण्हदि]** बाह्य और अभ्यन्तर सब परिग्रह को ग्रहण नहीं करता है, **[सो ण वसो इत्थिजणे]** वह पुरुष, स्त्रीजन के वश में नहीं होता; **[सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण]** वह ही पुरुष, इन्द्रियों से और मोह (मिथ्यात्व) कर्म से पराजित नहीं होता है।

भावार्थ : संसार का बन्धन परिग्रह है; इसलिए जो सब परिग्रह को छोड़ता है, वह ही स्त्री, इन्द्रिय कषायादि के वशीभूत नहीं होता है। सर्व त्यागी होकर शरीर का ममत्व नहीं रखता है, तब निजस्वरूप में ही लीन होता है।

गाथा २८२ पर प्रवचन

भाई! तीनों काल सनातन निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग एक ही प्रकार का है। अन्तर परिणति में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने से, नग्न-दिगम्बर वीतरागी सन्त, हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान में वर्तते हैं। अभी महाविदेहक्षेत्र में मुनिधर्म का यह एक ही प्रकार है — ऐसे परम जितेन्द्रिय मुनि मुख्य हैं। उन्हें स्वरूप में स्थिरता करने से राग छूट जाता है। चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव, मिथ्यात्व को जीतनेवाला है। यहाँ आचार्यदेव स्वयं भावलिङ्गी मुनि हैं, वे सदा जितेन्द्रिय

वर्तते हुए वीतरागता की भावना भाते हैं और जो ऐसी समझपूर्वक भावना में वर्तता है, वह इन्द्रियवश होकर मिथ्यात्व से नहीं जीता जाता अर्थात् वह स्वयं मिथ्यात्व को जीत लेता है।

आत्मा, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। राग अथवा जड़ की क्रिया का अंश भी मेरा नहीं है — ऐसा ज्ञायक आत्मा का भान होना, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। तत्पश्चात् ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक बारह भावनाएँ भाते-भाते, राग का अभाव होता जाता है और वीतरागता बढ़ती जाती है — यही संवर-निर्जरा है।

यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञदेव ने जीवादि तत्त्वों को जैसा स्वरूप कहा है, तद्नुसार जो नहीं जानता, वह जीव विषय-कषाय के वश होता है। जो जीव, चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करके उसकी भावना भाता है, वह जीव विषय-कषाय के वश नहीं होता।

देखो, सबसे बड़ा परिग्रह, मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा बन्धन है। जो जीव, सिद्धसमान निज आत्मा का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसके मिथ्यात्व का परिग्रह छूट जाता है। भले ही कोई बाहर में स्त्री इत्यादि का त्यागी होकर बैठा हो परन्तु अन्तरङ्ग में निष्परिग्रही चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि नहीं है तो वह मूढ़ जीव, विषयों के ही वश पड़ा है।

जो जीव अन्तरङ्ग में चैतन्यस्वभाव के वश नहीं है, वह इन्द्रियों के वश हुए बिना नहीं रह सकता। जिसे भगवान आत्मा के चिदानन्द, अकषाय शान्तस्वभाव का पता नहीं है, वह जीव, कषायों के वश है। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि के पश्चात् उसकी विशेष भावना से, उसमें लीनता द्वारा जिसने रागादि-परिग्रह को भी छोड़ दिया है — ऐसे मुनिवरों को संसार का बन्धन नहीं होता। सन्त-मुनिराजों को बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता और अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व-रागादि का परिग्रह नहीं होता — ऐसे सन्त निजस्वरूप में लीन होते हैं, उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है। ●●

गाथा २८३

अब, लोकानुप्रेक्षा के चिन्तवन का माहात्म्य प्रगट करते हैं —

एवं लोयसहावं, जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ।
सो खविय कम्मपुंजं, तस्सेव सिहामणी होदि॥

इस तरह लोक स्वरूप ध्यावे, एक उपशमभावमय।
वह पुरुष कर्म समूह क्षय कर, शिखामणि हो लोक का॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष **[एवं लोयसहावं]** इस प्रकार लोक के स्वरूप को **[उवसमेक्कसब्भावो]** उपशम से एक स्वभावरूप होता हुआ **[झायदि]** ध्याता है – चिन्तवन करता है, **[सो कम्मपुंजं खविय]** वह पुरुष कर्मसमूह का नाश करके, **[तस्सेव सिहामणी होदि]** उस ही लोक का शिखामणि होता है।

भावार्थ : इस तरह जो पुरुष साम्यभाव से लोकानुप्रेक्षा का चिन्तवन करता है, वह पुरुष, कर्मों का नाश करके लोकशिखर पर जा विराजमान हो जाता है; वहाँ अनन्त, अनुपम, बाधारहित, स्वाधीन, ज्ञानानन्दस्वरूप सुख को भोगता है।

यहाँ लोकभावना का कथन विस्तार से करने का आशय यह है कि जो अन्यमतवाले लोक का स्वरूप, जीव का स्वरूप तथा हिताहित का स्वरूप अनेक प्रकार से अन्यथा, असत्यार्थ प्रमाणविरुद्ध कहते हैं, सो कोई जीव तो सुनकर विपरीत श्रद्धा करते हैं, कोई संशयरूप होते हैं और कोई अनध्यवसायरूप होते हैं। उनके विपरीतश्रद्धा से चित्त स्थिरता को नहीं पाता है और चित्त स्थिर (निश्चित) हुए बिना यथार्थ ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। ध्यान के बिना कर्मों का नाश नहीं होता है; इसलिए विपरीतश्रद्धान को दूर करने के लिए

यथार्थ लोक का तथा जीवादि पदार्थों का स्वरूप जानने के लिए विस्तार से कथन किया है। उसको जानकर, जीवादिक का स्वरूप पहचानकर, अपने स्वरूप में निश्चल चित्त कर, कर्मकलङ्क का नाश कर, भव्यजीव मोक्ष को प्राप्त होओ — ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा २८३ पर प्रवचन

देखो, बारह भावनाओं में यह दशवीं लोकभावना है। इस लोकभावना के वर्णन में १६९ गाथाएँ हैं, उनमें अब अन्तिम गाथा में लोक अनुप्रेक्षा की महिमा और उसके चिन्तन का फल कहते हैं।

मैं सच्चिदानन्द सिद्धसमान हूँ, इस प्रकार जो जीव, स्वभाव का भान करके उपशमदशा को प्राप्त हुआ है, शान्त... शान्त... शान्तस्वरूप में स्थिर हुआ है, स्वभाव की एकतारूप हुआ है — ऐसे जीव को लोकभावना होती है। इन भावनाओं में खण्ड-खण्ड रागादि विकल्प पर दृष्टि नहीं है, अपितु एकरूप स्वभाव पर दृष्टि है; इसलिए स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है। जिसे एकरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई है और अन्तरङ्ग में शान्त... शान्त उपशमरस में स्थिर हुआ है — ऐसे जीव को ही लोकभावना होती है। जिसे आत्मा का भान न हो और मात्र स्वर्ग-नरक इत्यादि का विचार करे तो उसे लोकभावना नहीं कहते, क्योंकि लोकभावना तो संवर का प्रकार है। लोक के सभी पदार्थों में चिदानन्दस्वभावी आत्मा ही उत्कृष्ट है। जो जीव ऐसे चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर लोक के स्वरूप का यथार्थ चिन्तवन करता है, वह जीव, लोक का शिखामणि होता है अर्थात् सिद्ध होकर लोकाग्र में विराजमान होता है। देखो, जो जीव चैतन्यस्वभाव में एकता करके लोकभावना भाता है, वह जीव लोक का शिखामणि होता है। सिद्धभगवान लोक के मुकुटमणी हैं।

भाई! अकेले तीन लोक के आकार तथा स्वर्ग-नरक आदि का विचार करना तो शुभराग है। यहाँ तो कहते हैं कि एक स्वभावरूप होकर उपशमभाव में जो स्थिर हुआ है — ऐसा जीव, लोकभावना भाता है और वह जीव, आत्मा के आनन्द में स्थिर होकर पूर्णानन्दमय सिद्धदशा को प्राप्त करता है और लोक के शिखर पर जाकर अनन्त सिद्धों के साथ विराजमान होता है।

अहो! सिद्ध भगवन्तों के सुख के समान जगत् में कोई सुख नहीं है। सिद्धों का सुख

अनुपम है, उसे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती। चक्रवर्ती के वैभव के सुख से अनन्तगुणा सुख सिद्ध को है — यह कहने से भी सिद्ध के सुख का वर्णन नहीं हो सकता। इसलिए सिद्ध भगवान का सुख अनुपम है, अनन्त है, सदा ज्यों का त्यों रहनेवाला है और स्वाधीन है और अपने आत्मस्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है — ऐसी ज्ञानानन्दमय अपूर्व सिद्धदशा प्राप्त होना ही इस लोकभावना का फल है।

यहाँ लोकभावना का कथन विस्तारपूर्वक करने का आशय यह है कि अन्यमती, लोक का स्वरूप, जीव का स्वरूप तथा हिताहित का स्वरूप अनेक प्रकार से अन्यथा असत्यार्थ और प्रमाण-विरुद्ध कहते हैं, उन्हें सुनकर कई जीव तो विपरीतश्रद्धान करते हैं; कोई संशयरूप होते हैं तथा कोई अनध्यवसायरूप होते हैं और ऐसे विपरीत आदि श्रद्धान से चित्त स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। चित्त के स्थिर-निश्चिन्त हुए बिना यथार्थ ध्यान की सिद्धि नहीं होती और ध्यान के बिना कर्मों का अभाव नहीं होता; इसलिए इन विपरीत आदि श्रद्धान दूर होने के लिए लोक का और जीवादिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए यहाँ विस्तारपूर्वक उनका कथन किया गया है। भव्य जीव उसे जानकर, जीवादि का स्वरूप पहचानकर, अपने स्वरूप में चित्त को निश्चल स्थिर करके कर्म-कलङ्क का नाश करके, मोक्षदशा को प्राप्त होओ — ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

समकिती जीव, शुभ-अशुभ दोनों भावों को जहर मानता है। जैसे, मछली अग्नि में अथवा रेत में पड़कर दुःखी होती है; इसी प्रकार ज्ञानी, शुभाशुभभाव को दुःखरूप मानत है। इन्द्र-चक्रवर्ती के संयोगी सुख नष्ट हो जाते हैं; स्वभाव से उत्पन्न सिद्ध भगवान का सुख अविनाशी है। सर्वज्ञ वीतराग कथित धर्म, मोक्षमार्ग, मोक्ष, स्वर्गादि, नव तत्त्वादि ही पूर्वापर विरोधरहित हैं, उन्हें जो शङ्का-विपरीतता और अनध्यवसाय से विपरीतरूप मान रहे हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं होता; इसलिए निशङ्क ज्ञातामात्र स्वरूप में ढलकर एकाग्र होने का सामर्थ्य वे प्रगट नहीं कर सकते हैं और इसके बिना मलिनता का अभाव होकर सत्य-सुख प्रगट नहीं हो सकता। प्रथम, निश्चयसम्यग्दर्शन ही आत्मध्यान है। सर्वज्ञदेव ने जीवादिक का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा ही पहचानकर चित्त को अन्तर्मुख निश्चल करके कर्ममल नाश करके भव्य जीव मोक्षदशा प्रगट करो — ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

लोकालोक विचारिकैं, सिद्धस्वरूपचितारि।
रागविरोध विडारिकैं, आतमरूपसंवारि॥
आतमरूपसंवारि, मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधिव्याधिजरमरन, आदि दुख ह्वै न कदाही॥
श्रीगुरु शिक्षा धारि, टारि, अभिमान कुशोका।
मनथिरकारन, यह विचारि निजरूप सुलोका॥ १०॥

जो लोकाकार का विचार करके, सिद्धसमान सदा पद मेरो अर्थात् अशरीरी निर्विकार अखण्ड ज्ञानानन्द से पूर्ण आत्मस्वरूप की श्रद्धा करते हैं, सम्हाल करते हैं, उनके राग-द्वेष का नाश होता है और वे सादि-अनन्त पूर्ण सुखरूप मोक्षस्वरूप में निवास करते हैं। आधि अर्थात् सङ्कल्प-विकल्परूप मन की चिन्ता; व्याधि अर्थात् शारीरिक चिन्ता; और उपाधि अर्थात् बाह्य चिन्ता तथा जन्मादि दुःख, सिद्ध भगवान के नहीं हैं। श्रीगुरुओं की शिक्षा धारण करके पर्यायबुद्धि का अभिमान छोड़कर, मन की स्थिरता के लिए निज ज्ञायकस्वरूप लोक का अवलोकन करो।

इस प्रकार परम पूज्य दिगम्बर जैनाचार्य स्वामी कार्तिकेय द्वारा विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर आत्मज्ञ सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा मङ्गलवार, दिनाङ्क ०६ मई १९५२ से शनिवार, २६ जुलाई १९५२ तक हुए गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।